

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

| BORROWER'S No | DUE DATE | SIGNATURE |
|------------------|----------|-----------|
| | | |

हरिदाससंस्कृतग्रन्थमालासमाख्य-

काशी संस्कृत सीरिज् ग्रन्थमालायाः

१०५

वेदविभागे (६) पष्ठं पुष्पम् ।

सामवेदीय-

ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् ।

सायणाचार्यविरचितभाष्यसहितम् ।

श्रीकाशीहिन्दूविश्वविद्यालयप्रधानमीमांसाध्यापकेन

“वेदविशारदेन, भीमांसाकेसरिणा”

पण्डितप्रवरेण श्रीचिन्नस्वामिशास्त्रिणा, मूर्धिकादिप्यध्या-

दिभिस्संयोज्य संशोधितम् ।

प्रकाशकः-

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः-

चौखम्बा संस्कृत सीरिज् आफिस,

बनारस सिटी-१

१९६१

राजभासनानुरोधेन सर्वधिकाराः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृताः ।

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः—

चौखम्बा संस्कृत सीरिज़ आफिस,
बनारस सिटी ।

किञ्चिन्निवेदनम् ॥

अयमिदानीं ताण्ड्यमहाब्राह्मणस्य सामवेदादिमहाब्राह्मणस्य द्वा-
दशाध्यायात्मकः प्रथमो भागः पुनर्मुद्रापितः प्रकाशं नीयते । अस्य च स-
माप्यस्य प्राथमिकं मुद्रणं इतश्चतुष्पष्टैर्वर्षेभ्यः पूर्वं कलिकातानगरे Asiatic
Society समाख्यया समित्या कृतं प्रकाशितञ्चेति तदर्थं धन्यवादार्हा
सा समितिर्तर्तावेति नाऽत्र संशयलेशः । तथाऽपि तदानीं समीचीनादर्श-
पुस्तकालाभेन यथाकथञ्चित् प्रकाशनेनाऽपि ग्रन्थसंरक्षणमभिपता तदानी-
न्तनेन प्रकाशकेन यथोपलब्धं प्रकाशं प्रापितः । अतश्च तत्र मूलेऽशुद्धि-
विशेषामवेऽपि भाष्यमशुद्धिमरितमेव मुद्रितमासीत् । मुद्रितस्याऽपि तस्या-
ऽप्राप्तिमिदानीं पश्यता संस्कृतग्रन्थरक्षणैकदत्तचित्तेन श्रेष्ठिकुलतिलकेन
श्रीचौखम्बासंस्कृतग्रन्थावलीप्रकाशकमहोदयेन पुनर्मुद्रणमस्याऽऽरभ्य अर्धा-
धिकभागमुद्रणानन्तरमेवाऽस्मद्वस्तं प्रापितमसंशोधनाय । अस्माभिस्तु
तदनुरोधात् स्वीकृतं यद्यपि संशोधनम्, तदर्थं चाऽऽदर्शपुस्तकद्वयमानायितं
अडयार् पुस्तकालयात् बडोदापुस्तकालयाच्च, तदनुसारेण कृतमपि शोधन-
ममे यथारुचि, तथाऽपि तदाऽख्यावशिष्टमुद्रणेऽस्मिन् प्रथमभागे साऽऽस्था
नाऽस्माकमजनि यया भवितव्यम् । द्वितीयभागस्तु यथामतिशक्ति परिश्रम्य
सर्वाङ्गसुन्दरः प्रकाशनीय इत्यस्ति महानभिलाषः, यदि स सेत्स्यति मन्ये
प्रियपाठकास्तर्प्यन्तीति । अयं च यद्यवसरो लभ्येत पुनरपीमं भागं
सर्वाङ्गरमणीयं कृत्वा प्रकाशयिष्यामः । इदानीं ग्रन्थमिममनुपलम्भयोग्यमुप-
लब्धिविषयं कृतवतः श्रीचौखम्बाग्रन्थावल्याधिपतीनाशीर्भिरभिपूर्य स-
न्तोष्टव्यमित्यभ्यर्थये विद्वन्मणीन् । ग्रन्थविषये यद्वक्तव्यं तत् सर्वं द्विती-
यभागभूमिकायामभिधास्यते । अत्र त्वेतावतैव विरम्यते—

वाराणसीइनुमद्वः
मार्गशीर्षकृष्णसप्तमी
च० सं० १९९१
३८-११-३४ ई०

}
{
}

इति विपश्चिदनुचरः
अ० चिन्नस्वामिशास्त्री ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणगतानां विषयाणां सूची ॥

| विषयः— | पृष्ठम्— | विषयः— | पृष्ठम्— |
|---|----------|---|----------|
| प्रथमाध्याये प्रथमस्रगटे— | | स्तोमयोजनानन्तरं पठनीयो मन्त्रः | १७ |
| महत्वाचरणम् | १ | आदित्यप्रेक्षणमन्त्रः | १८ |
| उपोद्घातत्वेनाऽनारम्भाधीतानां प्रकृतिः | | प्रथमाध्याये चतुर्थस्रगटे— | |
| गामित्वविचारः | २ | आदित्याहवनीयाद्युपस्थानमन्त्रः | १९ |
| प्रथमाध्यायगतानां मन्त्राणां द्वितीयवृत्तिः | | सदसो द्वारि तिष्ठद्भिर्माज्जालीयौदुम्ब- | |
| तीयाध्यायगतानां विष्टुनीनाञ्च क- | | यादीनामुपस्थानं कार्यम् | २० |
| त्वज्जत्वम् | ३ | महावेदेष्टव्यस्थानम् | २२ |
| होत्रध्वर्युन्मृशोद्गातृणामेव वरणम् | ४ | प्रथमाध्याये पञ्चमस्रगटे— | |
| मन्त्रस्येयताप्रतिपादनम् | ५ | औदुम्बरा उतरत उपवेशने मन्त्रः | २३ |
| वृत्तस्योद्गातृजपमन्त्रः | ५ | चमसावेक्षणमभ्यग्नयोर्मन्त्रः | २३ |
| देवयजनदेशं गच्छत उद्गातृजपमन्त्रः | ६ | महत्वाचरणानन्तरं चक्षुराद्यभिमर्शनमन्त्रः | २४ |
| प्रातरनुवाकावसानसमये उद्गात्रादिभि- | | आध्यायनमन्त्रः | २५ |
| र्वेशाक्रमणं कर्तव्यम् | ६ | माध्यन्दिनसवने स्तोमयोगमन्त्राः | २७ |
| उद्गात्रादीनां हविर्धानप्रवेशमन्त्रः | ७ | तृतीयसवने यजमानवाचनमन्त्रः | २८ |
| प्रथमाध्याये द्वितीयस्रगटे— | | प्रथमाध्याये षष्ठस्रगटे— | |
| उद्गात्रादिभिर्मन्त्रोच्चारणपूर्वकं सो- | | सत्ररूपदशरात्रान्तर्गतषोडशिप्रहमक्ष- | |
| मस्पर्शनं कार्यम् | १० | णमन्त्रः | ३० |
| उद्गात्रादिभिर्द्रोणकलशावस्थापनं | | आहुतस्तोत्रेषु समासेषु यजमानवा- | |
| कार्यम् | ११ | चनमन्त्रः | ३१ |
| आभिषेकसाधनीभूतप्राण्यां स्पर्शनम् | १२ | तृतीयसवने स्तोत्रसमाप्त्यनन्तरं | |
| उद्गात्रा दशापवित्रेण द्रोणकलशस्त- | | स्तोमविमोक्तमन्त्रः | ३२ |
| स्मार्तव्यः | १३ | द्वारियोजनप्रहमक्षणमन्त्रः | ३३ |
| धाराप्रहणसमये पठनीयो मन्त्रः | १४ | दधिभक्षणमन्त्रः | ३४ |
| प्रथमाध्याये तृतीयस्रगटे— | | प्रथमाध्याये सप्तमस्रगटे— | |
| उद्गातृप्रस्तोतृप्रतिहर्तृभिः क्रमेण प्रवृ- | | दक्षिणाप्रतिप्रहीतुरद्वमुखसम्मार्जन- | |
| त्तहोमौ कर्तव्यौ | १५ | मन्त्रः | ३६ |
| स्तोमयोजनमन्त्रः | १६ | रम्याप्रहणमन्त्रः | ३७ |

| विषयाः— | पृष्ठम्— |
|--|----------|
| रथारोहणमन्त्रः | ३७ |
| अश्वबन्धनरज्जुग्रहणमन्त्रः | ३८ |
| प्रथमाध्याये अष्टमखण्डे— | |
| सर्वाक्षिणाप्रतिग्रहे पठनीयो मन्त्रः | ३९ |
| हिरण्याजादिप्रतिग्रहे मन्त्रः | ३९ |
| अविप्रतिग्रहे मन्त्रः | ४० |
| आसनशय्यादिवरगुप्रतिग्रहे मन्त्रः | ४१ |
| हिरण्माषादिप्रतिग्रहे मन्त्रः | ४२ |
| प्रथमाध्याये नवमदशमखण्डयोः— | |
| त्रिवृत्पञ्चदशादिस्तोमभागमन्त्राः | ४४ |
| प्रथमाध्यायगतमन्त्राणां विनियोग- | |
| सङ्ग्रहः | ४९ |
| द्वितीयाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| बहिष्पवमानसाधनीभूतत्रिवृत्स्तोमग- | |
| ताया उद्यतीविष्टुतेस्वरूपम् | ५२ |
| उद्यतेनानाविधफलसाधनत्वेन प्रशंसा | ५३ |
| द्वितीयाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| त्रिवृत्स्तोमगतपरिवर्तिनीविष्टुतेस्वरूप- | |
| पम्, तत्प्रशंसा च | ५४ |
| द्वितीयाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| त्रिवृत्स्तोमगतकुलायिनीविष्टुतेस्वरूपम् | ५६ |
| बहुफलसाधनत्वेन कुलायिन्याः प्रशंसा | ५७ |
| द्वितीयाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| पञ्चदशस्तोमगतपञ्चपक्षिनीविष्टुतेः स्वरूपम्, तत्प्रशंसा च | ५८ |
| द्वितीयाध्याये पञ्चमपञ्चखण्डयोः— | |
| पञ्चदशस्तोमस्य विष्टुत्यन्तरप्रदर्शनम् | ६० |
| द्वितीयाध्याये सप्तमाष्टमनवमेषु खण्डेषु— | |
| सप्तदशस्तोमस्य विष्टुतिस्वरूपवर्णनम्, तद्विभागस्तुती च | ६२ |
| द्वितीयाध्याये दशमखण्डे— | |
| सप्तदशस्तोमीयविष्टुतेर्युद्धनप्रकारः | ६७ |
| अत्राऽधिकारिनिर्देशः | ६८ |

| विषयाः— | पृष्ठम्— |
|---|----------|
| द्वितीयाध्याये एकादशखण्डे— | |
| सप्तदशस्तोमस्य विष्टुत्यन्तरविधानम् | ६९ |
| द्वितीयाध्याये द्वादशखण्डे— | |
| सप्तदशस्तोमस्योद्यारयाख्या विष्टुतिः | ७० |
| द्वितीयाध्याये त्रयोदशखण्डे— | |
| सप्तदशस्तोमस्य भस्त्राख्या विष्टुतिः | ७१ |
| द्वितीयाध्याये चतुर्दशखण्डे— | |
| एकविंशस्तोमस्य विष्टुतयः | ७२ |
| तृतीयाध्याये— | |
| त्रिणवादीनां स्तोमानां विष्टुतिप्रदर्शनम् | ७७ |
| चतुर्थाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| गवामयनसंज्ञाया निर्वचनम् | ९१ |
| गवामयनस्य द्वादशमासकर्तव्यता | ९२ |
| गवामयनवेदनस्य सफलत्वम् | ९३ |
| गवामयनिकप्रथमदिनस्याऽतिरात्रसं- | |
| स्थाकत्वम् | ९३ |
| अतिरात्रप्रशंसा | ९४ |
| अभिष्टवपदङ्गपूर्वज्यहाविधानम् | ९५ |
| तदुत्तरज्यहाविधानम् | ९६ |
| पृष्ठयज्जहाविधानम्, तत्प्रशंसा च | ९७ |
| चतुर्थाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| गवामयनिकद्वितीयादिनस्य प्रायणीयसं- | |
| ज्ञातत्वम् | ९८ |
| प्रायणीयशब्दव्युत्पत्तिः | ९८ |
| प्रायणीयदिने सन्निधां ऋतिविरभावः | ९८ |
| प्रायणीये चतुर्विंशस्तोमविधानं तत्प्र- | |
| शंसा च | ९९ |
| प्रायणीयदिनस्योक्त्यसंस्थाकत्वे दोष- | |
| परिहारो विकल्पेनाऽग्निष्टोमसंस्था- | |
| कत्वञ्च | १०० |
| प्रायणीयस्याऽग्निष्टोमसंस्थाकत्वमेवेति | |
| सिद्धान्तः पक्षः | १०१ |

| विषयाः— | पृष्ठम्— |
|---------------------------------------|----------|
| प्रायणीयदिने बहिष्कृतमानस्य मत- | |
| भेदेन स्तोत्रीयविधानम् | १०३ |
| तत्रैव स्वाभिमतस्तोत्रीयविधानम् | १०३ |
| चतुर्थाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| माध्यान्दिनसूचने ब्राह्मणाच्छसिकर्तृक | |
| पृष्ठस्तोत्रनिर्वर्तकाभीवर्तसामनिर्व- | |
| चनम् | १०४ |
| अभीवर्तसाम्नो ब्रह्मसामत्वेन प्रशखा | १०५ |
| चतुर्थाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| गवामयने मासपञ्चकपर्यन्तमह वल्लभेः | |
| बार्हत्तप्रगाथसम्पादनश्च | १०८ |
| चतुर्थाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| गवामयने षष्ठे मासे अभिजिह्विषुव- | |
| न्मध्यगतस्वरसामविधानम् | ११३ |
| स्वरसङ्ख्यापूर्वकं तत्स्तुतिः | ११३ |
| स्वरसाम्नो स्तोमविधानम् | ११४ |
| तेषामनुष्ठानस्थानम् | ११५ |
| अनुष्ठानस्थानस्य प्रशंसा | ११६ |
| चतुर्थाध्याये षष्ठखण्डे— | |
| गवामयने प्रधानमृतनिषुवदाख्या- | |
| हर्विधानम् | ११८ |
| तस्मिन्नहनि एकविंशस्तोमविधानम् | ११९ |
| एकविंशस्तोमस्य सफलत्वम् | ११९ |
| विषुवदह्नि बहिष्कृतमानस्य प्रतिपद्दि- | |
| धानम् | १२० |
| विषुवदह्नि दिवाकीर्यसामविधानम् | १२१ |
| दिवाकीर्यादिषाम्नां सूचविधानम् | १२२ |
| चतुर्थाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| विषुवदह्नि माध्यान्दिनपवमानेऽभीवर्त- | |
| सामाऽपि कार्यम् | १२४ |
| अत्र प्रगाथाविधानम्, तत्प्रशखा च | १२५ |
| उत्तरस्मिन् पक्षसि प्रातिलोभ्येन स्व- | |
| रसामाभिष्टवादयः कार्याः | १२६ |

| विषयाः— | पृष्ठम्— |
|--------------------------------------|----------|
| चतुर्थाध्याये अष्टमखण्डे— | |
| उत्तरस्मिन् पक्षसि अभिष्टवानन्तरं | |
| गौरायुरिति द्वे अहनी | १२७ |
| उत्तरस्मिन् पक्षसि षष्ठे मासे द्वाद- | |
| शान्तान्तर्गतदशाहविधानम् | १२८ |
| अत्र दशमेऽह्नि वामदेव्यामिष्टोमसा- | |
| मोर्विधानम् | १२९ |
| चतुर्थाध्याये नवमखण्डे— | |
| दशमेऽह्नि पक्षीसंयोजनान्तरमाहव- | |
| नीयोपस्थानं कार्यम् | १३१ |
| दशमेऽह्नि मानसाह्यस्तोत्रविधानम् | १३२ |
| मानसस्तोत्रे प्रस्तावोद्गीयादिक मन- | |
| सैव कर्तव्यम् | १३३ |
| मानसस्तोत्रानन्तरं आनश्वप्रदशं- | |
| नादृष्टपतेरौदुम्ब्यंनुरस्यः | १३४ |
| अत्र सर्वैवायमनं कर्तव्यम् | १३५ |
| आरमनोऽवदानप्रकारः सत्रिणां षण- | |
| नविधानश्च | १३६ |
| चतुर्थाध्याये दशमखण्डे— | |
| गवामयनस्य महामताद्व्यमुपान्त्य- | |
| महाः | १३७ |
| महामतस्य पञ्चविंशस्तोमकता | १३८ |
| पञ्चमाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| महामते वामदेव्यं साम कार्यम् | १३९ |
| अत्र शिरःपक्षादिभेदेन पञ्चविधस्य | |
| होतुः पृष्ठस्य विधानम् | " |
| प्रकारपक्षके होतुः पृष्ठे पार्थक्येन | |
| स्तोमविधानम् | १४० |
| पञ्चमाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| महामते प्रकारान्तरेण स्तोमसाम्नां | |
| विधानम् | १४३ |
| पञ्चमाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| महामते इलान्दाद्व्यं सामाऽमिष्टोमसा- | |
| मत्वेन कर्तव्यम् | १४६ |

| | |
|---|------|
| विषयाः— | १४५— |
| इत्यन्ते सामनि शक्तिवनादीनां | |
| विधानम् | १४७ |
| महामते वारवन्दीयं वाग्निशोमसाम- | |
| त्वेन कार्यमिति पक्षान्तरम् | १४८ |
| पञ्चमाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| महामते स्तोत्रसमाप्तिनन्तरं प्राणसा- | |
| न्नाऽऽहवनीयोपस्थानम् | १४९ |
| वसिष्ठस्यनिहवेन साक्षात् चात्वाल्लोप- | |
| स्थानम् | १५० |
| श्लोकानुश्लोकभ्यां हविर्धानोपस्था- | |
| नम् | १५१ |
| सदोगाहपत्न्योरुपस्थानम् | १५२ |
| पञ्चमाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| महामते आसन्दीमारुद्रोद्गात्रा गानं | |
| कर्तव्यम् | १५३ |
| आसन्त्या औदुम्बरीत्वविधानम् | १५४ |
| तत्राऽऽरोहणोपावहरणे छन्दोभिः कार्यं | १५५ |
| होत्रादीनां ऋत्विजामासनविधा- | |
| नम् | १५५ |
| अथ राजपुरुषैर्देवयजनस्य परितो | |
| गमनं कर्तव्यम् | १५७ |
| पञ्चमाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| अश्वप्यादिमिरप्यवयवशो महामतेन | |
| स्तोत्रं कर्तव्यम् | १५८ |
| पूर्वोक्तपञ्चनिरसनपूर्वकमुद्गात्रैव स्तो- | |
| तव्यमिति पक्षान्तरम् | १५९ |
| उद्गानसमये पत्नीनामुपगानविधानम् | १६० |
| महावृत्तदिने सर्वयजमानगृहेषु मा- | |
| ह्मणभोजनार्थं पाकः कर्तव्यः | १६१ |
| यजमानप्रेरितानां पत्नीनामुदकुम्भघा- | |
| रणविधानम् | १६२ |

| | |
|--|------|
| विषयाः— | १४५— |
| पञ्चमाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| गवामयने सर्वेष्वहस्तु आर्भक्ष्यमाने | |
| गौरीवितसान्नो विधानम् | १६३ |
| सुहानाह्यस्य सान्नोऽन्वहं कर्तव्यत्वेन | |
| विधानम् | १६४ |
| पञ्चमाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| अन्वहं कर्तव्यत्वेन श्यावाऽवन्निहव- | |
| योस्सान्नोर्विधानम् | १६६ |
| अभिप्लवणद्वयस्य प्रथमेऽहि ओको- | |
| निधनाह्यं साम कर्तव्यम् | १६७ |
| पञ्चमाध्याये नवमखण्डे— | |
| मायकृष्णाटमी गवामयनस्य दीक्षा | |
| कालः | १६८ |
| अस्मिन्पक्षे दोषोद्घाटनम् | १६९ |
| फाल्गुनपौर्णमासी दीक्षाकाल इति प- | |
| क्षान्तरम् | १७० |
| चित्रापौर्णमासी दीक्षाकाल इत्यन्यः | |
| पक्षः | १७० |
| चित्राशुक्लैकादशी गवामयनस्य दीक्षे- | |
| ति सिद्धान्तः पक्षः | १७१ |
| पञ्चमाध्याये दशमखण्डे— | |
| गवामयने विकल्पन प्रतिमासमेकैकम् | |
| हरत्तट्यम् | १७१ |
| तदुत्सर्गप्रकारचिन्ता | १७२ |
| तत्सुशुद्धिनस्य कृत्यं तत्पूर्वतनादिषु | |
| कार्यम् | १७३ |
| पञ्चमाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| सर्वसोमप्रकृतिभूताग्निशोमस्योत्प- | |
| त्तिः तत्प्रशंसा च | १७५ |
| अग्निशोमेन साकं मुखतः त्रिष्टयाश्रौ- | |
| तद्व्यसन्यादीनामुत्पत्तिः | १७७ |
| वरस्त पञ्चदशस्तोमराजन्येन्द्रादीनामु- | |
| त्पत्तिः | १७७ |

| | |
|---|----------|
| विषयाः— | पृष्ठम्— |
| मध्यतस्मिन् दशस्तोमवैद्यादीनामुत्पत्तिः ,, | |
| पञ्चषास्ते कविशस्त्रोमयद्रादिनिमुत्पत्तिः १०९ | |
| पञ्चाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| त्रिभुवादिसंज्ञायां वेदनावदयकता १८० | |
| विश्ववत्प्रत्यक्षशस्त्रोमयोर्विधानम् १८१ | |
| पञ्चाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| आग्निष्टोमस्य सर्वकलसायकत्वम् १८२ | |
| आग्निष्टोमस्य उद्योतिष्टोमत्वेन व्यपदेशे | |
| प्रश्नोत्तरे १८३ | |
| त्रिभुवादिसंज्ञायां चतुर्थस्य यज्ञनिर्वाह- | |
| कत्वेन प्रशंसा १८६ | |
| पञ्चाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| आग्निष्टोमे उद्गातृकर्तृकर्मबुम्बुर्बुम्बु- | |
| यगम् १८७ | |
| औद्गुम्बुर्बुम्बुयणे मन्त्रविधानम् , त- | |
| दर्याविवारश्च १८८ | |
| उद्गातृप्रत्ये प्रादीनामौद्गुम्बुर्बुम्बुयग- | |
| मत्त उन्वेष्टनप्रकारः १९० | |
| पञ्चाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| श्लोककलशम्यात्यतिप्रकारः तस्य प्रोह- | |
| पविधानश्च १९१ | |
| श्लोककलशप्रोहगे मन्त्रविधानम् , | |
| तदर्याविवारश्च १९२ | |
| श्लोककलशप्रोहणं हविर्धानादयः कर्त- | |
| व्यम् १९३ | |
| श्लोककलशस्योपरि दशापवित्रस्थाप- | |
| नम् १९४ | |
| पञ्चाध्याये षष्ठखण्डे— | |
| उद्गाता प्राण्यामुपरि श्लोककलशाभ्युहर्त- | |
| कर्तव्यम् १९७ | |
| श्लोककलशसम्मानार्थं मन्त्रविधा- | |
| नम् १९८ | |

| | |
|--|----------|
| विषयाः— | पृष्ठम्— |
| तस्मिन्मार्जनसाधनतया शुद्धस्य दशा | |
| पवित्रस्य विधानम् १९९ | |
| उद्गाता प्राण्यानुमन्त्रणं कर्तव्यम् २०१ | |
| पञ्चाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| प्रश्नदोमविधानम् २०२ | |
| अध्वर्युप्रमुखैर्बहिष्पवमानार्थं प्रश्न- | |
| पर्वणं कार्यम् २०३ | |
| प्रश्नपर्वणसमये बाह्निनियमविधानम् २०४ | |
| अध्वर्यादीनां पञ्चहविर्वा समारम्भण- | |
| विधानम् २०५ | |
| तत्र प्रस्तात्रादीनां विच्छेदे दोषस्तप- | |
| रिहारश्च २०५ | |
| प्रश्नपर्वणसमयेऽध्वर्युणा प्रस्तरप्रहरण- | |
| कर्तव्यम् २०७ | |
| बहिष्पवमानस्य चात्वालसम्बन्धप्र- | |
| दर्शनम् २१० | |
| पञ्चाध्यायेऽष्टमखण्डे— | |
| बहिष्पवमाने नवस्तोत्रीयाः, दशमो | |
| दिहाःश्च २१० | |
| बहिष्पवमानस्तोत्रीयाणां दशसङ्ख्या- | |
| सम्पातिप्रदर्शनम् २११ | |
| बहिष्पवमानप्रशंसा २११ | |
| बहिष्पवमानस्तोत्रीयास्त्वमानदेवताकाः | |
| समानच्छन्दस्काश्च २१२ | |
| बहिष्पवमानस्योत्तमार्थां ऋचि रयन्त- | |
| रवर्णां गायत् २१४ | |
| पञ्चाध्याये नवमखण्डे— | |
| स्तोत्रेषु काम्यप्रतिपद्विधानम् २१५ | |
| पञ्चाध्याये दशमखण्डे— | |
| दीक्षितमरणे प्रतिपद्विशेषः २१९ | |
| अनृताभिषेकस्य प्रातःपद्विशेषः २१९ | |
| द्विजमानकप्रयोगे प्रतिपद्विशेषः २१४ | |

| | |
|--|----------|
| विषयाः— | पृष्ठम्— |
| वैरिगोकामस्य प्रयोगे प्रतिपद्विधानम् | २२५ |
| सप्तमाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| बहिष्पवमाने गायत्र्यध्यायः स्तुतिप्र- | |
| कारः | २२६ |
| गायत्र्यध्यायनि हिङ्गारस्यैव प्रतिहार- | |
| स्थानीयत्वम् | २२७ |
| गायत्र्यध्यायानिष्ठकं गेयम् | २२९ |
| गायत्र्यध्यायनिष्ठकं निघनानि | २३० |
| सप्तमाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| आज्यस्तोत्राणां देवतास्मरणम् | २३१ |
| तत्तदेवतास्तुतिः | २३२ |
| सप्तमाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| माध्यन्दिनसवने माध्यन्दिनपवमान- | |
| स्तुतिः | २३२ |
| पृष्ठस्तोत्रे धामनिघनछन्दसां विधा- | |
| नम् | २३३ |
| सप्तमाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| माध्यन्दिनपवमानगतपृष्ठहोतृच्छन्दस्तु- | |
| तिः | २३८ |
| माध्यन्दिनसवनस्य त्रैष्टुभत्वप्राप्तिः | २४१ |
| सप्तमाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| आमदीयवध्यायनस्तुतिः | २४२ |
| रौरवयौधाजयौशनानां धाम्नास्तु- | |
| तिः | २४२ |
| सप्तमाध्याये षष्ठखण्डे— | |
| पृष्ठहोतृन्तरयोः स्तुतिः | २४६ |
| ज्योगामयादिने रथन्तरपृष्ठहोतृविधा- | |
| नम् | २४९ |
| सप्तमाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| पृष्ठहोतृन्तरयोः स्तुतिप्रकारः | २५० |
| पृष्ठहोतृन्तरयोः प्रस्तावप्रतिहारभाग | |
| प्रदर्शनम् | २५१ |
| रथन्तरगाने नियमविशेषः | २५३ |

| | |
|---------------------------------------|----------|
| विषयाः— | पृष्ठम्— |
| सप्तमाध्याये अष्टमखण्डे— | |
| वामदेव्यध्यायानो निर्वचनम्, तस्य दे- | |
| वतासम्बन्धद्वारा स्तुतिश्च | २५५ |
| वामदेव्यस्य योनिधूना श्रद्धा गायत्री | २५७ |
| वैराजशाश्वररैवतानामुपातिप्रकारः | २५८ |
| सप्तमाध्याये नवमखण्डे— | |
| वामदेव्यस्य गाननियमः | २६० |
| सप्तमाध्याये दशमखण्डे— | |
| रथन्तरपृष्ठे नौघसध्याय कार्यम् | २६३ |
| नौघसध्यायानो ब्रह्मवर्चसफलजवरक- | |
| त्वम् | २६५ |
| पृष्ठपृष्ठे द्यैतस्य कार्यम् | २६६ |
| द्यैतस्य पशुकलामर्तवम् | २६६ |
| अष्टमाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| अभिचारप्रयोगार्थं ब्रह्मसामावेधा | |
| नम् | २६७ |
| अष्टमाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| प्रतिष्ठादिफलार्थत्वेन ब्रह्मसामविधा- | |
| नम् | २७१ |
| अष्टमाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| तृतीयसवने कालेयध्यायानो विधानम्, | |
| तन्निर्वचनञ्च | २७३ |
| कालेयस्य सर्वपृष्ठरूपत्वेन प्रशंसा | २७४ |
| अष्टमाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| तृतीयसवनस्याऽऽदौ गायत्रीविधानम् | २७५ |
| आमवपवमाने गायत्र्यसंहितादिसाम्नां | |
| विधानम् | २७७ |
| अष्टमाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| सफपीच्छलेयै रथन्दोविधानम् | २७९ |
| इयावाद्वाग्धीगवयोस्तुचविधानम् | २८० |
| इयावाद्वाग्धस्य स्तोमप्रदर्शनम् | २८१ |
| आग्धागवस्य निघनप्रदर्शनम् | २८२ |
| कावध्यायानो विधानम् | " |

| विषयाः— | पृष्ठम्— |
|--|----------|
| अष्टमाध्याये षष्ठस्रगुटे— | |
| यज्ञायज्ञीयसामविधानम् | २८३ |
| यज्ञायज्ञीयस्य सर्वयज्ञात्मकत्वम् | २८४ |
| यज्ञायज्ञीयसाम्नो गानप्रकारकथनम् | २८६ |
| अष्टमाध्याये सप्तमस्रगुटे— | |
| यज्ञायज्ञीयसाम्नः प्रहारान्तरेण प्रशं- | |
| सा | २८८ |
| शिरः प्राप्य यज्ञायज्ञीय साम गात- | |
| व्यम् | २९० |
| अष्टमाध्यायेऽष्टमस्रगुटे— | |
| उक्थस्तोत्रीयाणामाम्नेयत्वम् | २९२ |
| उक्थस्तोत्रीयाणां गायत्रीच्छन्दस्क- | |
| त्वम् | २९३ |
| उक्थस्तोत्रे साकमर्चं नाम साम | |
| कार्यम् | " |
| उक्थस्तोत्रे सौमरं द्वितीयं साम | |
| कार्यम् | २९४ |
| सौमरस्य निधनमेदेन फलभेदः | २९५ |
| उक्थस्तोत्रे सौमरसामानन्तरं नामैवं | |
| साम कार्यम् | २९८ |
| अष्टमाध्याये नवमस्रगुटे— | |
| हारिवर्णाक्ष्यं साम उक्थस्तोत्रे क | |
| र्तव्यम् | २९९ |
| उद्गोमीयाक्ष्य सामाऽच्छावाकसाम | |
| भवति | ३०० |
| उद्गोमीयाक्ष्यसाम्नस्त्ववृष्टेतजोरूप | |
| त्वेन प्रशंसा | ३०१ |
| अथर्द्धाक्ष्यं सामाऽच्छावाकसाम क- | |
| र्तव्यम् | ३०३ |
| अष्टमाध्याये दशमस्रगुटे— | |
| कामनामेदेन उक्थानां विधानम् | ३०४ |
| नवमाध्याये प्रथमस्रगुटे— | |
| अतिरात्रसंस्थायां रात्रिपर्यायाणां वि | |
| धानम् | ३०४ |

| विषयाः— | पृष्ठम्— |
|--|----------|
| रात्रिपर्यायाणां नानाप्रकारेण प्रशं- | |
| सा | ३०८ |
| रात्रिपर्यायेषु वैतह्व्यं साम कार्यम् | ३०९ |
| वैतह्वये निधनविधानम् | ३१० |
| सन्धिस्तोत्रस्य विधानम् | ३१२ |
| कामनामेदेन वैकल्पिकसन्धिसाम्नो | |
| विधानम् | ३१३ |
| नवमाध्याये द्वितीयस्रगुटे— | |
| गौरीविताक्ष्यमैत्रावरुणसाम्नो विधा | |
| नम् | ३१५ |
| काण्वाक्ष्यं साम ब्राह्मणाच्छाधिना का | |
| र्मम् | ३१६ |
| नवमाध्याये तृतीयस्रगुटे— | |
| सन्धिणां साम्युत्पत्तेः प्रायश्चित्तम् | ३२० |
| प्रभावसमयारपूर्वमाश्विनशस्त्रासमाप- | |
| ने प्रायश्चित्तम् | ३२१ |
| अश्विनशस्त्रे ऋचां परिमितिः | ३२२ |
| विहितन्यूनसंस्तवे प्रायश्चित्तम् | ३२३ |
| नवमाध्याये चतुर्थस्रगुटे— | |
| प्रातरनुवाक्योपाकरणस्य कालविधा | |
| नम् | ३२४ |
| सिद्धिचरणाने प्रतिषेधविधानम् | ३२५ |
| समुत्तप्तोमे होवज्रयविधानम् | ३२६ |
| संस्तुतप्तोमे होवृशस्त्रविधानम् | ३२८ |
| नवमाध्याये पञ्चमस्रगुटे— | |
| सोमापहरणे प्रायश्चित्तम् | ३३० |
| सोमप्रतिनिधयः | ३३१ |
| पूर्वाकानां सोमकार्यकारत्वम् | " |
| पूर्वाकामावे तत्प्रतिनिधिः | " |
| अपहृतसोमप्रयोगे अयन्तीयादीनां | |
| साम्नां विधानम् | ३३२ |
| नवमाध्याये षष्ठस्रगुटे— | |
| दोणकलशास्य मेदेन प्रायश्चित्तम् | ३३३ |

| विषयः— | पृष्ठम्— |
|---|----------|
| नवमाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| प्रातस्सवने सोमातिरेके प्रायश्चित्तम् ३३६ | |
| माध्यन्दिनसवने सोमातिरेके प्राय- | |
| श्चित्तम् ३३८ | |
| तृतीयसवने सोमातिरेके प्रायश्चित्तम् ३३९ | |
| नवमाध्यायेष्टमखण्डे— | |
| चतुर्थमये दीक्षितानां मरणे कर्तव्य- | |
| विधानम् ३४१ | |
| अत्रोद्गातृकृत्यविधानम् ३४२ | |
| नवमाध्याये नवमखण्डे— | |
| द्रोणकलशस्यसोमक्षये प्रायश्चित्तम् ३४५ | |
| नाराक्षसस्योपशोषणे प्रायश्चित्तम् ३४७ | |
| चमसमक्षणात्पूर्वमध्वर्युणा स्तोत्रो- | |
| पाकरणे कृते प्रायश्चित्तम् ३४९ | |
| सोमाभिषेकार्थप्राग्भां भेदने प्रायश्चि- | |
| त्तम् ३५० | |
| नवमाध्याये दशमखण्डे— | |
| प्रवर्ग्यपात्रस्य महावीरस्य भेदने प्रा- | |
| यश्चित्तम् ३५१ | |
| यज्ञमये यूपस्य विरोधे प्रायश्चि- | |
| त्तम् ३५२ | |
| दशमाध्याये दशमखण्डे— | |
| न्यूडद्वादशाहगतत्रिष्टोमविधा- | |
| नम् ३५४ | |
| षष्ठदशसप्तदशस्तोमयोर्विधानम् ३५५ | |
| एकविंशत्रिंशस्तोमयोर्विधानम् ३५६ | |
| अयस्त्रिंशस्तोमविधानम् ३५७ | |
| चतुर्विंशतीनां छन्दोमानां विधानम् .. | |
| दशमाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| द्वादशाहान्तर्गतदशरात्रषष्ठतीर्थानां | |
| त्रिष्टोदादिस्तोमानां गायत्र्यादिच्छ- | |
| न्दसां च लक्षप्रकारः ३५९ | |
| दशमाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| द्वादशाहस्य ऋद्धिकलवत्वेन विधा- | |
| नम् ३६१ | |

| विषयः— | पृष्ठम्— |
|--|----------|
| द्वादशाहगतदीक्षाणामपि सृष्टिहेतु- | |
| त्वप्रतिपादनम् ३६२ | |
| द्वादशाहाधिकारिप्रतिपादनम् ३६३ | |
| द्वादशाहं कृत्वात्मना तुष्टुवानस्य | |
| स्वराज्यप्राप्तिः ३६४ | |
| दीक्षाणामवयुस्य प्रशंसा ३६५ | |
| द्वादशाहस्य विराट्प्रभृतिप्रतिपादि- | |
| नम् ३६६ | |
| दशमाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| द्वादशाहगतोत्तराश्रयोर्विधानम् ३६७ | |
| दशमाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| द्वादशाहान्तर्गतनवरात्रस्य विमज्ज | |
| विधानम् ३७० | |
| नवरात्रे गायत्र्यादिच्छन्दसां निरूप- | |
| णम् ३७१ | |
| द्वादशाहस्य देवानां स्थानत्वेन स्तुतिः ३७५ | |
| दशमाध्याये षष्ठखण्डे— | |
| द्वादशाहान्तर्गतपृष्ठपञ्चद्वे प्रथमदि- | |
| नस्य तदोमस्तोमादेश विधा- | |
| नम् ३७७ | |
| पृष्ठपञ्चद्वे द्वितीयेदिनस्य तदोमस्तो- | |
| मादोमाश्च स्वरूपवर्णनम् ३७८ | |
| तृतीयचतुर्थपञ्चमादिनानां तदोमस्तो- | |
| मानाश्च स्वरूपविवेचनम् ३७९ | |
| षष्ठदिनस्य तदोमस्तोमानाश्च विधा- | |
| नम् ३८० | |
| दशमाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| पृष्ठपञ्चद्वेस्याग्निशब्दविभाजिप्रदर्श- | |
| नपुरस्सरं स्तुतिः ३८१ | |
| दशमाध्याये नवमदशमैकादशेषु खण्डेषु | |
| पृष्ठपञ्चद्वेस्य सामनिरूपणम् ३८४ | |
| एकादशाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| द्वादशाहान्तर्गतदशरात्रस्य प्रथमदिने | |
| बहिष्पवमानस्य स्तोमवत्प्रेषदर्श- | |
| नम् ३९३ | |

| विषयः— | पृष्ठम्— |
|--|----------|
| एकादशाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽज्यस्तोत्राणां स्तोमवृत्ति- | |
| प्रदर्शनम् | ३९६ |
| एकादशाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| तत्रैव माध्यन्दिनपवमानस्य स्तोत्री- | |
| याणां साम्नाश्च प्रदर्शनम् | ३९८ |
| द्वादशाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| तत्रैव पृष्ठस्तोत्रस्य स्तोत्रीयाणां सा- | |
| म्नाश्च विधानम् | ४०१ |
| एकादशाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽर्भवपवमानस्य स्तोत्रीयाणां | |
| साम्नाश्च विधानम् | ४०४ |
| एकादशाध्याये षष्ठखण्डे— | |
| दाशरान्तिकस्य द्वितीयादिने बहिष्प- | |
| वमानस्य तृचविधानम् | ४१२ |
| एकादशाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽज्यस्तोत्राणां विधानम् | ४१४ |
| एकादशाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| तत्रैव माध्यन्दिनपवमानस्य तृचप्र- | |
| दर्शनम् | ४१५ |
| एकादशाध्याये नवमखण्डे— | |
| तत्रैव होतु पृष्ठस्य स्तोत्रीयावधानम् | ४१९ |
| एकादशाध्याये दशमखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽर्भवपवमानस्य स्तोत्रीयाणां | |
| साम्नाश्च विधानम् | ४२१ |
| एकादशाध्याये एकादशखण्डे— | |
| तत्रैवोक्थ्यस्तोत्राणां तत्साम्नाश्च वि- | |
| धानम् | ४२६ |
| द्वादशाध्याये प्रथमखण्डे— | |
| दाशरान्तिकतृतीयदिने बहिष्पवमानस्य | |
| स्तोमप्रदर्शनम् | ४३० |

| विषयः— | पृष्ठम्— |
|---|----------|
| द्वादशाध्याये द्वितीयखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽज्यस्तोत्राणां तृचप्रदर्शनम् | ४३२ |
| द्वादशाध्याये तृतीयखण्डे— | |
| तत्रैव माध्यन्दिनपवमानस्य स्तोत्री- | |
| याणां साम्नाश्च प्रदर्शनम् | ४३४ |
| द्वादशाध्याये चतुर्थखण्डे— | |
| तत्रैव पृष्ठस्तोत्रस्य स्तोत्रीयाणां सा- | |
| म्नाश्च विधानम् | ४३९ |
| द्वादशाध्याये पञ्चमखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽर्भवपवमानस्य स्तोत्रीयादी- | |
| नां विधानम् | ४४१ |
| द्वादशाध्याये षष्ठखण्डे— | |
| तत्रैवानध्यानां स्तोत्रीयविधानम् | ४५२ |
| द्वादशाध्याये सप्तमखण्डे— | |
| दाशरान्तिकचतुर्थदिने बहिष्पवमानस्य | |
| स्तोत्रीयविधानम् | ४५५ |
| द्वादशाध्याये षष्ठमखण्डे— | |
| तत्रैव ऽऽज्यस्तोत्राणां स्तोमस्तोत्राणां- | |
| दीनां विधानम् | ४५९ |
| द्वादशाध्याये नवमखण्डे— | |
| तत्रैव माध्यन्दिनपवमानस्य स्तोत्रीय- | |
| प्रदर्शनम् | ४६२ |
| द्वादशाध्याये दशमखण्डे— | |
| तत्रैव पृष्ठस्तोत्रस्य तृचप्रदर्शनम् | ४६७ |
| द्वादशाध्याये एकादशखण्डे— | |
| तत्रैवाऽऽर्भवपवमानस्य तृचसाम्नां | |
| प्रदर्शनम् | ४७३ |
| द्वादशाध्याये द्वादशखण्डे— | |
| तत्रैवेकदशस्तोत्रस्य तृचप्रदर्शनम् | ४८० |
| द्वादशाध्याये त्रयोदशखण्डे— | |
| तत्रैव षोडशस्तोत्रस्य स्तोत्रीयाणां | |
| साम्नाश्च विधानम् | ४८३ |

ताण्ड्यमहाब्राह्मणमतविषयसूची समाप्ता ॥

ॐ तत्सत् ।

ताण्ड्यमहाब्राह्मणम् ।

प्रथमाऽध्याये

प्रथमः खण्डः ।



वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।
यज्ञत्वा कृतकृत्याः स्युस्तन्नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलज्ञगत् ।
निर्ममे तमहं चन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
तत्कटाक्षेण तद्रूपं दधद्युष्कमदीपतिः ।
आदिशत्सायनाचार्य्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमांसे ते व्याख्यायतिसङ्गहात् ।
कृपालुर्माधवाचार्य्यो वेदार्थं वक्तुमुद्यतः ॥ ४ ॥
व्याख्यातावृग्यजुर्वेदौ सामवेदेपि सहिता ।
व्याख्याता ब्राह्मणव्याख्याङ्करोभ्यौद्वात्रयुद्धये ॥ ५ ॥
पञ्चविंशतिरध्याया महति ब्राह्मणे स्थिताः ।
आद्येऽध्याये श्रुता मन्त्रा उद्गातुर्यजुरात्मकाः ॥ ६ ॥
ये तु मन्त्राः स्तोत्ररूपा उत्तरास्तु वृक्षेषु ते ।
योनिवद्भानमूढित्वा पश्यन्ते तद्विधेर्वशात् ॥ ७ ॥
यद्योन्यां गानमाप्नातं तदेवोत्तरयोर्ऋचोः ।
गायेदिति स्तोत्रकल्पत्यै साम्नामूहो विधीयते ॥ ८ ॥
आवृत्तियुक्तं तत्साम स्तोम इत्यभिधीयते ।
द्वयोरध्याययोः स्तोमप्रकारा बहुधा श्रुताः ॥ ९ ॥
चतुर्थाध्यायमारम्य मयामयनिकादयः ।
कतूनां विधयः प्रोक्ता एषोऽस्मिन् ब्राह्मणे क्रमः ॥ १० ॥
प्रथमाध्यायना मन्त्रा विनियोगपुरःसरम् ।
व्याख्यायन्ते सर्व्वसोमयागेष्वेतेऽङ्गताङ्गताः ॥ ११ ॥

ननु प्रथमाध्याये समाप्नातानां 'महन्मेवोच' इत्यादीनां मन्त्राणा-
ङ्गत्वङ्गत्वमयुक्तम्, क्रतुप्रकरणमध्ये पाठाभावात् । चतुर्थाध्यायप्र-
भृतीनि हि क्रतुप्रकरणानि भविष्यन्ति । चतुर्थपञ्चमाध्यायौ गवाम-
यतनामकस्य संवत्सरसत्रस्य प्रकरणम् । 'गावो वा एतत्सत्रमासते'-
त्यारभ्य तयोर्ध्याययोराम्नातत्वात् । षष्ठाध्यायेऽग्निष्टोमप्रकरणं 'प्रजा-
पतिरकामयत बहुस्यां प्रजायेयेति, स एनमग्निष्टोममपश्यदि'त्यारभ्य
तस्याध्यायस्याम्नातत्वात् । एवमुत्तराण्यपि क्रतुप्रकरणान्यवगन्त-
व्यानि । नन्वेवं प्रथमाध्यायगता मन्त्रा द्वितीयातृतीयाध्यायगता वि-
ष्टुतयश्च न कश्चित् क्रतुमारभ्याम्नाताः, अतो नैतेषां ऋत्वङ्गत्वं युज्यत
इति चेत् । मैवम् । अनारभ्याधीतानां प्रकृतिगामित्वमिति न्यायेन ऋत्व-
ङ्गत्वावगमात् । स च न्यायस्तृतीयाध्याये षष्ठपादस्य प्रथमाधिकर-
णे पर्णवाक्यमुदाहरत्याभिहितः—

प्रकृतौ विकृतौ वा स्याद्यस्य पर्णेत्यसौ विधिः ।

प्रकृतावेव वा तुल्याद्वचनादुभयोरसौ ॥

जुहूमाधित्य पर्णत्वविधिः प्रकृतिमात्रगः ।

चोदकेनोभयप्राप्तेर्विकृतौ विधितान् किम् ॥

अनारभ्य ध्रुयते—'यस्य पर्णमयी जुहूर्मवति न स पापश्लोकं शृ-
णोती'ति । तत्राव्यभिचरितक्रतुसम्यन्धवर्ता जुहूमाधित्य तदेतुः पर्ण-
वृक्षो वाक्येन विधीयते । 'या जुहुः सा पर्णमयी'ति वाक्यञ्च प्रकृतिवि-
कृत्योस्तुव्यमेव प्रवर्त्तते, उभयत्राश्रयभूताया जुह्वाः सत्त्वात् । तस्मा-
त्प्रकृतिविकृत्योरुभयोरप्ययं विधिरिति प्राप्ते ग्रन्थः ।

किमयं विधिर्विकृतौ चोदकात्पूर्वन्निविद्यते, पश्चाद्वा ? नाद्यः, आ-
श्रयभूताया जुह्वाः चोदकमन्त्रेणासम्भवात् । द्वितीये तु पर्णत्वमपि जु-
ह्वा सहैव चोदकेनातिदिश्यते । तत्र पुनर्विधिवैयर्थ्यादयं विधिः प्रकृ-
तिमात्रगः । एवं 'यस्य सादिरः क्षुवां मयती'त्युदाहरणीयम् । ननु का प्रकृ-
तिः, का विकृतिरिति चेत् । उच्यते । यत्र कर्तव्यं सर्वं प्रकर्षेण कर्मान्तर-
निरपेक्षेणोपीदिश्यते सा प्रकृतिः । यत्र विशेषरूपमेव कर्तव्यं श्रुत्योप-
दिश्यते इतरत्सर्वं कर्मान्तरादितिदिश्यते, सा विकृतिः । स चातिदेशः
प्रत्यक्षधृतिवचनाद्वा साम्याद्वा लिङ्गाद्वाऽवगन्तव्यः । तत्सर्वं सप्तमाष्ट-
माध्यायाभ्यां बहुधा विचारितम् । प्रकृतिश्च द्विविधा मूलप्रकृतिरवाप्त-
रप्रकृतिश्चेति । सर्वात्मना कर्मान्तरनिरपेक्षा मूलप्रकृतिः । कतिपयेष्वङ्गेषु
कर्मान्तरं चापेक्षते, स्वयञ्च कैश्चित् कर्माभिरपेक्षणीया भवति, से-
यमवान्तरप्रकृतिः । तत्र तिस्रो मूलप्रकृतयः, ताश्चाष्टमाध्यायस्य प्रथम-

पादे तृतीयाधिकरणस्य द्वितीयवर्णके विचारिता -

इष्ट्यग्निहोत्रसोमाना मूलप्रकृतिता नहि ।

अस्ति वा नालौकिकत्वादियत्तानवधारणात् ॥

लोकयत् सन्निपत्यारादुपकारिद्वयश्रुते ।

इयत्ताया निश्चितत्वान्मूलप्रकृतिता त्रिषु ॥

अलौकिकत्वेनैतावद्भिरङ्गैः सम्पूर्ण उपकार इति निश्चेतुमशक्यत्वात् इष्ट्यादीना नास्ति मूलप्रकृतित्वमिति चेत् । मैवम् । लौकिकसदृशत्वात् । यथा लोक भुजिक्रियायामोदन करण तस्य सन्निपत्योपकारिण शाकसूपादय आरादुपकारिण पीठप्रदीपादय । तथा भावनाया याग करणम्, अवघातादय सन्निपातिन प्रयाजादय आरादुपकारिण, अतो नात्यन्तिकमलौकिकत्वम् । इयत्ता तु लौकिके यथा प्रत्यक्षेण निश्चीयते तथा श्रौते श्रुत्या निश्चीयताम्, तस्मादिष्ट्यग्निहोत्रसोमाना मूलप्रकृतित्वमस्ति । तासु प्रकृतिष्वेव 'महन्मेवाच' इत्यादिमन्त्राणामङ्गत्वेन प्रवेशोऽधगन्तव्य । प्रकृतित्वस्य तत्रैव मुख्यत्वात् । तास्वप्येते मन्त्रा सोमयागे नतुं योग्या साम गमेयमित्यादिलिङ्गसम्भवात्, नानाविधब्राह्मणगतानामेतदीयविनि योगानामृषिभि सूचितत्वाच्च । ते च विनियोगा अस्माभिस्तन्मात्रव्याख्यानावसरे प्रदर्शयिष्यन्ते । यस्य तु मत सोमयागप्रकरणमिदं तस्य न कोपि सन्देहः ।

सोमयागे चार्पणं त्विजो वरणीया, तथा ह्यापस्तम्बेनोक्तम्- 'सामेन यक्ष्यमाणो ब्राह्मणानार्पेयानृत्विजो वृणीत' इति । आश्वलायनोऽपि दर्शपूर्णमासेष्टिपूर्वकत्वं सोमयागस्योक्त्वा पश्चान्तरापन्यासपूर्वकमेवमाह 'प्रागपि सोमनैके तस्य त्विज चत्वारस्त्रिपुरुषा तस्य तस्योत्तरे त्रय होता मैत्रावरुणो च्छावाको प्रावस्तुर्ध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता नेष्टोन्नता ब्राह्मणाच्छस्याग्नीध्र पोताहोता प्रस्तोता प्रतिहर्ता सुब्रह्मण्य इति, एतेऽहीनैकाहैयाजयन्ति, एत एवाहिताग्नय इ० प्रथमयज्ञा गृहपातिसप्तदशा दीक्षित्वा समोष्याग्नीस्तन्मुखा सत्राण्यासते' इति । अस्यायमर्थः । दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा पश्चाद्वा तद्यजमान पुरस्ताद्वा सोमेन यजेत तस्य सोमयागस्य होताध्वर्युब्रह्माद्वातेति चत्वारः ऋत्विजो मुर्या ते च प्रत्येक त्रिभिः पुरुषैरुपेता अतस्तस्य तस्य एकैकस्योत्तर त्रय पुरुषा भवन्ति, त एत द्वात्रादिनामका पाडश त्विजो द्विरात्रादिभिरहीनसङ्गैरग्निष्टोमादिभिरेकाहसङ्गैर्याजयन्ति । एत एव होत्रादयः षोडश त्विज स्वयमप्याहिताग्नयः प्रथमयज्ञेनाग्नि

ष्टोमेनेष्टा गृहपतिसङ्गकेन सतदशसत्पापूरकेन सहिता द्वादशाहादि-
सत्रार्थे दीक्षित्वा स्वस्वसम्बन्धिनोऽग्नीनेकत्र स्थापयित्वा तत्प्रधाना-
मघ्राण्युत्तिष्ठेयुरित्येकाहाहीनसत्रात्मकाय पते सामयागास्तदी-
यस्यात्विजो होवादिरूपस्य सामान्यलक्षण द्वाहायणामिधौ महर्षि-
दृष्टदोगसूत्रकार आह 'ऋत्विगर्षपोऽनुवान साधुचरणा घाम्पन्पू-
नाहो नातिरिकाह' इति ।

तादृश ऋत्विज वरीतु यजमान सोमप्रवाक प्रेषयेत् ।
सामयागवृत्तान्तमृत्विजे प्रकर्षेण वर्त्तानि सोमप्रवाक । स
च वरीष्यमाणस्य समीप गत्वा प्रभूयात् अस्मदीया यजमान सामन
यजते सत्वा प्रत्यात्विष्यमर्षयत इति । एवमुक्त इतो यथात्विष्य
कर्तुंनेच्छत् तदानीं सोमस्रमस्कृत्यात्विष्य पारहरेत् तत्परिहारानि
मिच्छ प्रत्यवायमपनेतु नमस्कार । प्रत्यवायश्च ध्रुपते-'यशसा वा
एयोम्येति य आत्विष्यन चरति तद्य प्रोतेह्य यशसा प्रतिदग्ध'
इति । अथासावात्विष्य कर्तुमिच्छत्तदा सोमप्रवाक प्रति सामयाग
विषय कुशल सर्वं पृष्ट्वा स्वकीय हर्षं यातयन्महन्मेवाच' इति मन्त्र
जपेत् । तदेतद्वाहायण सूत्रयामास-'यकारिष्यश्रम सामाय राह
इत्युक्त्वा प्रत्याचक्षति महन्मेवाच इति कारिष्यन् प्रतिमन्त्रयेतति' ।
आपस्तम्बोपि सूत्रितवान्, ऋत्विजो वृणोत यून ष्वधिरान्वाऽनुवाना
नूर्द्धवाचा नद्धहीनास्तेभ्य साम साम पृच्छन्ति क ऋत्विज के
याजयति कश्चिन्नाहीन कश्चिन्नस्यस्तमामात्विष्य कश्चित् कल्याण्यो
दीक्षिणा' इति । छन्दोगब्राह्मणम्-'भवत्यथ जपनि महन्मवोच' इति ।
यद्यप्यापस्तम्ब एतन्मन्त्रजप सर्वेषामृत्विजा साधारणमवोनत् तथा
प्यत्र द्वाहायणः स्वकीयपारमाथानुसारेणोद्गातरमामिलस्य तस्य सो-
मप्रवाकविषय प्रतिमन्त्रण विधत्त । परिमाया चैवमुक्ता-'एकधृति
विधानान्मन्त्रान् कर्माणि चोद्गातैव कुर्यादनादेश' इति । अस्यायमर्थः ।
महन्मेवोच इत्यादि मन्त्रानप्य कर्माणि च सामवेदोक्तान्युद्गातैवानादेशे
कुर्यात्, कुत ? एकधृतिविधानात् एकस्य कर्तुं ध्वजेन निर्देशेन
विधानात् । प्रतिमन्त्रयतेत्येकवचनविधानमुद्गातुलितत्वेनात्र परिमा-
प्यत इति ।

ननूद्गातुपुरषा प्रस्तोतुप्रतिहर्तुसुब्रह्मण्या अपि सामवेदोक्तकर्मा-
धिकारिणो न तु केवल उद्गातव । आहम्, तथापि न तेषा वरण
म्रियत किन्तु होप्रध्वर्युग्रंहोद्गातृणां चतुर्णामेव नियतम्, तदाहाप-
स्तम्ब -'तान्पृणीते चतुर सर्वाभ्यैकैकश' इति । तथासति प्रस्तोत्रादीना

वरणाभावमाश्रित्य द्राह्यायण उद्गातुरेवेदं प्रतिमन्त्रणम्मन्यते । यदि
तेषामपि वरणमङ्गीकुर्यात् तदा स्वकीयपरिभाषानुसारेण प्रस्तोता
प्रतिमन्त्रयेतेत्येवमादिशेत्, तदादेशाभावादुद्गातुरेव वरणं प्रतिमन्त्रणं
च तन्मतमित्यवगम्यते ।

ननु तस्य मन्त्रस्य महन्म इत्येष आदिरिति प्रतीकप्रहणादेवाव-
गम्यते अन्तन्तु कथमवगम्यत इति चेत् । उत्तरमन्त्रस्यादिप्रहणादिति
ब्रूमः । उत्तरादिः पूर्वान्तलक्षणमिति सूत्रकारेण परिभाषितत्वात् । अत्र
सूत्रकारो 'देवो देवमेति'त्युत्तरमन्त्रादि प्रहीष्यति, तस्माद्भुक्षिणीयेत्य
सौपूर्वमन्त्रस्यान्त इति द्रष्टव्यम् । मन्त्र पाठस्तु--

ॐ महन्मे वोचो भर्गो मे वोचो यशो मे वोचः
स्तोमं मे वोचो भुक्तिं मे वोचः सर्वं मे वोचस्तन्मावतु
तन्माविशतु तेन भुक्षिणीय ॥ १ ॥

हे सोमप्रवाक ! 'मे' महामुद्गात्रे यजमानस्त्वामात्विज्यायार्थयत इति
यद्वचनं प्रायौक्षस्तत् 'महत्' पूज्यं सर्वोत्कृष्टमेव 'अवोचः' उक्तवानसि, न
अल्बेतस्मात्पूज्यतमवचनं लोकेस्ति । तैत्तिरीयेऽपि वाजपेयफलत्वे-
नात्विज्यप्रशंसा कृता, तस्माद्वाजपेययाज्यः ऋत्विगधीनः सर्वा ह्यस्य
वाचोवरुद्धा इति । महाभाष्यकारेणापि व्याकरणाध्ययनफलतया-
त्विज्यं प्रशंसितुमिदं वाक्यमुदाहृतम्--'यो वा इमां पदशः स्वरशो
वर्णशोऽक्षरशो वा वाचं विदधाति स आत्विजीनो भवतीति, तस्मा-
न्महदुक्तवानसि । तथात्वं 'भर्गः' भर्जनं पापस्य विदारकं दीप्तं वा वचनं
'मे' मह्यं 'अवोचः' । तथा 'यशः' यशस्करं वचनं मे मह्यं अवोचः । सो-
मात्विज्यस्य यशस्करत्वं प्रसिद्धं श्रूयते च--'सोमो वै यशः स एवं
विद्वान् सोममागच्छति यश एवैनमृच्छति' इति । तथा 'स्तोमं' स्तुति-
साधनं त्रिवृदादिकं 'मे' मह्यं 'अवोचः' उद्गातृवरणस्य त्रिवृदादिप्रयो-
गार्थत्वादेवमुक्तम् । तथा 'भुक्तिं' भोगसाधनमेव वचनं 'मे' मह्यं 'अवोचः'
आत्विज्यकृत्येन, हि भोगस्तत्त्वं, यथादिद्रव्यं सत्प्रेते, यत् स्थेद्वा-
त्रादिवरणसमये कश्चित्कल्याणो दक्षिणा इति पृच्छते । तथा 'सर्वम्मे-
वोचः' किमनया महद्भर्ग इत्यादि परिगणनया यद्यदस्मदभीप्सितं
तत्सर्वमपि मह्यमवोचः । त्वयोक्तम्महत्त्वभर्गत्वादिगुणविशिष्टं यदा-
त्विज्यमस्ति 'तन्मावतु' मां रक्षतु, रक्षार्थं 'तत्' आत्विज्यं 'मा' मां
विशतु । 'तेन' अनुष्ठितेनात्विज्येन 'भुक्षिणीय' भुक्षीय भोगान् भुञ्जीय ।

भुजिघातोराशिलिङि बहुलमिति सिप् इडागमः, उकारादेश-
इछान्दसः ॥ १ ॥

अथ द्राह्यायणो द्वितीयमन्त्रस्य विनियोगमित्यमाह—‘स्वयं ब्रजेत्
क्रय उपवसद्येवोदङेव तु गृहेभ्यः प्रथमन्देवो देवमेतिवति’ । यः सोम-
क्रयस्य दिवसो यक्षोपवसद्याख्यः सुत्यादिवसात् पूर्वं दिवसस्तयो-
रन्यतरस्मिन्दिवसे उद्गाता स्वयमेव देवयजनदेशं गच्छेत्, न त्वन्यं
प्रहिणुयात्, गमने त्वस्ति कश्चिद्विशेषः । यद्यपि स्वगृहादक्षिणतो देव-
यजनं स्यात्तथापि ‘देवो देवमेतिव’ति मन्त्रेण स्वगृहेभ्यो निर्गच्छन्
प्रथमं कतिचित् पदान्पट्टार्थमुदङ्मुख एव गत्वा पश्चाद्देवयजनाभि-
मुखो भवेत् । ऋग्विष्णुसोमक्रययोर्मध्यवर्तिनमाध्वर्यवं प्रयोगं क्रतु-
सङ्ग्रहकारः सूचयामास । ग्रन्थोऽत्र बुद्धिसमाधानायोदाह्रियते ।

अथाग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेन याजयेत् ।

स पूर्वमृत्विजो वृत्वा देवभूमिविनिश्चये ॥

दीक्षणायां निर्वपेत्सोपि पत्नीसंयाजसंस्थितिः ।

कृते प्राचीनवेशेऽय संस्कारा वपनादयः ॥

हुत्वा दीक्षाहुतीः कार्या दीक्षा कृष्णजिनादिभिः ।

दीक्षितो निषमैर्युक्तो भवेत् क्षीरघृतादिभिः ॥

द्वादशाहं दीक्षितोऽथ निक्षित्वा द्रव्यमानयेत् ।

सोमञ्जर्मण्यस्याप्य विवशेत्सोमविक्रयो ॥

शय्यन्ता प्रायणीया स्याद्गृहीयात् क्रयणीपदम् ।

क्रीत्या सोमं रथे क्षिप्त्वा प्राग्वंशाग्रे समानयेत् ॥ इति ॥

मन्त्रपाठस्तु—

देवो देवमेतु सोमः सोममेतृत्तस्य पथा ॥ २ ॥

‘देवः’ द्योतमानः सोमः ‘देवं’ दानादिगुणयुक्तं इन्द्रादिकं ‘ऋतस्य’
यस्य ‘पथा’ मार्गेणादावाहुतिप्राणादिनाह्वया ‘एतु’ प्राप्नोतु । यद्वा
दीप्यतिस्तुतिकर्मकादेव स्तोतोद्गाता । अथवा ‘पर्जन्यो म उद्गातेति’ वर-
णमन्त्रे थवणात् पर्जन्यारयदेवतारूप उद्गाता देवं दीप्यमानं फलप्रका-
शकं घातयन्मृतस्य सम्यग्निधना पथा देवयजनमार्गेणैतु गच्छतु ।
‘सोमः’ अभिपद्यादिसंस्कृतो रसात्मकः ‘सोमं’ देवतारूपममृतं पु-
स्थानं स्वमूर्त्यन्तरं ‘एतु’ प्राप्नोतु रसात्मकः सोम एवामृतमयो
पुस्थानः सोमो मघत्पितृयः । ‘तमेव खलु देवा उपजीवन्ति यम-
क्षितिमः क्षितयः पिबन्ति’ इति ध्रुतेः ॥ २ ॥

द्राह्यायणः—‘दूरं व्रजित्वा विहाय दौष्कृत्यमिती’ति । यदि दूरमध्वानं व्रजेत् तदानीमप्रयतदेशातिक्रमणादिक्रमवर्जनीयं स्यात् ततो यत्किञ्चित् दुष्कृतमवश्यं भवेत् तच्छान्तये विहाय दौष्कृत्यमित्येवं मन्त्रं जपेत् ।

विहाय दौष्कृत्यम् ॥ ३ ॥

दुष्कृतस्य भावः दौष्कृत्यं तद्विहाय मनसा परिहृत्य देवयजनं गच्छामीति मन्त्रार्थः ॥ ३ ॥

द्राह्यायणः—‘यद्वा नामासीति पन्थानमापद्ये’ति । देवयजनस्य समीपवर्त्तिनं पन्थानमासाद्य वद्वेति मन्त्रं जपेत् ।

मन्त्रपाठस्तु—

यद्वा नामासि सृतिः सोमसरणी सोमं गमेयम् ॥ ४ ॥

हे देवयजनमार्ग ! त्वं ‘यद्वा नामासि’ नामाशब्दः प्रसिद्धः प्रसिद्धार्थः । यद् स्थैर्यं इति धातोरन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते इति वनिष् । यद्वा स्थिर इतरस्माद्बौक्तिकान्मार्गाद्दृढतर इति प्रसिद्धो भवति, स्थिरफलप्राप्ति-हेतोर्यज्ञस्य साधनत्वात् । यद्वा यद्वेत्येषा देवयजनमार्गस्य वैदिकी संज्ञा एतत्संज्ञो भवतीत्यर्थः । अथवा धवर्णस्य व्यत्ययेन यकारस्य स्थाने वकारः । यद्वा नामेत्येव सूत्रं, तदाहापस्तम्बः—‘यद्वा देवयजनं प्रति गन्ता एतत्संज्ञस्त्वमसि । ‘सोमसरणी’ सोमस्य प्राप्तिसाधनाभूता ‘सृतिः’ मार्गो भवति । तथा सृत्या ‘सोमं’ सोमयागं ‘गमेयं’ प्राप्नुयां, गमिधानोर्लिङ्याशिष्यङित्यङ् ॥ ४ ॥

द्राह्यायणः—‘उत्तरवेद्यन्तमाक्रम्य दक्षिणमीक्षमाणः पितरोभूरिति । देवयजनं प्रविश्यमाणः महावेदिपाद्वर्माक्रम्य ‘पितरोभूरिति’ मन्त्रेण पितृनुपतिष्ठेत् । तथा चापस्तम्बः—‘पितरोभूरिति दक्षिणावृत्तः पितृनुपतिष्ठेत्’ इति । मन्त्रपाठस्तु—

पितरो भूः पितरो भूः पितरो भूः ॥ ५ ॥

हे पितरः ! इयं ‘भूः’ दक्षिणवेद्यन्तलक्षणा भूमिर्युष्माकं निवासायेति शेषः, कर्मसमाप्तिपर्यन्तमत्र निवसतेति भावः । त्रिशक्तिरादरातिशयद्योतनार्था, पितृपितामहप्रपितामहानां त्रित्वापेक्षया वा ॥ ५ ॥

द्राह्यायणः—‘यूयमुच्छ्रीयमाणमनुमन्त्रयेरन्नुमण ऊर्ध्वभरसं त्वेती’ति । अद्धुर्युयूषं यदोच्छ्रयेत् तदानीमुद्गातारो नृमणं इत्यनुमन्त्रयेत् ।

अत्रापि पूर्ववत् क्रतुसङ्ग्रहः—

क्रीत्वा सोम रथे क्षिप्त्वा प्राग्वंशाग्रे समानयेत् ।
 धातिष्यां निर्वपेत्सोममासं चामुपसादयेत् ॥
 आनिष्येष्टिरिडन्ता स्यात्तानूनघ्नमवद्यति ।
 दीक्षामवान्तरामेति प्रवर्ग्योपसदोः कृतिः ॥
 दिनत्रये तत्कृतं स्याद्वेदिर्मध्यन्दिने भवेत् ।
 पट्त्रिंशत्पददीर्घेषां प्राग्वंशात् पूर्वतः स्थिता ॥
 प्रातः प्रवर्ग्यमुद्वास्य पश्चादुत्तरवेदितः ।
 शकटे द्वे हविर्दाने हविर्दानञ्च मण्डपम् ॥
 पश्चात्सदस्तस्य मध्ये निष्ठातौ दुम्वरी मिता ।
 दक्षिणस्यामसो घस्तात् गर्तानुपरवान् खनेत् ॥
 विधाय फलकाम्यान्तानग्रे कुर्यात् मृदा खरम् ।
 निर्वपेद्विष्ण्यगानग्रीपोमीयं पशुमाचरेत् ॥
 प्रयुज्योचितपात्राणि दर्शयत्सर्वमाचरेत् ।
 आज्यमासादिते वेद्या मन्ते यूपं समुच्छ्रयेत् ॥ इति ॥

पाठस्तु—

नृमण ऊर्ध्वभरसं त्वोर्ध्वभरा दृशेयम् ॥ ६ ॥

हे 'नृमण' ! नृपु यज्ञस्य नेतृपु यजमानेषु मनोनुग्रहबुद्धिर्यस्य विष्णवात्मनो यूपस्य सोऽयं नृमणः एतादृशविष्णुरूपयूप ! 'ऊर्ध्वभरसं त्वा' ऊर्ध्वमुपरिभागेऽध्वर्युभिर्भ्रियमाणं त्वामहं 'ऊर्ध्वभराः' सन् 'दृशेयं' अनुग्राहेकेण त्वया ऊर्ध्वमुन्नतगुणायमिति धार्यमाण ऊर्ध्वभराः, दृशिधातोर्लिङ्गादिपि अदिभासे तदपवादत्वेन दृशेरग्यक्तव्य इत्यक् । अदि तु सति दृशोऽङिगुणः इति गुणः स्यात् ॥ ६ ॥

ब्राह्मणः—'होता प्रातरनुवाकमनूच्याभूदुपा इति यदा घृयादथ वेदिमाक्रामेयुः मृदाशिधिरेतो'ति । उपवसथदिघसस्य मध्यरात्रादूर्ध्वं होता प्रातरनुवाकं ब्रूते । तदाहाद्विलायनः—'अथैतस्या रात्रिर्विवातकाले प्राग्वथसां प्रवादात्प्रातरनुवाकायामन्त्रितो वाग्यतस्तीर्थेन प्रपथेत्पादि' । अध्वर्युणामन्त्रितो होता प्रातरनुवाकमनूच्य तस्यावसानगता 'मभूदुपा' इत्येतामृचं यदा घृयात्तदानीमुद्रात्प्रस्तोतुप्रतिहर्तारो 'मृदेति' मन्त्रेण वेदिमाक्रामेयुः । क्रतुसङ्ग्रहस्तु—

यूपस्योच्छ्रयणादूर्ध्वं समापय्य पशुं ततः ।

वैसर्जनानि हुत्वाग्निं सोमं प्रावादि चानयेत् ॥

हविर्द्धाने स्थापयित्वा गृह्णीयाद्वसतीवरीः ।
प्रयुञ्ज्यात्सोमपात्राणि महारात्रे खरादिषु ॥
प्रावस्तुत स्थापिते सोमे पक्षिणां ध्वनितः पुरा ।
स्वात्प्रातरनुवाकार्थमुपाकरणमादरात् ॥ इति ॥

वेद्याक्रमणमन्त्रपाठस्तु-

मृदा शिथिरादेवानां तीर्थं वेदिरसि मा मा हिंसीः ॥७॥

हे वेद्यात्मिके भूमि 'मृदा' यज्ञायुधेन खाना या मृत्तन्मया 'शिथिरा' प्रशियिलावयवा त्व 'देवानां' उद्गात्रादीनामृत्तिवजां देवानामेव वा 'तीर्थं' एव तरणस्थानं असि, तथा 'वेदिरसि' असुरैरपहतानां घनानां लम्भयिष्यसि । 'यत्तद्विद्ध वेद्यमसुराणां वेद्यमविन्दत तदेकं वेद्यं वैदित्व'मिति ध्रुत्यन्तरात् । उक्तलक्षणां त्वां अधितिष्ठन्तं 'मा माहिंसीः' मा बाधस्व ॥७॥

द्राह्यायणः- 'हविर्द्धानं प्रवेद्यमाना वसतीवरीरनुप्रविशेयुस्तस्य रराट्यामालभ्य विष्णोः शिर इती'ति । अद्भ्यर्च्युणा प्रातरनुवाक उपाकृते प्रतिप्रस्थात्रा सवनीयपुरोडाशेषु निरुतेषूपपन्ने जनानामिकास्वप्सु पक्षीसहितासु वसतीवरीनामिका अपोऽध्वर्युर्हविर्द्धानमण्डपं प्रवेशयति । तदानीमुद्गात्रादयस्त्रयो 'विष्णोः शिर' इति मन्त्रेण रराट्यां हस्तस्पर्श कृत्वा हविर्द्धानमण्डपं पूर्व्या द्वारा प्रविशेयुः । रराटीनाम हविर्द्धानस्योपरि स्थिता काचित् काशमयी यष्टिरिति सत्यापाढ आह । पाठस्तु--

विष्णोः शिरोसि यशोधा यशो मयि घेहि ॥ ८ ॥

हविर्द्धानमण्डपो विष्णुदेवताकत्वात् विष्णुदेवता विष्णुत्वेनोपचर्यते, 'वैष्णवं हि देवताया हविर्द्धान'मिति ध्रुतेः । विष्णुदेवत्वेनोपचरितस्य हविर्द्धानस्य पूर्वस्मिन् द्वारे तिर्यग्गवस्थिता याष्टललाटवद्वर्त्तते, अत एव तद्वस्थानकरणभूतो मन्त्रोऽध्वर्युशास्त्रायामेवमाप्नोत्यने 'विष्णोरराटमनीति' ललाटस्य शिरोभागवर्त्तित्वं प्रसिद्धम् । अतो रराटीं प्रति विष्णोः शिरोसि इत्युच्यते । हे रराटि । त्वमचेतनापि सती यशोधा असि विष्णुशिर इत्येवम्भूतस्य यशसो धारयित्री भवसि तस्मात्त्वदीयस्पर्शं कुर्वति 'मयि' 'यशः' उद्गात्रे कुशल इति तादृशं घेहि धारय सम्पादय ॥ ८ ॥

द्राह्यायणः-इय ऊर्ज इति प्रविशन्त इति । उद्गातातारो हविर्द्धानं प्र-

विशन्त 'इष ऊज्ज' इति मन्त्र जपेयु । पाठस्तु—

इष ऊज्ज आयुषे वर्चसे च ॥ ९ ॥ १ ॥ १ ॥

इडमम्, ऊर्गास क्षीराज्यादि, आयु प्रसिद्ध, वर्चो वेदशास्त्राणि विद्वत्स्व रूप ब्रह्मवर्चस चकारात् पुत्रपौत्रादय, सर्वसम्पत्त्यर्थं हविर्दानं प्रविशामीति शप ॥ ९ ॥ १ ॥ १ ॥

इति ताण्ड्यब्राह्मण प्रथमाध्यायस्य प्रथमखण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

ब्राह्मण्येण 'अन्तरणेप वाहूनवहृत्य पाष्णीरनुचच्छन्तो युनज्मीति राजानमभिमृशेयुर्य प्रातः सवनीयाविभक्तश्चत् सर्वत्र चेत्याप्नुयुर्दशनैवति । हविर्दानमण्डपे दक्षिणशकटस्याधस्तात् पश्चिमभागेऽभिषवार्थं सामोवस्थापितो वर्चते । तं सोम इस्तै स्पृष्टमुद्गात्रादयो मण्डपं प्राविशन् प्रविश्य शकटस्य य द्व इषे दीर्घकाष्ठं विधत्ते तयो मध्य उद्गात्रादय स्वकीयदक्षिणावाहूनध प्रसार्य सोम स्पृशेयु तदर्थोऽयं 'युनज्मीति' मन्त्रः । यदा शकटस्याश्रितत्वेनाध प्रसारिताना वाहूना दधन् पर्याप्त स्यात् तदानीं स्वपादाना पाष्णिभागानुद्यम्य पाशमैर्भूमाववस्थानं प्रसज्यते, तन्माभूदिति पाष्णीरनुचच्छन्त इत्युक्तम् । स साम प्रातः सवनाय विभक्तश्चत्, तदा तावन्तमेव स्पृशेयु, अविभाग तु सर्वस्यापि सामस्य स्पर्शः । स्पृशन् प्राप्नुयुश्चत्तदा दशप्राप्तिमात्रेणैवालम्भ स्पर्शं विवक्षितः । पाठस्तु—

युनज्मि ते पृथिवीमग्निना सह युनज्मि वाच सह सूर्येण युक्तो वातोन्तरिक्षेण ते सह युक्तास्तिस्रो वि-
मृजः सूर्यस्य ॥ १ ॥

हे सोम ! आहवनीयादिरूपेण 'अग्निना सह' घेदिरूपामिमा 'पृथिवी' 'ते'त्वदर्थं 'युनज्मि'यकारदृष्टान्दसार्थं, युनज्मीत्येव शास्त्रान्तरपाठः, त्वया सयुक्ता करोमि । अग्निवद्यास्त्वसयोगे सति न द्विषणो यागो न निष्पद्यते । तथा 'सूर्येण सह' 'वाच' मन्त्ररूपा युनज्मयोजयामीति अन्तर्माधितप्यर्थो युजिधातुर्द्रष्टव्यः । सूर्यसयोगकालसापेक्षे प्रातः सवनादाहुषयुज्यते वाक्ययोगेन स्तोत्रशस्त्रादिसिद्धिः । तथा 'अन्तरिक्षेण सह' वाट 'वायु' 'ते'त्वदर्थं 'युक्त' योजित वायुसङ्गेन घट्टि प्रज्वाल्यते

अन्तरिक्षसंयोगेन प्रवर्ग्यज्वालादेरवकाशः सम्पद्यते यथा 'सूर्यस्य' सम्बन्धिन्यः 'विभृजः' विशेषेणान्धकारस्य भर्जने विनाशने समर्थाः स्तिस्रः लोकत्रयप्रकाशिकाः । यद्वा 'ग्रीणि वा आदित्यस्य तेजांसि वसन्ते प्रातः ग्रीष्मे मध्यन्दिने शरदपराहे' इति श्रुत्यन्तरोक्तास्तिस्रो दक्षिणो 'युकाः' योजिताः । यद्यप्येतत्सर्वं लोके स्वत एव सिद्धं तथाप्युद्गा-
तृणां मन्त्रपूर्वकानुस्मरणेन सोमः संस्कृतो भवति ॥ १ ॥

द्राह्यायणः—'दक्षिणस्य हविर्द्वानस्य पश्चात् सव्यावृत उपविशेयु-
ऋतस्य सदन' इति । सव्यावृतः सव्येन पार्श्वेनावर्त्तमानाः । पाठस्तु—

ऋतस्य सदने सीदामि ॥ २ ॥

'ऋतस्य' सोमस्य अवश्यं फलसाधनात्वात्सोमः सत्यः, सत्य-
सम्बन्धिनि 'सदने' समीपवर्त्तितस्थाने 'सीदामि' उपविशामि ॥ ॥

द्राह्यायणः—'अभिपुते राजन्यृतपात्रमसीति द्रोणकलशमालभ्येति' ।
राजनि सोमे प्रावमिरभिपुते सत्युद्गात्रादयः ऋतपात्रमसीत्यनेन
मन्त्रेण द्रोणकलशमुपस्पृश्य प्रोहेयुरिति वक्ष्यमाणेनान्वयः ।

ऋतपात्रमसि ॥ ३ ॥

हे द्रोणकलश ! त्वं 'ऋतपात्रं' सोमपात्रं 'असि' इति मन्त्रार्थः ॥ ३ ॥

द्राह्यायणः—'वानस्पत्य इति प्रोहेयुरिति' । शकटगतक्षस्य पश्चादव-
स्थितं द्रोणकलशं त्रय उद्गात्रादयः स्वहस्तैरघोदेशे तस्मादक्षात्
प्राञ्चं प्रोहेयुः, प्रादेशे यथावस्थितो भवति तथा कुर्युः । पाठस्तु—

वानस्पत्योसि वार्हस्पत्योसि प्राजापत्योसि प्रजा-
पतेर्मूर्द्धास्पत्यायुपात्रमसीदमहं मां प्राञ्चं प्रोहामि
तेजसे ब्रह्मवर्चसाय ॥ ४ ॥

हे द्रोणकलश ! त्वं 'वानस्पत्योसि त्वं वृक्षसम्बन्धी भवसि काष्ठवि-
शेषनिर्मितत्वात् । तथा 'वार्हस्पत्योसि' वृहस्पतेः सम्बन्धी भवसि च-
तुर्विंशतिरात्रकक्षाम सोमयागरूपं सत्रमनुतिष्ठता वृहस्पतिना सम्भा-
दितत्वात् सम्बन्धो द्रष्टव्यः । तदनुष्ठानं चाध्वर्युःशाखायामास्नातम्—
'वृहस्पतिरकानयत सम्मोद यादधीर गच्छेयुः पुरोधामिति, स एवं च-
तुर्विंशतिरात्रमपश्यत्तमाहरत्तेनायतेति । यद्वा, देवानां यज्ञे वृहस्पतेरु-
द्गातृत्वाच्चत्सम्बन्धः—'वृहस्पतिर्देवानामुद्गाता तदेव तद्युनकीति' ।
'प्राजापत्योसि' प्रजापतेः सम्बन्धी भवसि तत्सम्बन्धश्चाध्वर्युर्द्रोणः

कलशाभिमर्शनमन्त्रेऽवगम्यते । तथा चाध्वर्युशालायामाग्नायते-
 'उपयामगृहीतोसि प्रजापतये वेति द्रोणकलशमभिमृशेदिति' । प्रजा-
 पत्यो ह्येष देवतया यत् द्रोणकलश इति ब्राह्मणम् । 'प्रजापतेर्मु-
 र्क्षाऽसि' अस्य नन्मूर्द्धात्वं ब्राह्मणे समाग्नातम् । प्रजापतिरकामयत
 यदुस्यां प्रजायेयेति सोऽशोचत्तस्य शोचत आदित्यो मूर्द्धर्क्षोऽस्यत
 सोस्य मूर्क्षानमुदहरन् स द्रोणकलशोऽभवत् इति, अन्वयः स्यादुल्ले-
 नागच्छति सोमोऽस्मिन् द्रोणकलशपात्रे ततस्त्वं 'अत्यायु' नाम्नाभिधेयं
 'पात्रमासि' 'इदं' सर्वेषां प्रत्यक्षं यथा 'अहं' उद्गाता इमं द्रोणकलसं
 'प्राञ्चं' पूर्वदिग्गामिनं तन्वा 'प्रोहामि' । तच्च प्रोहणं मम 'तेजसे'
 शारीरकान्तये 'ब्रह्मवर्चसाय' श्रुताध्ययनसम्यक्तये च भवतु ॥ ४ ॥

ब्राह्मणः- 'तानभिमृश्य जपेयुर्मरुत इतीति' । अभिषवसाधनभूता
 प्रावाण उद्गात्रादिभिरेकत्र योजितत्वेन प्राक्तनत्वात्तच्छब्देन परामृश्यन्ते ।
 तान् प्रावाणो हस्तैरभिमृश्योद्गात्रादयो 'मरुत' इत्यादिकं मन्त्रं जपेयुः ।
 पाठस्तु—

मरुतो नपातोऽपङ्क्षयाः पर्वतानाङ्कुभः श्येना
 अजिरा एन्द्रं वग्नुना वहत घोषेणाम्बिवां चातयध्वं
 युक्तास्थ वहन ॥ ५ ॥

हे प्रावाणः ! यूयं मरुद्भ्यात् 'नपातो' न पतीति नपात् तस्य
 पङ्खवचनं नपात इति । यथा वृक्षगतपर्णादीनि वायुध्वलेन पात्यन्ते न
 तथा प्रावाणः । यद्वा मरुतो मितराविणः नपातो यज्ञस्य नपातयितारो
 रक्षकाः । 'अपां' जलानां क्षयाः निवासस्थानभूताः नदीमध्ये धर्मकालेपि
 तत्र पापाणानां सन्धिषु जलनिवसति । तथा 'पर्वतानाङ्कुभः' शृङ्गभूताः,
 ककुभं शृङ्गे विन्दुः प्रधानेपि च निघण्टे । 'श्येनाः' एतन्नामकपाक्षि-
 सदृशाः शंसनीयगमनाद्वा । 'अजिराः' क्षिप्रनामैतत् क्षिप्रगमना, 'एन्द्रं'
 'वहत' उक्तलक्षणा यूयं सोमयागार्थमिन्द्रमाह्वयत, केन साधनेन 'वग्नुना'
 वचनेन घाक्ष्यसदृशेन ध्वनिनेत्यर्थः । प्रावाणां सोमाभिषवध्वनिं श्रुत्वा
 इन्द्र आहूत इव शीघ्रमागच्छति । घोषेण भवदीयेनोग्रध्वनिना
 'अमोवान्' रोगवदुपद्रवकारिणोऽसुरान् 'चातयध्वं' पराभूतान् कुरुध्वम्
 अत एव तैत्तिरीया आमनन्ति- 'अद्वा देवस्य यजमानस्यासुरर्वावाक्रतुः
 यज्ञायुधेषु प्रविष्टासन्ति, तेसुरायादन्तो यज्ञायुधानामुद्धृतामुपाशृण्वन्
 ते परामवन्ति' 'युक्तास्थ वहत' इन्द्रमाह्वयासुरांश्च परामाव्य ततो
 द्रोणकलशं धादुस्परस्परं संयुक्ता भवत संयुज्य च कलशं वहत ॥ ५ ॥

द्राह्यायणः—‘पश्चाद्दक्षिणतो वा द्रोणकलशमध्यूहेयुः’रिदमहममुमि-
तीति । युक्तानां आवाणामुपरिष्ठाद् द्रोणकलशं पश्चादारभ्य प्राञ्चं दक्षिणत
आरभ्योदञ्चं वा स्थापयेयुः । पाठस्तु—

इदमहममुं यजमानं पशुष्वध्यूहामि पशुषु च मां
ब्रह्मवर्चसे च ॥ ६ ॥

‘इदं’ प्रत्यक्षं यथामवति तथा ‘अहं’ उद्गाता ‘अमुं’ परतो हृदयमानं,
इममिति केषांचित्पाठः । ‘यजमानं’ ‘पशुषु’ गोषु ‘अध्यूहामि’ उपरि स्थाप-
यामि । कलशाध्यूहनप्रसादात् मया यजमानेन च पशवो लभ्यन्ता-
मित्यर्थः, न केवलं पशुलामः किन्तु ब्रह्मवर्चसनिमित्तमप्येतदध्यूहनं
भवतु ॥ ६ ॥

द्राह्यायणः—‘पवित्रेण द्रोणकलशं’ संमृज्याद्वसवस्त्वेति बुध्नं
रुद्रास्त्वेति मध्यमादित्यास्त्वेति विलमितीति । दशापवित्रनामको
यो ब्रह्मखण्डस्तेनोद्गाता द्रोणकलशमूलमध्यविलभागान् मन्त्रगतै-
स्त्रिभिः मार्गैः शोधयेत् । पाठस्तु—

वसवस्त्वा गायत्रेण छन्दसा संमृजन्तु रुद्रास्त्वा
त्रैष्टुमेन छन्दसा संमृजन्त्वादित्यास्त्वा जागतेन छन्द-
सा संमृजन्तु ॥ ७ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ७ ॥

द्राह्यायणः—अवधूय पवित्रमुद्गदशमवाङ्नामिर्वितनुयुः पवित्रन्त
इतीति । दशापवित्रस्य मध्ये शुक्ला पूर्णा क्षुवं सोमधाराआवाणार्थं
यजमान आबध्नाति सा नामिरित्युच्यते । उदीचीनदशमवाचीनता-
मि च दशापवित्रं कृत्वा द्रोणकलशस्योपरिष्ठादुद्गात्रादयस्त्रयो वितनुयुः
वितन्य च दशापवित्रस्य कोणान् धारयेयुः । तथाच ब्राह्मणं ‘पवित्रं
विगृह्णातीति ।

पाठस्तु—

पवित्रन्ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येपि
विद्वतो तत्ततनूर्न तदामो अश्नुते श्रुतास इद्वहन्तः
सन्तदाशतः ॥ ८ ॥

हे ब्रह्मणस्पते मन्त्रस्य स्वामिन् सोम ! ते ‘पवित्रं’ शोधकमन्त्रं ‘वि-
ततं’ सर्वत्र विस्तृतं सः ‘प्रभुः’ प्रभविता त्वं ‘गात्राणि’ गानुरङ्गानि ‘पर्ये-
-

पि' परिगच्छसि । 'विद्वत्' सर्वतस्तव 'तत्' पवित्र 'अतस्तनू' 'पपोव्रता-
दिना असन्तातगात्रं' 'आम.' अपरिपक्वः 'न अश्नुते' न व्याप्नोति । 'श्रुतास
इत्' श्रुता एव परिपक्वा एव 'वहन्तः' 'तत्' पवित्र 'आशत' व्याप्नुवन्ति

ब्राह्मण.—'सन्ताताया चारायामुद्राता जपेत् अनुकौस्थिति' । द-
शापवित्रस्योपरि सोमरसस्य घारा सन्तता आच्यते तदानीमुद्राता प्र
शुकेतिवति मन्त्र जपेत् ।

पाठस्तु—

प्रशुकैतु देवी मनीषास्मद्रथः सुतष्टो न वाज्या-
युपे मे पवस्व वर्चसे मे पवस्व विदुः पृथिव्या दिवो जनि-
त्राच्छृण्वन्त्वापोधः क्षरन्तीः सोमेहोद्गाय ममायुपे मम
ब्रह्मवर्चसाय यजमानस्पृष्ट्या अमुष्य राज्याय ॥९॥१॥२॥

'शुका' शुद्धा निर्मला 'देवी' चोतनात्मिका 'मनीषा' स्तुतिः 'अस्मत्'
अस्मत्त. 'प्रैतु' प्रगच्छतु सामम् । तत्र दृष्टान्त 'रथो न' रथ इव कीदृश'
'सुतष्टः' सुष्ठु, तत्क्षणक्रियया निष्पादितः । 'वाजो' वेगवान् उग्रमुद्धि प-
रित्यज्य 'मे' ममोद्गातु 'आयुपे' आयुर्वृद्ध्यर्थे 'पवस्व' पूतो भव तथा 'मेव-
चसे' ब्रह्मवर्चसनिमित्त पूतो भव । 'पृथिव्या दिव' च 'जनित्रात्' याग-
द्वारेण उत्पादकादृशापवित्रात् 'अथ क्षरन्ती' क्षरन्त्यः 'आप' सोमर
सामिका 'विदुः' अस्मदीया मनीषां जानन्तु तदर्थ 'शृण्वन्तु' हे
'सोम' त्व 'इह' अस्मिन् कर्मणि 'उद्गाय' उद्गात वृत्त्वा उरुधारया
पूयमानस्य सोमस्य शब्द उद्गीषत्वेन स्तुयते । श्रूयते हि 'एष च
सोमस्योद्गीथो यत्पवन इति' । यदुद्गातृत्वं त्वया कृतं तत्र 'मम' उद्गातु-
रायुर्वृद्ध्यर्थे सम्पद्यते । तथा 'मम' ब्रह्मवर्चसार्थे सम्पद्यते । तथा यज-
मानस्य धनधान्यादिसमृद्धौ सम्पद्यते । 'अमुष्य राज्याय' अमुष्य राज्ञो
राज्याय अमुष्येत्यस्य स्थाने तस्य राज्ञो नाम निर्देष्टव्यम् । तत्र बुद्ध-
न्यतरस्यां सोमस्य राज्ञो राज्यायेति इत्येव निर्देष्टव्यमिति सिद्धान्ति-
तत्त्वात् सूत्रकार आह 'अमुष्य राज्यायेति' प्रियं राजानमादिशेद्राज्ञो
राज्यायेति वा सोमस्येत्येव त्रयात्सोमराजानो हि ब्राह्मणा इति । क्षत्रिय
वैश्ययोरपि दीक्षया ब्राह्मणत्वात् सोमस्येत्येव तयोरपि निर्देशः ।
'ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षित' इति श्रुतेर्ब्राह्मणत्वमवधीयते । अत
एव सूत्रान्तरं 'तस्माद्वाज्यवैश्यावपि ब्राह्मण इत्येवावेदयनी'ति ॥९॥१॥

इति द्वितीयखण्डः ।



अथ तृतीयः खण्डः ।

द्राह्यायणः—‘अध्वर्युणा हुते प्रवृत्तहोमौ जुहुयुर्गन्थानुपूर्वेण वेकुरा-
णामासि सूर्योमेती’ति । अध्वर्युणा वै एषु होमेषु हुतेपूजातारस्त्र-
योपि प्रवृत्तहोमौ जुहुयुः । प्रस्तोता प्रथमं ततः उद्गाता ततः प्रतिहर्त्तेति
एवं प्रसर्पणक्रमेण जुहुयुः प्रथममन्त्रो वाग्देवतयः । तत् पाठस्तु—

वेकुरानामासि जुष्टा देवेभ्यो नमो वाचे नमो वाच-
स्पतये देवि वाग्यत्ते वाचो मधुमत्तस्मिन्माघाः सरस्व-
त्यै स्वाहा ॥ १ ॥

हे सरस्वति ! त्वं ‘वेकुरा’ विक्रियातिकर्मा नामशब्दः प्रसिद्धौ
सर्वत्र व्यापनात् वेकुरेति प्रसिद्धा भवति । ‘देवेभ्यः’ तेषामर्थाय
‘जुष्टा’ स्तोत्रमिः स्तुता ‘असि’, तस्यै ‘वाचे’ वाग्देवतायै ‘नमः’
अस्तु ‘वाचस्पतये’ ब्रह्मणे ‘नमः’ अस्तु । हे ‘देवि’ ! द्योतमाने हे
वाग्देवते ! ‘ते’ तव ‘वाचः’ शब्दराशेः ‘यत् मधुमत्’ अतिशयेन
माधुर्योपेतं वस्त्विति तत् ‘तस्मिन्’ ‘माघाः’ निधेहि स्थापय तस्यै
‘सरस्वत्यै’ ‘स्वाहा’ इदं हविस्त्यजामि । स्वाहेति हविस्त्यागार्थो
निपातः ॥ १ ॥

द्वितीयमन्त्रपाठस्तु—

सूर्यो मा दिव्याभ्यो नाष्ट्राभ्यः पातु वायुरन्तरिक्षा-
भ्यो अग्निः पार्थिवाभ्यः स्वाहा ॥ २ ॥

‘सूर्यः’ सर्वस्य प्रेरको ह्युत्थानो देवः ‘मा’ मां ‘दिव्याभ्यः’ दिवि
भवाभ्यः ‘नाष्ट्राभ्यः’ नाशकारिभ्यो रक्षोजातिभ्यः ‘पातु’ ‘वायुः’
अन्तरिक्षस्थानः ‘अन्तरिक्षाभ्यः’ तत्रोत्पन्नाभ्यः नाष्ट्राभ्यः पातु ।
तथा ‘अग्निः’ भूस्थानः ‘पार्थिवाभ्यः’ नाष्ट्राभ्यः पातु ‘स्वाहा’ । तेभ्यः
सूर्यादिभ्यो हविस्त्यजामि ॥ २ ॥

द्राह्यायणः ‘सव्यैः पाणिभिः पृथग्दक्षिणा तृणानि निरस्येयुर्योद्य
सौम्य इती’ति । वहिष्पशमानस्तोत्रार्थे अध्वर्युमनुचात्वालसमीपे
प्रसर्पन्तस्त्रयोपि स्वकीयैर्वामहस्तैर्मार्गस्थितानि तृणानि दक्षिणस्या
दिशि निरस्येयुः । दक्षिणैस्तृणैरन्नारम्भविधानात् सव्यैस्तियुक्तम् ।
पाठस्तु—

योऽथ सौम्यो वधोघायूनामुदीरते विपूक्कहस्य
घन्वनाप तान् वरुणोऽपधमत् ॥ ३ ॥

‘अथ’ अस्मिन्नहनि ‘अधायुनां’ अथ हिंसामायतस्य ‘धम्बना’ मार्गेण अन्यैरविज्ञायमानेन नोद्गच्छतीत्यर्थः । ‘तान्’ वचनव्यत्ययः इच्छतां सम्बन्धी ‘सौम्यः’ सोमविषयः ‘वधः’ हिंसा तत्साधनं वा दूषणात्मकः ‘उक्षीरते’ उद्गच्छति ईर गतौ अदादिकः ‘बहुलं छन्दसी’ ति शपो लुगभावः । वधप्राप्तिसाधनमाह ‘विषूकुहस्य’ विषू विष्वक् सर्वतः कुहना वञ्चना यस्य स तथोक्तः तादृशस्य ‘वरुणः’ दुष्कृता-चारको देवः ‘अपधमत्’ धमतिर्वधकर्मा अपहन्वित्यर्थः ॥ ३ ॥

द्राह्यायणः—‘चात्वालदेशं प्राप्याध्वर्यावुपविष्टे तस्मात् प्रत्यगुप विशेषयुर्थोम आत्मेति स्पष्टार्थः । पाठस्तु—

यो म आत्मा या मे प्रजा ये मे पशवस्तैरहं मनो वाचं प्रसीदामि ॥ ४ ॥

‘मे’ मनोद्गातुः सम्बन्धी ‘यः आत्मा’ शरीरस्थितो जीवोस्ति । ‘या’ च मदीया ‘प्रजा’ पुत्रभृत्यादिरूपा ‘ये’ च गदीयाः ‘पशवः’ गोमहिष्यादयः ‘तैः’ सर्वैः सहिताः ‘अहं’ ‘मनो वाचौ’ समाधाय ‘प्रसीदामि’ प्रसन्ना भूवोपविशामि ॥ ४ ॥

द्राह्यायणः—प्रस्तरं प्रतिगृह्य प्रस्तोता ब्रह्मन् स्तोत्र्यामः प्रशास्तरित्युद्गात्रे प्रयच्छेत्तेन दक्षिणाजङ्घमुपहत्य युञ्ज्यात् स्तोममग्ने स्तेजसेतीति । उपवेशनानन्तरमध्वर्युणा दत्तं प्रस्तरं प्रतिगृह्योद्गात्रे प्रयच्छेत्तेन प्रस्तरेण स्वकीयां जङ्घां उपस्पृश्य उद्गाता स्तोमं युञ्ज्यात् । मन्त्रोच्चारणमेव स्तोमयोगः । तस्याठस्तु—

अग्नेस्तेजसेन्द्रस्पोन्द्रियेण सूर्यस्य चर्चसा बृहस्प-
तिस्त्वा युनक्तु देवेभ्यः प्राणायान्निर्घुनक्तु तपसा
सोमं यज्ञाय घोढवे दधात्विन्द्र इन्द्रियं सत्याः कामा
यजमानस्य सन्तु ॥ ५ ॥

हे सोम ! प्रिवृदादिलक्षणं ‘त्वां’ ‘बृहस्पतिः’ देवः ‘देवेभ्यः’ तेषामर्थायाग्नोन्द्रसूर्याणां सम्बन्धिमिस्तेजइन्द्रियवच्चोभिः ‘युनक्तु’ योजयतु । तेजआदिशब्दैरग्न्यादिदेवतानां सामर्थ्यानि विवाक्षितानि । तथा ‘प्राणाय’ क्रतिव्ययजमानप्राणरक्षणार्थं ‘अग्नेस्तपसा’ प्राणघातिवै-
रिसन्तापसामर्थ्येन ‘स्तोमं’ योजयतु, किमर्थं ‘यज्ञाय घोढवे’ यज्ञं घोढुं
तथा ‘इन्द्रोऽपि इन्द्रियं’ सामर्थ्यं ‘दधातु’ स्तोमं स्थापयतु उक्तद्वयं सूर्य-

धर्चसा युनक्तिवत्यस्याप्युपलक्षणम् । 'यजमानस्य कामाः' काम्यमानाः
आशिपः 'सत्याः' 'सन्तु' यक्षार्था भवन्तु ॥ ५ ॥

द्राह्यायणः 'अन्नक्षुरित्यामीति जपेदिति स्तोमयोगादूर्द्धमेतस्य म-
न्त्रस्य जपः । पाठस्तु--

अन्नं करिष्याम्यन्नं प्रविष्याम्यन्नञ्जनविष्यामि ॥ ६ ॥

अनेन स्तोत्रेणाहमुद्राता बहुप्राण्युपकाराय प्रसूतं 'अन्नं करिष्या-
मि' तच्च 'अन्नं प्रविष्यामि' भूतिः समृद्धिः समृद्धं करिष्यामि । तत् 'अन्न
ञ्जनविष्यामि' जनने ग्रीह्यादिरूपेण पुनः पुनः प्ररोदने हेतुत्वेन करि-
ष्यामि ॥ ६ ॥

द्राह्यायणः--'अन्नमकरमिति स्तुत्वा जपेत्' । बहिष्पवमानस्तोत्रादूर्-
द्धं अयं जपः । पाठस्तु--

अन्नमकरमन्नमभृदन्नमजीजनम् ॥ ७ ॥

स्तोत्रसामर्थ्यमन्नसमृद्धेर्निश्चितत्वाद्भूतार्थप्रयोगः ॥ ७ ॥

द्राह्यायणः--'स्येनोसीति प्रस्तरे यजमानं वाचयंदिति' । प्रस्तरे प्र-
स्तरे स्पर्शं कारयित्वेति शेषः । पाठस्तु--

इपेनोऽसि गावन्नछन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा
सम्पारयामा स्तोत्रस्य स्तोत्रं शम्पादिन्द्रवन्तो वनेम-
हि भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥ ८ ॥

हे बहिष्पवमान ! त्वं गायत्र्याख्यं छन्दो विशिष्टः सन् 'इयेन' इये-
नाख्यपक्षिसदृशः 'असि' तथा प्रचलोसीत्यर्थः । 'त्वा' तथाविधं त्वां
'अन्वारभे' आनुकूल्येन स्पृशामि 'स्वस्ति' क्षेमो विघ्नाभावरूपो यथा
भवति तथा 'मा'मां 'सम्पारय' सम्यग्यज्ञस्य पारश्रय 'स्तोत्रस्य' बहिष्प-
वमानरूपस्य यतः स्तोत्रमात्रमाज्यपृष्ठादिकमनन्तरभाषित्वेन सम्बद्धम-
स्ति । यद्वा 'स्तोत्रस्य स्तोत्रं' प्रशस्तं स्तोत्रं बहिष्पवमानादिकं तन्मा 'माग-
म्यात्' 'आगच्छतु' 'इन्द्रवन्तः' बहिष्पवमानदेवतारूपेणन्द्रेण तद्वन्तो वयं
'वनेमहि' सर्वाः स्तोत्रदेवता सम्भजेमहि । तत्प्रसादात् 'प्रजां' पुत्रादि-
रूपां 'इपं' इष्यमाणमन्त्रं च 'भक्षीमहि' न तु भजेमहि ॥ ८ ॥

द्राह्यायणः--'संवर्चसेतीक्षकान् सहकारिणश्च प्रेक्षमाणो जपे'दिति ।
स्तोत्रप्रयोगं द्रष्टुमागता ईक्षकाः प्रस्तोत्रादयः उपगातारः सहकारि-
णस्तान् सर्वान् प्रेक्ष्यमाण उद्राता संवर्चसेति मन्त्रं जपेत् । पाठस्तु--

संवर्चसा पगसा सन्तपोभिरगन्महि मनसा स०

शिवेन संविज्ञानेन मनसश्च सत्यैर्यथा वोऽहं चारुतमं
वदानीन्द्रो वो दृशे भूयासः सूर्यश्चक्षुषे वातः प्राणाय
सोमो गन्धाय ब्रह्म क्षत्राय ॥ ९ ॥

हे ईक्षकाः प्रस्तोत्रादय उपगतास्तथा । 'वर्चसा' ब्रह्मवर्चसेन 'समग-
न्महि' वय सङ्गता अभूम, तथा 'पयसा' दक्षिणारूपाणां गवा हि क्षीरेण
समगन्महि । तथा कर्मानुष्ठानरूपैस्तपोभिः 'समगन्महि' । तथा 'शि-
वेन' मङ्गलेन आस्तिक्ययुक्तन समगन्महि । तथा 'मनसा' सम्यग्बुद्धिभिः
सत्यैर्यथार्थभूतैः सकल्पैश्च । किञ्च 'यथा व.' युष्माक 'चारुतमं' अति-
शयेन रमणीय 'वदानि' तथा वचसो विवृता युज्ये । 'वः' युष्माकं 'दृशे'
दर्शनाय । 'इन्द्रः' इति लुतापमं इन्द्र इन्द्र इवाह दर्शनीयो 'भूयासं' 'सूर्यः'
इव 'चक्षुषे' तेजसे 'वातः' वायुरिव 'प्राणाय' प्राणनाय जीवनाय 'सोमो
गन्धाय' सोम इव गन्धाय सोमो रसात्मको गन्धाय भवति शुष्काणां
गन्धानुपलब्धे. 'ब्रह्म' इव ब्राह्मण इव पुरोहितः 'क्षत्राय' बलाय क्ष-
त्रियाय वा भूयासमिति सर्वशेषः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणः—'नमो गन्धर्वापेत्यादित्यमिति' प्रेक्षमाणो जपेदिति
तत्रानुपज्यते । पाठस्तु—

नमो गन्धर्वाय विष्वग्वादिने वर्चोधा असि वर्चो
मयि धेहि ॥ १० ॥

'गन्धर्वाय' गायो वृष्टुषदकानि रश्मयो वा तान् धारयतीति गन्धर्वः
आदित्यस्तस्मै 'नमः' अस्तु । गवि घान्ध्रिशेव इति गोशब्द उपपदे
मित्रो धातोर्घप्रत्यये उपपदस्य च गम्भावे गन्धर्वशब्दो व्युत्पन्नः ।
कथभूताय च 'विष्वग्वादिने' वातिर्गतिकर्मा विष्वक् सर्वान्वा वादित्रे
ईदृशस्तत्र 'वर्चोधा' च वर्चसस्तेजसो धारयिता 'असि' अतो मयि
उद्गातरि 'वर्चः' तेजः 'धेहि' निधेहि ॥ १० ॥

इति तृतीयखण्डः ।

अथ चतुर्थ खण्डः ।

सवनीयपशोर्वपायां हुतायां सदः प्रविशन्तो धिष्ण्यानुपतिष्ठे-
रन् । अध्वनामिति सूत्रकारेण रौरुकिशाखोक्तानि यजूंषि यदा प्रयु-
ञ्जीरन् तदाऽनेन मन्त्रेण आदित्योपस्थानमिति विकल्पेनोक्तम् । अन्ये तु
ताण्डिशाखाधीतानां यजुषां प्रयोगेपि आम्नानसामर्थात् जैमिनिना
तथैव विनियुक्तत्वाच्च अनेनादित्यमुपस्थाय इत्याहुः । पाठस्तु—

अध्वनामध्वपते स्वस्ति मेऽद्यास्मिन् देवयाने पथि
भूयात् ॥ १ ॥

हे अध्वनामध्वपते ! हे मार्गाणां मध्यमः प्रशस्तोन्तरिक्षमार्गः तस्य
स्वामिन् ! यद्वा एकोध्वशब्दोऽनुवादः अध्वनां पतिरित्यर्थः । वसुयवो
वसुपते वसूनामिति वत् 'मे'मम 'अस्मिन् देवयाने' देवान् येन यज्ञा-
ख्येन मार्गेण यान्ति प्राप्नुवन्ति तस्मिन् यज्ञाख्ये 'पथि' मार्गे अथेदानीं
'स्वस्ति' क्षेमः भूयात् ॥ १ ॥

द्राह्यायणः—'सम्राडसीत्याहवनीयमुपस्थायेति उत्तरवेदेः पश्चादध-
स्थायोत्तरवेदिकमादाहवनीयमुपस्थायेति' । उत्तरवेदेः पश्चादधस्था-
योत्तरवेदिकमादाहवनीयमुपतिष्ठेरन् । पाठस्तु—

सम्राडसि कृशानुः ॥ २ ॥

हे आहवनीय ! त्वं 'सम्राट्' सम्यग्राजमानो दीप्यमानः सन् 'कृशा-
नुः' सर्वस्य कर्शयिता तनूकर्त्ता दाहको भवासि कृशतनूकरणे अस्मात्
उणादिको अनुक्प्रत्ययः ॥ २ ॥

द्राह्यायणः—'उदङ्चोगत्वाऽस्ताव चात्वालशामित्रान् उदङ्मुखस्तु-
यो नभोऽसंसृष्ट इति । उदङ्मुखाः तिष्ठन्तः ततः आस्तावदेशं चात्वालं
शामित्रं स्तुत्यादिभिर्मन्त्रैर्यथाक्रममुपतिष्ठेरन् । पाठस्तु—

तुथोसि जनधायो नभोसि प्रतक्वाऽसंसृष्टोसि हव्य-
सूदनः ॥ ३ ॥

हे आस्तावदेश ! त्वं 'जनधायः' जनानां धारकः 'तुथः' तुद्यतेर्वधक
मणस्तुयः रक्षःप्रभृतीनां हन्ता । यद्वा तु क्षिप्रं ध्रुवति गच्छति देवानिति
तुथः ध्रुवतिर्गतिकर्मा एतत्संज्ञोसि । हे चत्वालि ! त्वं 'नभः' चात्वाला-
दुत्तरवेद्यादिकान् धिष्ण्यानुपयान्ति तेन गतमृत्तिकत्वादवकाशरूप-
त्वेनान्तरिक्षमसि, 'प्रतक्वा' प्रकर्षेण तक्वा स्वावयवैः पांशुभिः सर्वान्

धिष्ण्यान् प्रविशन्नसि तत्कतिर्गतिकर्मा । हे शामित्रदेश ! त्वं 'हव्यसू-
दनः' हव्यानां हविषां हृदयाद्यङ्गानां सूदकः अत एव 'असंमृष्टः' हविः-
संस्कारत्वेन स्यत एव शुद्धत्वात् सम्मार्जनसंस्कारनिरपेक्षोसि ॥ ३ ॥

ब्राह्मणः—'विभुरसीत्प्राग्नीध्रीयमुपतिष्ठेत्' । पाठस्तु—

विभुरसि प्रवाहणः ॥ ४ ॥

हे आग्नीध्रीय ! त्वं 'विभुः' विभविता होत्रीयादिधिष्यप्राप्त्या वि-
भूतिमानसि । आग्नीध्र्यादिधिष्येष्वग्नयो विध्रियन्ते 'आग्नीध्र्या-
दिधिष्याभिर्हरतीति' श्रुत्यन्तरम् । अत एव 'प्रवाहणः प्रकर्षेण वोढा
तैर्यज्ञस्य वा धारकोऽसि ॥ ४ ॥

अत्र सूत्रम्—'पूर्वस्यां' सदसो द्वारि प्रत्यङ्मुखास्तिष्ठन्तो वहिरिति
होतुर्धिष्यमिति उपतिष्ठेन्निति शेषः ।

वहिरसि हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

इति पाठः ।

हे होत्रीय ! 'वहि'वोढासि, एतदेव धिवृणोति 'हव्यवाहनो' हविषां
चरुपुरोडाशसोमानां वोढासि होत्रीयसमीपेऽवस्थितस्य होतुर्वपट्का-
रेण हि सर्वाणि हवींषि ह्रियन्ते ॥ ५ ॥

अत्रम्—सूत्रं 'इवात्र इति मैत्रावरुणस्येम्' ।

इवात्रोसि प्रचेताः ॥ ६ ॥

इति पाठः ।

हे मैत्रावरुणधिष्य ! त्वं 'प्रचेताः' प्रकृष्टज्ञानोसि मित्रावरुणो हि
तत्कर्म स्वमजानन् सर्वानृत्विजः स्वे स्वे कर्मणि प्रशास्ति ॥ ६ ॥

अत्र सूत्रम्—'तुय उशिगङ्गारिरवस्युरिति ब्राह्मणाच्छंसिप्रभृतीना-
मुदञ्च इति उदङ्मुखाः सन्तः तुयोसि विद्ववेदा इति ब्राह्मणाच्छंसि
धिष्यम्, उशिगसिकविः पोतुरिति होतुर्धिष्यम्, अङ्गारिरसि वम्मा-
रिरिति नेष्टुः अपस्युरसि दुवस्वानित्यच्छापाकस्य ।

तुयोसि विद्ववेदा उशिगसि कविरङ्गारिरसि व-
म्मारिरवस्युरसि दुवस्वान् ॥ ७ ॥

अक्षरार्थस्तु हे ब्राह्मणाच्छंसि धिष्य ! त्वं 'विद्ववेदाः' सर्वज्ञस्तुयना-
मकोसि, हे पोतुर्धिष्य ! त्वं 'उशिक्' कमनीयः कविः क्रान्तदर्शी प्राप्नो-
सि । हे नेष्टुधिष्य ! त्वं अङ्गारिः आङ् अघेरुपस्पृष्टस्य घृक्षरणदीप्त्या-

रिति अस्य रूपमेतत् । आसमन्तात् दीप्तसंज्ञः सोमपालोसि । वं-
मारिरिति विमर्त्तः रूपं विम्भारि सर्वस्यातिशयेन मर्त्ता एतत्संज्ञः
सोमपालोसि । हे अच्छावाकधिष्य ! त्वम् 'अवस्युः' अयो रक्षणं यज-
मानानामिच्छतांनि अवस्युस्तादृशोसि 'दुवस्वान्' दुवः परिचरणं तद्वां-
श्वासि ॥ ७ ॥

अत्र सूत्रम्—'शुन्ध्युरसि मार्जालीय तत्रैव तिष्ठन्त' इति । सदसो
द्वार्येव तिष्ठन्तो दक्षिणामिमुखा मार्जालीयमुपतिष्ठेरन् ।

शुन्ध्युरसि मार्जालीयः ॥ ८ ॥

इति पाठः ।

हे मार्जालीय ! त्वं 'शुन्ध्युः' शोधयिता एतन्नामकोसि अत एव
मार्जालीयमक्षितानां ग्रहचमसाक्षीनां मार्जालत्वेन प्रक्षालितत्वाधि-
करणत्वेन शोधकोसि ॥ ८ ॥

अत्र सूत्रम्—'ऋतधामेत्यौहुम्वरामिति' । सदसो द्वार्येव तिष्ठन्तः
प्रत्यङ्मुखा औहुम्वरोमुपतिष्ठेरन् ॥

ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः ॥ ९ ॥

इति पाठः ।

हे औहुम्वरि ! त्वं 'ऋतधामा' ऋतं सत्यं यज्ञो वा धामावस्थानं
यस्याः सा ऋतधामा ईदृश्यसि । 'स्वर्ज्योतिः' उन्नतत्वेन स्वर्गस्य
प्रकाशिका भवसि ॥ ९ ॥

अत्र सूत्रम्—'समुद्र इति ब्रह्मसदनद्वार्येव तिष्ठन्तः' पाठस्तु—

समुद्रोसि विश्वव्यचाः ॥ १० ॥

हे ब्रह्मसदन ! त्वं 'समुद्रः' समुद्रवत् पूर्णोसि वेदत्रयोक्तैः मन्त्रैः
'विश्वव्यचाः' सर्व्वत्र व्याप्तोसि ॥ १० ॥

सूत्रम्—'उत्तरेण सदो गत्वाऽन्तर्व्वेदि प्रत्यङ्मुखास्तिष्ठन्तोऽहिरिति
प्रजहितमिति' । प्रजहितशब्देन पुराणो गार्हपत्योऽभिधीयते तमुप-
तिष्ठेरन् ।

अहिरसि बुध्न्यः ॥ ११ ॥

इति पाठः ।

'अहिरसि' हन्ता रक्षःप्रभृतीनां 'बुध्न्यो' बुध्ने मूले आदौ आधान
काले प्रथमज्जातोसि हे प्रजहित इति ॥ ११ ॥

सूत्रम्—‘अज इति गार्हपत्यमिति’ । यः पुरातन आह वनीयः स इदानीमौत्तरवेदिकप्रणयनादुद्धे गार्हपत्यसंपन्नस्तमुपतिष्ठेरन् ।

अजोऽस्येकपात् ॥ १२ ॥

हे नूतनगार्हपत्य ! त्वं ‘अजः’ गमनशीलः सन्नस्य ह्यग्निः उत्तरवेदिं प्रति गच्छति । न तु प्रजहितेन सह तस्मादेकपादसि ॥ १२ ॥

तत्र सूत्रम्—‘सगरा इति दक्षिणाग्नेरायतनमिति’ । उपतिष्ठेरन् इति शेषः । पाठस्तु—

सगरा असि बुध्यः ॥ १३ ॥

‘सगरा’ गरसा गरणेन हविर्मक्षणेन सहितः ‘बुध्यः’ मूले भव-
भ्यासि । हे दक्षिणाग्न्याश्रयेति ॥ १३ ॥

सूत्रम्—‘कव्य इति दक्षिणवेद्यन्तमिति’ । महावेदेर्दक्षिणं पार्श्वं दक्षिणमुखा उपतिष्ठेरन् । पाठस्तु,—

कव्योसि कव्यवाहनः ॥ १४ ॥

हे वेदिदक्षिणपार्श्वे ! त्वं ‘कव्योसि’ स्तुत्योसि तथा ‘कव्यवाहनः’ कव्यं पितृभ्यो देय हविः तस्य घोडा चासि दक्षिणाभिमुखेन पित्र्यं हविः प्रयुज्यते ॥ १४ ॥

अत्र सूत्रम्—‘तत्रैव तिष्ठन्तः सर्वान् समीक्ष्यमाणः पातमेतीति’ । उपस्थितः सर्वानेव धिष्ण्यान् पुनः पुनः समीक्ष्यमाणः पातमेति संहृत्योपतिष्ठेरन् । पाठस्तु—

पातमाग्नयो रौद्रेणानीकेन पिष्टत मा नमो वोस्तु मा मा हिंसिष्ट ॥ १५ ॥

उपस्थिताः हे ‘अग्नयो’ धिष्येष्ववस्थिता । युष्मद्दीयेन ‘रौद्रेण’ अस्मद्विरोधिविनाशकेन क्रूरेण ‘अनीकेन’ तेजसा ‘मा’ मां ‘पात’ रक्षत । तथा ‘मा पिष्टत’ ममापेक्षितैर्मोगैः पूरयत । पृ पालनपूरणयोः । ‘वो’ युष्मभ्यं ‘नमोस्तु’ मां यूयं ‘माहिंसिष्ट’ । अथापरं विधानं आहवनीया-
दीन् धिष्ण्यान् स्वैः स्वरूपस्थानमन्त्ररूपस्थाय तदानीमेव तं तं धिष्यं समीक्ष्यमाणः पातमेति मन्त्रं ऊढेन एकवचनोपेतं कृत्वा द्रूयुः । तत्रोच्यते हि एकैकमुपस्थायैतद्द्रूयुरिति शाण्डिल्यो बहुशब्दादेकव-
त्कुर्वन्त इति, तद्यथा—सूच्यते हि एकैकमुपस्थाय याहिमामे रौद्रेणानी-
केन पिष्टतमा नमस्तेस्तु मामाहिंसीरिति ॥ १५ । १ । ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

अथ पञ्चमः खण्डः ।

अत्र सूत्रम्—'ऋतस्य द्वारौ स्थ इत्यपरो द्वारयाह संमृज्य मामा सन्ताप्तमिति प्रविशेयुरिति' ।

ऋतस्य द्वारौ स्थो मा मा सन्ताप्तम् ॥ १ ॥

हे सवसः पश्चाद्ये द्वारशास्त्रे ऋतस्य यज्ञस्यैव द्वारयाह सवस युवा-
प्रतिक्रम्य प्रविशन्तं मा मां मा सन्ताप्तं सन्तापयुकं मा कुरुत ॥१॥

अत्र सूत्रम्—'दक्षिणेनौडुम्बरौ गत्वा तस्या उत्तरन उपविशेयुः नमः
सखिभ्यः इतीति' । पाठस्तु—

नमः सखिभ्यः पूर्वसद्भ्यो नमो परसद्भ्यः ॥ २ ॥

ये सखाय ऋत्विजः पूर्वदेशे सीदन्ति उपविशन्ति ये वा परदेशे
सीदन्ति । यद्वा उद्गातृसर्पणात्पूर्वं ये सदस्या उपविशन्ति ये चोत्तरकालं
नेभ्यो द्विविधेभ्यः प्रत्येक नमोऽस्तु ॥ २ ॥

अत्र सूत्रम्—'दक्षिणमनुवाहुं दण्डं कृत्वा द्येन इत्यवेक्ष्येतेति' ।
उपवेशानन्तरं भक्षणार्थं सोमचमसप्रतिगृह्य आत्मनो दक्षिण-
बाहुं अनुचमसस्य दण्डं कृत्वा तञ्चमसन्तिर्य्यञ्चं धारयित्वा श्येन
इति मन्त्रेण तं चमसमवेक्ष्य भक्षयेदिति वक्ष्यमाणपदेनान्वयः ।
पाठस्तु—

द्येनो नृचक्षा अग्नेष्ट्वा चक्षुषावपश्यामि ॥ ३ ॥

चमसस्थित हे सोम ! 'त्वा' त्वामहमुद्गाता 'द्येनः' एतन्नामकप-
क्षिवत् प्रबलः सूक्ष्मदर्शी वा भूत्वा 'नृचक्षा' नृणां द्रष्टा सन् 'अग्नेः'
सम्बन्धिना 'चक्षुषा' प्रतिहतिवर्जितेनाऽवाङ्मुखः पश्यामि ॥ ३ ॥

सूत्रमत्र—'इन्द्रविति द्विरूपं भक्षयेदिति' । सकृन्मन्त्रेण सकृत्
तूष्णीमिति द्विर्भक्षणं स्पष्टमन्यत् ।

इन्द्रविन्द्रपीतस्य त इन्द्रियावतो गायत्रछन्दसः
सर्वगणस्य सर्वगण उपहृत उपहृतस्य भक्षयामि ॥ ४ ॥

तव सम्यन्वितामहमुद्गाता ग्रहणं भागं भक्षयामि । कीदृशस्य तव
'इन्द्रपीतस्य' इन्द्रेण पीत्वाऽवशेषितस्य 'इन्द्रियावतः' चक्षुरादीन्द्रि-
यपाटवहेतुत्वेन तद्वतः 'गायत्रछन्दसः' प्रातःसयने नद्योग्यछन्दो-
विशेषोपेतस्य 'सर्वगणस्या' ध्वर्युप्रभृतिचतुर्भिर्ऋत्विजां गणैरुपेतस्य
'उपहृतस्य' मदीयपानार्थं अन्यैर्ऋत्विग्भिः सह भक्षैरनुज्ञातस्य । की

दशोऽहं 'सर्वगणः' सर्वैः पुत्रभृत्यादिगणैः ऋत्विगणैर्वोपेतः 'उपहृतः'
अन्यैर्ऋत्विग्भिन्ननुज्ञातः ॥ ४ ॥

अत्र सूत्रम्—'ऊर्ध्वं इति मुख्यान् प्राणानभिमृशेतेति' । भक्षणानन्तरं
ऊर्ध्वः सप्त ऋषीनिति सप्तमुख्यान् प्राणान् चक्षुषी नासिके श्रोत्रे मुखं
चाभिमृशेत् । पाठस्तु—

ऊर्ध्वस्सप्त ऋषीनुपतिष्ठस्वेन्द्रपीतो वाचस्पते सप्तर्त्वि-
जोभ्युच्छ्रयस्व जुपस्व लोकम्माऽर्वागवगाः ॥ ५ ॥

हे भक्षितसोम ! त्वं 'ऊर्ध्वः' शिरोभागं प्राप्तः सन् 'सप्तऋषीन्'
सप्तसंख्येयैतच्छिद्रवर्त्तिनः चक्षुरादीन्द्रियरूपान् 'उपतिष्ठस्व' प्राप्नु-
हि । तानाप्याययितुं दर्शनसाधनत्वादेवामृषित्वम्, ऋषिर्दर्शनादि-
ति हि निरुक्तम् । यद्वा गौतमादिऋषिरूपेण मुख्यावस्थितच्छिद्राणां
मुखस्थत्वादपित्वम् । एतच्च बृहदारण्यके 'तस्याः सप्त ऋषयः सप्तती-
रे इति मन्त्रेणेमावेव गोतमभरद्वाजाविति' ब्राह्मणेन स्पर्शकृता । हे 'वा-
चस्पते' मदीयस्तोत्ररूपाया वाचः पालक सोम ! त्वं इन्द्रदेवतया पीतः
सन् 'सप्तर्त्विजो' होत्रप्रभृतीनामिलस्य 'उच्छ्रयस्व' तानाप्याययितुमु-
च्छिद्रतो भव । ततो 'लोकं' स्थानं स्वकीयज्जठरलक्षणं 'जुपस्व' सेधस्व
'अर्वाक' अर्वाचीनः सन् 'मा' मां 'अवगाः' नाभेरधो न गच्छेः । 'शिवो'
मे सप्त ऋषीनुपतिष्ठस्व मा मेवार्वाङ्मनभिमातिगा' इति हि निग-
मान्तरम् ॥ ५ ॥

अत्र सूत्रम्—'सोम रारंधीति हृदयमिति । अभिमृशेदित्यनुपङ्गः ।

सोमरारन्धि नो हृदि पिता नोसि मम तन्मा मा-
हिँसीः ॥ ६ ॥

हे सोम ! 'नो' अस्माकं 'हृदि' हृदये 'रारन्धि' रमस्व । हे भगवन् ! ऐ-
श्वर्यादिगुणविशिष्ट ! त्वं नो अस्माकं 'पिता' पालयितासि 'मां' उद्गातारं
'माहिँसीः' घमनरेचनरूपां हिंसां माकार्पीरित्यर्थः ॥ ६ ॥

अत्र सूत्रम्—'सोमगीर्भिरिति नाभिमिति' अभिमृशेदित्यनुपङ्गः । पाठस्तु—

सोम गीर्भिष्ट्वा ययं वर्द्धयामो वाचोविदः सुमृडी-
को न आविश ॥ ७ ॥

हे सोम ! 'वाचोविदः' मन्त्राभिज्ञा ययमुद्गातारः 'गीर्भिः' स्तुतिभिः
'त्वा' त्वां 'वर्द्धयामः' अभिवृद्धं कुर्मः । एवञ्च 'सुमृडोः' सुखकरो
भूत्वा 'नो' अस्मान् 'आविश' ॥ ७ ॥

‘तं स आप्यापयेदभिमृश्याप्यापस्वेत्येतया गायत्र्येति’ । यः प्रति-
हर्त्ता पश्चादभक्षयतः सः तज्जमसमभिमृश्याप्यापयेत् द्रोणकलशात्
सोमरसमादाय तेन ‘वर्द्धतमाप्यायनं’ मन्त्रेणभिमर्शनमात्रं वा ।
पाठस्तु—

आप्यापस्व समेतु ते विश्वतः सोमवृष्ण्यम् । भवा
वाजस्य सङ्गथे ॥ ८ ॥

हे सोम ! त्वं ‘आप्यापस्व’ वर्द्धस्व ‘ते’ तव ‘वृष्ण्यं’ सेचनसम-
र्थं यत् ‘विश्वतः’ सर्वतः सर्वाभ्यो दिग्भ्यः ‘समेतु’ सम्यक् प्राप्नोतु ।
त्वं च अस्माकं ‘वाजस्य’ अन्नस्य यत्नस्य वा ‘सङ्गथे’ सङ्गमे हेतुर्भव ॥ ८ ॥

अत्र सूत्रम्—‘तेषामनवेक्ष्य भक्षणमवमैरिति’ । प्रातःसवन ऊर्वैरिति
माध्यन्दिने काव्यैरिति तृतीयसवने पितृभिरिति सर्वश्रानुसंहरेदिति ।
नाराशंसाभिघचमसान् प्रकृत्य तच्छब्दः प्रयुज्यते । यद्येतरचमसभ-
क्षणं ‘श्येनो नृचक्षा’ इत्यनेन मन्त्रेणावेक्ष्य पश्चात्क्रियते, न तथा तेषा-
न्नाराशंसाचमसानां किन्त्वनवेक्ष्यैव भक्षणं अवमैरित्यादिमिश्रिभि-
र्मन्त्रैस्त्रिषु सवनेषु नाराशंसाभक्षणं, न पुनः इन्द्रविन्द्रपीतस्येति । त्रि-
ष्वपि मन्त्रेषु पितृभिरित्यादिवाक्यशेषोऽनुपज्यते । पाठस्तु—

अवमैस्त ऊर्वैस्ते काव्यैस्ते पितृभिर्भक्षितस्य मधु
मतो नाराशंसस्य सर्वगणस्य सर्वगण उपहृत उपहू-
तस्य भक्षयामि ॥ ९ ॥

त्रिविधाः पितरः अवमा ऊर्वाः काव्याश्चेति । एते अनुसवनं नारा-
शंसदेवताः । हे सोम ! ‘अवमैः’ अवतेरौणादिकोऽयमक्षप्रत्ययः, रक्षकैः
एतत्संज्ञकैः ‘पितृभिः’ प्रातःसवने ‘भक्षितस्य’ ‘ते’ तव ‘मधुमतो’ माधु-
मता माधुर्योपितस्य ‘नाराशंसस्य’ नरैः सन्तानभूतैः शस्यन्त इति
नाराशंसाः पितरः तत्सम्बन्धाद्यमसौ नाराशंसः तस्य किञ्चिद्भागं
‘भक्षयामि’ । सर्वगणस्येत्यादि पूर्ववत् । एवं ऊर्वैस्ते काव्यैस्त इति
मन्त्रयोर्पोजना । उर्वो पृथ्वी तस्यां सञ्चरन्तः ऊर्वाः काव्या स्तुत्यथाः
एतत्संज्ञकैः पितृभिः भक्षितस्येत्येतावान् विशेषः ॥ ९ ॥

अत्र सूत्रम्—‘तथैव जह्वामुपहत्य युज्यात्स्तोमं दीक्षायैतपसो मन-
सो वाच इतीति’ । यथा पुरा प्रस्तरेण स्वकीयां जह्वामुपस्पृश्य स्तोमा
युक्तः तथैवेदानीमपि स्तोमयोगमुपकरणदर्भाभ्यां जह्वास्पर्शोऽत्र वि-
शेषः । पाठस्तु—

दीक्षायै वर्णेन तपसो रूपेण मनसो महिम्ना वाचो
विभृत्या प्रजापतिस्त्वा युनक्तु प्रजाभ्योऽपानाय ॥१०॥

आदितः पदद्वयात्मकाश्चत्वारो मन्त्राः एतदेवाभिप्रेत्य दीक्षातपो-
मनोवाक्शब्दैश्चतुर्भिः प्रतीकग्रहणं कृतम् । प्रजापतिस्त्वेत्ययं मागः
चतुर्ष्वपि मन्त्रेष्वनुपज्यते । तदाह सूत्रकृत्-‘अन्तः सर्वेषां प्रजापति-
स्त्वेतीति’ । एतैश्चतुर्भिरपि मन्त्रैरेकस्मिन्नेव स्तोत्रे स्तोमयोग इत्येकः
पक्षः । यत्र नैरन्तर्येण आवृतस्तोत्राणि चत्वारि लभ्यन्ते तेषु चतुरो
मन्त्रान् क्रमेण पृथग्विमज्य स्तोमयोगः न त्वेकस्मिन्नेव स्तोत्रे इत्यपरः
पक्षः । द्वावपि पक्षौ सूत्रकारो दर्शयति-‘नानाधानञ्जप्यो यत्रानन्तराणि
चत्वारोति’ । मन्त्रार्थस्तु-हे स्तोम ! ‘प्रजापतिः’ प्रजापालको देवः ‘प्रजाभ्यः’
प्रजोपकारार्थं ‘दीक्षायै वर्णेन’ यजमानानुष्ठितनियमरूपायाः सामर्थ्येन ‘त्वा
युनक्तु’ त्वां योजयतु । तथा ‘अपानाय’ अपाननाय वह्निर्गतायाः प्राणवृ-
त्तेरन्तःप्रवेशनमपाननं तेन हि प्राणवायुः शरीरे धीयते । ‘अपानेन ह्यय
यतः प्राणो न परां भवतीति’ धृत्यन्तरम् । तदर्थमपि प्रजापतिस्त्वां
युनक्तु । एवमुत्तरेष्वपि त्रिषु मन्त्रेषु योज्यम् ! हे स्तोम ! ‘तपसोरूपेण’
यजमानानुष्ठितस्य पयोमतादिलक्षणरूपेण प्रजापतिस्त्वां युनक्तु इति
द्वितीयस्य विशेषः । ‘मनसो’ मनस्तत्त्वस्य ‘महिम्ना’ सर्वविषयावगा-
हनशक्त्या प्रजापतिर्युनक्तिवति तृतीयस्य विशेषः । तथा ‘वाचो विभू-
त्या’ विभवेन सर्वपदार्थप्रकाशनसामर्थ्येन प्रजाजतिर्युनक्तिवति चतु-
र्थस्य । एतस्य जप एव स्तोमयोगः । त्रिवृत् पञ्चदशसप्तदशैकविंशद-
शो ‘द्वितीयवृत्तिषाण्योक्तलक्षणा स्तोमाः । तेषु बहिष्पद्यमानस्तोत्रे
त्रिवृत्स्तोमो विहितः । तस्मात् पूर्वत्र बहिष्पद्यमानाहत्वेनाग्नेस्तेजसे-
ति मन्त्रः त्रिवृत्स्तोमयोगेभिहितः । तथा चतुर्ष्वज्येषु स्तोत्रेषु पञ्च
दशस्तोमो विहितः ‘पञ्चदशान्याज्यानी’ति श्रुतः । अतोऽप्राज्यास्तोत्रा-
हत्वेन पञ्चदशस्तोमयोगे दीक्षायै वर्णेनत्यादिमन्त्रोऽभिहितः । आज्य-
स्तोत्रेभ्य ऊर्द्धं प्रातःसवनं समाप्यते । अत्र क्रतुसंग्रहः—

वसतीवर्षेषां प्राप्नो प्रचारः स्यादधिग्रहे ।

उपांशु अदाभ्यौ हुत्वा महाभिषवमाचरेत् ॥

उपांशुमन्तर्यागञ्च हुत्वा रिकन्तु सादयेत् ।

अथेन्द्रवायवं पात्रे गृहीत्वा सादयेत् परे ॥

यो मैत्रावरुणं तप्तु धीणाति पयसा ग्रहम् ।

शुकः शृतो हिरण्येन शृतो मन्यो तु सक्तुमिः ।

गृहीत्वाग्रयणं गृह्णात्यतिग्राह्यामिध्रप्रहान् ।
 गृहीत्वौथ्यं ध्रुवो ग्राह्यः पवमानप्रहास्त्रयः ॥
 पूतभृद्रोणकलशो परश्चाधवनीयकः ।
 ते बहिष्पवमानाय प्रश्रुयन्त्यत्र पञ्च ते ॥
 गृहीत्वाश्विनमाग्नेयपशोः कुर्यादुपाकृतिम् ।
 सवनीयपुरोडाशैश्चरित्वा ह्यन्द्रवायवम् ॥
 हुत्वा ग्रहं द्वयोर्मन्त्रावरुणाश्विनयोर्हुतिः ।
 शुक्रमन्थादिकान् कृत्वा चमसानपि जुहति ॥
 सरस्यर्तुग्रहेन्द्राग्निसोमप्रतिगरस्ततः ।
 आज्यस्तोत्रेभ्य ऊर्द्ध्वं हि प्रातः सवनसंस्थितिः ॥ इति ।

अथ माध्यन्दिनसवने पवमानस्तोत्रार्थं स्तोमयोगो बहिष्पवमान
 वत् अग्नेस्तेजसेतिमन्त्रेण कार्यः । अत एव द्राह्यायणो माध्यन्दिनार्भवप-
 वमानयोः पूर्वोक्तमतिदिशति—‘एतत्सर्वं कुर्यादुत्तरयोः पवमानये’ इति ।
 अग्नेस्तेजसेति मन्त्रेण पूर्वभागं तथैवोद्गानस्योत्तरभागे किञ्चिद्विशेष
 द्राह्यायण आह—‘स्तोमयोगेगिनिर्युनक्तिव’ इति । एतस्य स्थाने ‘वायुर्युनक्तु
 सूर्यो युनक्तिवति’ प्रक्षिपेदिति शेषः ॥ १० ॥

तयोर्मध्ये माध्यन्दिनसवने स्तोमयोगमन्त्रस्योत्तरभाग एवमास्तायते—
 वायुर्युनक्तु मनसा स्तोमं यज्ञाय वोढवे दधात्विन्द्र
 इन्द्रियं सत्पाः कामाः यजमानस्य सन्तु ॥ ११ ॥

‘वायुर्देवोऽनुग्राहकेण मनस्यु’ ‘स्तोमं’ पञ्चदशार्यमाध्यन्दिनपवमा-
 नस्तोत्रार्थं ‘युनक्तु’ योजयतु । यज्ञाय इत्यादिपूर्ववद्व्यार्येयम् ॥ ११ ॥

यजमानेन वाचनीयस्य ऋतेनोसीत्येतस्य मन्त्रस्य स्थाने द्राह्यायणो
 मन्त्रद्वयमुत्तरयोः सवनयोर्दिशयति—‘वृषकोसि स्वरोसीति’ यजमानवा-
 चन’ इति । तत्र प्रथममन्त्र एवमास्तायते—

वृषकोऽसि त्रिष्टुच्छन्दा अनुत्वारभे स्वास्ति मासं
 पारयामास्तोत्रस्य स्तोत्रं गम्यादिन्द्रवन्तो बनेमहि भ-
 क्षीमीह व्रजामिपम् ॥ १२ ॥

हे मध्यन्दिन पवमान ! त्वं त्रिष्टुवार्यं छन्दोविशिष्टः सन् वृषकः
 कामामिर्वर्षणसमर्थ इन्द्रोसि । अन्यत् सर्वं द्येनमन्त्रवद्व्यार्येयम् ॥ १२ ॥

‘इन्द्रविन्द्रपीतस्ये’त्यादिचमसमक्षणमन्त्रः, तं मन्त्र द्राह्यायणः
 प्रातःसवनसम्बन्धाविनियोगावसर एव तद्विशेषकथनेनार्थादित्यं वि-

नियुक्तवान्—‘इन्दव इति द्विरल्पं भक्षयेद्यथासवनं छन्दांस्यादिशान्ति’ति ।
 प्रातःसवने गायत्रछन्दस इति पाठः, माघ्यान्दिने त्रिष्टुप्छन्दस इति,
 तृतीयसवने जगतीछन्दस इत्येतावानेव विशेषः । पाठस्तु—

इन्द्रविन्द्रपीतस्य त इन्द्रियावतस्त्रिष्टुप्छन्दसः सर्व-
 गणस्य सर्वगण उपहृत उपहृतस्य भक्षयामि ॥ १३ ॥

पूर्ववद्व्याख्येयम् । अत्र क्रतुसंग्रहः—

माघ्यान्दिने तु सवने पुरोडाशः पशोर्भवेत् ॥

ग्रहो मरुत्वतीयः स्यात् पवमानेन संस्तुतिः ।

दधिधम्मं हुते दद्याद्दक्षिणास्ते यथायथम् ॥

मरुत्वतीयांस्तान् हुत्वा माहेन्द्रेण समाप्पते ॥ इति ॥ १३ ॥

अथ तृतीयसवने यदिदमार्भवपवमानारयं स्तोत्रं तदर्थमग्नेस्तेज-
 सेति मन्त्रेण स्तोमयोगः कर्तव्यः, तस्य मन्त्रस्योत्तरत्र भागे यः पाठ-
 शेषः स पवमानायते—

सूर्यो युनक्तु वाचा स्तोमं यज्ञाय वोढवे दधात्वि-
 न्द्र इन्द्रियं सत्याः कामा यजमानस्य सन्तु ॥ १४ ॥

‘सूर्यो’देवो ‘वाचा’मन्त्ररूपया ‘स्तोमं’सप्तदशारयं ‘युनक्तु’योजयतु ।
 अन्यत् पूर्ववत् ॥ १४ ॥

इयेनोसात्यस्य स्थाने तृतीयसवने यजमानेन वाचनीयो मन्त्र पव-
 मानायते—

स्वरोसि गयोसि जगच्छन्दा अनु त्वारभे स्वस्ति मा
 सं पारयामास्तोत्रस्य स्तोत्रं गम्यादिन्द्रवन्तो वनेमहि
 भक्षीमहि प्रजामिषम् ॥ १५ ॥

हे आर्भवपवमानाभिमानिन् पूर्ण ! त्वं ‘जगच्छन्दाः’ जगत्पारयेन छ-
 न्दसा युक्तः सन् ‘स्वरः’ स्वरणीयः स्तुत्योसि । तथा ‘गयः’ फलाधिभि-
 र्गन्तव्योसि । अन्यत् पूर्ववत् ॥ १५ ॥

तृतीयसवने चमसभक्षणमन्त्र पवमानायते—

इन्द्रविन्द्रपीतस्य त इन्द्रियावतां जगच्छन्दसः सर्व-
 गणस्य सर्वगण उपहृत उपहृतस्य भक्षयामि ॥ १६ ॥

पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ १६ ॥

द्राहापण—‘सौम्यमाहुतमुद्राता वेक्षेतायुर्मै प्राण इति पुनरस्मात्तु

दध्न्यसीत्यन्त' इति । सौम्यं चरुं अद्धधर्युभिराहृतं उद्गाता आयुर्ममे
इति मन्त्रेण यजुषा यन्मे मन इत्यनुवादनार्वागादावेक्षेत तस्य मन्त्रस्य
दध्न्यसीत्यवसानं स्यात् । यन्मे मन इत्येतद्वक्ष्यमाणं वैकल्पिकं मन्त्रा-
न्तरं न त्वेतेन सह तस्यैकमन्त्रत्वमस्ति तयोरुभयोस्तुल्यार्थेन विक-
ल्पितत्वात् । तदेतद्विशदीकर्तुं मन्त्राधिसानमुक्तम् । पाठस्तु—

आयुर्मे प्राणो मनासि मे प्राण आयुपत्न्यामृचि यन्मे
मनोयमे गतं यद्वा मे अपरागतं^१ राज्ञा सोमेन तद्वयं पु-
नरस्मासु दध्नसि ॥ १७ ॥

'मे' मदीय'मायु'र्जीवनं प्राणसमाश्रित, 'यावद्वास्मिंश्छरीरे प्राणो
वसति तावदायुरिति' कोपीतकिश्रुतेः । तथा मे 'मनासि' अन्तःकरणे
स 'प्राणो' पञ्चवृत्तिर्वायुः 'समाश्रितः', स प्राणो मदीयं मन उद्गाने
शक्तं कुर्यादित्यर्थः । अत एव 'आयुपत्न्यां' आयवो मनुष्याः तेषां पा-
लयित्र्यामृचि साम्न आधारभूतायां स प्राणो वर्त्ततां ऋचां तदाश्रया-
णां साम्नां चाहं धारयिता भूयासमित्यर्थः । किञ्च 'मे' मदीय यदुक्त
प्राणविशिष्ट'मनो' मानसं 'यमे गतं' मृत्युं प्राप्तम् । 'यद्वा' यदि वा मे
मनः 'अपरागतं' पुनरावर्त्तयितुमशक्यं गतं नैरन्तर्येण लौकिक एव
विषये आसक्तं तदुभयविधं मनः 'राज्ञा' राजमानेन ईद्वरेण वा 'सो-
मेन' अवस्यवो वयं अस्मास्वेव पुनर्दध्नसि' धारयामः ॥ १७ ॥

यस्तु वैकल्पिक उत्तरो मन्त्रः स एवमास्त्रायते—

यन्मे यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरगास्तन्म आवर्त-
या पुनर्जीवातवे न मर्त्तवेथो अरिष्टतातये ॥ १८ ॥

अविवाक्ये दशमेऽहनि या पूर्वा 'यन्मे मन' इत्येषा ऋक् अनु-
ष्टुप्त्वात्सा तस्मिन्नहनि निषिद्धा, 'दशमेऽहनि परोक्षमनुष्टुभमुपयन्ति
यत्प्रत्यक्षमुपेयुः प्रजापतिमृच्छेयु'रिति ब्राह्मणात् । ततः अस्या अनुष्टुभः
स्थाने एषा पङ्क्तिः प्रयोक्तव्येति कोचिदिति । सूच्यते हि—'यन्मे मनः
स्थाने यन्मे यमिति एक इति' सूत्रकारस्तु दशमेहन्यपि पूर्वस्या ऋच-
श्चतुर्थे पादमभ्यस्य सैवात्र प्रयोक्तव्या एषा चेति विकल्पिते चोक्तत्वात्,
तथैव सूत्रान्तरं—'दशमेहन्यभ्यस्ये'दिति । मन्त्रार्थस्तु,—'मे' मम 'मनो'
मानसं 'वैवस्वतं' विवस्वतः सूर्यस्य पुत्रं 'यमं जगाम' शरीराग्निष्कम्य
प्राप्नोत् । हे सोम ! त्वं 'दूरगाः' दूरगामी यमसदनं प्राप्तः सन् 'मे' मदीये
तन्मनः 'आवर्त्तय' मदीयदेहं प्रत्यावृत्तं कुरु । किमर्थं 'पुनर्जीवातवे

जीवनायतयेपि जीवितुं 'न मर्त्तवे' मरणाभावात्तर्थात् । 'अथो'पि च 'अरिष्ट-
तातये'रिष्टं 'हिंसा' तद्विरुद्धं सुखेनावस्थानं अरिष्टं तस्य तातये विस्ना-
राय ॥ १८ ॥

ब्राह्मणः- 'तस्मिन्नङ्गुष्ठानामिके अवधायाक्षिणी विमार्जित येना-
द्याजिमितीति' । तस्मिन्नङ्गुली अवधायाङ्गुष्ठानामिके इत्येकेऽक्षिणी वि
मृजीत येनाद्याजिमितीति, तस्मिन् सौम्यचरोर्ये केचित् द्वे अङ्गुली
अङ्गुष्ठानामिके वा अवधाय ताभ्यामक्षिणी विमार्जित । पाठस्तु-

येनाद्याजिमजयद्विचक्ष्य येन श्येनं शकुनं सुप-
र्णं पदाहुश्चक्षुरदिताचनन्तं सोमो नृचक्षा मपि तदधातुः १९

येन आहीति पदच्छेदः, हि शब्दो वाक्पालङ्कारे, उपसर्गस्तु व्य-
हिताश्चेति व्यसहितेन विदन्तेन सम्यक्षपते । 'येन' हि चक्षुषा चक्षुरि-
न्द्रियेण दूरदर्शना कश्चिद्धातुश्च 'आजि' वेधनीयां मर्षादां 'विचक्ष्य'
विशेषेण पालाप्र वासज्जपन् अभिजयेत् छन्दसि लुङ्लङ्लिट् । तथा
'येन' चक्षुषा 'सुपर्ण' शोभनपवन एतत्संज्ञं अभिजयेत् श्येनोपि सूक्ष्म-
दर्शीति प्रसिद्धः तमपि सूक्ष्मदर्शित्वेनाभिजयेदित्यर्थः । 'अदितौ'
पृथिव्यां अन्यदीयं तद्यश्च 'रनन्तं' अन्तर्हितं वेश्म दिवि प्रकृष्टदर्शनस-
मर्थं 'माहु'रभिज्ञा कथयन्ति । 'यद्वा पृथुर्थं सप्तमी । तथैवाश्चलायनः
'दीर्घं यश्चक्षुरदितेरनन्तमिति' । अदितेर्देवमातुः सम्यन्धि यश्चक्षुरन-
न्तमवस्थानरहितमाहुः वेदामिज्ञाः । 'तत्' उक्तगुणविशिष्टं चक्षुः नृणां
द्रष्टा सोमः मपि 'दधातु' स्थापयतु ॥ १९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

अथ षष्ठः खण्डः ।

अत्र सूत्रम्- 'सत्र एव प्रहस्य मक्षयेयुरेन्द्रं सह इतीति' द्विविधो
हि दशरात्रः सत्रमहीनश्चेति तयोर्मध्ये सत्ररूप एव दशरात्रे यः षोड-
शिप्रहोस्ति तमनेन मन्त्रेण मक्षयेयुः । पाठस्तु-

ऐन्द्रं सहोऽसर्जि तस्य त इन्द्रविन्द्रपतिस्येन्द्रिपा-
वतोऽनुष्टुप्छन्दसो हरिवतः सर्वगणस्य सर्वगण उप-
हृत उपहृतस्य भक्षयामि ॥ १ ॥

हे 'इन्द्रो' सोम ! 'ऐन्द्र' इन्द्रसम्यन्धि 'सहो' यत्नं 'असर्जि'त्वया सृष्टं

‘तस्य’ तादृशस्य नवांशं भक्षयामीति सम्बन्धः, शिष्टं पूर्ववत् । अनुष्टु-
प्लन्दस इति । अनुष्टुप् छन्दस्यास्त्वृशु षोडशिसाम्ना स्तुवते होता
चानुष्टुम एव शंसति अतोऽनुष्टुप्लन्दो यस्मिन् षोडशग्रहे स तथो-
क्तः तस्य हरिवत् इति षोडशिसाम्न आधारभूतास्त्वृशु हरिशब्दस-
द्भाषादेवमुक्तम् । यदि हरिशब्दो हरितासु स्तुवीरन् तदा हरिवत् इत्य-
स्य पदस्योद्धारः ॥ १ ॥

तथैव सूत्रम्—‘उदस्य हरिवदहीरकासु चेतु स्तुवीरत्रिति’ त्रिष्टुप्
छन्दस्यां वाजपेयसाम्नि भक्षयेदि’ति । ‘गौतमोऽनुष्टुप्लन्दसेति धानं-
जशाण्डिरग्या’विति सूत्रम् । पाठस्तु—

इन्द्रविन्द्रपतिस्य त इन्द्रियावतोऽनुष्टुप्लन्दसः
सर्वगणस्य सर्वगण उपहृत उपहृतस्य भक्षयामि ॥ २ ॥

उक्तोऽर्थः ॥ २ ॥

आवृतस्तोत्रेषु परिसमाप्तेषु स्तुतस्य स्तुतमसीति यजमानं वाच-
येत् । पाठस्तु—

स्तुतस्य स्तुतमस्यूर्जस्यत्पयस्वदामास्तोत्रस्य स्तोत्रं
गम्यादिन्द्रवन्तो वनेमहि भक्षीमहि प्रजामिपम् ॥ ३ ॥

हे आज्य आदिस्तोम ! ‘स्तुतस्य’ स्तोत्रस्य स्तोत्राणामपि ‘स्तुतं’
प्रकृतं स्तोत्रमसि, तथा ‘ऊर्जस्यत्’ यलवत् स्तुत्यानां देवानां यलङ्कर-
मसि, ‘पयस्वत्’ पयआदिकस्य रसस्य हेतुत्वेन तद्वदसि । गतमन्यत् ॥ ३ ॥

अत्र सूत्रम्—‘इष्टयजुष इति पूर्वस्मिन् वाक्ये पृथक् त्वेभ्यः स-
न्धौ हिं कुर्यु’रिति उक्तत्वात्सन्धिस्तोत्रं तत्र प्रकृतम् तस्मिन् सन्धिस्तो-
त्रे इष्टयजुष इति मन्त्रेण चमसमक्षः कार्यः । पाठस्तु—

इष्टयजुपरते देव सोम स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्यस्य
तिरोह्यस्य योश्वसनिर्गोसनिर्भक्षस्तस्योपहृत उपहृतस्य
भक्षयामि ॥ ४ ॥

हे सोमदेव ! ‘ते’ तव सम्बन्धी ‘यो’ भक्षो भक्षणीयो हुतशेषो रसो-
ऽस्ति तस्य भक्षस्याल्पं मागं ‘भक्षयामि’ । कीदृशस्य तव ‘इष्टयजुषः’
इष्टं प्रयुक्तं यजुर्यस्मिन् स तथोक्तः तस्य, यजुर्मन्त्रेण हि सोमो गृह्यते
तस्य, ‘स्तुतस्तोमस्य’ प्रयुक्तस्तोत्रस्य शस्तोक्यस्य उच्चरितशस्त्रस्य ‘ति-
रोह्यस्य’ राट्या तिरोहितोऽह्न्यभिपुतस्य पूर्वशुरभिपुतस्येत्यर्थः, उप-
हृतस्य समक्षैरन्यैर्ऋत्विग्भिर्नुहातस्य । कीदृशो भक्षः ‘अश्वसनिः’

अश्वानां सनिर्दाता 'गोसनि'र्गवां दाता वा । कीदृशोऽहं 'उपहृतो'
ऽन्यैरनुज्ञातः ॥ ४ ॥

सूत्रम्—'तृतीयसघने सर्वेषु स्तोत्रेषु समाप्तेषु भक्षयित्वा स्तोमं विमु-
ञ्चेयुर्जनस्य त्वेतीति' । पाठस्तु—

कृतस्य त्वा देव स्तोमपदे विष्णोर्दामनि विमुञ्चा-
म्येतत्त्वं देव स्तोमानवकरमगन्नशीमहि वयं प्रतिष्ठाम् ॥ ५ ॥

हे स्तोम त्रिवृदादिनामक ! 'त्वा' त्वां 'कृतस्य' यज्ञस्य 'पदे' स्थाने-
'विष्णो'र्देवस्य 'दामनि' तेजासि 'विमुञ्चामि' विमुञ्चामि । हे स्तोमदेव !
त्वं 'अनवकरं' अवकर उपहृतिः तद्रहितमेतत् स्थानं 'अगन्' प्राप्तोसि
गमेल्लुटि मन्त्रे वसेति सेलुङ्क्, दल्ङ्घ्याभ्य इति सिलोपः । मोनोघातो-
रिति नत्वम् । वयं च 'प्रतिष्ठां' नैश्चित्यभावं स्थितिं 'अशीमहि' व्याप्नु-
यामः । एतस्य मन्त्रस्य जप एव स्तोमविमोक्तः ॥ ५ ॥

द्राह्यायणः—'वषट् कृते हारियोजनस्य यथेनपरया द्वारा निष्क्रमन्तो
जपेयुः 'सोमेहीति' ।

सोमेहानुमेहि सोम सह सदस इन्द्रियेण ॥ ६ ॥

हे सोम ! त्वमिह 'सदसो' देशात् हे सोम त्वम् 'इन्द्रियेण' बलेन
सह 'अनुमेहि' मामनुगच्छ ॥ ६ ॥

सूत्रम्—'सुभूरसीत्यादित्यमुपतिष्ठेराश्रिति, अस्तमितश्चेद्गार्हपत्यं
चन्द्रमसं नक्षत्राणि वेति' ।

सुभूरसि श्रेष्ठो रश्मिर्देवानां सत्त्वं सदेवानां या-
तुर्धिया तन्वा ब्रह्म जिन्वन्ति तथा मा जिन्व तथा मा
जनय प्रकाशं मा कुरु ॥ ७ ॥

हे आदित्य ! त्वं सुष्टु भावयिता वृष्ट्यादिद्वारेण सर्वजगत उत्पा-
दयितासि 'श्रेष्ठ' सर्वेभ्यो देवेभ्यः प्रशस्यतमः 'रश्मिः' बहुरश्मिकानां
देवानां 'संसत्' संसदनस्थानम्, तथा 'देवानां यातुः' यातयिता प्रवर्त्तयिता
ईदृशः त्वं 'यया' अनुगृह्णीत्या 'तन्वा' 'ब्रह्म' ब्राह्मणजार्ति 'जिन्वसि'
प्रीणयसि 'मा' माम् 'तया' तन्वा 'जिन्व' प्रीणय, जिन्वि प्रीणनार्थः । तथा
मां 'जनय' प्रादुर्भाविष्य 'प्रकाशं' प्रकाशवन्तं 'मा' मां 'कुरु' कुशलोसाद्यौ-
द्गात्रेकर्मणीत्येवं प्रसिद्धं कुरु ॥ ७ ॥

सूत्रम्—'आग्नीप्रीये द्वे आहुती जुहुयुरपां पुष्पमिति पूर्वां स्वाहा-
'कारेणोचरा'मिति ।

अपां पुष्पमस्योपधीनाऽ रस इन्द्रस्य प्रियतमऽ
हविः स्वाहा ॥ ८ ॥

हे सोम ! त्वं 'अपां पुष्पं' सारभूतोसि प्रशस्तरसोपेतत्वात् । 'ओ
पधीनां' रसः सारश्चासि 'सोमो वा ओपधीनाऽ राजेति' श्रुतेः, तथा
'इन्द्रस्य प्रियतम'मतिशयेन प्रियं हविश्चासि तस्मै तुभ्यं स्वाहा इदमा-
ज्यं हविस्त्यजामि ॥ ८ ॥

'उन्नेनर्युपहवमिष्टा हारियोजनस्य त इति द्विरुपघ्नाय पश्चादाहव-
नीयस्यान्तः परिधिं निवपेयुरिति' उन्नेत उद्धयत्येत्यनुज्ञाप्य मन्त्रेण
घानाः द्विरुपघ्नाय पश्चादौत्तखेदिकस्याग्नेरन्तः परिधिं घानाः निवपेयुः ।

हारियोजनस्य ते देव सोमेष्टयजुषः स्तुतस्तोमस्य
शस्तोक्थस्य योश्चसनिर्गोसनिर्भक्षस्तस्योपहृत उपहृ-
तस्य भक्षयामि ॥ ९ ॥

हे 'देव' द्योतमान सोम ! अवध्रेषाणां घनानामेव सोमसम्बन्धात्
सोमेत्यामन्त्रणम्, 'हारियोजनस्य' हरी इन्द्रस्य बाहौ येन सोमेन रथे
युज्यते स हार्योजनस्तत्सम्बन्धी हारियोजनः तस्य घानारथद्रव्यस्य
'ते' तव एकदेशं भक्षयामीति सम्बन्धः । अन्यत् पूर्ववद्धारयेयम् ॥ ९ ॥

सूत्रम्-अप उपस्पृश्याष्टावष्टौ शकलान्याहवनीये प्रहरेयुर्देवकृत-
स्येत्येतत्प्रभृतिभिरिकारान्तैरिति । अवयजनसीत्येवमन्तैः न तत्र स्वा
हाकार इत्यर्थः ।

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि पितृकृतस्यैनसोऽवय-
जनमसि मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमस्यस्मत्कृतस्यैनसो-
ऽवयजनमसि यद्विद्या च नक्तं चैनश्चकूम तस्यावयजन-
मसि यत् स्वपन्तश्च जाग्रतश्चैनश्चकूम तस्यावयजनमसि
यद्विद्धाऽश्वाविद्धाऽसश्चैनश्चकूम तस्यावयजनमस्यैनस एन-
साऽवयजनमसि ॥ १० ॥

हे अग्नी प्रक्षिप्यमाणशकल ! त्वं 'देवकृतस्य' देवैः कृतस्य 'एनसः'
पापस्य कृतापराधेष्वस्मासु देवैः यत् कृतं पापं तस्य 'अवयजनं' अप-
गमनसाधनमसि । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् । 'अस्मत्कृतस्य' अस्माभिरेव
कृतस्य । यद्विद्या चेत्याद्यास्तयो मन्त्रा स्पष्टार्थाः । एनस एनस इति घी-

प्लवा सर्वोपराधो निर्दिश्यते सर्वस्याप्येनसा विनाशकमिति ॥ १० ॥

द्राह्यायणः—‘अप्सुषो मानाम चमसाश्चात्वालदेशेद्भिः पूर्णास्तेषु हरितानि तृणानि प्रास्तानि भवन्ति ते स्वं चमसं पट्युपविश्याप्सु घौतेत्यवमृष्य जपेयुरिति’ । अप्सु पोमसंश्लेषे जलपूर्णेषु चमसेषु उद्गाहणा यत् चमसोस्ति तस्य परितः उपविष्टास्तिन्न उद्गातारो मन्त्रेण चमसं स्पृष्ट्वा तस्मिन्त्रज्जपेयुः । पाठस्तु—

अप्सु घौतस्य ते देव सोम नृभिः सुतस्य ॥ ११ ॥

हे सोमदेव! ‘नृभिः’ ऋत्विग्भिः ‘सुतस्य’ अभिषुतस्य अप्सु चमसेषु दकेषु ‘घौतस्य’ शोधितस्य ‘ते’ तव भक्षं करोमीत्युत्तरत्र सम्यन्धः । यद्वा स्पर्शकुरोमीत्यत्रैवाध्याहारः ॥ ११ ॥

द्राह्यायणः—‘मधुमन्तमिति पाणानुपजिघ्रेरन्निति, स्पष्टोर्थः ॥ पाठस्तु—

मधुमन्तं भक्षं करोमि ॥ १२ ॥

‘मधुमन्तं’ रसवन्तमुक्तस्य सोमस्य रसं ‘भक्षं’ भक्षितं करोमि ॥ १२ ॥

द्राह्यायणः—‘शमज्य इत्युदञ्चं चमसन्नित्येयुरिति’ परासिञ्जेयुरित्यर्थः । पाठस्तु—

शमज्य ओषधीभ्यः ॥ १३ ॥

‘अद्भ्य ओषधीभ्यश्च’ ‘शं’ शान्तिरस्तु ॥ १३ ॥

द्राह्यायणः—‘कामेत्यध्यात्ममावर्त्तयेयुरिति’ स्वात्माऽभिमुख्येन चमसानावर्त्तयेत् । पाठस्तु—

कामकामं न आवर्त्तय ॥ १४ ॥

हे कामसंश्लेषक देव ! ‘मे’ मदीयं ‘कामं’ काम्यं जलजातमावर्त्तय ॥ १४ ॥

द्राह्यायणः—‘ऊर्गित्युरः सुपाणीन्निदधीरन्निति’ । पाठस्तु—

ऊर्गित्यूर्जस्मयि घेहि ॥ १५ ॥

हे सोमपीय ! त्वम् ‘ऊर्कं’ बलकरमन्नमसि अत ‘ऊर्जं’ बलकरमन्नं ‘मयि घेहि’ स्थापय ॥ १५ ॥

द्राह्यायणः—‘प्राणसोमेति मुर्यान् प्राणानमिमुर्येरन्’ इति । पाठस्तु—

प्राणसोमपीये मे जागृहि ॥ १६ ॥

हे प्राण ! ‘मे’ मम सोमपानार्थं ‘जागृहि’ प्रबुध्यस्व ॥ १६ ॥

द्राह्यायणः—‘आग्नीध्राय गत्वा दधिभक्षं भक्षयेयुरस्तमुपहूय दधिकाश इति’ अत्र यद्यप्यस्मिन् मन्त्रे दधिकाशेति सम्भारूपोऽग्निविशेष

एव देवतात्वेनाभिधीयते, तथापि दधिशब्दयोगात्सामान्येन दधिम-
क्षणे विनियोग इति द्रष्टव्यम् । पाठस्तु—

दधिक्रावो अकारिपञ्जिणोरश्वस्य वाजिनः ।

सुरभि नो मुखा करत्प्र न आयूँपि तारिषत् ॥ १७ ॥

दधि दधञ्कारयन् कामतीति दधिक्रावा क्रमेर्वनिपि विद्वन्नोरनु-
नासिकः स्यादिति मकारस्पाकारः, तस्य दधिक्राव एतत्संज्ञकस्याश्व-
रूपस्य देवस्य 'अकारिपं' परिरक्षणं कृतवानस्मि । कीदृशस्य 'जिणो'-
र्जयशीलस्य 'वाजिनो' वेगवतो वाजिनघतो वा 'अश्वस्य' अश्रोते-
रश्वः क्षिप्रं सर्वं व्याप्नुवतः, स च दधिक्रावादेवः 'सुरभि' सुपांसुलु-
गिति शैर्लुक् सुरभीणि सुगन्धीनि 'नो'ऽस्माकं 'मुखा' मुखानि 'करत्'
करोतु नोऽस्माकमायूँपि च प्रतारिषत् ।

अथ क्रतुसद्वहः—

तृतीयसवनारम्भमादित्यप्रदमाचरेत् ।

आर्मवेण स्तुवीताथ पश्वङ्गः प्रचरत्ययम् ॥

साधित्रवेद्वदेवात्यौ ग्रहौ सौम्यचरुस्तथा ।

पाक्षीवतग्रहादूर्ध्वं यज्ञा यज्ञाय संस्तवः ॥

आग्निमारुतशस्त्रं स्याद्गृह्णीयाद्वारि योजनम् ।

समाप्ते सवने पश्चात् कुर्याद्वधभृतं ततः ॥

कुर्यादुदयनीयेष्टिमनुबन्ध्यां यजेत गाम् ।

देविका निर्वपेद्देवसुवासापि यजूँष्यथ ॥

उपोष्य वेदिमाग्नेयमिष्ट्वाग्निष्टोमसंस्थितिः ॥ १७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाध्यायस्य पष्ठः खण्डः ॥

अथ सप्तमः खण्डः ।

'अथ दक्षिणानां प्रतिग्रहाय तदङ्गभूता मन्त्रास्तूच्यन्ते, सर्वेषु प्राते-
ग्रहमन्त्रेषु 'देवस्य त्वा सधितुः प्रसव इत्यारभ्य' 'वरुणस्त्वानयतु देवि
दक्षिण' इत्यन्तमुक्त्वा वरुणायाश्च रुद्राय गामिति तत्तत्प्रतिग्राह्यद्रव्या-
नुसारेणातिदिश्य 'तेनामृततत्त्वमशीय तैरमृततत्त्वमशीयेति' यथार्थमुक्त्वा
'वयोदात्र' इत्यादि 'मह्यं प्रतिग्रहीत्रे' इत्यन्तं ततः 'क इदं कस्मा अदादि
कामैतत्ते' इत्यन्तं जपेत् । एतत्सर्वमुत्तरत्र वक्ष्यते ।

द्राह्यायणः—‘अश्वरथं चेहद्यात् ‘पूर्व्वेणाग्नीध्रीयंमवस्थाप्य पुर-
स्ताज्जपं जपित्वा दर्भमुष्टिनाश्वमुखानि सम्मृज्य द्वाभ्यां द्वाभ्याम-
श्वनामभ्यामेकैकस्याश्वोसीत्येतत्प्रभृतिमिरुदक्स्थं स्थमिति’ । पुर-
स्ताज्जपो देवस्यत्वेत्यादिस्तं जपित्वा प्रतिप्रहीता रथसम्बन्धिन-
श्चतुरोऽश्वान् चतुर्भिर्नामयुग्मैर्दक्षिणमश्वमारभ्य उदगपवर्गं मुखेषु
सम्मृज्यात् । पाठस्तु—

अश्वोस्यत्पोसि मयोसि हयोसि वाज्यसि सति-
रवर्वासि वृषासि ॥ १ ॥

एतान्यष्टावश्वनामानि तेषान्निर्व्वचनं प्रदर्श्यते—अश्वोतेव्याप्तिकर्म-
णोश्वः हे अश्व त्वं शीघ्रं व्यापनशीलोसि, ‘अत्यः’ सततगाम्यासि, अत
सातत्यगमन इति धातुः, मयतिः शब्दकर्मणा हेषाशब्दकार्योसि, हयो
गन्तासि हिगताविति धातुः, ‘वाजी’ वेगवान् तादृशस्त्वमासि, ‘सतिः’
सर्पणशीलः ‘अर्वाग्’ गमनशीलस्तादृशोसि, ऋगताविति धातुः, अन्येभ्यो
ऽपि दृश्यन्त इति घनिप्,—‘वृषा’ वर्षणकारी सेचनसमर्थोसि ॥ २ ॥

अत्र सूत्रम्—‘आदित्यानामिति रथाशिर आलभ्य जपेदिति आल-
भ्य उपस्पर्शः । पाठस्तु—

आदित्यानां पत्मान्विहि नमस्तेस्तु मा मा हिंसीः ॥२॥

एत्वान्विहीति शास्त्रान्तरे पाठः । हेरथ ‘आदित्यानां’ द्वादशसं-
ख्यानां प्रतिमासं दिवि सञ्चरतामरणसूर्यादीनां यत् ‘पत्मा’ पदं सङ्गमन-
मस्ति तत् ‘अन्विहि’ अनुगच्छ अप्रतिहतगतिर्भवेत्यर्थः, स्पष्टमन्यत् ॥२॥

द्राह्यायणः—‘यद्रथ्याऽस्याद्वायोरिति चर्मण्यं प्रतिगृहीयान्नक्षत्रा-
णामित्यस्त्रिमयं सूर्य्यस्येत्ययो लोहे हिरण्यञ्चेति’ तत्र च यद्रथ्यं रथं
चर्मलोहहिरण्यदिनिमित्तं स्थानं तत्र वायोरिति चर्मविकारं प्रतिगृ-
हीयादस्त्रिमयं गजदन्तादिनिमित्तम्, अयो लोहे हिरण्यञ्चेति आयसं
ताम्रं सौवर्णञ्चेत्यर्थः । पाठस्तु—

वायोद्वा तेजसा प्रतिगृह्णामि नक्षत्राणां त्वां रू-
पेण प्रतिगृह्णामि सूर्य्यस्य त्वा वर्चसा प्रतिगृह्णामि ॥३॥

चर्मगतदौर्गन्ध्यापनयनक्षमं वायोर्यदसाधारणं तेजः तेन चर्मण्यं
त्वां प्रतिगृह्णामि । अस्त्रिमयस्य धवलत्वेन नक्षत्राणां रूपेणेत्युक्तमयोम-
यादीनां तेजसत्वात् सूर्य्यस्य वर्चसेत्युक्तम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ३ ॥

द्राह्यायणः—‘दक्षिणेन रथं गत्वा रथन्तरमसीति’ दक्षिणश्चक्रमाल-

मेत वामदेव्यमसीत्याधिष्ठानं बृहदसीत्युत्तरञ्चक्रमित्यधिष्ठानं रघोपवेशनस्थानम् ।

रथन्तरमासि वामदेव्यमासि बृहदासि ॥ ४ ॥

हे दक्षिणचक्र ! त्वं 'रथन्तरमासि' रथन्तरसामवत् स्वकार्यकुशलमिति । हे अधिष्ठान ! त्वं 'वामदेव्यमासि' यथा वामदेव्यसाम शान्तिकरत्वेन रक्षकं तथा त्वमप्युपरिष्ठानामधःपतनाद्रक्षकमसि, बृहदसीति रथन्तरवर्ज्यम् ॥ ४ ॥

अत्र सूत्रम्—'अङ्कान्यङ्कू इति रथचक्रे एव सम्मृज्यादिति' ये पूर्व्वेवाताग्रचक्रे त एव न त्वधिष्ठानम् । पाठस्तु—

अङ्कान्यङ्कू अभितो रथं यौ ध्वान्तं वाताग्रमाभिसञ्चरतौ दूरे हेतिरिन्द्रियवान् पतत्री ते नोग्रयः पप्रयः पारयन्तु ॥ ५ ॥

अङ्कान्यङ्कौ गन्तारौ, अङ्को चातरिति यास्कः । 'न्युङ्कू'नितरामञ्चन्तौ गच्छन्तौ, न्युदञ्चेरिति निपूर्वोदञ्चतेः कुप्रत्ययः न्यङ्कादीनाञ्चेति कुत्वम् । यौ चक्ररूपौ पदारंभयुक्तौ रथमभितः रथस्य पार्श्वयोर्धत्तेतौ 'ध्वान्त'मन्वकारं 'वाताग्र' वायोः पुरोभागं चाभितः सञ्चरन्तौ प्रकाशमपेक्ष्यान्धकारेपि गच्छतः । शीघ्रगामिनौ वा वायोरपि शीघ्रं गच्छत इत्यर्थः । यश्च 'दूरे हेतिः' हननसाधनमायुधं हेतिस्तद्दूरे विप्रकृष्टप्रदेशे यस्य रथमध्यभागस्य स तथोक्तः परैः प्रयुक्तान्यायुधानि दूरत एव प्रतिहन्यन्त इत्यर्थः । 'इन्द्रियवान्'वीर्यवान् 'पतत्री' पतत्रे पक्ष्मणी तद्वान् ईदृश उपदेशनार्थो यो रथमध्यभागः 'अग्रयो'ऽग्रं नयन्तः । यद्वाऽग्निवह्नौ व्योपेतास्ते 'पप्रयः'पालयितारः पूरयितारो वा सन्तो 'नो'ऽस्मान् 'पारयन्तु' गन्तव्यं प्रापयन्तु प्रापूरण इत्यस्मात् त्वृ पालनपूरणयोरित्यस्माद्वा आह्वगमहनजन किप्रत्यये प्रतीति रूपम् ॥ ५ ॥

अत्र सूत्रम्—'वैश्वानर इति दक्षिणेन पादेनारोहेदिति' रथमिति शेषः । पाठस्तु—

वैश्वानरः प्रक्षथा नांकमारुह दिवः पृष्ठं मन्दमानः सुमन्मभिः सपूर्व्ववज्जनयज्जन्तवे घनाः समानमयमन् पश्यन्ति जागृविः ॥ ६ ॥

'रथप्रतिग्रहीता आत्मानं वैश्वानरात्मना ध्यायेन्नारोहेत् दक्षिणां प्रतिग्रहीष्यन् सप्तदशकृत्वो व्यावृत्य प्रतिगृह्णाया'दिति श्रुत्यन्तरात्

व्यावृत्त्यात्मानं देवतारूपेणात्मनि ध्यात्वेति हि-नस्य ध्यात्वायानम्, 'वैश्वानरः' विश्वेषामन्तराणां हितः एतदात्मक उद्गाता 'प्रज्ञया' प्रज्ञ इव पुराण इवातीतेषु युगेष्विवास्मिन्नपि युगे 'नाकं' दुःखराहित्येन सुखकरं रथं 'आरुह्य' आरोहेति छन्दासि लुङ् लङ्-लिट् इति वर्त्तमाने लुङ् दृष्ट्वाद्देव्य इति चलेः परटादेशः । 'दियो' द्योतमानस्य 'पृष्ठे' उपरिभागे 'सुमन्मभिः' शोभनस्तुतिकैः स्तोत्रभिर्मन्दमानः स्तूयमानः मदि स्तुतौ कर्मणि यकि प्राप्ते व्यत्ययेन शप् । किञ्च स वैश्वानरात्मोद्गाता पूर्वघातपूर्वेषां यजमानानामिव तत्र तस्यैवेति पृष्ठार्थं धतिः । 'जन्तवे' जनाय अस्मा अपि यजमानाय 'समानं' सदृशं यावदन्येभ्यः पूर्वं प्रादात् तत्परिमाणं घन स्तोत्रेण जनयन्नुत्पादयन् अनित्यमागमशासनमिति तुमभावः 'अयम्' अयमिति गमनसाधने रथे उपविष्टो 'जागृविः' जागरूकः सन् 'पृथ्वीं' तेन रथेन परितो गच्छति ॥ ६ ॥

अत्र सूत्रम्--'आदृष्ट जपेत् गिदैपत' इति । पाठस्तु—

गिदैप ते रथ एव वामदिश्वना रथोरिष्टो विश्वभेषजः ॥ ७ ॥

गिदो नाम रथपालकः कश्चिद्देवः, हे गिद ! 'ते' त्वदीयस्त्वस्मादेनं पालयेत्यभिप्रायः । हे अश्विना अश्विनौ ! एव रथ 'वां' युवयोः सम्बन्धी अतोय अरिष्टो अर्हसितोऽभ्रमः 'विश्वभेषजो' विश्वैः सर्वैर्भवदीयेषु कश्च भवतु ॥ ७ ॥

अत्र सूत्रम्--'हृशेति सव्यान्भीशूनायच्छेदिति' । अभीशवोऽद्वयव्यनरज्जवः ।

कृशानो शव्यानायच्छ ॥ ८ ॥

कृशानुर्नाम सव्यपादर्थस्थानां रश्मीनां धारयिता, हे कृशानो ! 'सव्यान्' वामभागस्थितान् अद्वयव्यकान् पाशान् 'आयच्छ' आकर्षेण निपच्छ ॥ ८ ॥

अत्र सूत्रम्--'दासेति दक्षिणानवगृह्णायादिति' ।

दासानो दक्षिणानवगृहाण ॥ ९ ॥

दासनुर्देवविशेषो दक्षिणभागस्थितानां रश्मीनामियमिता वृष्य-यज्ञोजना ॥ ९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

अत्र सूत्रम्—‘सर्वासां देवस्यत्वेति पुरस्ताज्जप इति’ सर्वासां दक्षिणानां प्रतिग्रहे प्रथमतो देवस्यत्वेति मन्त्रं जपेत् । पाठस्तु—

देवस्य त्वा सवितुः प्रमवेदिवनोर्याहुभ्यां पूणो ह
स्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि ॥ १ ॥

‘सवितुः’ प्रेरकस्य देवस्य ‘प्रसवे’ प्रेरणे ऽनुज्ञायां सत्यां ‘त्वा’ त्वां दक्षिणां प्रतिगृह्णामि । तत्र बाहू च हस्तौ च साधनमंसमणिवन्धनयोर्मध्यवर्त्ता दीर्घौ भागो बाहुः, मणिवन्धस्याग्रेऽवस्थितः साङ्गुलिर्भागो हस्तः, अश्विनो बाह्वोरभिमानिदेवो हस्तयोस्तु पूया, ततस्तयोस्तत्सम्बन्धोऽभिधीयते ॥ १ ॥

अत्र सूत्रम्—‘वरुणस्त्वेति यथादेवतं प्रतिगृहीयादिति’ यस्य द्रव्यस्य या देवता प्रतिग्रहमन्त्रे पठिता तामादिश्य तद्रव्यं प्रतिगृहीयाद्वरुणायाश्चमन्त्रे हिरण्यं वायवे मृगमित्यादि । पाठस्तु—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे वरुणायाश्च तेना-
मृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिगृहीत्रे ॥ २ ॥

हे दक्षिणे पतत्संज्ञे देवि ! ‘त्वा’ त्वां ‘वरुणो’ देवो गृहं ‘नयतु’ वरुणप्राप्त्यर्थमश्वमहं प्रतिगृह्णामि तेनानुगृहीतेनाश्वेनामृतत्वं देवत्वमहं ‘अशीय’ प्राप्तवान् ‘दात्रे’ यजमानाय ‘वयो’न्नं भूयान्मह्यं प्रतिगृहीत्रे ‘मयः’ सुखं भूयात्, ‘यद्वै शिवं तन्मय’ इति श्रुत्यन्तरम् ॥ २ ॥

अश्वप्रतिग्रहे मन्त्र उक्तः गोप्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे रुदाध गां तयामृतत्व-
मशीय वयो दात्रे भूयात् मयो मह्यं प्रतिगृहीत्रे ॥ ३ ॥

रुद्रप्राप्त्यर्थं ‘गां’प्रतिगृह्णामि तया रुद्रानुगृहीतया गवा रुद्रस्य पशुपतित्वात् गोस्तत्सम्बन्धोऽन्यत्पूर्ववत् ॥ ३ ॥

अयाजप्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणेऽग्नयेऽजम् ॥ ४ ॥

अस्मिन्मन्त्रे तेनामृतत्वमित्यादेरुत्तरभागस्यानुपज्ञो द्रष्टव्यः । प्रजापतिमुखादग्नेरजस्य सहोत्पत्तेस्तत्सम्बन्धः । अन्यत्पूर्ववत् ॥ ४ ॥

अथ हिरण्यस्य प्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

अग्नये हिरण्यम् ॥ ५ ॥

अस्मिन्मन्त्रे वरुणस्त्वेत्यादेः पूर्वभागस्य तेनेत्यादेः 'पूर्वभागस्यानु-
पङ्गः कार्यः । हिरण्यस्याग्निरेनोरूपत्वात्सम्यन्धः ॥ ५ ॥

अजायाः प्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

अग्नीषोमाभ्यामजान्मयामृतत्वमशीय वयो दात्रे
भूयान्मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ६ ॥

अस्मिन्मन्त्रे वरुणस्त्वेत्यादेः पूर्वभागस्यैवानुपङ्गः, 'आग्नेयी वा एषा
यदजेति' श्रुत्यन्तरादजाया अग्नेः सम्बन्धः, लताभूतस्य सोमस्यौष-
धिषु सारभूतत्वेनाजयोपजीव्यत्वात्तत्सम्यन्धः, तथाचाक्तं—'क्ष्यामला-
स्तास्तु निष्पन्ना सोमाख्यछागभोजन'मिति ॥ ६ ॥

अन्यस्येति मन्त्रो लिङ्गादन्नप्रतिग्रहे विनियोज्यः, सुप्रकारस्तु अघेः
प्रतिग्रहेऽयं मन्त्रोऽधिक इति दर्शयति, अन्नस्येति प्राग् धारुणादघेः
प्रतिग्रहे वरुणस्त्वेत्यतः पूर्वं घायं मन्त्रो जप्यः । तत्पाठस्तु—

अन्नस्यान्नपतिः प्रादादन्नमीवस्य शुष्मिणो नमो
विश्वजनस्य क्षामाय भुञ्जति मा मा हिंसीः ॥ ७ ॥

अन्नस्येति कर्मणि शेषविवक्षायां पठ्यो, अन्नस्य पतिरन्नानां पालयि-
ता 'अन्नस्या'न्नं मह्यं 'प्रादात्' दत्तवान् अन्नं विशेष्यते 'ऽन्नमीवस्या'मीवा
रोगः तद्रहितस्यारोग्यकरस्य 'शुष्मिणो' बलवतो बलहेतुभूतस्येमेपि
कर्मणि पठ्यौ, तस्मा अन्नपतये अग्नये नमोऽस्तु । कथम्भूताय 'विश्व-
जनस्य' सर्वप्राणिजातस्य 'क्षामाय' क्षेमकारिणे, पैजैश्च क्षये, तस्मात्
क्रोधिकरणे चेति कर्तरि निष्ठा क्षायो म इति तकारस्य मकारः, ईदृशा-
क्षये इत्यर्थः । हे भुञ्जति उपभोग्यत्वेन पालयिषि ! तदुपभोक्तारं 'मां'
मा 'हिंसीः' ॥ ७ ॥

अघेः पश्वन्तरोपभोगसाधनत्वेनाग्नत्वेन संस्तावकन्तत्प्रतिग्राहम-
न्त्रैकदेशमुक्त्वा तच्छेषमन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देधि दक्षिणे त्वष्ट्रेऽविं तथा ऽमृत-
त्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ ८ ॥

'त्वष्टा हि रूपाणां कर्त्ता त्वष्टा वै पशूनां मिथुनानां रूपकृदिति'
श्रुत्यन्तरात् नानारूपा अघयो भवन्तीति त्वष्टुरवेक्ष्य सम्यन्धः, शिष्टं
पूर्ववत् ॥ ८ ॥

अत्र सुप्रम्—'ग्रास्त्वा कृन्तन्निति वसनस्येति' वस्त्रप्रतिग्रहे ग्रास्त्वा
कृन्तन्निति प्राग्धारुणात्पुरस्ताज्जपात्वा जपेद् यदि तत् वस्त्रमतन्तुनि-

मितं वल्कलादिजं स्यात्तत्रायं मन्त्रो न प्रयोज्यः । तत्र सूत्रम्—‘तदुदस्ये-
दतागतव’ इति । पाठस्तु—

ग्रास्त्वाऽकृन्तन्नपसोऽतन्वत वयिऽपोऽवयन् ॥ ९ ॥

गच्छन्ति पुमांस एनामिति ग्रास्त्रियः, हे वस्त्र ! ‘त्वा’ ‘त्वां’ ‘अकृन्तन्’
तिष्पादनानन्तरं कर्त्तनेन छेदनेन सम्पादितवन्तः ‘अपसो’ऽपः कर्म
तद्वन्तो वा तन्तुप्रथनकुशलाः पुरुषा ‘अतन्वत’ तन्तवः पट्टस्य दीर्घा-
णि सूत्राणि तान्यकुर्वन्तित्यर्थः । ता ‘वयिऽपः’ वेङ् तन्तुसन्ताने वय-
नकर्त्र्यो योषितो ‘अवयन्’ तिरश्चीनानि सूत्राणि समयोजयन् ॥ ९ ॥

अथ वस्त्रप्रतिग्रहमन्त्रविशेषः—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे बृहस्पतये वासस्तेना-
मृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ १० ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १० ॥

आसनशय्यादेरचेतनवस्तुनः प्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे उत्तानायाङ्गिरसा-
याप्राणत् तेनामृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं
प्रतिग्रहीत्रे ॥ ११ ॥

‘इयं वा उत्तान आङ्गिरस’ इति श्रुत्यन्तरात्, उत्तान आङ्गिरस इति
शब्दाभ्यामुच्यते, ऊर्ध्वमुखत्वादुत्तानोऽङ्गिरसस्तपसा लब्धत्वादाङ्गि-
रसो लोकभिप्रायेण पुँल्लिङ्गता, अप्राणतो भूमेश्च निष्कयत्वसाम्या-
त्सम्बन्धोऽन्यत्पूर्ववत् ॥ ११ ॥

उष्ट्रप्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे पूष्ण उष्ट्रम् ॥ १२ ॥

तेनेत्यादेर्वाक्यशेषस्यानुपङ्गः ॥ १२ ॥

मृगप्रतिग्रहमन्त्रमाह—

वायवे मृगं तेनामृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो-
मह्यं प्रतिग्रहीत्रे ॥ १३ ॥

वरुणस्त्वेति पूर्वभागस्यानुपङ्गः, मृगस्य शीघ्रगामित्वात् तद्वा-
हनत्वाद्वायुसम्बन्धः, उष्ट्रादीन्यपि सर्वदक्षिणे देयानि ॥ १३ ॥

पुरुषहस्तिवराहवीहीणां प्रतिग्रहे चतुरो मन्त्रानाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे प्रजापतये पुरुषं प्र-

जापतये हस्तिनं प्रजापतये वराहं प्रजापतये ब्रीहिय-
चाऽस्तैरमृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रति-
ग्रहीत्रे ॥ १४ ॥

अत्र पुरुषमन्त्रे तेनेत्याद्युत्तरभागानुपङ्क्तः, हस्तिमन्त्रे पूर्वोत्तरयोर्द्व-
योरप्यनुपङ्क्तः, तथा वराहमन्त्रं, ब्रीहियवमन्त्रे तु पूर्वभागस्यैवानुपङ्क्तः। यत्र
पुनर्ब्रीहियवयोरेक एव दीयते तन्त्र मन्त्रो विभज्य प्रयोक्तव्यः—प्रजापतये
ब्रीहान् । प्रजापतये यवान् इति । प्रजापतिना सृष्टत्वात्पुरुषादीनां तत्स-
म्बन्धः ॥ १४ ॥

तिलमापप्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे चेत्रपतये तिलमापा-
स्तैरमृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं प्रतिग्र-
हीत्रे ॥ १५ ॥

तिलामापादीनां क्षेत्रजन्यत्वात्तत्स्वामिना सम्बन्धः ॥ १५ ॥

अश्वगर्दभसङ्करजस्य प्रतिग्रहे मन्त्रमाह—

वरुणस्त्वा नयतु देवि दक्षिणे सवित्रेऽश्वतरं वाश्व-
तरीं वा तयाऽमृतत्वमशीय वयो दात्रे भूयान्मयो मह्यं
प्रतिग्रहीत्रे ॥ १६ ॥

श्रेरकस्य सधितुः श्रेरणाद्विलक्षणमातापितृभ्यां विजातीयस्याश्व-
तरस्योत्पत्तिः ॥ १६ ॥

अत्र सूत्रम्—‘तेन क इदमित्युपरिष्ठाज्जप’ इति, यस्मिन्मन्त्रे तेनामृ-
तत्वमित्यादिप्रतिगृहीत इत्यन्त उत्तरभागो नास्मात्तस्मिन्मन्त्रे ते
भागमनुपज्य जपेत् । पाठस्तु—

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात्कामो दाता
कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमाविशत्कामेन त्वा प्र-
तिगृह्णामि कामैतत्ते ॥ १७ ॥

कश्चादामिधेयः प्रजापतिरिदं दक्षिणः। द्रव्यं कस्मै प्रजापतये अदात्
दत्तवान् प्रजापतिरेव सर्वार्त्ता दानप्रतिग्रहयोः कर्त्तैति भाषः। एवमनेन
मन्त्रेण स्मृते सति दातृप्रतिग्रहीत्रोः फलं पापराहित्यञ्च भवति । त-
था ‘कामः कामाय’ दातृस्वर्गादिफलकामनया यजमानो दातृकृत्विजश्च
यनकामनया प्रतिगृह्णन्ति, अत उभयत्र कामस्यैव प्रयोजकत्वे प्रति-

ग्रहीतृत्वं च कामस्यैवेत्येतल्लोके प्रसिद्धमिति कामो दाता कामः
प्रतिग्रहीता इत्युच्यते, नहि निष्कामे परित्राजकादौ तदस्ति । स च
कामः 'समुद्रमाविशत्' मां परित्यज्य यत्र कापि गच्छतु इत्यर्थः । क
स्यावस्थितौ तेन कामेन हेतुना त्वां प्रतिगृह्णामि । ततो हे काम ! एत-
द्धनं 'ते' तवैव तिष्ठतु नात्मानं मे स्पृशत्वित्यर्थः । सोऽयं मन्त्रो ध्वर्यु-
शास्त्रायामाप्नातस्तर्दीयब्राह्मणाभ्रत्वा, व्याख्यातश्च—क इदं कस्मादि-
त्याह प्रजापतेर्वै कः स प्रजापतये ददाति कामः कामायेत्याह कामेन
हि ददाति कामेन प्रतिगृह्णाति कामो दाता कामः । प्रतिग्रहीतेत्याह
कामो हि दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमाविशेत्याह समुद्र इव
कामयते नहि कामस्यान्तोस्ति नहि समुद्रस्य, कामेन त्वा प्रतिगृह्णामी-
त्याह येन कामः प्रतिगृह्णाति स एवैनममुष्मिन्ल्लोके दक्षिणामिच्छति
न प्रतिग्रहीतुरिच्छति ॥ १७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाध्यायस्य अष्टमः खण्डः ।

—५२१५३—

अथ नवमः खण्डः ।

अत्र सूत्रम्—'रश्मिरसीत्येतावनुकौ स्तोमभागास्तैः पृथगनुपूर्व-
हस्तोत्रान्यनुमन्त्रयेत् ब्रह्मन् स्तोष्यामः प्रशस्तेरित्युक्त' इति । रश्मि-
रसीत्येकोनुवाकस्तन्तुरसीत्यपरस्तयोरनुवाकयोराम्नाता ये मन्त्रा-
स्तेषां स्तोमविभाग इति नामधेयम् । त्रिवृदादिस्तोमान् मज्जन्त्येते मन्त्रा
इति तच्छब्दव्युत्पत्तिः । उद्गातारो ब्रह्माणं प्रत्येवमनुष्ठां प्रार्थयन्ते—ब्रह्मन्
स्तोष्यामः प्रशस्तरिति । इदानीं बहिष्पवमानादीन्यातिरिक्तस्तोत्रपर्य-
न्तानि यानि त्रयस्त्रिंशः स्तोत्राणि सन्ति तानि तैः स्तोमभागैस्तावत्-
संख्यैः क्रमेण ब्रह्मा पृथगनुमन्त्रयेत् । आपस्तम्बोऽप्याह—'ब्रह्मन् स्तो-
ष्याम इत्युच्यमाने देवसविनरेतत्से प्रादेत्यनुहुत्य रश्मिरसि क्षयाय
क्षयन् जिन्व स्तुतेति स्तौति, सर्व्वस्तोत्राणामेव कल्प उत्तरमुत्तरं स्तो-
मभागानां दधाति, द्वादशाग्निष्टोमे पञ्चदशोके षोडशषोडशिनि सप्त
दशवाजपेये एकोनत्रिंशदतिरात्रे त्रयस्त्रिंशदस्तोर्याग्नि इति । तत्रायं
प्रथमस्तोमभागमन्त्रः—

रश्मिरसि क्षयाय त्वा क्षयं जिन्व सवितृप्रसूता
वृहस्पतये स्तुत ॥ १ ॥

तैत्तिरीयाणां पञ्चमकाण्डोक्तब्राह्मणे रश्मिरिति मन्त्राणामादित्या-
दिसृष्टिहेतुत्वाभिधानादादित्यादिपरतया रश्म्यादिशब्दा व्याख्येयाः ।
तत्तु ब्राह्मणमुत्तरत्रोदाहरिष्यते । हे आदित्य ! त्वं 'रश्मिरसि' रश्मि-
युक्तोसि । देवा यस्मिन् क्षियन्ति निवसन्ति इति स्तोत्रसम्बन्धः क्षय-
स्तस्मै क्षयाय तत्सङ्घाय तत्प्राप्त्यर्थं हे आदित्य त्वां स्मरामि इति
शेषः । ततः 'क्षयं' देवसङ्घं 'जिन्व' ग्रीणय क्षयशब्दस्य देवविषयत्वं तै-
त्तिरीयास्तृतीयकाण्डोक्तब्राह्मणे समामनन्ति—'रश्मिरसि क्षयाय त्वा क्षयं
जिन्वेत्याह देवे क्षय इति । यद्वा बहिष्पवमानादिकंस्तोत्रमेव सम्बोध्य
हे स्तोत्र त्वं रश्मिर्वम्बन्धकोसि यज्ञस्य तादृशं त्वां 'क्षयाय' यजमान-
स्य निवासार्यं प्रयोजयामीति शेषः । क्षयनिवासो यजमानस्य गृहं वा
'जिन्व'ग्रीणय हे उद्गातारोयूयं 'सवितृप्रसूताः' सवित्राग्नेरकेणादित्यरूपे-
णान्तर्यामिणा प्रेरिताः सन्तो 'वृहस्पतये' वृहत्परिवृढं ब्रह्म तस्य पत्यै
स्तोत्रदेवतायै तत्प्रीत्यर्थं 'स्तुत' स्तुतिं कुरुत ॥ १ ॥

अथ द्वितीयस्तोमभागमन्त्रः—

प्रेतिरसि धर्मणे त्वा धर्मं जिन्व सवितृप्रसूता
वृहस्पतये स्तुत ॥ २ ॥

हे धर्माभिमानिन् देव ! त्वं 'प्रेतिरसि'प्रेतिर्गतिः सा च प्रकृष्टा शा-
स्त्रार्थानुरूपत्वात्प्रकृष्टा गतिर्यस्येति विग्रहः, 'धर्मणे' धर्माय तदनुष्ठात्-
मनुष्यार्थं 'मनुष्या वै धर्म' इति श्रुत्यन्तरे, तत्संतोषार्थं त्वां स्मरामि
त्वमपि 'धर्मं' तदनुष्ठात्मनुष्यं 'जिन्व'ग्रीणय । यद्वाऽत्रापि पूर्व्ववत् स्तो-
त्रपरतया योज्यमन्यत्पूर्व्ववत् ॥ २ ॥

अथ तृतीयः—

अन्वितिरसि दिवे त्वा दिवं जिन्व सवितृप्रसूता
वृहस्पतये स्तुत ॥ ३ ॥

हे स्तोत्र त्व'अन्विति' अनुकूलनतियुक्तोसि न त्वां 'दिवे' द्युलो-
कार्यं प्रयोजयामि त्वं च दिवं द्युलोके 'जिन्व' ग्रीणय ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः—

सन्धिरस्यन्तरिक्षाय त्वान्तरिक्षं जिन्व सवितृप्रसू-
ता वृहस्पतये स्तुत ॥ ४ ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'सन्धिरसि'उभयतः स्थिताभ्यां स्तोत्राभ्यां
सन्धिःसन्धीयमानोसि तादृशं त्वाम्'अन्तरिक्षाय'अन्तरिक्षलोकार्थं प्रयो-
जयामि त्वं चान्तरिक्षं ग्रीणय ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः—

प्रतिधिरंसि पृथिव्यै त्वा पृथिवीं जिन्व सवितृप्रसू-
ता बृहस्पतये स्तुत ॥ ५ ॥

हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'प्रतिधिः' प्रतिमुखं धीयते प्रातस्सधनसमां-
प्यर्थमिति प्रतिधिस्तादृशोसि, अन्यत्पूर्व्ववद्योज्यम् ॥ ५ ॥

अथ षष्ठः—

विष्टम्भोसि वृष्ट्यै त्वा वृष्टिं जिन्व सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ ६ ॥

हे माध्यन्दिनसवनपवमान त्वं ! 'विष्टम्भो' यज्ञस्य विशेषेण स्तम्भ-
यिता धारकोसि तं त्वां 'वृष्ट्यै' यज्ञमूलभूतायै प्रयोजयामि त्वं च
वृष्टिर्यथा भवति तथा तां प्रीणय ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः—

प्राचोऽस्यहे त्वाहर्जिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ ७ ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'प्राचः' ऽप्रकर्षेण रक्षकोसि त्वामहेऽहरर्थं प्रयोज-
जयामि त्वञ्चाह 'जिन्व' प्रीणय ॥ ७ ॥

अथाष्टमः—

अन्वासि राज्यै त्वा रात्रिजिन्व सवितृप्रसूता बृह-
स्पतये स्तुत ॥ ८ ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'मन्वा' ऽनुगन्तासि अनुपूर्वाद्वातेर्वा एतद्रूपं त्वां
'राज्यै' राज्यर्थं प्रयोजयामि त्वं च रात्रिं प्रीणय, इत्थमष्टभिः स्तोममा-
गैरादित्यानां सृज्यमाना प्रीतिः प्रतिपादिता ॥ ८ ॥

अतः परमग्निष्टोमस्य चत्वारि स्तोत्राणि तदीयैश्चतुर्भिः स्तोम-
मागैः प्रजापतिना सृज्यमानान् वसून् रुद्रानादित्यान् प्रीणयति ।

अथ नवमः—

उशिगसि वसुभ्यस्त्वा वसून् जिन्व सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ ९ ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'उशिक्' कमनीयोसि त्वं 'वसुभ्यो' वसूनां प्री-
त्यर्थं त्वां प्रयोजयामि त्वं च वसून् प्रीणय ॥ ९ ॥

अथ दशमः—

प्रकेतोसि रुद्रेभ्यस्त्वा रुद्राजिन्व सवितृप्रसूता बृह-
स्पतये स्तुत ॥ १० ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'प्रकेतः' प्रकृतं केतो ज्ञातासि, अन्यत्पूर्ववद्यो-
ज्यम् ॥ १० ॥

अथैकादशः—

सुदीतिरस्यादित्येभ्यस्त्वादित्याजिन्व सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ ११ ॥

हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'सुदीतिः' सुदीतिरसि त्वामादित्यानां प्रीत्यर्थं
प्रयोजयामि त्वं चादित्यान् प्रीणय ॥ ११ ॥

अथ द्वादशः—

ओजोसि पितृभ्यस्त्वा पितृजिन्व सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ १२ ॥

हे स्तोत्र ! त्वं 'ओजः' सारभूतोसि सारो ह्यग्निष्टोमसाम त्वां पितॄणां
प्रीत्यर्थं प्रयोजयामि त्वञ्च पितॄन्प्रीणयेति ॥ १२ ॥

अथ तोण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

अथ त्रयोदशः—

तन्तुरसि प्रजाभ्यस्त्वा प्रजा जिन्व सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ १ ॥

हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'तन्तुः' संतानहेतुरसि अतस्त्वां प्रजार्थं प्रयो-
जयामि त्वं च प्रजा प्रीणय ॥ १ ॥

अथ चतुर्दशः—

रेवदस्योपधिभ्यस्त्वौपधीर्जिन्व सवितृप्रसूता बृह-
स्पतये स्तुत ॥ २ ॥

हे स्तोत्र ! त्वं 'रेवत्' रयिमत् धनयुक्तं धनप्रदमसि अत ओपधयर्थं
त्वा प्रयोजयामि ॥ २ ॥

अथ पञ्चदशः—

पृतनापाङ्गसि पशुभ्यस्त्वा पशुजिन्व सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ ३ ॥

हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'पृतनापाद्' पृतनानां शाश्वतीनां सेनानां सो-

ढाभिभूतासि अतः पशुभ्यः शत्रुसम्यन्धिभ्यस्तद्वलामार्थं त्वां प्रयोजयामि त्वं च तान् पशून् मह्यं प्रदाय प्रीणय ॥ ३ ॥

अथ षोडशः—

अभिजिदसि युक्तग्रावेन्द्राय त्वेन्द्राजिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ ४ ॥

हे षोडशस्तोत्र ! त्वं 'अभिजित्' अभिजयहेतुरसि तथा युक्तया अभिपवार्थं युक्ता ग्रावाणो येन स तथोक्तः तादृशश्चासि सर्वदा सोमवद्धासीत्यर्थः, अतस्त्वामिन्द्रायेन्द्रार्थं प्रयोजयामि त्वं चेन्द्रं प्रीणय ॥ ४ ॥

अथ सप्तदशः—

अधिपतिरसि प्राणाय त्वा प्राणाजिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ ५ ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'अधिपतिः' रात्रिपर्यायगतानां स्तोत्राणां मुख्योसि । अतस्त्वां 'प्राणाय' मुख्यप्राणवृत्त्यर्थं प्रयोजयामि, गतमन्यत् ॥ ५ ॥

अथाष्टादशः—

धरुणोऽस्यपानाय त्वाऽपानजिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ ६ ॥

हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'धरुणोऽसि' सर्वस्य धारकोसि 'अपानाय' प्राणवायोः शरीरे धारयिता अपानः, तदर्थं त्वां प्रयोजयामि त्वं च तादृशमपानं प्रीणय ॥ ६ ॥

अथैकौनविंशः—

संसर्पोऽसि चक्षुषे त्वा चक्षुर्जिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ ७ ॥

हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'संसर्पः' । सम्यक् सर्पणशील आदित्योसि । अतस्त्वां 'चक्षुषे' चक्षुरर्थं प्रयोजयामि आदित्यो हि त्वं चक्षुर्जिन्व प्रीणय ॥ ७ ॥

अथ विंशः—

वयोधा असि श्रोत्राय त्वा श्रोत्रं जिन्व सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ ८ ॥

हे स्तोत्रविशेष ! त्वं 'वयोधाः' वयसोऽन्नस्य आयुषो वा धारयितासि त्वां 'श्रोत्राय' श्रवणेन्द्रियार्थं प्रयोजयामि । गतमन्यत् ॥ ८ ॥

अथैकविंशत्याद्याश्चत्वारो मन्त्राः—

त्रिवृदसि त्रिवृते त्वा सवृदसि सवृते त्वा प्रवृद-
सि प्रवृते त्वा ऽनुवृदस्पनुवृते त्वा सवितृप्रसूता बृहस्प-
तये स्तुत ॥ ९ ॥

मध्यरात्रिपर्यायगतानां चतुर्णां ऽस्तोत्राणामनुमन्त्रणमन्त्रा एते
सवितृप्रसूता इत्यादि सर्वशेषः । हे स्तुतिविशेष ! त्वं त्रिभिः पञ्चकैर्नि-
वृत्तत्वेन 'त्रिवृदसि' त्वां 'त्रिवृते' स्तोमाय प्रयोजयामि, 'सवृत्' अभ्यैः
सह वर्त्तत इति सवृत्, प्रवर्त्तते त्वकार्यं प्रति 'प्रवृत्' मध्यमपर्यायग-
तेभ्यस्त्रिभ्यः स्तोत्रेभ्यो ऽनु पश्चात् वर्त्तते इत्यनुवृत् । शिष्टं स्पष्टार्थम् ॥९॥

अथोत्तमपर्यायस्य स्तोत्रचतुष्टयस्यानुमन्त्रणाश्चत्वारो मन्त्राः—

निरोहोसि निरोहाय त्वा सधरोहोसि सधरोहा-
य त्वा प्ररोहोसि प्ररोहाय त्वा ऽनुरोहोऽस्पनुरोहाय त्वा
सवितृप्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ १० ॥

उत्तमपर्यायस्य यज्ञारोहणसामत्वात्तस्य स्तोत्राणि रोह इत्युच्यते ।
हे स्तुतिविशेष ! त्वं 'निरोहोसि' नितरां रोहहेतुरसि, अतो नितरां रो-
हार्थं त्वां प्रयोजयामि । एवमन्येष्वपि योजना कार्या । पदार्थस्तु सं-
रोहः सम्यक् रोहणहेतुः, अनुरोहो ऽनु पश्चात् चरममाधी सन् रोहण-
हेतुरिति ॥ १० ॥

अथ सन्धिस्तोत्रस्य त्रिवेद्यत्वात् त्रेधा ऽनुमन्त्रणं कर्तव्यं तन्म-
न्त्रोऽयम्—

वसुकोऽसि वस्यष्टिरसि वेपथ्रीरसि सवितृप्रसूता
बृहस्पतये स्तुत ॥ ११ ॥

हे सन्धिस्तोत्र ! त्वं 'वसुको' वासविता अग्निस्तादृशोसि । तथा
'वस्यष्टिः' वसनेन तमसां विवासनेनाऽनुते व्याप्नोति विश्वमिति व-
स्यष्टिः उपास्तादृशोसि । 'वेपथ्रीः' वेपो रूपं तद्वन्तावदिवनी तावेष
वेपथ्रीः । वेपस्य श्रयितासि ॥ ११ ॥

आक्रमोसीत्याद्याः अतोऽर्धमस्य यज्ञस्पतिरिक्तस्तोत्राणाञ्चतुर्णा-
मनुमन्त्रणमन्त्राः । तेषां पाठस्तु—

आक्रमोस्याक्रमाय त्वा संक्रमोसि संक्रमाय त्वो-

त्क्रमोऽस्युत्क्रमाय त्वोत्क्रान्तिरसि उत्क्रान्त्यै त्वा सवितृ-
प्रसूता बृहस्पतये स्तुत ॥ १२ ॥

हे स्तोत्रविशेष! त्वम् 'आक्रमः' षष्ठफलस्याक्रमणाय त्वां योजयामि,
स्थानास्थानान्तरप्राप्तिः संक्रमस्तद्धेतुरसि, उर्ध्वं स्वर्गं प्रत्युत्क्रमणमु-
त्क्रमः तद्धेतुरसि, उत्क्रमणरूपां या क्रिया सा उत्क्रान्तिः तद्रूपोसि,
अत उत्क्रान्त्यै स्वर्गं प्रत्युत्क्रमणार्थं त्वां योजयामि । गतमन्यत् ॥ १२-१-१०

अथ विनियोगसङ्ग्रहः--

ब्राह्मणप्रथमाध्यायमन्त्राणां विनियोजनम् ।
अत्रादौ वृत उद्गाता महादित्यादिकं जपेत् ॥ १ ॥
देवो गृहाद्विनिर्गत्य दूरङ्गत्वा विहाय जपेत् ।
यागमूयन्तिके वद्धा पितरः पित्रुपस्थितिम् ॥ २ ॥
नृमयूपोच्छ्रितो मन्त्रो मृदा वेद्याक्रमं जपेत् ।
रराटोस्पर्शनं विष्णोर्हविर्धानमिषे विशेत् ॥ ३ ॥
नवात्र मन्त्राः प्रथमे खण्डे सम्यगुदीरिताः ।
युनयाहृष्येत्सोमे ऋतस्येत्पुपवेशनम् ॥ ४ ॥
ऋतस्पृशेद्रोणकुम्भं वानप्रोहदमुं पुरः ।
मरुग्रावः स्पृशेदेषु द्रोणस्य ध्यूहनं त्विदम् ॥ ५ ॥
मृज्याद्वस्त्राद्वस द्रोणं पविद्रोणे पटं क्षिपेत् ।
शंशुधारां जपेदत्र नव मन्त्रा उदीरिताः ॥ ६ ॥
कुर्युः प्रवृत्तं होमौ द्वौ वेकुसूर्य इति द्वयात् ।
तृणापसरणं योद्य योम स्यादुपवेशनम् ॥ ७ ॥
अग्नेरिति स्तोमयोगो ह्यन्नमघ्नं जपेद्वयम् ।
स्वामिने वाचयेच्छ्येनः सम्बन्धेसा प्रेक्ष्य जपेत् ॥ ८ ॥
उपस्थानं नमः सूर्ये दश मन्त्रा इहेरिताः ।
अध्वादित्ये ह्युपस्थानं सम्राडाहवनीयके ॥ ९ ॥
तुयोऽस्यास्तावदेशे स्याच्चात्वाले तु नभोसि हि ।
असम्मृष्टेसि शमित्र आग्नीध्रये विमूरसि ॥ १० ॥
होतुर्द्विष्णवे चहिरसि द्वा मैत्रावरुणीयके ।
तु ब्राह्मणाच्छंसिके स्यादूशिक् स्यात् पोतुधिष्णवके ॥ ११ ॥
नेष्टकेऽङ्गारिरच्छावाकके वस्युरसीत्यथ ।
शुन्युर्माञ्जालीय औदुम्बर्यो स्यादतथेति हि ॥ १२ ॥
ससुद्धो ब्रह्मणः स्थाने अहिः प्रजहिते भवेत् ।

स्याद्गार्हपत्यो जोसीति सगरा दक्षिणाग्निके ॥ १३ ॥
 कव्यो दक्षिणवेद्यन्ते पातमा सर्वसंहतौ ।
 चतुर्थखण्डे मन्त्राणां विंशतिः समुदीरिताः ॥ १४ ॥
 ऋतमृज्याद्वारयाहू मामेत्यन्तः प्रवेशनम् ।
 नम इत्युपविद्याथ म्येनश्चमसवीक्षणम् ॥ १५ ॥
 इन्दोद्विर्भक्षयेदूर्ध्वो मुखच्छिद्राणि संस्पृशेत् ।
 सोमरा हृदयस्पर्शः सोमगीर्नाभिमास्पृशेत् ॥ १६ ॥
 चमसं पूरयेदाप्याऽवमैरद्याग्निमन्त्रतः ।
 दीक्षायै स्तोमभागोयं भवेन्मन्त्रचतुष्टयात् ॥ १७ ॥
 धायुर्माध्यन्दिने योगो वृषकः स्वामिवाचनम् ।
 इन्दो भक्षस्तोमयांगः सूर्योयु सघने भवेत् ॥ १८ ॥
 स्वरोसि वाचयेदिन्दो कुर्याद्यमसभक्षणम् ।
 वायुः सौम्यं चरं पश्येद्यन्मे तत्र विकल्प्यते ॥ १९ ॥
 येन सौम्यं च संस्पृष्टाङ्गुलिभ्यामक्षिमार्जनम् ।
 पञ्च विंशतिमन्त्रा स्युः पञ्चमे खण्डे इरिताः ॥ २० ॥
 ऐन्द्रमन्त्रे सोमभक्ष स्तुतस्य स्वामिवाचनम् ।
 इष्टसन्धौ सोमभक्षं ऋतस्य स्तोममोचनम् ॥ २१ ॥
 सोमे हि निर्गमः सूर्यस्थोपस्थानं सुमूरिति ।
 अपां द्वाभ्यामाहुती द्वे धानाभक्षो हारियोजने ॥ २२ ॥
 देवाष्टौ शकले होमा अप्सुधौ चमसं स्पृशेत् ।
 मधु पाणिनुपघ्राय चमसोत्सेचनं शमत् ॥ २३ ॥
 कामाभ्यावर्त्तयेदेतत् ऊर्गस्तदुरसि क्षिपेत् ।
 प्राणेतिमुखसंस्पर्शो दधीति दधि भक्षयेत् ॥ २४ ॥
 चतुर्विंशतिमन्त्रास्तु पष्ठे खण्डे प्रकीर्तिताः ।
 साद्वं रथं दक्षिणार्थं प्रतिगृह्णाति चेत्तदा ॥ २५ ॥
 मृज्याददधमुखाम्यद्वनामयुग्मचतुष्टयम् ।
 रथोर्ध्वस्पर्श आदित्या धायोश्चर्मप्रतिग्रहे ॥ २६ ॥
 अस्त्रप्रतिग्रहे नक्ष सूर्यं लोहप्रतिग्रहे ।
 रथेति दक्षिणे चक्रं स्पर्शो घामेत्यधिष्ठितौ ॥ २७ ॥
 गृहदित्युत्तरे चक्रं चक्रार्धकेति संस्पृशेत् ।
 वैश्वा रथं समारोहेद्विदेत्यत्र स्थितौ जपेत् ॥ २८ ॥
 कृशा यच्छेत्सत्यरज्जुं स्पृशेद्दासेति दक्षिणाम् ।

मन्त्रास्तु सप्तमे खण्डे षोडशोत्पवगम्यताम् ॥ २९ ॥

पुरस्तात्सर्वमन्त्राणां देवस्यैवेत्यमुञ्जयेत् ।

वरुणेत्यादयो मन्त्रान् क्रमात्तत्तत्प्रतिग्रहे ॥ ३० ॥

अश्वो गौरप्यजः स्वर्णमजाऽविध्वंसनो गिराः ।

उष्ट्रो मृगश्च पुरुषो हस्तिवरा ग्रीह्यादयः ॥ ३१ ॥

तिला अश्वतरो मन्त्रं क इत्यन्त जपेदथ ।

अष्टादशात्र मन्त्राः स्युरष्टमे खण्डे ईरिताः ॥ ३२ ॥

रश्मिरित्यादयस्तोममाणास्तैरनुमन्त्रणम् ।

कुर्यात्क्रमेण स्तोत्राणां ते त्रयस्त्रिंश ईरिताः ॥ ३३ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्हं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ३४ ॥

इति धीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकयुक्तभूपालसाम्राज्य-
धुरन्धरेण सायनाचार्य्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे
ताण्ड्यमहाब्राह्मणे प्रथमाऽध्यायस्य दशमः खण्डः ।

प्रथमाऽध्यायः समाप्तिमगमत् ।



द्वितीयोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य नि श्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलजगत् ।

निर्मममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

प्रथमाध्यायना मन्त्रा व्याख्याताः क्रतुगामिनः ।

अध्यायान्ते स्तोममाणा उक्ताः स्तोमान् ब्रवीम्यथ ॥ २ ॥

अस्मिन् ब्राह्मणे प्राधान्येन गवामयनं प्रतिपाद्यते । प्रायणीयादि
भिर्महाव्रतान्तैः पञ्चविंशतिसंख्यैरहोमिर्निष्पद्यते प्रायेणैतान्येवा-
हानि अन्येषामपि एकादाहीनसत्रात्मकानां सोमयागानां प्रकृतीनि ।
द्वादशाहश्चाहर्गणानां प्रकृतिः । अतः प्राधान्यात् प्राणीयोदयनीयो उक्त्वा
मध्ये यानि द्वादशाहानि तेषां विष्टुतयः । एवं च सति गवामयनि-
कानामपि त्रिवृदादयः स्तोमाः प्रदर्शिताः । ये स्तोमास्त्रिवृदादयस्तेषां
विष्टुतयः क्रमेण द्वितीयतृतीयाभ्यामध्यायाभ्यां प्रदर्श्यन्ते ।

तत्र बहिष्पवमानसाधनस्य त्रिवृत्स्तोमस्य तिस्रो विष्टुनय-
उद्यती परिवर्तिनी कुलायिनीति, आदितस्त्रिभिरनुवाकैस्ता प्रदर्श्य
न्ते । तत्र तावत् उद्यत्या स्वरूपमाह—

तिसृभ्यो हिङ्करोति स प्रथमया तिसृभ्यो हिङ्करोति
स मध्यमया तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तमयोद्यती त्रि-
वृत्तो विष्टतिः ॥ १ ॥

एकैकस्य साम्न पञ्च विभक्तयः हिङ्कारप्रस्तावोद्रीयप्रतिहापोप-
द्रवनिधनाद्याः । तत्र हिङ्कारस्त्रिभिरनुवाकैः कर्तव्यः । अत एव सू-
त्रकृतोच्यते—‘साम्न साम्ने हिङ्कुर्युरिति’ । ‘तिसृभ्य’ इति क्रियाधोपप-
दस्य च कर्मणि स्थानिन इति कर्मणि चतुर्थी । तिस्र ऊचो गातु-
हिङ्कुर्यात् एकवचनमन्त्रम् उक्तादेव हेतुः । अतस्त्रयोप्युद्गातारो हिङ्कुर्यु-
रित्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि हिङ्कारविधायकेषु वाक्पेषु योजना । ‘सहि-
ङ्करोति’ सहिङ्कर्त्ता ‘मध्यमया’ त्रिष्टया गायेत् । अयं द्वितीयः पर्या-
यः । पुनरपि तिसृभ्यो हिङ्करोति सहिङ्कर्त्ता तृचस्योत्तमया अन्त्या
तथा त्रिष्टया गायेत् । एष तृतीयः पर्यायः । अनेन पर्यायेण त्रि-
वृत्स्तोमः सम्पद्यते । उत्तमकारेण त्रिधा वर्त्तते इति त्रिवृत्स्तोम-
तस्य विष्टुतिरेषा उद्यती ऊर्ध्वं गच्छन्ती । उक्तेषु पर्यायेषु प्रथम-
मध्यमोत्तमक्रमेण उर्ध्वगमनादन्वयसंश्लेषमेषा त्रिवृत् प्रथमा वि-
ष्टुतिः ॥ १ ॥

एतस्या विष्टुतौ अधिकारिणमाह—

ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः स्तुधीतः ॥ २ ॥

यो यजमानो ब्राह्मणा मध्ये स्तुय ज्येष्ठो भवति सपत्नीना मध्ये
या ज्येष्ठा तस्या पुत्रश्च भवति स यजमान एतथा विष्टुत्या ‘स्तुधीत’
स्तौति । तस्मान्तर्णीतण्यर्थः स्तावपेत् तस्य यजमानस्य एतथा विष्टु-
त्या स्तुयुरित्यर्थः ॥ २ ॥

एतौ विष्टुतिं अग्रप्राप्त्यादिफलसाधनतया प्रशंसति—

अग्रादग्रं रोहत्यभिक्रामन्ती विष्टुतिराभिक्रा-
न्त्या एवाभिक्रान्तेन हि यज्ञस्यघ्नोति तस्मादेतया
स्तौतव्यं मृध्या एव ॥ ३ ॥

‘अग्रादग्रं’ मुत्कर्षादूर्ध्वं पुनरप्युत्कर्षं ‘रोहति’ प्राप्नाति उत्तरोत्तराभि-
वृद्धिर्भवति तस्यैतया विष्टुत्या स्तुयते, तथा इयं विष्टुतिभिरभिक्राम-

न्तो त्रिषु पर्यायेषु प्रथममध्यमोत्तमानुपूर्व्येणाभिमुखमाक्रामन्तो उप-
र्युपरि गन्त्री यत एषा प्रयुज्यमाना यज्ञस्याभिरुमणायैव उपर्युपरि
प्राप्तये एव भवति । ततश्च किमिष्यत आह—यज्ञस्या 'भिक्रान्तेन' भावे
निष्ठाऽभिक्रमणेनारोहणेन परिसमापनेन 'क्रुणोति' यजमानः समृ-
द्धो भवति हिशब्दो हेतौ । यस्मादेनं तस्मादेतया विष्टुत्या स्तो-
तव्यम् क्रुद्ध्या एव तत्स्तवनं यजमानस्य समृद्ध्या एव भवति ॥ ३ ॥

पुनरपि नानाविधफलसाधनत्वेन प्रशंसति--

पापवसीयसो विधृतिर्विपाप्मना वर्त्तते य एतया
स्तुते नावगतोऽपरुध्यते नापरुद्धोऽवगच्छति । न श्रेया-
ऽसं पापीयानभ्यारोहति न जनता जनतामभ्येति ना-
न्योन्यस्य प्रजा आददते यथाक्षेत्रं कल्पन्ते । अवर्षुक-
स्तु पर्जन्यो भवतीमे हि लोकास्तृचस्तान् हिङ्गारेण
व्येति ॥ ४ ॥

पापवसीयसो वसीय उत्तमं पापं च वसीयश्च पापवसीयसो तयो-
रुभयो 'विधरिणी' असाङ्कर्यकरणी इयं विष्टुतिरेवं जानन् यए-
तया विष्टुत्या 'स्तुते' स्तौति, सः 'पाप्मना' पापेन 'निवर्त्तते' पाप्मनः
पृथग् भवति इत्यर्थः । यत्र देशे विधरणी एषा विष्टुतिः प्रयुक्ता तत्र
'अवगतः' कर्त्तरि निष्ठायां अवगन्ता ज्ञाता 'नापरुध्यते' अज्ञानेनापरुद्धः
अनाक्रान्तो भवति । यस्त्वपरुद्ध अज्ञानेनापवृतः स नावगच्छति न
जानाति ज्ञानाज्ञाने तस्मिन्नधिकरणे सह न तिष्ठत इत्यर्थः । तथा-
'श्रेयाऽसं' प्रशस्यतममुत्तमजार्तिं ब्राह्मणादिक 'पापीया'घ्निरुष्टतमः
शूद्रादीनां 'भ्यारोहति' नाभिक्रामति न श्रेयाऽसः पापीयाऽसश्च विम-
क्ता एव वर्त्तन्ते इत्यर्थः । तथा 'जनता' जनसमूहो 'जनतां' अन्य-
जनसमूहं 'नाभ्येति' नाभिगच्छति जनपदो जनपदान्तरं दौर्भिक्षादि-
कारणेन न प्रविशतीत्यर्थः । प्रजाश्चान्योन्यस्य धनादिकं 'नाददते' न
स्वीकुर्वन्ति । अपि तु यथाक्षेत्रं स्वं स्वं क्षेत्रमनतिक्रम्य स्वक्षेत्रे कल्पन्ते ।
इत्थमस्यां विष्टुतेर्वैहूनि फलानि दर्शितानि, एकस्तु दोषो भवति,
कोऽसौ दोष उच्यते—'पर्जन्यो' वृष्ट्यभिमानो देवः 'अवर्षुकोऽवर्षण-
शीलो भवति तस्मिन् देशे वृष्टिर्न स्यादित्यर्थः । यस्मिन् देशे एतया
विष्टुत्या स्तुवते । कुन इत्यत आह इमे भूरादयस्त्रयो लोकाः तृच-
स्तिस्त्र ऋचो भूरादिलोकस्थानीयास्तान् लोकान् हिङ्गारेण प्रयुचं कृतेन

‘व्येति’ विगमयति वियुक्तान् करोति । वयतिरन्तान्तर्नीतपर्ययः । पर-
स्पोपकार्योपकारकमायं विश्लेषयतीत्यर्थः । सति हि तस्मिन्नन्तरि-
क्षात्पृथिव्या उपकारात्मिका वृष्टिर्भवति नान्यथा । हि यस्मादेवं
तस्माद्वर्षुकः पर्जन्यो भवति ॥ ४ ॥

अथैतां प्रतिष्ठाफलतया प्रशंसति—

एषा वै प्रतिष्ठिता त्रिवृतो विष्टुतिः प्रतितिष्ठति
य एतया स्तुते ॥ ५ ॥

‘एषा वै’ एषा खलु उद्यती त्रिवृतो विष्टुतिः प्रतिष्ठिता एकैक-
स्यामृचि एकैकस्य पर्यायस्य परिसमापनादस्यां प्रतिष्ठिता भवति ।
अग्रादिभिः समृद्धो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

अथ परिवर्त्तिनीं विष्टुतिं दर्शयति—

तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिस्तिसृभ्यो हिङ्क-
रोति स पराचीभिस्तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिः
परिवर्त्तिनी त्रिविष्टुतिः ॥ १ ॥

तिसृभ्यस्तिस्त्र ऋचो गात्रं हिङ्कुर्यात् । स हिङ्कुरां ‘पराचीभिः’
रनावृताभिस्तिसृभिर्ऋग्भिर्गायेत् । एवमुत्तरयोरपि पर्यायपर्याय-
जना । एषा त्रिवृतं स्तोमस्य विष्टुतिः ‘परिवर्त्तिनी’ आवर्त्तिनी । यथा
प्रथमे पर्याये अनावृताभिर्गानं तथोत्तरयोरपीति अस्या आवृत्तिः ॥१॥

अथैतां बहुफलसाधनत्वेन प्रशंसति—

प्रपरीवर्त्तमानोति य एतया स्तुते सन्तता विष्टुतिः
प्राणोऽपानो व्यानस्त ऋचस्तान् हिङ्कारेण सन्तनोति ।
सर्वमायुरेति न पुरायुषः प्रमीयते य एतया स्तुते वर्षुकः
पर्जन्यो भवतीमे हि लोकास्तृचस्तान् हिङ्कारेण
सन्दधाति ॥ २ ॥

यो यजमान ‘एतया’ विष्टुत्या स्तुते स ‘परीवर्त्त’ परिवृत्य परि-
त्य पुनः पुनर्घनादिकं प्राप्नोति । परिपूर्वाद्दत्तेराभीक्ष्ण्ये णमुद्भवेतीति

णमुलप्रत्ययः । यद्वा परिवर्त्तन इति परिवर्त्तन् धनं पचाद्यच् । तथा इय विष्टुतिः 'सन्तता' पूर्ववच्च मध्ये हिङ्काराभावेनाविच्छिन्ना मुख्यप्राणस्य मुख्यप्रदेशवर्त्तिनी या प्राणनरूपा वृत्तिः स प्राणः अपानरूपा अधोगामिनी सोऽपानः । तयोरुभयोर्मध्यवर्त्तिनी विविधं सर्वं शरीर व्याप्य वर्त्तमाना या वृत्तिः स व्यानः । तदेतत् प्रितयं तृचः एतास्ति स्र ऋचः प्राणादिस्थानीया इत्यर्थः । तथासति ऋचो हिङ्कारेण सन्तन्वन् तान् तान् प्राणादीनेष आदौ सकृत्प्रयुक्तेन हिङ्कारेण सन्तनोति सन्ततानविच्छिन्नान् करोति व्यवच्छेदकस्य हिङ्कारस्य मध्ये प्रयोगाभावात्, अत एव प्राणवृत्तीनामवच्छेदात्सर्वं शतवर्षलक्षणमायुरेति प्राप्नोति । एतदेव व्यतिरेकेणाह आयुष क्रमात् शतवर्षलाक्षणादेव पुरा च 'न' 'प्र' मीयते न म्रियते य एतया विष्टुत्या स्तुते स यजमान उक्तविध इत्यर्थः । किञ्चास्य 'पञ्चन्यो' वर्षुको वर्षणशीले भवति य इमे त्रयो लोकास्ते तृचः कक्त्रयस्थानीयत्रित्वसाम्यात्, तथासति आदौ प्रयुक्तेन हिङ्कारेणाविच्छेदेन तिस्रऋचः सन्तन्वन् इमानेव लोकान् सन्द्धातीति उपकार्योपकारकभावेन सयुक्तान् करोति ॥२॥
अथास्यामपि विष्टुतौ एको दोषो विद्यते इत्याह—

श्लक्ष्णेव तु वा ईश्वरा पशुभिर्मृजः सैषा च परा-
चोत श्रेयान् भवत्युत यादृडेव तादृक् नेत्तु पापीयान् ॥३॥

'एषा' परिवर्त्तिनी विष्टुति 'श्लक्ष्णेव तु वै' इवशब्दोवधारणे तुशब्दो वैलक्षण्यद्योतकः श्लक्ष्णा मध्ये हिङ्काराभावेन तु भिद्वैव खलु तत किं पशून् यजमानसम्बन्धिनो गवादीन् 'निर्मृजो' निर्माष्टुमपगमयितुं विनाशयितुं 'मीश्वरा' समर्था भवन्ति ईश्वरे तौसुन् कसुन।विति मृजेस्तुमयं कसुन् प्रत्ययः । अयमेको दोषः । किञ्च सैषा विष्टुति 'आ च पराचो'भिमुखी च भवति, कथं ? यथैकस्मिन् पर्याये तथैवोत्तरयोरप्यावर्त्तते इत्याभिमुखीत्युच्यते । तथैकस्मिन् पर्याये पराचीभिस्तिसृभिर्ऋचिभिः स्तवनात् पराङ्मुखीति च । अस्त्वेवमुभय रूपता किन्तुत इषत आह उतेति । उतशब्दो चाशब्दस्पर्शे, ईदृशीं विष्टुतिं प्रयुञ्जान. 'श्रेयान्' यज्ञफलप्राप्त्या वा प्रशस्ततमो वा भवति । 'उत' अथवा 'यादृडेव' तादृक् । एवकारो भिन्नक्रमः यागानुष्ठानात्पूर्वं यादृक् रूपो भवति अनुष्ठितेऽपि पागे तादृगेव तादृश एव भवति प्रयोगकृतोऽतिशयस्नस्मान्न भवति इत्यर्थः । 'नेत्तु' इच्छब्दोऽवधारणे नैव तु पापीयान् पूर्वरूपाभिरुष्टो भवति ॥ ३ ॥

एषा विष्टुतिर्माहविशाखिनां नित्येति दर्शयति—

तामेताम्भाल्लवय उपासते तस्मात्ते प्रतिगृह्णन्तः
परीवर्त्तन्ति च्यवन्ते ॥ ४ ॥

‘तामेतां’ परीवर्त्तिनीं विष्टुतिं भाल्लविशाखिनः ‘उपासते’ त्रिवृत्
स्नोमे प्रयुज्यते । अतस्ते घनादिकं प्रतिगृह्णन्तः । ‘परीवर्त्तात्’ परिवर्त्त-
मानात् तस्माद्धनात् ‘न च्यवन्ते’ न वियुज्यन्ते ॥ ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ तृतीयः खण्डः ।

अथ कुलायिनीं विष्टुतिन्दर्शयति—

तिसृभ्यो हिङ्करोति स परार्चिभिस्तिसृभ्यो हि-
ङ्करोति यामध्यमा सा प्रथमा योत्तमा सा मध्यमा
यामध्यमा सोत्तमा तिसृभ्यो हिङ्करोति योत्तमा मा
प्रथमा यामध्यमा सा मध्यमा यामध्यमा सोत्तमा
कुलायिनी त्रिवृतो विष्टुतिः ॥ १ ॥

परिवर्त्तिनी प्रथमः पर्यायः द्वितीये पर्याये परार्चिभिः प्रयुक्त-
स्य तृचस्य यामध्यमा प्राक् सा प्रथमा कार्य्या । योत्तमा सा मध्यमा
कार्य्या । यामध्यमा सोत्तमा कार्य्या । तृतीयपर्यायः निगदसिद्धः ।
कुलायिनी कुलायो नीडं पक्षिणां निवासस्थानं तद्यथा व्यस्ततृणा-
दिनिर्मितम् एवं व्यत्यासयुक्ता ऋचः कुलायार्हैस्तद्वती कुलायिनी
एतत्संज्ञा त्रिवृतस्तोमस्य विष्टुतिरियम् ॥ १ ॥

अस्यां विष्टुतौ कोऽधिकारीत्यत आह—

प्रजाकामो वा पशुकामो वा स्तुवीत प्रजा वै कुला-
नायपशवः कुलायकुलायमेव भवति ॥ २ ॥

प्रजानां पशूनाञ्च कुलायवदवस्थितिहेतुत्वात् कुलायत्वेन स्तुतिः ।
कुलायिन्या स्तुवानोपि प्रजानां पशूनां च कुलायमेव आश्रयभूतो
भवत्येव ॥ २ ॥

पुनरप्यधिकारिविशेषं दर्शयति—

एतामेवानुजावराय कुर्यादेतासामेवाग्रं परिव-
र्त्तानां प्रजानामग्रमर्पेति ॥ ३ ॥

अनु पश्चात् जायत इत्यनुजः कनीयान् स हि निकृष्टस्तस्मा-
दप्यवरो निकृष्ट आनुजावरस्तादृशाय यजमानायेति अग्रं परियतीनां
लोके याः प्रजाः अग्रं वयोगुणादिभिः श्रेष्ठपदं 'परियन्ति' परितो
गच्छन्ति एतासामेव श्रेष्ठं परिगच्छन्तीनां प्रजानां मध्ये स यजमान
'अग्रं' श्रेष्ठं पदं 'पर्यति' परिगच्छति सर्व्वोत्कृष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

सत्रेष्वर्हानेषु च बहूनां यजमानानां फलसाम्यात् कुलायि-
नीं विधत्ते—

एतामेव बहुभ्यो यजमानेभ्यः कुर्यात् यत्सर्व्वा
अग्रिया भवन्ति सर्व्वा मध्ये सर्व्वा उत्तमाः सर्व्वा-
नेवैनान् समावद्भाजः करोति नान्योन्यमपघ्नते सर्व्वे
समावदिन्द्रिया भवन्ति ॥ ४ ॥

एतामेव कुलायिनीं त्रिवृतो विष्टुतिं बहुभ्यो यजमानेभ्यः उद्भाता
कुर्यात् यत् यस्माद्धेतोः त्वगताः सर्व्वा ऋचः अग्रिया मुख्याः प्रथ-
मा भवन्ति सर्व्वासु मध्ये वर्त्तमाना भवन्ति सर्व्वाश्चोत्तमा भवन्ति ।
तद्यथा प्रथमे पर्याये प्रथमैव प्रथमा भवति । मध्यमे तु मध्यमा प्रथमा
भवति । उत्तमे उत्तमा प्रथमा भवति । एवञ्च सर्वासां प्राथम्यं जातम् ।
तथा प्रथमपर्याये मध्यमैव मध्यमा द्वितीयपर्याये उत्तमैव मध्य-
मा तृतीये पर्याये प्रथमैव मध्यमा । एवं सति तिस्रोपि मध्यमाः सम्प-
न्नाः । तथा प्रथमे पर्याये उत्तमोत्तमा भवति द्वितीये पर्याये प्रथमैवोत्तमा
भवति । तृतीये पर्याये मध्यमैवोत्तमा भवति । एवञ्च सर्व्वा अप्युत्तमाः
सम्पन्नाः । यस्मादेता सर्व्वा ऋचः समानरूपाः ततो हेतोरनया विष्टु-
त्या सर्वानेवैनान् यजमानानुद्भाता समावद्भाजः समावच्छब्दः पर्यायः
समं फलं भजत इति समावद्भाजः साम्येन फलभाजः करोति । अत
एव नान्योन्यमपघ्नते परस्परं हिंसन्ति । तथा सर्व्वे यजमानाः
'समावदिन्द्रियाः' समावद्दीर्घ्याः समानसामर्था भवन्ति ॥ ४ ॥

फलान्तरमाह—

वर्षुकः पर्जन्यो भवतीमे हि लोकास्तृचस्तान् हि-
ङ्कारेण व्यतिपजति ॥ ५ ॥

लोकस्थानीयानां तिसृणामृचामादौ प्रयुक्तेनैकेनैव हिङ्कारेण व्यति-
पञ्चनात् संयोजनात् त्रयाणां लोकानां परस्परमुपकारयोपकारक-
भावो न बाधित इति पर्जन्यो वर्षणशीलो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

अस्यामपि विष्टुतौ बहुदोषाः संभवन्तीत्याह—

पापवसीयसन्तु भवति ॥ ६ ॥

तुशब्दो फलवैलक्षण्यद्योतनार्थः। पापं प्रसिद्धं वसीयः पुण्यं तदुभयमेकाश्रयं भवति । इतरत् उद्यतीषाक्यशेषवत् व्याख्येयम् । नम्रः भावोऽत्र विशेषः । इत्थं विष्टुतयस्तिस्त्रो विहिताः, तिसृष्वपि नासु फलविशेषश्च वणाग्निन्दादर्शनाच्च समानफलत्वात् सर्व्या नित्याः, यत्र विशेषादेशः क्रियते निमित्तं वा कामो वा श्रूयते ततोऽन्यत्र नित्य-प्रयोगे आद्याभिरेताभिरेव स्तुतिभिः स्तोमसम्पादनं कार्यम्, तदाह सूत्रकृत्—‘प्रथमाभिर्विष्टुतिभिः स्तोमविधानमनादेशे ताः पक्षाः सर्वाभिप्रायाश्चेति’ । पुनरपि यथाशेषं वा विदध्यादित्यादिना खण्डशेषेण बहवः पक्षाः सूत्रकृतोपन्यस्ताः । ते तत्रैव धोद्धव्याः । नन्वेतास्वपि प्रत्येकं निन्दादर्शनात् कथमासां नित्यत्वम् । नैव दोषः । उद्यत्यान्तावत् यो दोष उक्त अवर्णकः पर्जन्यो भवतीति, स कुलायिनीपरिग्रहे परिहृयते । तत्र हि वर्णकः पर्जन्यो भवतीत्याम्नातम् । यन्तु कुलायिन्यां दोषदर्शनं ‘पापवसीयसन्तु भवत्यधरोत्तर’मित्यादि तदुद्यतीप्रयोगेण विहृतं तत्र हि पापवसीयसो विष्टुतिरिति सा श्रूयते श्लक्ष्णेयं तु पापवसीयसन्तु भवति ॥ ६ ॥

अधरोत्तरमपावगतो रुध्यतेवगच्छत्यपरुद्धः पापीयान् श्रेयाशंसमभ्यारोहति जनता जनतामभ्येत्यन्योन्यस्य प्रजा आददते न यथाक्षेत्रं कल्पन्ते ॥ ७ ॥

प्रथमाया मध्यमायाश्चान्ते प्रयोग इति यदस्ति तदेतदधरोत्तरमनुष्ठानं यस्मिन् देशे क्रियते तत्र वा ईश्वरा पशून्निर्जुज इति परिवर्त्तिन्यां यदपशुलक्षणं दोषदर्शनं तदुद्यत्यां परिहृतं भवति—‘एषा वै प्रतिष्ठिता विष्टुतिरिति’ । तत्र हि वाक्यशेषः—‘प्रजापशुसमृद्धा हि प्रतिष्ठिता भवतीति ॥ ७ ॥

इति ताण्ड्यमहान्नाम्नणे द्वितीयाध्याये तृतीयः खण्डः ।

अथ चतुर्थः खण्डः ।

अथ पञ्चदशस्तोमस्य तिस्रो विष्टुतयः । तत्र प्रथमं पञ्चपञ्चिन्यास्यां विष्टुतिं दर्शयति—

पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिमृभिस्त एकया स एकया,

पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया, पञ्च-
भ्यो हिङ्करोति स एकया स एकया स तिसृभिः, पञ्च
पञ्चिनी पञ्चपञ्चदशस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

चतुर्ष्वङ्यस्तोत्रेष्वेकैकं तृचात्मकं सुक्तं तस्मिन् तृचे पञ्चदशसं-
ख्या ऋचः सम्पादनीयाः । तच्च सम्पादनं आवृत्तिमन्तरेण न सम्भ-
वतीत्यावृत्तिप्रकार इहोपदिश्यते त्रिभिः पर्यायैः स्तोत्रमावर्त्तनी-
यम् । अग्न आयाहीत्येषा सूत्रेण प्रथमा ऋक्, तन्वा समिद्धिरिति
द्वितीया, स नः पृथिवि तृतीया । तासु प्रथमामृचं प्रथमे पर्याये त्रि-
रावर्तयेत् इतरे द्वे सकृत्सकृत् । द्वितीये पर्याये मध्यमां त्रिरभ्यस्येत्
तृतीये पर्याये अग्निमां त्रिरभ्यस्येत् । एवं सत्येकैकस्य आवृत्तिः
पञ्चधा सम्पद्यते । एषा पञ्चपञ्चिनी एकैकस्मिन् पर्याये पञ्चर्षो भ-
वन्तीति । पञ्चपञ्चिन्येतत्संज्ञा पञ्चदशस्तोमस्यैषा विष्टुतिः ॥ १ ॥

अथैतां पुरुषपश्वादिप्रातिसाधनत्वेन प्रशंसति—

पाङ्कः पुरुषः पाङ्क्ताः पशवस्तथा पुरुषश्च पशूँश्चा-
मोति वज्रो वै पञ्चपशो यत्पञ्चपञ्च व्यूहति वज्रमेव
तद्व्यूहति शान्त्या एषा वै प्रतिष्ठिता पञ्चदशस्य
विष्टुतिः प्रतिष्ठति य एतया स्तुते ॥ २ ॥

पङ्क्त्याख्ये छन्दसि पञ्चसंख्या विद्यते तस्य पञ्चभिः पदैरुपेत-
त्वात्, पुरुषेऽपि द्वौ हस्तौ द्वौ पादौ शिरश्चेति पञ्चसंख्या विद्यते, पशु-
ष्वपि चत्वारः पादाः पुच्छश्चेति पञ्चसंख्यास्ति । अतः संख्याद्वारा
पुरुषस्य पशूनाञ्च पाङ्कत्वं विष्टुतेरपि पञ्चसंख्यायोगात्पाङ्कत्वमस्ति
तस्मादेतया विष्टुत्या पुरुषं च पशूँश्चामोति यजमानः, तथा प्रजाप-
तेरुरसः सकाशात् पञ्चदशस्तोम इन्द्रश्च सहोत्पन्नौ वज्रश्चेन्द्रसम्बद्ध
इति तद्वारा वज्रत्वेनास्य स्तुतिः । योऽयं पञ्चदशस्तोमोऽसौ वज्रो
वै वज्र एव ईदृशं वज्रं यत् यस्मात्कारणात् पञ्च पञ्च पञ्चशः पञ्चशः
स्तोमेन व्यूहति विभजति । ततो वज्ररूपस्य पञ्चदशस्य त्रेधा शकली-
करणात् वज्राभावेन यजमानस्य शान्त्यै उपद्रवशमनायैव एषा विष्टु-
तिः सम्पद्यते । उक्तप्रकारेण प्रजापशुहेतुत्वात् वज्रसंख्यया विभा-
गाश्च एवैव पञ्चदशस्तोमस्य प्रतिष्ठिता विष्टुतिः य एतया स्तुते
स प्रतिष्ठां लभते ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थखण्डः ।

अथ पञ्चमः खण्डः ।

अथ पञ्चदशस्तोमस्यापरा विष्टुतिः प्रदर्शयते--

पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स एकया तिसृभ्यो
हिङ्करोति स पराचीभिस्ससभ्यो हिङ्करोति स एकया
स तिसृभिः स तिसृभिः ॥ १ ॥

स्पर्शोर्थः ॥ १ ॥

अस्यामधिकारणमाह—

त्रिन् स्तोमान् प्रतिविहिता ब्रह्मवर्चसकामः
स्तुवीत ॥ २ ॥

एषा विष्टुतिः पञ्चदशत्रिवृत् सप्तदशसंख्याकान् स्तोमान् 'प्रतिवि-
हिता' स्तोमत्रयप्रतिनिधित्वेन सम्पादिता तया ब्रह्मवर्चसकामः
ब्रह्मवर्चसं श्रुताध्ययनजन्यन्तेजस्तत्कामः 'स्तुवीत' ॥ २ ॥

कथमस्याः स्तोमत्रयप्रतिनिधित्वमित्यत आह—

पञ्चभिः पञ्चदशं तिसृभिरिवृत् सप्तभिः स-
प्तदशम् ॥ ३ ॥

प्रथमपर्यायगताभिः पञ्चभिर्ऋग्भिः पञ्चदशं स्तोमं प्रतिविहिता-
पञ्चदशस्य हि प्रथमे पर्याये पञ्चर्चो भवन्ति । द्वितीयपर्यायगताभि-
स्त्रिभ्यः ऋग्भिस्त्रिवृत् स्तोमं प्रतिविहिता त्रिवृत्स्तोमस्य होक्-
स्मिन् पर्याये तिस्र ऋचो भवन्ति । तथा तृतीयपर्यायगताभिः स-
प्तभिः ऋग्भिः सप्तदशं स्तोमं प्रतिविहिता । तस्य होक्कैकास्मिन् पर्याये
सप्तर्चो भवन्ति । एवमस्याः स्तोमत्रयसाम्यं सम्पन्नम् ॥ ३ ॥

अतः किं ज्ञातमित्यत आह—

वीर्यं वै स्तोमा वीर्यमेव तदेकधा समूहते ब्रह्मव-
र्चसस्यावरुध्यै तेजस्वी ब्रह्मवर्चसी भवति य एत-
या स्तुते ॥ ४ ॥

ये उदाहृतास्त्रयः स्तोमा वीर्यात्मकाः पृथक् पृथक्जननहेतुत्वात्
नयासति पर्यायत्रयेण स्तोमत्रयसदृशा एताः प्रयुज्जानः वीर्यमेव ए-
कधा एकप्रकारेण समूहते 'स्तोमत्रयसामर्थ्यं' समूहीकरोतीत्यर्थः ।
एतच्च वीर्यसमूहनं ब्रह्मवर्चसस्यावरुध्यै अवरोधनाय सम्पादनाय

भवति । अन्योपि यजमानः एतया 'स्तुते' स्तौति स तेजस्वी ब्रह्म-
र्चस्वी भवति । शरीरं लौकिकसामर्थ्यं तेजः श्रुताध्ययनादिजन्यं
ब्रह्मवर्चसम् ॥ ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

अथ पष्ठः खण्डः ।

अथ पञ्चदशस्यापरामुच्यतायां विष्टुतिः दर्शयति—

तिसृभ्यो हिं करोति सपराचीभिः, पञ्चभ्यो हि-
ङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स एकया, सप्तभ्यो हिङ्क-
रीति स तिसृभिस्स एकया स तिसृभिरुच्यती पञ्चद-
शस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

त्रिषु पर्यायेषूत्तरोत्तरसंख्योत्कर्षमेतीत्युच्यती पञ्चदशस्य विष्टुतिरि-
ति । त्रिषु पर्यायेषूत्तरोत्तरसंख्योत्कर्षमेतीत्युच्यतीत्युच्यते ॥ १ ॥

तस्याः फलमाह—

एतया वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् स्वर्गकामः स्तुवी-
त स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै स्वर्गाल्लोकाश्च व्यवते तु-
ष्टुवानः ॥ २ ॥

यस्मादेतया विष्टुत्या स्तुत्वा देवाः स्वर्गमायन्नगमन् तस्मादन्यो-
पि यः स्वर्गं कामयते स एतया स्तुवीत । स स्तुवन् यजमानः स्वर्ग-
लोकस्य समष्ट्यै समाप्त्यै इति पाठान्तरं पुस्तकान्तरे । सम्यक् व्या-
पतायावकल्पते । स च स्वर्गं प्राप्य तस्मात्पुनर्न व्यवते नाधः पतति
यतोऽयन्तुष्टुवानः तिसृभ्यः पञ्चभ्यः सप्तभ्य इत्यानुपूर्वात् स्तौति अ-
तोऽयं न परावर्त्तते इत्यर्थः । लक्षणहेत्वोः क्रियाया इति हेतोः शानच्-
प्रत्ययः लुकि प्राप्ते व्यत्ययेन स्युः ॥ २ ॥

यद्वा फलान्तरमाह—

अभिक्रामन्ती विष्टुतिरभिक्रान्त्या एवाभिक्रान्तेन
ः हि यज्ञस्य धर्नोति तस्मादेतया स्तोतव्यमृध्या एव ॥ ३ ॥

त्रिवृत् उच्यतामेतत् सर्वं व्याख्यातम् तद्वदत्रापि व्याख्येयम् ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य पष्ठः खण्डः ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

अथ सप्तदशस्तोमस्य दशसप्ताध्या विष्टुतिः । सा द्विःप्रकारा सप्ता-
स्थितेत्यपरा सा च द्विःप्रकारा । ततः पञ्चभ्यस्तिसृभ्यो नवभ्यश्चे-
त्येकः । तत उद्यती ततो भस्वेति दशसप्तसप्तास्थितयोर्मेदेन सहेत्येवं
सप्त विष्टुतयः । तत्राद्यां दशसप्ताख्यां विष्टुतिं दर्शयति—

पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया, स एक-
या, पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया
सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स तिसृभिर्द-
शसप्ता सप्तदशस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

स्पष्टार्थः आदितां द्वाभ्यां पञ्चधाभ्यां हिङ्करोति पर्यायाभ्यां
दश, उत्तरे सप्तेति दश च सप्त चास्यां विष्टुत्यामिति दशसप्तस्य
सप्तदशस्तोमस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

एतां प्रशंसति—

एतया वै देवा असुरानत्यक्रामन्नति पाप्मानं आतृ-
व्यं क्रामति य एतया स्तुते ॥ २ ॥

एतया दशसप्तया विष्टुत्या खलु देवाः पूर्वं असुरानत्यक्रामन्
अतिक्रान्तवन्तः तिरस्कृतवन्त इत्यर्थः । तस्मादप्योपि यो यजमान एत-
या स्तुते सोऽपि पाप्मानं पापकृपं ब्राह्म्यं शत्रुं अतिक्रामति अतिक्रा-
न्तो भवति ॥ २ ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

अभिक्रामन्ती विष्टुतिरभिक्रान्त्या एवाभिक्रान्तेन
यज्ञस्य धर्नोति तस्मादेतया स्तोतव्यमृध्या एव ॥ ३ ॥

उद्यत्या वाक्यशेषवदेतत् व्याख्येयम् ॥ ३ ॥

तथा प्रजापशुसाधनत्वेनैतां प्रशंसति—

गर्भिणी विष्टुतिः प्रप्रजया प्रपशुभिर्ज्जायते य एत-
या स्तुते ॥ ४ ॥

यथेयं विष्टुतिः गर्भिणी अस्यां हि मध्यमेषु विष्टावेषु तिस्र एकै-
का चेति पञ्च भवन्ति, उत्तमेषु एकैका तिस्रश्चेति पञ्च, एवं द्वयोः
पञ्चकयोर्मध्ये सप्त भवन्त्यधिकसंख्यया प्रविष्टत्वात् अस्या विष्टुते-
गर्भिणीत्वम् । तस्या अपि गर्भावस्थानप्रदेशो मध्यकायस्थूलो भव-

ति तत्सामान्येन गर्भिणीस्तुतिः । अतो यो यजमान एतया स्तुते स प्रजया प्रजापतेः पुत्रपौत्रादिभिः प्रवृद्धो भवति, तथा पशुभिश्च प्रजापतेः गवाश्वादिभिश्च प्रवृद्धो भवति ॥ ४ ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशङ्खसति—

विद्वै सप्तदशस्तस्या राजा गर्भो विश एव तद्रा-
जानङ्गर्भङ्करोति ॥ ५ ॥

योऽयं सप्तदशस्तोमः स विद्वैदय एवेति परिजन एव उभयोः प्रजापतेर्मध्यमागादुत्पत्तेः सम्बन्धः । तस्याः परिजनमृताया विशः राजा गर्भः गर्भवन्मध्ये वा स्थितो भवति विद्वत्त्वेन संस्तुतस्य सप्तदशस्तोमस्य मध्ये प्रजायतनभूता मध्यमा स्तोत्रीया भवति गर्भङ्करोतीति यत् तत् राजानं क्षत्रियमेव विशो गर्भङ्करोति । मध्यस्तोत्रीयायाश्च ऋत्विजायतनत्वमुत्तरत्राज्ञास्यते ॥ ५ ॥

ब्रह्मणो वा आयतनं प्रथमा क्षत्रस्य मध्यमेति त्रिवृत उद्यस्या इव ज्ञानाज्ञानयोर्विवेकवदस्याः फलमित्याह—

नावगतोपरुध्यते नापरुद्धोऽवगच्छति ॥ ६ ॥

पूर्ववद्भाष्येयम् ॥ ६ ॥

तथान्नस्य साधनत्वेन क्षुब्धिवारकैषा विष्टुतिरिति प्रशङ्खसति—

अन्नं वै सप्तदशो यत्सप्त मध्ये भवन्ति पञ्च पञ्चा-
मितोऽन्नमेव तन्मध्यतो घीयतेऽनशनायुको यजमानो
भवत्यनशनायुकाः प्रजाः ॥ ७ ॥

अयं सप्तदशस्तोमः, अन्नं वै अन्नमेव, दशसंख्याया उर्द्ध्वं सप्तसंख्यातिरिच्यते । तथा सप्तसंख्याया सप्तप्राग्या ओषधयः सप्ताख्या इति श्रुतिप्रतिपादितं अन्नं च स्मार्यते । एवं परम्परया सप्तदशस्यान्नत्वम् । यद्वा प्रजापतेरन्नायतनादुदरात् सृष्टत्वात् सप्तदशस्यान्नत्वम् । शास्त्रान्तरे सप्तदशस्योत्पत्तिं प्रस्तुत्य स्तूयते हि तस्मात् आद्या अन्नधनाद्वसृजन्तेति । विष्टावसंनिवेशनमध्यमविष्टावे स्थिताः यत् सप्त मध्यमा भवन्ति, अमितः प्रथमेषूत्तमेषु च विष्टावेषु पञ्च प्रश्नो भवन्ति । तच्चेन पञ्चसंख्याया युक्तस्य पाङ्क्तस्य पुरुषस्य मध्यतो मध्ये उदरे अन्नमेव घीयते । यत् एवं ततः कारणात् सप्तदशस्तोमस्य प्रयोक्ता यजमानः अनशनायुको अशनाया अशने वा क्षुत्पीडा तद्-

हितो भवति । तद्देशवर्तिन्यो अन्या अपि प्रजाः जनशनायुकाः लश-
नायारीहता भवन्ति ॥ ७ ॥

नद्या पशुसाधनत्वेनैतां प्रशंसति—

वैराजो वै पुरुषः सप्त ग्राम्याः पशवो यद्दशपूर्वा
भवन्ति सप्तोत्तमा यजमानमेव तत् पशुषु प्रतिष्ठा-
पयति ॥ ८ ॥

पर्यायद्वयगता दशसंख्याः पूर्वोत्तमा भवन्ति, प्रथमतः नीपपर्या-
यगता ऋचो भवन्तीति यत्, तत्तेन यजमानमेव पशुषु प्रतिष्ठापयति ।
कथमेतत् यतो वैराजः पुरुषः विष्टाणां च दशसंख्या विद्यते ।
'नव वै पुरुषे प्राणा दशमी नाभि'रिति श्रुत्यन्तरात् पुरुषेणैव दशचं-
स्य स्तुतिः । सप्तमख्याका ग्रामे मवाः पशवो गवाश्वाद्या अवशिष्टस-
प्तसंख्यान्याः । अतो यजमानं पुरुषमुद्राता सप्तसंख्याकेषु स्थापयती-
त्येतदुपपन्नम् ॥ ८ ॥

एवमुक्तेन प्रकारेणैवं विष्टुतिः प्रतिष्ठाहेतुरिति दर्शयति—

एषा वै प्रतिष्ठिता सप्तदशस्य विष्टुतिः प्रतितिष्ठ-
ति य एतया स्तुते ॥ ९ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

उक्ताया एव दशसप्ताया विष्टुतेर्विधानान्तरमाह—

एष एव व्यूहः सप्तैकमध्या ॥ १ ॥

दशसप्ताया विष्टुत्या यस्तृतीयः पर्यायः—'सप्तम्भो द्विहोति स
एकया स तिस्रभिस्त तिसृभि'—रित्युक्तः एष एव पर्यायो व्यूहः व्यूहे
विभजनीयः । कथमिति तदुच्यते । उत्तमपर्यायगता याः सप्तचं स्तथा
एकमध्याः कुर्यात् । स एकया स तिस्रभिस्त तिसृभिरिति पूर्वमुक्तः
स तिसृभिरिति कुर्यात् । आद्यां तृतीयां च विराजत्तयेदित्यर्थः ॥ १ ॥

एतां प्रशंसति—

ब्रह्मणो वा आयतनं प्रथमा क्षत्रस्य मध्यमा विशा
उत्तमा यत्प्रथमा भूगिष्ठा भाजयति ब्रह्मण्येव तदो-

जोवीर्यं दधाति ब्रह्मण एव तत् क्षत्रं च विश्वानुगे
करोति क्षत्रस्येवास्य प्रकाशो भवति य एतया स्तुते ॥२॥

प्रथमा स्तोत्रीयतृचस्याद्या या सा ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेरायतन
स्थानं, उभयोः प्राथम्येन सम्यन्धात् । या मध्यमा द्वितीया सा क्षत्रि-
यस्य क्षत्रियजातेः । योत्तमा तृतीया सा विशो वैश्यजातेरायतनम् ।
तथासति प्रथमा ब्राह्मणजातेरायतनभूता आद्यामृचं भूयिष्ठा बहुतरा
संख्या भाजयति प्रापयति । तत् कथमित्युच्यते । पूर्वस्या विष्टुतौ
द्वयोः पर्यायोः सा प्रथमा एकैका आवृत्या तिस्रश्चेति पञ्चसंख्यायु-
क्ताऽभूत् । सैवेदानीं तृतीयेऽपि पर्याये त्रिरावर्त्तनात् सप्तसंख्योपेता
भवति । मध्यमोत्तमे तु पञ्चसङ्ख्योपेते एव प्रथमामधिकसंख्यां करो-
तीति यत् तत् तेन ब्रह्मणि ब्राह्मणजातावेव ओजो बलं वीर्यं परमेर-
णसामर्थ्यं दधाति स्थापयति । अपिच तत्तेन क्षत्रियवैश्यस्थानभूत-
योर्द्वितीयतृतीययोजनसङ्ख्योपेतत्वकरणेन क्षत्रं च क्षत्रियजातिं च
विशं च वैश्यजातिं च ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेरेव अनुगे अनुगत्यौ उप
क्षीणे करोति स्तोता, तस्मादन्योऽपि यो यजमान एतया स्तुते क्षत्र
स्येव क्षत्रियजातेरिवास्य यजमानस्य प्रकाशः कीर्तिर्भवति ॥ २ ॥

उक्ता विष्टुतिः त्रिसर्वशाखिनाश्रित्येत्याह—

तामेतान्त्रिखब्बा उपासते तस्मात्ते स्पर्द्धमाना

न व्लीयन्ते ॥ ३ ॥

तामेतां दशसत्तारया विष्टुतिं त्रिसर्वशाखिन उपासते प्रयुञ्जते ।
तस्मादुपासनात् ते कदाचिदपि स्पर्द्धमानाः सन्तो न व्लीयन्ते न
हिपंस्यन्ते । व्लीनातिर्हिंसाकर्मा ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य अष्टमः खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

अथ सप्तदशस्तोमस्य सप्तास्थितारयां विष्टुतिमाह—

सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स तिसृभिस्स ए-
कया, तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिस्सप्तभ्यो हिङ्क-
रोति स एकया स तिसृभिस्स तिसृभिस्सप्तास्थिता ॥१॥

सप्तसंख्या प्रथमे पर्याये स्थिता यस्याः सा सप्तास्थितेति नाम
संपन्नम् । स्पष्टमन्यत् ॥ १ ॥

अस्यामधिकारिणमाह—

भ्रातृव्यचांस्तुवीत यथा सप्तास्थितेन मर्त्येन समी
करोत्येवं पाप्मानं भ्रातृव्यं प्रवृजति ॥ २ ॥

भ्रातृव्यः शत्रुः तद्वान्यजमानः एतया सप्तास्थितया विष्टुत्या
स्तुवीत स्तावयेत् । यथा लोके सप्तास्थितेन सप्तभिरनहुद्भिः सप्तभि-
स्तीक्ष्णभागैः शङ्कुभिर्वा अधिष्ठितेन मर्त्येन मर्त्यन्नाम कृष्टस्य क्षेत्रस्य
समीकरणादिसाधनफलकं तेन समीकरोति समीकरणार्थं कर्षकः प्रव-
जति क्षेत्रम्, एवं पाप्मानं पापकर्षनहेतुं भ्रातृव्यं शत्रु अनया प्रथ-
मतः सप्तसंख्याया विष्टुत्या स्तुवानः प्रवृजति प्रभुनक्ति । वृजो भङ्ग
इति धातुः ॥ २ ॥

फलसाम्यहेतुत्वेन बहुयजमानकेष्वपि प्रयोगेषु प्रयोक्तव्येत्याह—

एतामेव बहुभ्यो यजमानेभ्यः कुर्याद्यः प्रथमो हि-
ङ्कारः स प्रथमाया यत्तां सप्तभ्यो हिङ्करोति तेन सा
सप्त भजते यत्सप्तैव मध्ये सपद्यन्ते तेन सा सप्त भजते
य उत्तमो हिङ्कारः स उत्तमाया यत्तां सप्तभ्यो हिङ्क-
रोति तेन सा सप्त भजते सर्वानेवैनान् समाव-
द्भाजः करोति नान्योन्यमपद्यन्ते सर्वे समावदिन्द्रिया
भवन्ति ॥ ३ ॥

बहुयजमानार्थं एतां विष्टुतिदुर्व्यात् । तथासति त्वृचगतानां ति-
सृणामृचां समसंख्यात्वसम्पादनात् सर्वे यजमानाः समानफला भव-
न्तीति समुदायार्थः । कथं सप्तदशे तिसृणामृचां प्रत्येकं सप्तसंख्या-
योग इत्याशक्य तत्प्रकारं सम्प्रत्या दर्शयति—यः प्रथमो हिङ्कारः स
प्रथमाया ऋचः स्थाने भवति उभयोः प्राथम्यात् तां प्रथमामुद्दिश्य स-
प्तभ्यो हिङ्करोति हिङ्कृत्य स्तौति यत् तत् तेन ऋक्षस्यानीयेन हिङ्कार-
द्वयेन सहसा प्रथमपर्यायविष्टावसन्निवेशेन पञ्चधा व्यावर्त्यमाना
सती सा सप्तसंख्यां भजते । प्रथमपर्याये प्रथमविष्टावे तिस्रः इतर-
योस्तु पर्याययोः प्रथमविष्टावगता एकैकेति तस्याः पञ्चधा आवृत्तिः
यत्सप्तैव मध्ये सम्पद्यते त्रयाणामपि पर्यायाणां मध्यमेषु विष्टावेषु
क्रमेण तिस्र एका तिस्र इति सप्तानां संपत्तिः तेन तेनैव सा मध्यमा
सप्तसंख्यां भजते । य उत्तमस्तुतीपपर्यायगतो हिङ्कारः स उत्तमा-
यास्तुतीयास्थाने उभयोस्तुतीयात्वमाभ्यात् यत्तामुत्तमामुद्दिश्य सप्त-

म्यो हिङ्करोतीति हिङ्कृत्य स्तौतीति यो द्वितीयो हिङ्कारस्सोऽपि तस्याः स्थाने भवति यदेतत् हिङ्कारद्वयमृक्स्थानीयं यत्तेन हिङ्कारद्वयेन सह पर्यायत्रये उत्तमविष्टावेषु क्रमेणैकैके तिस्रश्चेत्यावर्त्यमाना पञ्चेति सप्त-संख्यां भजते । इयं तिसृणां सप्तसंख्यासाम्यसम्पत्तेः सर्वानेवैतान् यजमानान्समावद्भाजः समानफलयुक्तान् करोति उद्भाता ॥ ३ ॥

एषापि केषाञ्चित्त्रित्येत्याह—

तामेतामाभिप्रतारिण उपासते तस्मात्त ओजि-
ष्ठास्वानाम् ॥ ४ ॥ .

आभिप्रतारी नाम कश्चिद्राजर्षिस्तद्गोत्रजा आभिप्रतारिणः ते आ-भिप्रतारिणः तामेतां सप्तास्थितां विष्टुतिमुपासते कर्मसु नित्यं प्रयु-ञ्जते । अतस्ते स्वानां ज्ञातीनां मध्ये ओजिष्ठा ओजसि स्थिता भव-न्ति । स्वशब्दस्य ज्ञातिवचनत्वेन स्वं ज्ञातिघनाद्यायामिति सर्व्वनाम-संज्ञां पर्य्युदस्य आमः सुडमावः ॥ ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

सप्तदशस्तोमस्य सप्तास्थिताया विष्टुतेर्व्यूहनप्रकारान्तरमाह—

एष एव व्यूह उभयस्ससैकमध्या निर्म्ममध्या ॥ १ ॥

उक्तायाः सप्तास्थिताया एष वक्ष्यमाणो व्यूहो विभागप्रकारः । कथमिति तदुच्यते—प्रथमोत्तमयोः पर्याययोर्विद्यमाना उभयः उभ-यविधाः सप्तर्च्य एकमध्याः कार्य्याः स 'तिसृमिस्स तिसृमिस्स एक ये'ति हि प्रथमे पर्याये समान्नाता । स एकया स तिसृमिः स तिसृ-मिरिति हि उत्तमे । तत्रोभयोः पर्याययोः स तिसृमिः स एकया स तिसृमिरिति मध्यमा एकैव यथा स्यात् तथा कुर्यादित्यर्थः । एवं-सति तथा सति त्रिष्वपि पर्यायेषु मध्यमायाः स्तोत्रायाया ऋच आवृत्यभावाद्देयां निर्म्मम्या निर्गतमध्यस्थौदया तनुमध्येत्यर्थः ॥ १ ॥

अस्यामधिकारिणमाह—

आनुजावर स्तुवीतालोको वा एष यदानुजावरो
यत् सप्तप्रथमास्सप्तोत्तमास्तिस्रो मध्ये त्र्यक्षरः पुरुषो

लोकमेवास्मै तन्मध्यतः करोति तस्मिँल्लोके प्रति-
तिष्ठति ॥ २ ॥

एतया विष्टुत्या आनुजावरेति कनिष्ठो यजमानः स्तुवीत यत्
यत्र आनुजावरः स एष अलोको वै लोकः स्थानं तद्रहितः खलु
जनैरपरिशृहीतत्वात्, तथासति यत् यस्मात्प्रथमाः प्रथमपर्यायस्थाः
सप्तर्च उतमाः उत्तमपर्यायगताश्च सप्तर्चः मध्यं मध्यमपर्याये तिस्रः ।
यद्वा त्रिषु पर्यायेषु प्रथमोत्तमविष्टावगताः सप्तसप्तर्चो भवन्ति । मध्य-
मविष्टावगतास्तु तिस्रः पुरुषस्तु त्र्यक्षरवाच्यो भवत्यानुजावरोपि पुरुषः
यस्मादेव तस्मात् त्र्यक्षराभिधेयपुरुषस्थानीयमृचत्रयमध्ये प्रयुज्जानः
स्तोता अस्मा आनुजावराय लोकं स्थानमेव मध्यतो मध्ये करोति ।
अनया विष्टुत्या तस्य लोको लभ्यत इत्यर्थः । तस्मिँल्लोके प्रति-
ष्ठितश्च भवति ॥ २ ॥

अधिकार्यन्तरमाह—

एतामेव प्रजाकामाय कुर्यान्मध्यतो वा एष सँरू-
ढो यः प्रजान्न विन्दते लोकमेवास्मै तं मध्यतः करोति
तं लोकं प्रजया च पशुभिश्चानु प्रजायते ॥ ३ ॥

एतामेव विष्टुतिं प्रजां पुत्रभृत्यादिकां कामयमाना योद्वाता कु-
र्यात् । यः प्रजान्न विन्दते न लभते एषः पुत्रपश्वादीनां मध्यतो मध्य-
देशात् मंडूढः सम्यगुत्थितः प्रजावान्हि पुत्रभृत्यादीनां मध्ये तिष्ठ-
ति तत्तथा ततोस्मै प्रजाकामाय तिस्रो मध्ये प्रयुज्जानः स्तोता मध्य-
तो मध्यं लोकं स्थानं करोत्येवं तल्लोकमनुलोकं सम्पत्तेरूर्ध्वं प्रजया
पशुभिश्च प्रजायते प्रवृद्धो भवति अतः पशुकामोऽप्यत्राधिकारी-
न्युक्तं भवति ॥ ३ ॥

पुनरप्यधिकारिविशेषं दर्शयति—

एतामेवापरुद्धराजन्याय कुर्याद्विड्वै सप्तदशस्त-
स्या राजा गर्भो विश एव तद्राजानन्निर्हन्त्यपायगतो
रुधतेवगच्छत्यपरुद्धः ॥ ४ ॥

एतामेव विष्टुतिं अपरुद्धः परिजनैर्निरुद्धस्तादृशाय राजन्याय अ-
भिषिक्ताय राज्ञे एतामेव विष्टुतिं प्रयुज्जीत योऽयं सप्तदशस्तोम उक्तः
स विड्वै राज्ञः परिजनभृता वैश्यजातिरेव । अनयोः प्रजापतेर्मध्य
देहादुत्पत्तेः परस्परं सम्बन्ध इति पूर्वमेवोक्तम् तस्य विशो राजा

गर्मस्थानीयो भवति गर्मवन्मध्येऽवस्थानात्तथासति सप्तकयोर्मध्ये
तिस्त्रः प्रयुञ्जान उद्गाता विशो वैश्यजातेरेव मध्ये पुरुष शते अक्षरामि-
धेयं राजानं निर्हन्ति अपराधकारिण निकृष्य हन्ति गमयन्ति स्थापय-
न्तीत्यर्थः । अन्यन् पूर्ववद्धारयेयम् ॥ ४ ॥

पुनरप्यधिकारान्तरप्राह—

एतामेवाभिचर्यमाणाय कुर्यात्प्रजापतिर्वै सप्तदशः

प्रजापतिमेव मध्यतः प्रविशत्यस्तृतीयै ॥ ५ ॥

यो यजमानोऽभिचर्यमाणो द्वेष्टृभिः कृतमभिचारं प्राप्नो भवति
तस्मै एतामेव विष्टुतिं कुर्यात् योय सप्तदशस्तोमः स प्रजापतिर्वै
प्रजापतिरेव उभयोः सप्तदशसेरयासाभ्याम् । प्रजापतेः सप्तदशत्वं
ऐनरेयके समाप्नातम् 'द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवो हेमन्तशिशिरयोः स-
मासेन तावान् संवत्सरः संवत्सरः प्रजापतिरिति । तथासति प्रजा-
पत्यात्मनः सप्तदशस्य मध्ये यास्तिस्त्रः प्रयुञ्ज्यन्ते तेन व्यक्षरवा-
च्यः पुरुषोऽभिचर्यमाणः प्रजापतिमेव मध्यतः प्रजापतेरेव मध्यदेशे
प्रविशति अस्तृतीयै अहिंसायै । स्तृब् हिंसायामिति चातुः ॥ ५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

अथ एकादशः खण्डः ।

तस्य सप्तदशस्तोमस्यैवापरा विष्टुतिः प्रदर्श्यते—

पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स ए-
कया, तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिर्नवभ्यो हिङ्करो-
ति स तिसृभिः स तिसृभिः स तिसृभिः ॥ १ ॥

स्पष्टार्थः ॥ १ ॥

उक्तां विष्टुतिं स्तोमचतुष्टयरूपेण प्रशंसन् ब्रह्मवर्चसका-
मस्यैवेत्याह—

चतुरस्तोमान् प्रतिविहिता ब्रह्मवर्चसकामः स्तुवी-
त पञ्चभिः पञ्चदशं तिसृभिस्त्रिवृत्तन्नवभिस्त्रिणवत्
स्वयत्सप्तदशः सम्पन्नो वीर्यं वै स्तोमा वीर्यमेव तदे-
कया समूहते ब्रह्मवर्चसस्यावरुध्यै नेजस्वी ब्रह्मवर्चसी
भवति य एतया स्तुते ॥ २ ॥

क्रमेण त्रिभिः पर्यायैः पञ्चदशदिस्तोमत्रयपर्यायसाम्यात् स्वस्य च सप्तदशत्वादिय विष्टुतिः स्तोमचतुष्टयप्रतिनिधित्वेन कृतया एतया ब्रह्मवर्चसकामः स्तुवीत । कुत एतत्-य एते चत्वारः स्तोमास्तद्वीर्यं वै वीर्यं खलु स्तूयमानाया देवताया वीर्यहेतुत्वात् तत् तथासति वीर्यमेव एकधा समूहते एकत्र समुद्दीकरोति तच्च समूहनं ब्रह्मवर्चसस्य लाभाय भवति । अन्योपि यो यजमान एतया स्तुते तेजस्येव सन् ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य एकादशः खण्डः ।

अथ द्वादशः खण्डः ।

अथोद्यत्याख्यां सप्तदशस्यापरां विष्टुतिमाह—

तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिः पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एकया नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स तिसृभिस्स तिसृभिरुद्यती सप्तदशस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

तिसृभ्यः पञ्चभ्यो नवभ्य इति क्रमेण सङ्ख्याया उर्ध्वगमनादुद्यती उर्ध्वगच्छन्ती एतत्संज्ञा एषा सप्तदशस्तोमस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

अथैतां स्वर्गादिसाधनतया प्रशंसति—

एतया वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् स्वर्गकामः स्तुवीत स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै स्वर्गाल्लोकान्न चपवते तुष्टुवानोऽभिक्रामन्ती विष्टुतिरभिक्रान्त्या एवाभिक्रान्तेन हि यज्ञस्यध्नोति तस्मादेतया स्तोतव्यमृध्या एव ॥ २ ॥

एतया वा इत्यादि तुष्टुवान इत्यन्तं पञ्चदशस्तोमस्योद्यत्यां व्याख्यातं सर्वमन्यत् त्रिवृदुद्यत्याम् । तद्वद्वापि व्याख्येयम् ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ।

अथ त्रयोदशः खण्डः ।

सप्तदशस्यैव भस्त्राख्या परा विष्टुतिः प्रदर्श्यते—

सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स तिसृभिस्स एक-
कया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स ए-
कया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया म एकया स तिसृ-
भिर्भस्त्रावाचीनविला ॥ १ ॥

प्रथमे पर्याये सप्त इतरयोः पञ्च पञ्चेति हीनसंख्यात्तत्त्वादवा-
चीनविलत्वादवाङ्मुखद्वारा भस्त्रा तत्साम्यात् भस्त्रा एतत्संज्ञा एषा स-
प्तदशस्तोमस्य विष्टुतिः । अत एवावाचीनविलत्वादेवानिकृष्टा ॥ १ ॥

अस्यां विष्टुताबधिकारिणमाह—

यं द्विष्यात्तस्य कुर्याद्यथावाचीनविलया भस्त्रया
प्रधूनुयादेवं यजमानस्य पशुन् प्रधूनोत्यपक्रामन्ती वि-
ष्टुतिस्तया यजमानस्य पशवोऽपक्रामन्ति पापीयान्
भवति य एतया स्तुते ॥ २ ॥

यं यजमानमुद्राता द्विष्यात् तस्य यजमानस्यैतां भस्त्राख्यां विष्टु-
तिं कुर्यात्, तथासति अवाचीनविलया भस्त्रया स्तुत्या यथा अयस्का-
रः प्रधूनुयात् प्रकम्पयेत् प्रथमपेदित्यर्थः । एवमेव एतया विष्टुत्या
यजमानस्य पशुन् प्रधूनोति प्रगमयति । तथेयं विष्टुतिरपक्रामन्ती उत्त-
रोत्तरहीनसंख्यात्वेनापगच्छन्ती तया विष्टुत्या यजमानस्य पशवोऽप-
क्रामन्ति यजमानाग्निर्गच्छन्ति यो यजमान एतया स्तुते यस्यैतयोद्गा-
ता स्तौतात्यर्थः । स यजमानः पापीयान् अन्यैरपि फलैर्विहीनो
भवति ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यनहाराहणे द्वितीयाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ।

अथ चतुर्दशः खण्डः ।

एकविंशस्तोमस्य चतस्रो विष्टुतयः । तत्र सप्त सातिन्याख्यां प्रथ-
मां विष्टुतिं दर्शयति—

सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स तिसृभिस्स एक-
या सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स तिसृ-

भिस्रसभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स एकया स तिसृ-
भिः सप्तसप्तिन्येकविंशस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

स्पष्टोर्थः ॥ २ ॥

अथैतां स्तौति—

सप्त ग्राम्याः पशवस्तानेतया स्पृणोति सप्त शिर-
सि प्राणाः प्राणा इन्द्रियाणिन्द्रियाण्येवैतयामोति ॥२॥

पुरुषो गौरविरजो गर्हभोऽश्वोऽश्वतर इति ग्राम्याः सप्त पशवस्ता-
नेतया 'स्पृणोति' प्राप्नोति । स्पृ प्रीतिचलनयोरत्र प्राप्त्यर्थः, घातुना-
मेनेकार्थत्वात् । किञ्च सप्तशीर्षण्याः प्राणाः मुखनासिके अक्षिणी कर्णा-
विति इन्द्रियाणि तदधिष्ठानत्वात् । अत इन्द्रियाण्येवैतया सप्तसप्ति-
न्याप्नोति ॥ २ ॥

अथैतां पुनरपि स्तौति—

एषा वै प्रतिष्ठितैकविंशस्य विष्टुतिः प्रतितिष्ठति
य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

त्रिष्वपि पर्यायेषु समसंख्यासद्भावादस्याः प्रतिष्ठितत्वम् । त-
थासति एतां प्रयुञ्जानः पश्वादिभिः प्रतिष्ठितो भवति ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य चतुर्दशः खण्डः ।

अथ पञ्चदशः खण्डः ।

अथास्यैव स्तोमस्य उच्यत्याख्यां द्वितीयां विष्टुतिमाह—

पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स
एकया सप्तभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स ति-
सृभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स तिसृभिः स
तिसृभिरुच्यत्येकविंशस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

स्पष्टोर्थः ॥ १ ॥

एतां विष्टुतिं प्रशंसति—

एतया वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् स्वर्गकामः स्तुधी
त स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवा-
नोऽभिक्रामन्ती विष्टुतिरभिक्रामन्त्या एवाभिक्रान्तेन

हि यज्ञ स्यध्नोति तस्मादेतया स्तोतव्यमृद्धया एव ॥ २ ॥

एतत्सर्वं पूर्ववद्योज्यम् ॥ २ ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

सैषा त्रिवृत्प्रायणा त्रिवृदुदयना यत्त्रिवृद्वहिष्पव-
मानं भवति नवैता एकविंशस्योत्तमा भवन्ति प्राणा
वै त्रिवृत्प्राणानेव तदुभयतो दधाति तस्मादयमर्धभाग-
वाक् प्राण उत्तरेषां प्राणानां सर्वमायुरेति न पुरा-
युषः प्रमायते य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

अग्निष्टोमसंस्थस्य यज्ञायज्ञियस्तोत्रे अस्या विष्णुतेः प्रयोज्यत्वादे-
कविंशस्तोमस्याग्निष्टोमत्वमारोप्य स्तूयते । सैषा विष्णुतिः त्रिवृत्प्रा-
यणा त्रिवृत् ऋक्नवकं प्रायणे प्रारम्भे यस्याः सा तथोक्ता । तथा
त्रिवृदुदयना त्रिवृत् ऋक्नवकमुदयने समाप्तौ यस्याः सा उक्तरूपा ।
कुत इत्यत आह—यद्यस्माद्वहिष्पवमानस्तोत्रं त्रिवृत् ऋक्नवकं आ-
दौ भवति । यस्मादेकविंशस्य स्तोमस्य उत्तमास्तृतीयपर्यायगता
एता नवर्चो भवन्ति । अत एषा विष्णुतिः त्रिवृत्प्रायणा त्रिवृदुदयनेति ।
किमतो भवति । उच्यते—त्रिवृत्स्तोम इति यदस्ति तत्प्राणाः खलु प्रा-
णा नवसंख्याकाः सप्तशीर्षण्या द्वौ मूत्रं पुरीषश्चेति । त्रिवृदपि ऋक्न-
वात्मकः तथा सति उभयत्र संख्यासाम्यात्त्रिवृत्प्राणरूपैतत्स्तुतिः
तत्तथा सति प्राणानेव तत् उभयतः शिरस्यधोभागे च दधाति धार-
यति । तस्मादयमाद्यन्तयोः प्राणस्थानीयं ऋक्नवकं प्रयुक्तवान् त-
स्मादयमर्धभागवर्त्तो प्राणः उत्तरेषां उपरि वर्त्तमानानां शीर्षण्यानां
प्राणानां यावत् कार्य्यमस्ति शरीरस्थितिहेतुमूलमर्द्धभाक् अर्द्ध-
भागवान् तावत्कार्य्यवान् भवति यावत् कार्य्यं कर्मणा शरीरं
ध्रियते तदर्द्धं शीर्षण्याः प्राणाः कुर्वन्ति । शिष्टमर्द्धमवाञ्छौ प्राणावि-
त्यर्थः । तथोऽकार्य्यं हि मूत्रपुरीषयोर्व्विसर्जनम् । तदभावे उद्वर्त्त-
रूपेण रोगेण ध्रियते इति तयोरर्द्धभाक्त्वम् । एवं सति च य एतया
विष्णुत्या स्तुते स सर्वमायुरेति प्राप्नोति आयुषः पुरा कल्पाच्छतव-
र्षलक्षणादायुषः पूर्वं न ध्रियते ॥ ३ ॥

एषा विष्णुतिः केषाञ्चित्त्रित्येत्याह—

तामेताङ्कुरद्विष उपासते तस्मात्ते सर्वमायुर्यन्ति ॥ ४ ॥

करद्विषो नाम गोत्रभेदाः शाखिभेदा वा ते तामेतामुद्यतीमेकवि-

ॐ शस्य विष्टुतिं उपासते नित्यं प्रयुज्जते । तस्मात्ते सर्वे शतवर्षलक्षणं
कृत्स्नमायुर्यन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य पञ्चदशः खण्डः ।

अथ षोडशः खण्डः ।

अथास्यैव स्तोमस्य प्रतिष्टुतिर्नाम तृतीया विष्टुतिः प्रदर्श्यते—

नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृभिः स ति-
भिः पञ्चभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स एक-
या, सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृ-
भिः प्रतिष्टुतिः ॥ १ ॥

त्रिवृदादिस्तोमचतुष्टयप्रतिरूपकत्वात् अस्याः प्रतिष्टुतिरिति
संज्ञा यौगिकी ॥ १ ॥

एतदेव दर्शयति—

नवभिस्त्रिवृतं प्रतिष्ठौति पञ्चभिः पञ्चदशं सप्तभिः

सप्तदशं स्वयमेकाविंशः सम्पन्नः ॥ २ ॥

अस्या विष्टुतेः प्रथमपर्यायगतभिर्नवभिर्नवभिस्त्रिवृतं स्तोमं प्र-
तिष्ठौति त्रिवृत्स्तोमेन स्तुतवान् भवतीत्यर्थः । एवमुत्तरप्रापि यो-
ज्यम् ॥ २ ॥

एतां विष्टुतिं प्रशंसति—

य एव स्तोमा यज्ञं वहन्ति तानुत्तमे स्तोत्रे सन्तर्पयति
यथाऽनडुहो वाइवान्वाइवतरान्बोहुपः सन्तर्पयेदेवमेत-
दुत्तमे स्तोत्रे स्तोमान् सन्तर्पयति तृण्यति प्रजया पशु-
भिर्य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

य एव स्तोमास्त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंशादप्यष्टमाग्निष्टोमं वह-
न्ति तान् स्तोमान् सर्वान् तर्पयति अन्तिमे यज्ञापश्चिदस्तोत्रे अनया
विष्टुत्या स्तुत्यन्नुद्गाता सन्तर्पयति उक्तक्रमेण ताननुस्मरन् संवृत्तान्
करोति । एतदेव दृष्टान्तेन समर्थयते । ऊह्यः घहेः कसि प्रत्यये शसि
रूपमेतत् । ऊहुपः ऊदघतः ऊदमारान् अनडुहादीन् यथा संतर्पयेत्
उत्तमे स्तोत्रे स्तोमान् सन्तर्पयति यत् एवमेतत् य एतया स्तौति अयं
तर्पयतीत्यन्वयः ॥ ३ ॥

पौरोहित्यं कामयमानस्यैषा विष्टुतिः प्रयोज्येत्याह—

एतामेव पुरोधाकामाय कुर्याद्ब्रह्म वै त्रिवृत्
क्षत्रमेकविंशो यत्रिवृतैकविंशं प्रतिपद्यते ब्रह्म
तत् क्षत्रस्य पुरस्ताद्विदधाति गच्छति पुरोधान्न पुरो-
धायाश्च्यवते य एतया स्तुते ॥ ४ ॥

पुरोधा पौरोहित्यं तत्कामः यजमानो यस्तस्मै यजमानाय एकवि-
ंशस्यैतामेव विष्टुतिं कुर्यात् । योऽयं त्रिवृत्स्तोमः ब्रह्म वै ब्राह्मण-
जातिः खलु उभयोः प्रजापतिमुखजन्यत्वात् । एकविंशस्तोमः प्रति-
ष्ठादेतुत्वात् क्षत्रं क्षत्रियजातिः । एवं सति त्रिवृता ऋक्नघके एकवि-
ंशस्तोमं प्रतिपद्यते शारमत इति यत्तत्तेन क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः पुर-
स्ताद्ब्रह्म ब्राह्मणजातिं निदधाति अतः कारणात्स यजमानः पुरोधां
पौरोहित्यं गच्छति प्राप्नोति कदाचिदपि तस्याः पुरोधाया न च्यवते
न प्रच्युतो भवति ॥ ४ ॥

एषापि केषाञ्चिदित्येति दर्शयति—

तामेतां प्रावाहण्य उपासते तस्मात्ते पुरोधाया न
च्यवन्ते ॥ ५ ॥

प्रावाहण्यः प्रवाहणो नाम कश्चित् ऋषिः तस्य सन्तानभूताः प्रावा-
हण्यः । स्पष्टमन्यत् ॥ ५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य षोडशः खण्डः ।

अथ सप्तदशः खण्डः ।

अथास्यैव स्तोमस्य सूर्याख्याञ्चतुर्थी विष्टुतिं दर्शयति—

नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृभिः स
तिसृभिस्तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिर्नवभ्यो हिङ्क-
रोति स तिसृभिः स तिसृभिः स तिसृभिः सूर्युभयत
आदीप्ता ॥ १ ॥

उभयत आद्यन्तयोः पर्याययोर्ऋक्नघकान्तेन त्रिवृत्वादुभयत आ-
दीप्ता, त्रिवृत्श्चाग्रेष्व प्रजापतिमुत्वात् सहोत्पत्तेरादीप्ता, सूर्या कृशा-
मध्ये स्थूलेतरा तत्सादृश्यादस्या अप्येषा संज्ञा । अस्या अपि मध्यम-
पर्यायस्य ऋक्नघयात्मकत्वेन ऋक्नघकाभ्यामर्हत्वात् ॥ १ ॥

अस्यामधिकारिणमाह—

ब्रह्मवर्चसकामः स्तुवीत तेजो वै त्रिवृत् इयक्षरः
पुरुषो यत् त्रिवृतायभितो भवतस्त्रिस्रो मध्ये यथा हि-
हिरण्यं निष्टपेदेवमेनं त्रिवृतौ निष्टपतस्तेजसे ब्रह्म-
वर्चसाय ॥ २ ॥

अनया ब्रह्मवर्चसकामः स्तुवीत यः त्रिवृत् स्तोमोऽस्ति स तेजो वै
तेजोरूपः खलु पुरुषो यजमानोऽपि इयक्षरः पुरुषः इति इयक्षरैर्वाच्यस्त-
थासति यत् यस्मात्त्रिवृतौ तेजोरूपाद्युभयनः प्रथमतृतीयपर्याययोर्भ-
वतः मध्ये मध्यमे पर्याये तिस्रः इयक्षरात्मकपुरुषस्थानीयास्तिस्र कचो
भवन्ति । तस्य यथा हिरण्यमग्निमध्ये वर्णोत्कर्षाय निष्टपेत् नितरां ता-
पयति स्वर्णकारः एवमेनं अक्षरत्रयाभिधेययजमानं एतौ त्रिवृतौ उभ-
यतस्त्रिवृतौ निष्टपतः निरूप्य दीपयतः एवं सति यजमानस्तेजसे ब्रह्म-
वर्चसाय भवति ॥ २ ॥

अस्यां विष्टुतौ दोषद्वयमप्यस्ति—

अपशब्देव तु वा ईश्वरा पशून्निर्देहः किलासत्त्वान्नु-
भयमति हि निष्टपतः ॥ ३ ॥

तु शब्दः फलवैलक्षण्यद्योतनार्थः । अपशब्देव धे पशूनां वृद्धि-
विधातिर्ना खलु अत एव वा पशून्निर्देहो निर्देग्धुमीश्वरा समर्था 'ईश्वरे
नोसुन् कसुना' विनिर्देहः कसुः । तथा किलासत्त्वात् किलासः सिद्धः
त्वक्क्रोमविशेषः तद्धेतुत्वात् चैषा दुष्टा । उभयत्र हेतुः उभयमति हीति ।
हि हेतौ यस्माच्चान्तयोः प्रयुक्तौ त्रिवृतौ त्रिवृतौ इयक्षराभिधेयस्य
पुरुषस्य यजमानस्योभयपार्श्वेद्वयनिष्टपतः निःशेषेण दहतः अत ऊर्ध्वं
दोषद्वयं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

आधिकार्यन्तरमाह—

एतामेवाभिशास्यमानाय कुर्याच्छ्रमलं वा एतमु-
च्छति घमश्चीला वागृच्छति पैर्वैनममावश्चीलं वाग्व-
दति तामस्य त्रिवृतौ निष्टपतस्तेजस्वी भवति य एतया
स्तुते ॥ ४ ॥

एतामेव सूर्यार्यां विष्टुतिं अभिशास्यमानाय परनिन्द्यमानाय
यजमानायोद्गाता कुर्यान् ये यजमानमश्चीला निन्दारूपा वाक् श्रु

च्छति प्राप्नोति एनं यजमानं शमलं पापमेव ऋच्छति प्राप्नोति । यैव सा वाक् एनमश्लीलमश्रीकरास्त्रिन्दारूपं वदति अस्य यजमानस्य अश्लीलवादिर्नो वाचं अस्थां विष्टुती प्रयुज्यमानाबुभयतस्त्रिवृती निष्टपतो निर्दहतः अश्लीलवादिन्यो वाचो निर्दहो यजमानो निर्दोषो जायत इत्यर्थः । अन्योपि यो यजमान एतया स्तुते स्तावयति सोपि तेजस्वी भवतीति ॥ ४ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्हं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकबुक्कभूपालसाम्राज्य-
धुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे
ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वितीयाध्यायस्य सप्तदशः खण्डः ।

द्वितीयाध्यायः समाप्तिमगमत् ।

तृतीयोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

द्वितीये दशरात्रस्य चतुर्णां विष्टुतिक्रमः ।

प्रदर्शितस्तृतीयेऽथ वक्ष्यन्ते त्रिणवादयः ॥ २ ॥

त्रिणवस्य स्तोमस्य द्वे विष्टुती प्रतिष्ठिता उद्यती चेति । तत्र प्रतिष्ठितां विष्टुतिं प्रदर्शयति—

नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स एकया, नवभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स पञ्चभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिः ॥ १ ॥

सर्वस्य स्तोमस्य त्रयस्त्रयः पर्यायास्तत्र प्रथमपर्यायस्य या प्रथमा सा तृचभागेत्यन्वर्थसंज्ञका अतस्तस्यास्त्रिर्वचनं कार्यम् । तस्यैव

पर्यायस्य या मध्यमा तस्या आवापस्थानमिति संज्ञा । अतः त्रिवच-
नावशिष्टाः प्रथमपर्यायसम्बन्धिनो येऽभ्यासा अन्त्यवर्जितास्तेषां
तेषामिमावापस्थानभूतेत्यर्थः । या तृतीया सा परिचरासंज्ञका सह-
द्वयेनैव प्रायेण परितः सर्वतश्चरणोत्तमामसम्पन्नम् । तथा मध्यमप-
र्याये ता एव तिस्रः स्तोत्रीया परिचरा तृचभागा आवापस्थानमिति
क्रमेण संज्ञां लभन्ते । उत्तमे पर्याये आवापस्थानं परिचरा तृचभागेति
संज्ञां लभन्ते अतः स्तोमवृद्धौ तृचभागायाः सर्वत्र त्रिवचनमेव । अनावृ-
त्तकैव परिचरा यावताभ्यासेन पर्याये संख्या पूर्यते तावत्कृत्वो म-
ध्यमावर्त्तनीयेत्यर्थः । तदुक्तं सूत्रकारेण—‘वर्द्धमानेषु स्तोमेषु प्र-
थमस्य पर्यायस्य प्रथमा तृचभागा तस्यास्त्रिवचनं मध्यमावाप-
स्थानमुत्तमा परिचरा तृचभागावापस्थानमिति मध्यमे आवापस्थानं
परिचरा तृचभागेत्युत्तम’ इत्यादिना । अतोऽस्यां विष्टुतावपि पर्याय-
श्रे तृचभागापरिचरयोः पूर्वोक्तसंख्यैव आवापस्थानभूता तु पञ्चक-
त्वाऽभ्यस्यते । एषैव संख्याभिधेयत्वेन स्तोतव्या ॥ १ ॥

तं प्रशंसिष्यन्नुक्तं व्यूहनं प्रशंसति—

वज्रो वै त्रिणवो वज्रमेव तद्व्यूहति शान्त्यै ॥ २ ॥

प्रयो हि त्रिवृत्तोमा मिलित्वा त्रिणवः तस्य त्रिवृत एकैकस्य
पर्यायस्य त्रित्वसंख्योपेतत्वात् ‘वज्रस्य चेन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्
स त्रेधा व्यमज्जदिति’ श्रुत्यन्तरात् त्रेधा भावदर्शनात्, तदुभयत्र सं-
ख्यासाम्येन त्रिवृतो वज्रत्वं तत्समुदायात्मकः त्रिणवोपि वज्रमेव वज्र-
वृद्धिं संक्रमेव तथासति उक्तप्रकारेण यद्व्यूहनं त्रित्वसंख्याविमजनं
तत्तेन वज्रमेव तद्व्यूहति वज्रमेव अपनयतीत्यर्थः । तद्व्यूहनं यजमान-
स्य शान्त्यै उपद्रवशमनाय भवति ॥ २ ॥

अथ विहितां पञ्चसंख्यां प्रशंसति ।

पञ्चभिर्विहितैका परिचरा णङ्क्ताः पशवो यजमा-
नः परिचरा यत्पञ्चभिर्विदधात्येका परिचरा भवति
यजमानमेव तत्पशुषु प्रतिष्ठापयत्येषा वै प्रतिष्ठिता
त्रिणवस्य विष्टुतिः प्रतितिष्ठति य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

एषा विष्टुतिः पञ्चमिर्गमिर्विहिता विशेषेणोपादिष्टा आवापस्थान-
गतायाः पञ्चता एव विधेया अप्राप्तत्वात्परिचरातृचभागयोस्तु संख्या-
नियमस्योक्तं प्रकारेण सर्वतः प्राप्तेस्तस्मादावापस्थानभूता पञ्चसं-
ख्योपता परिचरा चैका । पशवश्चत्वारः पादाः पुच्छञ्चेति च त्वङ्मांसं

स्नायु चास्थि मज्जेत्येवं वा पञ्चसम्बन्धात् पाङ्क्ताः । अत आवापस्या-
नीयाः पञ्चर्धः पञ्चव इत्युपचर्यते । परिचरा च यजमानस्थानीया एक-
त्वसाम्यात् । एवं स पञ्चभिर्ऋग्भिरावापस्थानगतामिरिमां विष्टुतिं वि-
दधाति परिचरा चैका भवति तत्तेन यजमानमेव पशुष्ववस्थापयति ।
एषा तु त्रिणवस्य विष्टुतिः प्रतिष्ठिता उक्तप्रकारेण पशुषु यजमान
स्थावस्थितिहेतुत्वात् अतो य एतया स्तुते स प्रतितिष्ठति ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

अथ त्रिणवस्योद्यत्याख्यां द्वितीयां विष्टुतिमाह—

सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स एकया नवभ्यो
हिङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स पञ्चभिरेकादश-
भ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिस्स तिसृभिः स तिसृभिरु-
च्यती त्रिणवस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

तत्र सप्तभ्यो नवभ्य एकादशभ्यः प्रतिसंख्यारोहणम्, उद्यत्येषां
विष्टुतेस्त्रिणवस्य ॥ १ ॥

अथ एतां प्रशंसति—

एतया वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् स्वर्गकामः स्तु-
वीत स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते
तुष्टुवानोऽभिक्रामन्ती विष्टुनिरभिक्रान्त्या एवाभि-
क्रान्तेन हि यज्ञस्यर्घ्वाति तस्मादेतया स्तोतव्यमृ-
ध्या एव ॥ २ ॥

त्रिवृत्पञ्चदशयोऽद्यत्यर्धवादवदेतत्सर्वं श्रेयम् ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ तृतीयः खण्डः ।

अथस्त्रिंशस्तोमस्य विष्टुनयः पञ्च तत्राद्यां समज्यंशाख्यां दर्शयति—

एकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिस्स सप्तभिस्स
एकपैकादशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिस्स

सप्तभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स सप्तभिस्स एकया
स तिसृभिः ॥ १ ॥

त्रयाणां पर्यायाणां समसंख्यात्वात् समव्यंशेया विष्टुतिः ॥ १ ॥
अथैतां विष्टुतिं स्तौति—

अन्तो वै त्रयस्त्रिंशः परमो वै त्रयस्त्रिंशस्तो-
मानां सप्तभिर्विहितैका परिचरा सप्त ग्राम्याः पश-
वो यजमानः परिचरा यत्सप्तभिर्विदधात्येका परिचरा
भवाति यजमानमेव तदन्ततः पशुषु प्रतिष्ठापयत्यर्पा
वै प्रतिष्ठिता त्रयस्त्रिंशस्य विष्टुतिः प्रातिष्ठति य
एतया स्तुते ॥ २ ॥

यस्त्रयस्त्रिंशस्तोमोस्ति एव अन्तो वै चरमः खलु पृष्ठपण्डहस्तो-
मोपक्षयास्यान्तत्वं तदेवमाह—परमो वै अयं त्रयस्त्रिंशः परमो वै
पृष्ठपानामुत्तमः खलु । शिष्टं त्रिणवस्याद्यविष्टुत्यर्थवादवशात्प्रेयम् ।
अन्तत इति पण्डहस्यान्तत इत्यर्थः ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः खण्डः॥

अथ चतुर्थ खण्डः ।

अथैवानेदीयःसंक्रमाख्यां द्वितीयां विष्टुतिमाह—

एकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स
तिसृभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृ-
भिः स पञ्चभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स
तिसृभिः स तिसृभिर्नेदीयःसंक्रमा ॥ १ ॥

नेदीयसि अन्तिकतमे संख्याविशेषे संक्रामतीति नेदीयःसंक्रमा ।
तथा हि प्रथमे पर्याये आरोहावरोहाभ्यां तिसृभ्यः पञ्चसु पञ्चभ्यः ति-
सृत्वित्येवमन्तरिताः अयुक्संख्यास्तेषां संक्रामति । द्वितीयतृतीययो-
रपि यथासंख्यमारोहावरोहाभ्यां अन्तिकतमामेवायुक्संख्यां क्रामति ।
यथा पूर्वा विष्टुतिः तिसृभ्यस्सप्तसु सप्तभ्य एकस्यामिति व्यवहित-
संक्रमा तद्वैलक्षण्यादेया नेदीयःसंक्रमा ॥ १ ॥

अथोक्ता विष्टुतिस्त्रयस्त्रिंशेन संगतेत्याह—

अन्तो वै त्रयस्त्रिंशो यथा महावृक्षस्याग्रं सृ-
प्त्वा नेदीयःसंक्रमात् संक्रामत्येवमेतन्नेदीयःसंक्रमया
नेदीयःसंक्रमात् संक्रामति ॥ २ ॥

पडहस्तोमापेक्षयाभ्यान्तत्वं कश्चित्पुरुषो महावृक्षस्याग्रम् अन्ति-
कतमां शाखामालम्ब्यारुह्य ततो नेदीयः संक्रमात्संक्रामति एवमेतया
विष्टुत्या नेदीयःसंक्रमात्पया नेदीयस्यान्तिकतमे संख्याविशेषे
संक्रामति ॥ २ ॥

अथैनां प्रतिष्ठाहंतुत्वेन प्रशंसति—

पञ्चभिर्विहितास्तिस्रः परिचराः पाङ्क्ताः पशव
एतावान् पुरुषो यदात्मा प्रजा जाया यत्पञ्चभिर्विद-
धाति तिस्रः परिचरा भवन्ति यजमानमेव तत्पशुपु
प्रतिष्ठापयति पशुमान् भवति य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

त्रिणवस्य प्रथमविष्टुत्यर्थवादवद्व्याख्येयम् । अत्र त्वयं विज्ञेयः ।
परिचरास्तिस्रश्च यजमानपुत्रपत्नीस्थानीयाः तथासति प्रजया जाया-
सहितं यजमानमेव पशुपु स्तोना स्थापितवान् भवति ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

अथ पञ्चमः खण्डः ।

अथास्यैव स्तोमस्योद्यत्याख्यां विष्टुतिमाह—

नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स ए-
कयैकादशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स
सप्तभिस्त्रयोदशभ्यो हिङ्करोति स सप्तभिः स तिसृभि-
रुद्यती त्रयस्त्रिंशस्य विष्टुतिः ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

स्वर्गकामस्यैषा विष्टुतिरिति प्रदर्शयन्निमां प्रशंसति—

एतया वै देवाः स्वर्गं लोकमायन् स्वर्गकामः स्तु-
वीत स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते
तुष्टुवानोऽग्रादग्रंरोहत्यभिक्रामन्ती विष्टुतिरभिक्रा-

न्या एवाभिक्रान्तेन हि यज्ञस्यध्नोति तस्मादेतया स्तो-
तव्यमृद्ध्या एव ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

अथ षष्ठः खण्डः ।

अथास्यैव विष्टुत्यन्तरमाह—

त्रयोदशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिः स
पञ्चभिरेकादशभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स तिसृभिः
स तिसृभिर्नवभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृभिः
स तिसृभिः प्रत्यवरोहिणी त्रयस्त्रिंशस्य विष्टुतिः ॥१॥

त्रयोदशभ्य एकादशभ्यो नवभ्य इति संख्याया उत्तरोत्तरमवरो-
हणादेया प्रत्यवरोहिणी ॥ १ ॥

एतदेव सदृष्टान्तमुपपादयति—

यथा महावृक्षस्याग्रं सृष्ट्वा शाखायाः शाखामा-
लम्भमुपावरोहेदेवमेतयेमं लोकमुपावरोहति प्रतिष्ठायै २॥

यथा काश्चिदुन्नतस्य वृक्षस्याग्रमारुह्योपरितनायाः शाखायाः शा-
खामालम्भमवलम्ब्यावलम्ब्य पृथिव्यामुपावरोहेत् एवमेव त्रिवृदादि-
क्रमेणानुष्ठाय षष्ठेऽहनि त्रयस्त्रिंशनाधिकसंख्येन स्वर्गमारुह्येतया वि-
ष्टुत्येमं लोकमुपावरोहति प्रतिष्ठायै अस्मिन् लोके विरावस्था-
नार्थम् ॥ २ ॥

अथैनामायुर्हेतुत्वेन प्रशंसति—

त्रिवृता प्रैति त्रिवृतोदेति प्राणा वै त्रिवृत् प्राणेनैव
प्रैति प्राणमभ्युदेति सर्वमायुरेति न पुरायुपः प्रमीयते
य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

पृष्ठ्यपङ्कदस्य प्रथमेऽहनि त्रिवृत् प्रयुज्यते षष्ठेऽहनि त्रयस्त्रिंशः
उत्तमे पठ्याये नवभ्यो हिङ्करोतीति विधानादन्ते च त्रिवृत् प्रयुज्यते ।
अतस्त्रिवृता प्रैति प्रक्रमते त्रिवृतैवोदेत्युद्गच्छति परिसमापयति प्राणा-
पानव्यानरूपेण वृत्तिप्रयात्मको यः प्राणोऽस्ति स त्रिवृत्स्थानीयो भवति
तथासति प्राणेनैव प्रक्रमसमाप्तीकृते भवत एव प्राणस्य त्यागात् यज्ञ-
मानः सर्व्य सम्पूर्णमायुरेति नतः पूर्वञ्च त्रिघने ॥ ३ ॥

एषा केषाञ्चिन्नित्येत्याह—

तामेताङ्कुरद्विष उपासते तस्मात्ते सर्व्वमायुर्दपन्ति ॥४॥

करद्विषो नाम केचित् शाखिविशेषा गोत्रविशेषा वा ॥ ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

अथ तस्यैवान्त्यां विष्टुतिमाह—

पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स पञ्चभिरेका-
दशभ्यो हिङ्करोति स पञ्चभिः स तिसृभिः स तिसृभि-
स्सप्तभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया स तिसृभिः॥१॥

स्पष्टार्थः ॥ १ ॥

अथैतां प्रशंसति—

यो वै त्रयस्त्रिंशमेकविंशे प्रतिष्ठितं वेद प्रति-
ष्ठति प्रतिष्ठा वा एकविंशः स्तोमानां यदेताः सप्तत्रय-
स्त्रिंशस्योत्तमा भवन्ति सप्तविधैकविंशस्य विष्टु-
तिरेकविंश एव तत् त्रयस्त्रिंशं प्रतिष्ठापयति प्रति-
तिष्ठति य एतया स्तुते ॥ २ ॥

यः खलु त्रयस्त्रिंशमेकविंशे प्रतिष्ठितं जानाति स प्रति-
तिष्ठति । कथं तस्य प्रतिष्ठा लाभः ? य एकविंशं स्तोमानां मध्ये
प्रतिष्ठाहेतुः खलु सर्व्वप्रकृतिभूतो ह्यग्निष्टोम एकविंशेन सन्ति-
ष्ठत इति तस्य प्रतिष्ठितत्वम् । त्रयस्त्रिंशस्य कथमेकविंशे
प्रतिष्ठानमित्यत आह—अस्यां विष्टुतौ त्रयस्त्रिंशस्योत्तमे पर्याये
सप्तभ्य इति विहिता एताः सप्तर्च उत्तमा भवन्ति एकविंशस्य वि-
ष्टुतिः सप्तधा एकैकस्मिन् पर्याये सप्तर्चो भवन्ति यद्यस्मादेवं तस्मा-
देकविंश एव त्रयस्त्रिंशं प्रतिष्ठापयति । अतो य एतया स्तुते स
यजमानः प्रतितिष्ठति ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

इत्थन्तु पृष्ठयपडहस्य त्रिवृदादयः पदस्तोमाः क्रमेण विहिताः ।
'अथ छन्दोगानां चतुर्विंशश्चत्वारिंशोष्टचत्वारिंश इति त्रयस्तो-
माः, तत्र प्रथमस्य स्तोमस्यैका विष्टुतिः सा प्रदर्श्यते—

अष्टाभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स चतसृभिः स
एकयाऽष्टाभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः स
चतसृभिरष्टाभ्यो हिङ्करोति स चतसृभिस्स एकया
स तिसृभिः ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

अथैतां प्रशंसति—

पशवो वै छन्दोगा गदष्टाभ्योऽष्टाभ्यो हिङ्करोति
अष्टाशफाः पशवः शफशस्तत्पशूनाप्नोति ॥ २ ॥

पशुसाधनत्वाच्छन्दोगानां पशुत्वमेव भवति त्रिष्वपि पर्यायेष्व
ष्टाभ्यो हिङ्करोतीति यत्तत्तेन पशवश्चाष्टाशफास्तत्पशून् शफशः शफ-
द्वारेणाप्नोति ॥ २ ॥

अथैतां प्रकारान्तरेण स्तौति—

चतसृभिर्विहितैका परिचरा चतुष्पादाः पशवो
यजमानः परिचरा यचतसृभिर्विदधात्येका परिचरा
भवति यजमानमेव तत्पशुषु प्रतिष्ठापयत्येषा वै प्रति-
ष्ठिता चतुर्विंशस्य विष्टुतिः प्रतितिष्ठति य एतया
स्तुते ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य अष्टमः खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

अथ चतुश्चत्वारिंशस्य तिस्रो विष्टुतयः तत्र प्रथमामाह—

पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकादश-
भिः स एकया, चतुर्दशभ्यो हिङ्करोति स एकया स

तिसृभिः स दशभिः, पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स एका-
दशभिः स एकषा स तिसृभिः ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

अथैतां प्रशंसति ।

ब्रह्मणो वा आयतनं प्रथमा क्षत्रस्य मध्यमा विश
उत्तमा यत्पञ्चदशिन्यौ पूर्वं भवतश्चतुर्दशोत्तमा ब्रह्मणि
चैव तत् क्षत्रे चौजो वीर्यं दधाति ब्रह्मणे चैव तत्क्ष-
त्राय च विशमनुगां करोति क्षत्रस्येवास्य प्रकाशो भ-
वति य एतया स्तुते ॥ २ ॥

तृचगतास्तिलः स्तोत्रीयाः क्रमेण ब्रह्मक्षत्रविशामायतनभूताः,
एवं सति तिसृष्वपि पर्यायेषु विष्टावगणनया पूर्वं प्रथममध्यमोत्तमे
स्तोत्रीये पञ्चदशिन्यो पञ्चदशसंख्योपेते भवतः । उत्तमा तृतीया चतु-
र्दशविष्टावगणनया चतुर्दशसंख्याका तत्तेनोक्तप्रकारेण ब्रह्मक्षत्रायतन
भूतयोरधिकसंख्यात्वात् ब्रह्मक्षत्रयोरेवौजो वीर्यं च दधाति । तत्तथा
ब्रह्मक्षत्रार्थं विशमनुगामनुगन्त्रीङ्करोति विशायतनाया उत्तमाया ही-
नसंख्यात्वादस्यां विष्टुतौ क्षत्रस्याधिक्याद्य एतया स्तुते तस्य
क्षत्रियजातेरिव कीर्तिर्भवति ॥ २ ॥

तां पुनः प्रशंसति—

अस्तोमा वा एते यच्छन्दोगा अयुजो हि स्तोमा
युग्मन्ति छन्दांसि यदेषा युजिनी चतुश्चत्वारिंश-
स्य विष्टुतिस्तेनास्तोमाः ॥ ३ ॥

छन्दोभिर्गायत्रीत्रिष्टुप्पूजगतीभिर्गीयन्त इति छन्दोगाश्चतुर्विंश-
दयः यद्य इमे छन्दोगा एते अस्तोमा वै स्तोमलक्षणरहिताः खलु । कथं ?
अयुजः अयुक्संख्या हि अन्ये प्रसिद्धाः त्रिवृदादयः स्तोमा उक्तानि
गायात्र्यादीनि छन्दांसि युग्मन्ति युक्संख्यावन्ति इति स्तोमलक्षण
राहित्यम् । एवमस्तोमवत्त्वे प्राप्ते समाधत्ते यस्मादेतेषां मध्ये चतुश्च-
त्वारिंशस्य स्तोमस्य विहितेषा विष्टुतिरयुजिनी अयुक्संख्योपेता
द्वयोः पर्याययोः पञ्चदशसंख्यायोगात् अतः स्तोमलक्षणसद्भावाच्चतु-
र्विंशतीनामपि स्तोमत्वं सिद्धम् ॥ ३ ॥

अथैतां पुनः प्रशंसति—

एषा वै प्रतिष्ठिता चतुश्चत्वारिंशस्य विष्टुतिः

प्रतितिष्ठति य एतया स्तुते ॥ ४ ॥

आद्यन्तयोः पर्याययोः पञ्चदशसंख्यासाम्यादस्याः प्रतितिष्ठितत्वम् ॥४॥
इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

अथास्यैव द्वितीया निर्म्मध्यारया विष्टुतिः—

चतुर्दशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स दशभिः स
एकया, पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः
स एकादशभिः, पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स एकादशभि-
स्त एकया स तिसृभिर्निर्मध्या ॥ १ ॥

अत्र प्रथमोत्तमे ऋचौ विष्टावे पञ्चदशिन्यौ मध्यमा चतुर्दशसंख्या-
केति हीनमध्यत्वाभिर्म्मध्या भवति ॥ १ ॥

अथैतां प्रशंसति—

अस्ति वा अयं लोकोस्तीवासौ छिद्रमिवेदमन्त-
रिचं यदेपा निर्म्मध्या भवतमानेव लोकाननु प्रजायते
प्रप्रजया प्रपशुभिर्जायते य एतया स्तुते ॥ २ ॥

अयं मूलोकोऽस्ति वा वै प्राणिनामाधयमृतः सन् स्पष्टमुपलभ्यमानो-
ऽपतिष्ठते, तथासौ शुलोकश्चास्ति वा ग्रहनक्षत्रादिभिः प्रकाशमानत्वात्,
उभयोर्मध्येवास्थितमिदमन्तरिक्षं छिद्रमिव सुपिरमिव निरात्मकं भव-
ति, एवं सति लोकत्रयानुगुण्येन स्थिताभिर्ऋग्मिरूपैर्देव्या निर्म्मध्या
भवतीति यत्तेन यजमानः इमानेव लोकाननु इमांस्त्रान् लोकाननु प्र-
जायते त्रिष्वपि लोकेषु समृद्धो भवतीत्यर्थः । उक्तस्यैव विवरणं प्रमेति ॥२॥
इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

अथ एकादशः खण्डः ।

पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकादशभिः
स एकया, पञ्चदशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः
स एकादशभिश्चतुर्दशभ्यो हिङ्करोति स दशभिः स एक-
या स तिसृभिः ॥ १ ॥

स्पष्टोर्थः ॥ १ ॥

अथोक्तानां तिसृणां विष्टुतीनां प्रयोगस्यानियमे प्राप्ते सवनत्रयमे-
देन व्यवस्थामाह—

आज्यानां प्रथमा पृष्ठानां द्वितीयोक्त्यानां तृतीया ॥ २ ॥

आज्यानां प्रातःसवनिकानां स्तोत्राणां प्रथमया विष्टुत्या चतुश्च-
त्वारिंशस्तोमकल्पतिः, पृष्ठानां पृष्ठस्तोत्राणां माध्यन्दिनगतानां चतु-
र्णां चतुश्चत्वारिंशस्य द्वितीया विष्टुतिः तथोक्त्यानां च । अत्रोक्त-
शब्दस्तृतीयसवनगतस्तोत्रोपलक्षणार्थः । तेनाग्निष्टोमसाम्येष्युकश-
ब्देन ग्रहणात् तत्सहितानां चतुर्णां स्तोत्राणां चतुश्चत्वारिंशस्य
तृतीया विष्टुतिः कार्य्या ॥ २ ॥

अथ प्रकारान्तरेणासां व्यवस्थामाह—

याज्यानां सा होतुर्य्या पृष्ठानां सा मैत्रावरुण-
स्य योक्त्यानां सा ब्राह्मणाच्छंसिनो यैव होतुः सा-
च्छावाकस्य या पृष्ठानां सा होतुर्योक्त्यानां सा मैत्राव-
रुणस्य याज्यानां सा ब्राह्मणाच्छंसिनो यैव होतुः
साच्छावाकस्य योक्त्यानां सा होतुर्य्याज्यानां सा
मैत्रावरुणस्य या पृष्ठानां सा ब्राह्मणाच्छंसिनो यैव
होतुः साच्छावाकस्य, सर्वा आज्येषु सर्वाः पृष्ठेषु सर्वा
उक्थेषु ॥ ३ ॥

या आज्यानामुक्ता प्रथमा विष्टुतिः सा होतुराज्यस्य कार्य्या य-
त्प्रथममाज्यस्तोत्रं तत् हि होता प्रयोगशास्त्रेणानुशंसति अतस्तत्सम्य-
न्यात्तदाज्यत्वम् । एवं मैत्रावरुणादीनामयानुशंसितत्वेन तत्स्तोत्र-
सम्यन्धः पृष्ठानां पृष्ठस्तोत्राणां या द्वितीया विहिता सा मैत्रावरुणस्या-
ज्यस्य कार्य्या योक्त्यानां विहिता तृतीया विष्टुतिः सा ब्राह्मणाच्छं-
सिन आज्यस्य कार्य्या यैव होतुराज्यस्य प्रथमा विष्टुतिः साच्छा-
वाकस्य कार्य्या, एवं सर्वा अपि विष्टुतयः प्रातःसवने उपयुक्ताः, तथा
माध्यन्दिनसवनेऽपि या पृष्ठानां विष्टुतिर्द्वितीया सा होतुः पृष्ठस्य का-
र्य्या, योक्त्यानां विहिता तृतीया सा मैत्रावरुणस्य पृष्ठे कार्य्या, आज्या-
नां विहिता प्रथमा सा ब्राह्मणाच्छंसिनः पृष्ठे कार्य्या, यैव होतुः पृष्ठे द्वि-
तीया साच्छावाकस्य पृष्ठे कार्य्या, एवं माध्यन्दिनसवनेऽपि सर्वाविष्टु-
तयः प्रविष्टाः । योक्त्यानां विहिता प्रथमा सा ब्राह्मणाच्छंसिनः पृष्ठे का-

र्या, यैव होतुः पृष्ठे द्वितीया साञ्छावाकस्य पृष्ठे कार्य्या एवं माध्यान्दि-
नसवनेऽपि सर्वा विष्टुतयः प्रविष्टाः । योक्थानां विहिता तृतीया विष्टु-
तिः सा होतुरग्निष्टोमस्य सास्नः कार्य्या, आज्यानां विहिता या प्रथ-
मा सा मैत्रावरुणस्योक्थे कार्य्या, या पृष्ठानां विहिता द्वितीया सा
ब्राह्मणाच्छंसिन उक्थे कार्य्या, यैव होतुरुक्थस्य विहिता साञ्छावाक-
स्योक्थे कार्य्या, एवं तृतीये सवने सर्वाः प्रविष्टाः । एवं व्यतिपङ्के स-
ति सर्वा विष्टुतयः आज्येषु सर्वाः पृष्ठेषु सर्वाश्चोक्थेषु विनियुक्ता
भवन्ति ॥ ३ ॥

उक्थव्यवस्थां प्रशंसति—

पशवो वै समीपन्ती यदेवा सर्वाणि सवनान्यनुस-
ञ्चरत्यनुसवनमेवैनं पशुभिः समर्द्धयति पशुमान् भव-
ति य एतया स्तुते ॥ ४ ॥

समीपन्ती समित्येकीभावे सवनत्रयेऽप्येकीभूय ईषति गच्छतीति
समीपन्ती एवा विष्टुतिः पशवो वै पशुहेतुत्वात् । सा एवा सर्वाणि
सवनान्यनु सर्वेषु सवनेषु सञ्चरतीति यत्तेन एनं यजमानं अनुसवनं
सवन एव पशुभिः समृद्धीकरोति, यश्चैतया स्तुते सोऽपि पशुमान्
भवतीति ॥ ४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य एकादशः खण्डः ।

अथ द्वादशः खण्डः ।

अथाष्टाचत्वारिंशस्य द्वे विष्टुती तयोः प्रथमामाह—

षोडशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स द्वादशभिः
स एकया षोडशभ्यो हिङ्करोति स एकया स तिसृभिः
स द्वादशभिः, षोडशभ्यो हिङ्करोति स द्वादशभिः स
एकया स तिसृभिः ॥ १ ॥

स्पष्टार्थः ॥ १ ॥

अथैतां प्रशंसति—

अन्तो वा अष्टाचत्वारिंशः पशवश्छन्दोगा यत्
षोडशभ्यः षोडशभ्यो हिङ्करोति षोडशकलाः पशवः
कलाशस्तत् पशूनाप्नोति ॥ २ ॥

योऽयमष्टाचत्वारिंशस्तोमः असावन्तो वै अत उक्ते स्तोमान्तर-
स्यानुकृत्वात् त्रिवृदादीनामवसानभूतः खलु, पशुसाधनत्वात् छन्दो-
गाश्च पशवः, ते च पशवः षोडशकलाः अष्टौ शफाश्चत्वारः पादाः
शिरो ग्रीवा आत्मा पुच्छमिति । एवं सति त्रिष्वपि पर्यायेषु यत्
षोडशभ्यः षोडशभ्यो हिङ्करोति तत्तेन कलाशः अवयवश एव पशुन-
न्ततः प्राप्नोति ॥ २ ॥

प्रकारान्तरेण स्तौति—

द्वादशभिर्विहितैका परिचरा द्वादशमासास्मम्ब-
त्सरो यजमानः परिचरा यद्वादशभिर्विदधात्येका परि-
चरा भवति यजमानमेव तदन्ततस्सम्बत्सरे पशुषु प्र-
तिष्ठापयत्येषा वै प्रतिष्ठिताऽष्टाचत्वारिंशस्य वि-
ष्टुतिः प्रतितिष्ठति य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

त्रिषु पर्यायेष्वावापस्थानगताभिर्द्वादशभिः स्तोत्रीयाभिरेषा विष्टु-
तिर्विशेषतो विहिता, तृचमागयोस्त्रिर्वचनं परिचराया एकत्वञ्च न्या-
यतः प्राप्तम् । सम्बत्सरेश्च द्वादशमासान्मकः परिचरा यजमानस्थानी-
याः । एवं सति द्वादशभिः स्तोत्रीयामिरावापस्थानगताभिरिमां विष्टु-
तिं विदधाति परिचरा चैका भवतीति यत्तेनान्ततः स्तोमानामवसाने
यजमानमेव सम्बत्सरे पशुषु प्रतिष्ठापयति । समपर्यायत्वादेव खलु
विष्टुतिः प्रतिष्ठिताऽष्टाचत्वारिंशस्य, अतो य एतया स्तुते स प्रति-
तिष्ठति ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

अथ त्रयोदशः खण्डः ।

अथान्यां विष्टुतिं दर्शयति—

षोडशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स दशभिस्स-
तिसृभिः, षोडशभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स तिसृ-
भिः स दशभिः, षोडशभ्यो हिङ्करोति स दशभिः स
तिसृभिः स तिसृभिर्ब्रह्मदीयःसंक्रमा ॥ १ ॥

पर्यायात्पर्यायान्तरं संक्रामन्ती समानसंख्यास्वेव संक्रमणाग्ने-
दीयःसंक्रमैषा ॥ १ ॥

अथैतां स्तौति—

अन्तो वा अष्टाचत्वारिंशो यथा महावृक्षस्या-
ग्रं सृष्ट्वा नेदीयःसंक्रमात् संक्रामत्येवमेतन्नेदीयःसं-
क्रमया नेदीयःसंक्रमात् संक्रामति ॥ २ ॥

अथस्त्रिंशस्य नेदीयःसंक्रामार्थवादवदिदमपि व्याख्येयम् ॥ २ ॥
प्रकारान्तरेण स्तौति—

दशभिर्विहिता तिस्रः परिचरा दशाक्षरा विराडे-
तावान् पुरुषो यदात्मा प्रजा जाया यद्दशभिर्विदधाति
तिस्रः परिचरा भवन्ति यजमानमेव तत् विराज्यन्नाद्ये-
ऽन्ततः प्रतिष्ठापयत्यन्नादो भवति य एतया स्तुते ॥ ३ ॥

यथा विष्टुतिर्दशभिरावापस्यातगताभिः स्तोत्रीयाभिर्विहिता
तिस्रः परिचराः परिचरस्थाने तिस्रो भवन्तीत्यर्थः । अन्नाद्यरूपा वि-
राडपि प्रतिपादं दशाक्षरा, आत्मा प्रजा पुत्रपौत्रादिरूपा जाया चेति य-
देतस्त्रितयमस्ति एतावान् हि पुरुष एवं सति आवापस्याने यद्दश-
भिर्विदधातीमां विष्टुतिं तिस्रः परिचरा भवन्ति तत्तेन प्रजया जायया
च सहितं यजमानमेवान्नाद्ये अन्नाद्यरूपे विराजि अन्ततः स्तोमसमाप्तिं
प्रतिष्ठापयति स्तोता, अतो य एतया स्तुते सोऽन्नादो भवति अद-
नीयाश्चवाहुल्योपेतो भवति ॥ ३ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्हं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्धमहेदवरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकपुङ्गवभूपाल-

साम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये

सामवेदार्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे तृतीयाध्या-

यस्य अयोदशः खण्डः ।

इति तृतीयाध्यायः समाप्तिमगमत् ।

अथ चतुर्थाध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

स्तोमानां दशरात्रस्य प्रोक्ता विष्टुतयः क्रमात् ।

गवामयनिकानां च ता एवेत्यवगम्यते ॥ २ ॥

शतानि त्राणि षष्टिश्च विपुवांश्च चतुर्थकम् ।

प्रोक्तानि गव्यसत्रस्य स्तुत्यहानि क्रमादिह ॥

तानि सङ्गृह्य वक्ष्यन्ते बुद्धिभ्युत्पत्तिसिद्धये ॥ ३ ॥

द्विविधं गवामयनं दशमाससाध्यं द्वादशमाससाध्यञ्च तस्य द्वा-
दशमासनिर्वर्त्यस्य प्रायणीयोऽतिरात्रः प्रथममहस्ततश्चतुर्विंश उक्थ
आरम्भणीयः ते उमे अहनी अनुष्ठाय ज्योतिर्गौरायुर्गौरायुर्ज्योतिरि-
त्यामिप्लविकः पडहः स चतुर्वारमावर्त्तनीयः ततस्त्रिवृदादिसोमपट्ट-
कसाध्यः पृष्ठयः पडहः एवं पञ्चभिः पडहैरेको मासः पूर्यते एत-
स्यैवावर्त्तनेन पञ्च मासाः सम्पाद्यास्तत्र षष्ठे मासादौ त्रयोमिप्लवाः
पडहाः कार्य्याः । तत एकः पृष्ठयः पडहः ततोभिजिदेकमहः त्रयः
स्वरसामानः इत्येवमष्टाविंशत्यहानि आद्याभ्यां प्रायणीयचतुर्विंश
भ्यां षष्ठमासपूरणम् । इत्थं पूर्वपक्षे अशीत्युत्तरशतं संख्यान्यहानि सम्प-
न्नानि ततो विपुवमेकमहः तदस्य सत्रस्य प्रधानभूतम् सप्तमे मासा-
दौ त्रयः स्वरसामानः प्रतिलोमाः कार्य्याः ततो विश्वजिदावृत्तः पृष्ठयः
पडहस्त्रयस्त्रिंशारम्भस्त्रिवृदुत्तमः ततस्त्रयोमिप्लवाः पडहा आवृत्ताः
एवमष्टाविंशत्यहानि स्युः । अस्य च मासस्य महाव्रतातिरात्रौ च ततो
अभिधास्यमानः पूरकः स सप्तमो मासः ततः पृष्ठयः पडहः पूर्वकैश्च-
तुर्मिरामिप्लविकैः प्रतिलोमक्रमेणानुष्ठितैरष्टमो मासः स एवावृत्त्या न-
वमदशमैकादशा अपि सम्पाद्याः द्वादशमासस्यादौ त्रयोमिप्लवाः पडहाः
ततो गौरायुषो द्वे अहनी द्वादशाहस्य दशाहानि चेति त्रिदशाहानि
स द्वादशो मासः ततो महाव्रतमुपान्त्यमहः तेन उदयनोपोतिरात्र
इत्यपि सप्तममासस्य पूरकाविति । तदेतद्गवामयनसत्रमभिधास्यन्
तन्नामनिर्वचनप्रदर्शनापादावाख्यापिकामाह—

गावो वा एतत् सत्रमासत तासां दशसु मास्तु
शृङ्गाण्यजायन्त ता अद्भुवन्नराः स्मोत्तिष्ठामोपशा नोऽज्ञ-

तेति ता उदतिष्ठन् ॥ १ ॥

पुरा खलु गावः एतस्सम्बत्सरसत्रमासत अन्वतिष्ठन् 'असिचोदना अपायचोदना च तत्र लिङ्ग'मिति मीमांसकाः, अत्रासिरूपपूर्वतिथे चानुष्ठाने ये वर्त्तन्ते अत इति तदङ्गरनुष्ठितं अत इदं गवामयनमित्याचक्षते । तासां सत्रस्थितानां मध्ये कासाञ्चिद्गवां दशसु माःसु मासेषु 'यदन्ते मासि' इत्यादिना मासशब्दस्य माःसुभावः । तेष्वनुष्ठितेषु शृङ्गाण्यजायन्त ता जातशृङ्गा अश्रुवन् परस्परमुक्तयत्यः किमिति अराःस्म अमृद्धा अभूम अतो वयमुत्तिष्ठाम सत्रं समापाम । अराःस्मेति यदुक्तं ताद् व्याचष्टे उपशाः अमितः शिरः प्रदेशमुपेत्याशेरन्ते इत्योपशाः शृङ्गाणि तानि नोऽस्माकं अहत जातान्यभूयन्निति सम्बन्धः । अश्नेतेति जनीप्रादुर्मांथ इत्यस्मात् लुङि बहुवचने 'मन्त्रे घस्ते'त्यादिना च्लेळुंकि 'गमहनजने'त्युपधालोपे रूपम्, एवमुक्त्वा ता गावः सत्रादुदतिष्ठन् । ता एवं दशमिमांसैः फलप्राप्तेर्दशमासनिर्व्वर्त्त्यनपि गवामयनमस्तीत्युक्तं भवति ॥ १ ॥

अथ द्वादशमासनिर्व्वर्त्त्यमप्यस्तीति दर्शयति—

तासान्त्वेवावुन्नासामहा एवेमौ द्वादशौ मासौ स-
ंस्म्वत्सरमापयामेति तासान्द्वादशसु माःसु शृङ्गा-
णि प्रावर्त्तन्त ताः सर्वमन्नाद्यमाप्नुवन्ता एनास्तृपरा-
स्तस्मात्ताः सर्वान्द्वादशमासः प्रेरते सर्वं हि ता अ-
न्नाद्यमाप्नुवन् ॥ २ ॥

तुशब्दो धैलक्षण्याद्योतनार्थः, तासामेव गवां मध्ये काञ्चिदश्रुवन् किमित्युच्यते, यौ द्वादशौ द्वादशसंख्यापूरकावेव शिष्टावेकादशद्वादशौ मासौ इमौ आसामहा एवं अनुष्ठायैवं अनुष्ठाय प्रारब्धं संवत्सरसाध्यं समापयामेति 'व्यवहितश्चेति' समित्यस्य व्यवहितेन सम्बन्धः, तासां गवां जातानि शृङ्गाणि द्वादशसु माःसु मासेषु पूर्णेषु प्रावर्त्तन्त प्रापयत् दशमिमांसैः शृङ्गप्राप्तिलक्षणफले सिद्धेऽपि पुनरश्रुयया यतो मासद्वयमन्वतिष्ठन् अतो जातानामपि शृङ्गाणां पुनः पतनमित्यभिप्रायः, तथा चैतरेयकं—'अथ समापयिष्यामः सम्बत्सरमित्यासत तासामश्रुयया शृङ्गाणि प्रावर्त्तन्ते'ति । एतास्तृपरा इति ताः पतितशृङ्गा गावः सर्वर्तुभयमन्नाद्यमदनीयमन्नं प्राप्नुवन् ता गावस्तृपरा शृङ्गहीना दृश्यन्ते तस्मात्ताः सर्वान् द्वादशमासे मासान् प्रेरते प्रगच्छन्ति । ईर गतौ, शीतिवातातपेषु सर्वदा पुष्टाङ्गा एव यथायथं गच्छ-

न्ति शुद्धिण्यो 'महिष्पादयस्तु कृशा भवन्ति, तस्मादित्युक्तं कस्मादि
त्याह हि यस्मात्ता गावः सर्वमन्नाद्यमाप्नुवन् तस्मात् सर्ववर्तुषु पुष्टा
क्का भवन्ति तथा चैतरेयकं—'ऊर्द्ध्वत्वमसमन्वत तस्मादुता सर्वभूता-
न्तस्मुत्तिष्ठन्ति' इति ॥ २ ॥

उक्तार्थं जानतः फलमाह—

सर्वमन्नाद्यमाप्नोति य एवं वेद ॥ ३ ॥

स्पष्टोर्थः ॥ ३ ॥

तदेवं दशमासनिर्व्वर्त्य द्वादशमासनिर्व्वर्त्य चेति द्विविधं गवाम-
यनं प्रतिपादितं तयोर्ज्योतिष्टोमदर्शपूर्णमासादिष्वदेतेत्काम एतत्कुर्व्या-
दिति कामफलसम्बन्धफलविशेषश्रवणाद्विद्वज्जिन्यायेनात्यन्ताश्रुत-
स्य स्वर्गस्य कल्पनाया अन्यायत्वाद्वात्रिसत्रन्यायेनार्थवादिकस्य समृ-
द्धिफलस्य वाक्यशेषे श्रुतत्वादश्रुतत्वाच्च्युतङ्करीय इति समृद्धिका-
मा एतत्सत्रमासीरन्निति विधिरुपेतव्यः । तैत्तिरीयके समृद्धिफलक-
त्वं स्पष्टमाप्नातम्—'य एवं विद्वान् सम्यत्सरमुपयन्त्याप्नुवन्त्येवे'ति ॥ ३ ॥

अथास्य सत्रस्य पूर्वोक्तान्यहानि क्रमेण विधास्यन् अतिरात्रसंस्थं
प्रथममहर्विधातुमाख्यायिकामाह—

प्रजापतिर्या इदमेक आसीत् सोऽकामयत बहु
स्यां प्रजायेयेति स एतमतिरात्रमपश्यत्तमाहरत्तेनाहो-
रात्रे प्राजनयत् ॥ ४ ॥

यदिदं दृश्यमानं जगत् सृष्टेः पूर्वं प्रजापतिरेक एवासीत् प्रलयाव-
स्थायामव्याकृते कारणकार्त्तप्रपञ्चस्य लीनत्वात् सृष्टौ हिरण्यगर्भ एक
एवासीदित्यर्थः । स एकलः प्रजापतिरकामयत कामनामकरोत् किमि-
ति बहुस्रष्टव्यगिरिन्दिसमुद्रादिभेदेनानेकविधः स्यां भवेयम्, तदर्थ-
महं प्रजायेय अहमेव कार्येण रूपेण परिणतो भवेयमिति । स एवं का-
मयमानः प्रजापतिः सृष्ट्युपायत्वेन एतं गवामयनस्याद्यमतिरात्रम-
पश्यत् दृष्टवान् दृष्ट्वा च तमाहरत् तदन्वतिष्ठत् तेनानुष्ठितेनाहोरात्रे
अहश्च रात्रि च प्राजनयत् उदयादयत् सर्वकारणभूतः प्रजापतिः अहो-
रात्रप्रमुखं कृत्स्नं जगत् यज्ञरूपेणैव साधनेन ससर्जति सद्ब्रह्मार्थः ॥ ४ ॥

अपेदानीन्तनमतिरात्रम्विधत्ते—

यदेपोऽतिरात्रो भवत्यहोरात्रे एव प्रजनयन्त्यहो-
रात्रयोः प्रतितिष्ठन्त्येतावान्वाव सम्बसरो यदहश्च रा-
त्रिश्चाहोरात्राभ्यामेव तत्सम्बत्सरमाप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

एषः प्रजापतिना दृष्टोऽतिरात्रः गवामयनस्य प्रथममहर्भवतीति यत् तेन सत्राननुतिष्ठन्तो यजमाना अहोरात्रे एव प्रजनयन्ति उत्पादयन्ति स्वार्घ्येने कुर्वन्तीत्यर्थः । तथा सति तयोः स्वार्घ्ययोः प्रति-
तिष्ठन्ति प्रतिष्ठिता भवन्ति । तत्र यद्यपि यहृत्तयागोसिद्धवदनुवादता प्रतिभाति तथापि यद्वाग्नेयोष्टाकपाल इतिवदप्राप्तत्वादतिरात्रस्य वि-
धेयता द्रष्टव्या । न केवलमहोरात्रयोः प्रतिष्ठा किन्तु तत्सम्पाद्यात्मकं प्रतिष्ठितं सम्बत्सरमपि प्राप्नुवन्तीत्याह एतावानित्यादिना ॥ ५ ॥

अथैनमतिरात्रमवयुज्य प्रशंसति—

यज्ज्योतिष्टोमो भवति यज्ञमुखन्तदृध्नुवन्ति यदुक्थो

यज्ञकतोरनन्तरयाय यद्रात्रिः सर्वस्याप्त्यै ॥ ६ ॥

अथ षोडशिकोऽयमतिरात्र इत्युक्त, फलसो ज्योतिष्टोमोतिरात्रः स षोडशिक इति । अथ तद्यतिरिकाभिस्तिष्ठभिः संस्थाभिरवयुज्य स्तूयते । यद्यपि सर्वेषामपि ज्योतिष्टोमत्वमस्ति तथापि उक्थातिरात्र-
संस्थयोः पृथक् वक्ष्यमाणत्वात् अग्निष्टोमसंस्थैव ज्योतिष्टोमशब्देन उच्यते । ज्योतींषि त्रिवृदादयः स्तोमा यस्य स ज्योतिष्टोमः । तथा च तैत्तिरीयकं—‘त्रिवृत्पञ्चदश सप्तदश एकविंश एतानि ज्योतींषि यत् एतस्य स्तोमाः, इति । यज्ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोमो द्वादशस्तोत्रात्म-
को भवति ज्योतिष्टोमस्य हि अग्निष्टोमसंस्था मुत्तया ‘एष वाच प्रथ-
मो यज्ञानामिति’ श्रुतेः । तच्चेन यज्ञमुखं यज्ञानां मुखभूतमग्निष्टोमं प्रा-
प्य ‘आधुं वन्ति’ सत्रिणः समृद्धा भवन्ति । तथा तस्मिन्नतिरात्रे उक्थः पञ्चदशस्तुतशस्त्रसाध्यः क्रतुरन्तर्भवतीति यत् तत् यज्ञकतोः
सम्पूर्णस्य यज्ञस्य अनन्तरयाय अपरित्यागाय भवति । उक्थसंस्थायां हि क्रतुः सम्पूर्णो भवति यथा पूर्वयोः सवनयोः पञ्चदश पञ्चदश स्तो-
त्राणि तथा तृतीयेऽपि स्तोत्रपञ्चकसद्भावात् । अग्निष्टोमस्त्वसंपूर्णः क्रतुः उक्तहेतोरभावात् । अपि च त्रिष्वपि सवनेषु प्रस्थिता याज्या-
देवताः शस्त्रैः प्रशस्यन्ते यथा हि प्रातःसवने मैत्रावरुणस्य प्रस्थित-
याज्या देवता मित्रावरुणौ शस्त्रेऽपि तावेव प्रशस्येते । ब्राह्मणाच्छासिन
इन्द्रप्रस्थितयाज्या देवता सैव तदीयशस्त्रेण स्तूयते तथा माध्यन्दिन-
सवनस्य सर्वेन्द्रत्वात् प्रस्थितयाज्यासु शस्त्राणि चेन्द्राण्येव तथा तृती-
यसवने मैत्रावरुणस्येन्द्रावरुणा मुत्तया इति । ऐन्द्रावरुणौ प्रस्थित-
याज्या इन्द्रश्च सोमं पिबन्तं बृहस्पतिः ऐन्द्रावार्हस्पत्या ब्राह्मणाच्छा-
सिनः प्रस्थितयाज्या इन्द्राविष्णवपि पिबतमित्यच्छावाकस्य चन्द्रा

वैष्णवी । यदि तृतीयसवन एतदेवत्यानि शस्त्राणि न शस्येरन् प्रस्थितयाज्यादेवतास्तुत्यभावेन क्रतुरपूर्णः स्यात् । उक्त्येषु च प्रथमशस्त्रं मैत्रावरुणं द्वितीयमैन्द्राबाह्वृक्षं तृतीयमैन्द्रावैष्णवं एतेषु तृतीयसवने सवनान्तरवत् प्रस्थितयाज्यदेवतानां प्रशंसा जातेति यज्ञक्रतुः सम्पूर्णो भवति । इत्थमन्तर्भूतेन संख्याद्वयेन प्रशस्तविहितया अतिरात्र-संख्ययापि प्रशंसति यदित्यादिना । अत्र रात्रिशब्देन त्रयः पर्यायाः सन्धिः स्तोत्रं तच्छस्त्राणि च लक्ष्यन्ते । रात्रिर्मवतीति यत्तत् सर्वेषां स्तुतशस्त्राणां परिगृहीतत्वात् सर्वस्य सम्पूर्णस्य यज्ञस्य प्राप्त्यै भवति । न च यदेषोऽतिरात्रो भवतीति च यज्ज्योतिष्टोमो भवति यदुक्त्यो भवति यद्रात्रिरित्यादिवाक्यत्रयेण पृथक् पृथक् कर्मविधिरिति मन्तव्यम् । वैश्वानरं द्वादशकपालन्निर्यपेत् पुत्रे जात इति विहितायां जात्येष्ट्यां यदष्टाकपालो भवति यन्नवकपालो भवतीत्यादिवद्युक्तानुवादत्वेन स्तुतिपरत्वात् ॥ ६ ॥

क्रमप्राप्तस्य चतुर्विंशस्य बहुवक्तव्यसद्भावात्पृथग्वहुकामः इदानीमभिप्लवपृष्ठयोरह्नां संप्रहेण क्लृप्तिमभिदधान आदावभिप्लविकपूर्वं इयं विधातुं प्रस्तौति—

स एतान् स्तोमानपश्यत् ज्योतिर्गौरायुरिति मे वै लोका एते स्तोमा अयमेव ज्योतिरयम्मध्यमो गौरसामुत्तम आयुः ॥ ७ ॥

स. पूर्वोक्तः प्रजापतिः एतान् स्तोमान् स च स्तोमशब्देन त्रिवृदादिस्तोमवन्त्यहानि लक्ष्यन्ते । तानि ज्योतिर्गौरायुरिति एतन्नामकान्यपश्यत् । तत्र ज्योतिरग्निष्टोमसंस्थः गौरायुषो उक्त्यसंस्थे ज्योतिष इयं स्तोमक्लृप्तिः । त्रिवृद्बहिष्पवमानं पञ्चदशान्याज्यानि पञ्चदशो माध्यन्दिनः पवमानः सप्तदशानि पृष्ठानि सप्तदश आर्भेव एकविंशोऽग्निष्टोमसामेति । अथ गोष्टोमस्य पञ्चदशो बहिष्पवमानः त्रिवृदाज्यानि सप्तदशमध्यान्दिनं सवनमेकविंशं तृतीयसवनम् । अथायुष्टोमस्य त्रिवृद्बहिष्पवमानं पञ्चदशान्याज्यानि सप्तदशमध्यान्दिनं सवनमेकविंशं तृतीयसवनमिति । एते उक्ता स्तोमा इमे लोका वै भूरादिकाः खलु कः कतमो लोक इति बुभुत्सयामाह अयमेव लोको ज्योतिः अयम्मध्यमो अन्तरिक्षलोको वै असावुत्तमस्तुनीयः स्वर्लोक आयुः स्तोमत्रयस्य लोकत्रयेण सह संख्यासाम्यात् तत्शब्दता एतैः त्रिभिः स्तोमैः साधनैस्त्रीन् लोकान् प्राजनयदिति शेषः ॥ ७ ॥

अथैतान् विधत्ते—

यदेते स्तोमा भवन्तीमानेष लोकान् प्रजनयन्त्येषु
लोकेषु प्रतितिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

यदेषोऽतिरात्रो भवतीति वाक्यवदेतस्सर्वं व्याख्येयम् ॥ ८ ॥

अभिप्लवपडहस्योत्तरं व्यहं विधातुमाह—

स एतन्व्यहं पुनः प्रायुङ्क्त तेन पडहेन पट्-
क्तून् प्राजनयत् ॥ ९ ॥

स प्रजापतिरेतं पूर्वोक्तं व्यहं पुनः प्रयुङ्क्तवान् । गौरायुज्योति-
रिति क्रमोऽत्रावगन्तव्यः । तथा चापस्तंबः 'ज्योतिष्टोममग्निष्टोमं
रथन्तरसामानङ्गामुक्थं बृहत्सामानमायुपमुक्थं रथन्तरसामानं ज्यो-
तिष्टोमं बृहत्सामानमिति' । तेन पडहेन पट् क्तून् वसन्तादीन् प्राज-
नयत् सृष्टवान् ॥ ९ ॥

अथार्धवादानुगुण्याय पूर्वविहितेन व्यहेन संयुज्य इममुत्तरं
व्यहं विधत्ते—

यदेष पडहो भवति ऋतूनेव प्रजनयन्ति ऋतु-
षु प्रतितिष्ठन्ति ॥ १० ॥

स्पष्टार्थः ॥ १० ॥

अथ द्वितीयं पडहं विधातुमाह—

स एतं पडहं पुनः प्रायुङ्क्त ताभ्यां द्वाभ्यां
पडहाभ्यां द्वादशमासः प्राजनयत् ॥ ११ ॥

पूर्वप्रयुक्तमेव पडहं पुनरोप प्रयुक्तवान् तैर्मिलितैर्द्वादशभिरहोमि-
द्वादशमासो मासान् प्राजनयत् ॥ ११ ॥

पूर्ववदर्थवादानुगुण्याय विहितेन पडहेन सह द्वितीयं पडहं
समुच्चित्य विधत्ते—

यदेतौ द्वौ पडहौ भवतौ मासानेव प्रजनयन्ति
मासेषु प्रतितिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ १२ ॥

तृतीयचतुर्थौ पडहौ विधातुमाह—

स एतौ द्वौ पडहौ पुनः प्रायुङ्क्त तैश्चतुर्भिः पडहैश्च-
तुर्विंशतिमर्द्धमासान् प्राजनयत् ॥ १३ ॥

एतौ पूर्वप्रयुक्तावेव पडहौ पुनः प्रयुक्तवान् तदेव प्रयुक्तैश्चतुर्भिः
पडहैश्चतुर्विंशतिसंख्यान्यहानि सम्पन्नानि । तैश्च तत्संख्याकान्
अर्द्धमासान् प्रजापतिः सृष्टवान् ॥ १३ ॥

अथ पूर्ववद्विहितेन पडहद्वयेन सह अर्धवादानुगुण्याय इमं तृती-
यचतुःपडहद्वयं विधत्ते—

यदेते चत्वारः पडहा भवन्त्यर्द्धमासानेव प्राजनय-
न्त्यर्द्धमासेषु प्रतितिष्ठन्ति ॥ १४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १४ ॥

इत्थं पडहचतुष्कं विधाय पञ्चमपष्टपडहं विधातुमाह—

स इदं भुवनं प्रजनयित्वा पृथ्व्येन पडहेन वीर्यमा-
त्मन्यधत्त ॥ १५ ॥

स प्रजापतिः इदमहोरात्रादिरूपं भुवनं सर्वं जगत् प्रकर्षणोत्पाद्य
निर्वीर्यः सन् प्रयुक्तेन पृथ्व्येन पडहेन त्रिवृदादिस्तोमकेन वीर्यं
सृष्टस्य जगतो मागरक्षणाद्यर्थं सामर्थ्यमात्मनि स्वस्मिन्नधत्त
पुनर्धृतवान् ॥ १५ ॥

तमिमं पृथ्व्यपडहं विधत्ते—

यदेप पृथ्व्यः पडहो भवति वीर्यं एवान्ततः प्रति-
तिष्ठन्ति ॥ १६ ॥

यस्मात्प्रजापतिरिमं पडहं वीर्यधारणार्थं प्रयुक्तवान् तमादिमं
पडहं प्रयुज्जानां सत्रिणः अन्ततो मासावसाने वीर्यं एव प्रतिष्ठिता
मयन्तीत्युक्तम् । इत्थमनुष्ठितपडहपञ्चकात्मकेन मासेन तत्सङ्ख्यात्मकं
संवत्सरं प्रजापतिः सृष्टवान् । सत्रिणोऽपि पडहपञ्चकानुष्ठानेन मा-
सद्वारा संवत्सरमेव स्वभोगसाधनमुत्पादयन्ति तस्मिन्श्च प्रतिष्ठिता
भवन्ति इति ॥ १६ ॥

तस्य स्तुतिः—

तेन मासान् सव्वत्सरं प्राजनयद्यदेपमासो भवति
सव्वत्सरमेव प्रजनयन्ति सव्वत्सरे प्रतितिष्ठन्ति ॥ १७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १७ ॥

इति ताण्ड्यमहोपासने चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

प्रायणीयातिरात्रानन्तरमनुष्ठेयं चतुर्विंशमन्याद्वितीयमहः बहुवक्त-
व्यत्वेन पञ्चाद्विधास्यत इति यदवादि अतस्तदहर्विदधाति—

प्रायणीयमेतदहर्भवति ॥ १ ॥

एतद्वक्ष्यमाणमहः प्रायणीयं प्रकर्षेण यन्ति गच्छन्ति स्वर्गमनेनेति
व्युत्पत्तिः । एतत्संज्ञकं गवामयनस्य द्वितीयमहर्नुष्ठेयं भवति । यद्यपि
श्रुत्यन्तरे प्रथमविहितस्यातिरात्रस्यैव प्रायणीय इति सज्ञा प्रसिद्धा त-
थापि प्रथमोत्तमयोरतिरात्रयोः सर्वत्र साधारणत्वादस्यैवाहो गवामयने
असाधारणं प्राथम्यमिति कृत्वा एतदादिकङ्गवामयनस्वरूपमित्यस्मिन्
द्वितीयेऽहनि प्रायणीयशब्देऽत्र प्रयुज्यते ॥ १ ॥

उक्तमहर्नामनिर्धेयनद्वारा प्रशंसति—

प्रायणीयेन वा अह्ना देवाः स्वर्गं लोकं प्रायन्यत्
प्रायणं स्तत्प्रायणीयस्य प्रायणीयत्वम् ॥ २ ॥

पुरा देवाः प्रायणीयेन प्रायणीयाख्येन खल्वह्ना स्वर्गं लोकं प्रायन्
प्राप्ताः यद्यस्मात्प्रायन् स्वर्गं प्रागमन् तस्मादस्याह्ना प्रायणीयत्वं प्राय-
णीयसाधनत्वात्प्रायणीयमिति नाम सम्पन्नम् ॥ २ ॥

अथैतस्याह उक्तरूपेण प्रशस्तत्वात् सन्निभिरस्मिन्नहनि अथप्य-
मृत्विग्निर्भाष्यमित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामाह—

तस्मात्प्रायणीयस्याह ऋत्विजा भवितव्यमेतद्धि
स्वर्गस्य लोकस्य नेदिष्ठं य एतस्यत्विङ्गन भवति हीयते
स्वर्गाह्लोकात् ॥ ३ ॥

यस्मादेतदहः स्वर्गप्राप्तिसाधनं तस्मादस्याहः प्रयोगाय ऋत्विजा
जातावेकवचनमृत्विग्निर्भवितव्यं, एतत् खलु द्वितीयमहः स्वर्गलोकस्य
नेदिष्ठमन्तिकतम, साक्षात्प्राप्तिसाधनत्वात् । अतो य एतस्यत्विङ्ग-
न भवति आत्विज्यन्न करोति स स्वर्गाह्लोकात् हीयते हीनो वियुक्तो
भवति ॥ ३ ॥

अथैतस्मिन्नहनि स्तोमं विधत्ते—

चतुर्विंशं भवति ॥ ४ ॥

इदमहर्कथसंस्थन्तत्र सर्वेषु स्तोत्रेषु चतुर्विंश एव स्तोमः
कार्यः ॥ ४ ॥

तदेतत् प्रशंसति—

चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री तेजो ब्रह्मवर्चसङ्गायत्री
तेज एव ब्रह्मवर्चसमारभ्य प्रयन्ति ॥ ५ ॥

अथञ्च स्तोमश्चतुर्विंशतिसंख्याकः गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा
सा च गायत्री तेजः प्रजापनिमुखादग्निना सहोत्पन्नत्वात् अस्यास्तेजो
रूपं ब्रह्मवर्चसं च तेजोऽवान्तरमेदइति तेजोब्रह्मवर्चसरूपा गायत्री एवं
सति चतुर्विंशतिस्तोममतः प्रयुज्जानाः साक्षादेव प्रत्यक्षमेव संवत्सरं
प्रारभन्ते अस्मिन्नहनि प्रयुज्जानाः संख्याद्वारेण तेजो ब्रह्मवर्चसञ्चारभ्य
अवष्टभ्य स्वय्यन्ति स्वर्गं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

पुनरपि विहितं स्तोममनूय प्रशंसति—

चतुर्विंशं भवति चतुर्विंशो वै संवत्सरः साक्षा-
देव संवत्सरमारभन्ते ॥ ६ ॥

चतुर्विंशत्यर्द्धमासात्मकत्वात् संवत्सरस्य चतुर्विंशत्वं तथा सति
चतुर्विंशस्तोमं प्रथमतः प्रयुज्जानाः साक्षादेव प्रत्यक्षमेव संवत्सरमा-
रभन्ते ॥ ६ ॥

अधेमं स्तोमं स्तोत्रीयागतसंख्याद्वारेण प्रशंसति—

यावत्पञ्चतुर्विंशस्योक्तस्य स्तोत्रीयास्तावत्पः स-
ंवत्सरस्य रात्रयः स्तोत्रीयाभिरेव तत् संवत्सरमाप्नु-
वन्ति ॥ ७ ॥

पञ्चदशस्तोत्रे अस्मिन्नहनि पञ्चदशस्तोत्रेषु प्रत्येकं चतुर्विंशस्तो-
त्रीयायुक्तेषु परिगणनायां मिलित्वा पञ्च्युत्तरार्धशस्तोत्रीया भवन्ति ।
तथा सति चतुर्विंशस्तोमकस्य यावत्पः स्तोत्रीयाः संवत्सरस्यापि
तावत्यो रात्रयः एवं प्रयुज्जानाः सत्रिणस्तेन चतुर्विंशेन स्तोत्रीयाभिरेव
संवत्सरं प्राप्नुवन्ति ॥ ७ ॥

स्तोत्रसंख्ययापीदमहः प्रशंसति—

पञ्चदशस्तोत्राणि भवन्ति पञ्चदशार्द्धमासस्य रात्र-
योऽर्द्धमासश्च एव तत् संवत्सरमाप्नुवन्ति ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

अथ स्तोत्रशस्त्राणि समुच्चित्य तत्संख्ययापीदमहः प्रशंसति—

पञ्चदश स्तोत्राणि पञ्चदश शस्त्राणि समासो मासश्च
एव तत् संवत्सरमाप्नुवन्ति ॥ ९ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ९ ॥

अथास्याहु उक्षपक्षे किञ्चिदोपमाशङ्क्य तत्परिहाराय सामद्वयं विधत्ते—

तदाहुरीर्म इव वा एषा होत्रा यदच्छावाक्या यदच्छावाकमनुसन्तिष्ठत ईश्वरेर्मा भवितोरिति यद्युक्षपक्षे स्मात्रैककुम्भश्चोद्वंशीयश्चान्ततः प्रतिष्ठाप्ये वीर्यं वा एते सामनी वीर्येष्वान्ततः प्रतितिष्ठन्ति ॥ १० ॥

तत्तस्मिन् उक्षपक्षमाहुर्ब्रह्मवादिनः किमिति तदुच्यते होतृव्यतिरिक्तानां होतृकाणां किमहो यत् वा अच्छावाक्या अच्छावाकसम्बन्धिनी होत्रा शंसनादिरूपा क्रिया एषा ईमेति व्रणमुच्यते, तद्व्रणमनुतिष्ठते अच्छावाकमनुलक्ष्य सन्तिष्ठते अच्छावाकशब्देण समाप्यते नाच्छावाकसमापनेन ईमयज्ञस्य दुष्टतां भवितो(१)र्भवितुमीश्वराः समर्था भवन्तीत्याहुरित्यन्वयः । अतो यदीयमुक्षं उक्षयसंस्थं स्यात् उक्षदोषपरिहाराय त्रैककुम्भं चोद्वंशीयं चोमे सामनी अन्ततस्तृतीयसवनस्यान्ते प्रतिष्ठाप्य त्रैककुम्भं ब्रह्मसाम उद्वंशीयमच्छावाकसामेत्येवं कर्त्तव्येत्यर्थः । शाट्यायनेन स्पष्टमाज्ञातं, ईर्म इव वा एषा होत्राणां यदच्छावाको यदच्छावाकमनुसन्तिष्ठेतेर्म इव तुष्टवानाः स्युरिति । तस्य त्रैककुम्भं ब्रह्मसाम भवत्युद्वंशीयमच्छावाकसामेति य एक इद्विदयते इति त्वे गेयं उद्वंशीयं एते सामनी वीर्यं वै वीर्यरूपे एव कथमनयोवीर्यवत्त्वमुच्यते ककुम्भमिति शृङ्गवदुन्नतस्याभिमानं ग्रीणि ककुम्भानि यस्य तत् त्रिककुम्भं तत्सम्यज्जं त्रैककुम्भं यतस्त्र्युन्नतसम्यन्वादेते सामनी वीर्यमित्युच्यते उन्नतं द्वि लोके वीर्यवद्भवति उद्वंशीयस्य चोद्वंशमिव येमिर इत्युद्यमनश्रवणादुच्छ्रायप्रतीतिर्वीर्यत्वं, एवं सति वीर्यरूपयोः साग्नोः प्रयोगात् अन्ततस्तृतीयसवनस्यान्ते वीर्यपव यज्ञमानाः प्रतितिष्ठन्ति अतोऽच्छावाकसमापनदोषो न भवतीत्यर्थः ॥१०॥

अथास्यैवाहो विकल्पेन अग्निष्टोमसंस्था कार्येत्याह—

अथो खल्वाहुरग्निष्टोममेव कार्यमेव वै यज्ञः स्वर्ग्यो यदग्निष्टोम ऊर्द्धोहि होतारमनुसन्तिष्ठते ॥ ११ ॥

अथो शब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । अभिज्ञाः खल्वाहुः किमिति ? इदमद्वर-
ग्निष्टोमम् अग्निष्टोमसंस्थमेव कार्यं न तु अग्निष्टोम इति । यत् एष खलु
यज्ञः स्वर्ग्यः स्वर्गाय हितः तत् कुतो हेतोः द्वि यस्माद्दूर्ध्वस्त्रिष्टुदादि-

क्रमेण ऊर्द्धाभिमुखः सन् अयमग्निष्टोमो होतारमनुलक्ष्य सन्तिष्ठते
होता हि सर्वहोतृणां मुख्यस्तदीयेनाग्निमावृतशस्त्रेणाग्निष्टोमः परिस-
माप्यते अतोऽस्य स्वर्ग्यत्वं ॥ ११ ॥

उक्त्यर्थे संवत्सरावाप्तिरूपं यत् फलमुक्तं तदप्यत्रापि विद्यत इत्याह—

द्वादशस्तोत्राण्यग्निष्टोमो द्वादश मासाः संवत्सर-
स्तेन संवत्सरसम्मितो द्वादश स्तोत्राणि द्वादश श-
स्त्राणि तच्चतुर्विंशतिश्चतुर्विंशतिरर्द्धमासाः सं-
वत्सरस्तेन संवत्सरसम्मितः ॥ १२ ॥

ययमग्निष्टोमः स द्वादशस्तोत्राणि द्वादशानां स्तोत्राणां सङ्का-
त्मकः संवत्सरश्च द्वादशमासात्मकस्तेनायमग्निष्टोमसंस्थः संवत्सरस-
म्मितः संवत्सरसदृशस्तेन संवत्सरमेवाप्नुवन्तीत्यर्थः । किञ्चाग्निष्टोमे
द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि भवन्ति तदुभयमिमिलित्वा चतुर्विं-
शति सम्पद्यन्ते संवत्सरश्च चतुर्विंशत्यर्द्धमासात्मकः तेनाप्ययं संव-
त्सरसम्मितः ॥ १२ ॥

एवमग्निष्टोमसंस्थायाः सिद्धान्तत्वाशङ्कायामुक्त्यसंस्थैव सिद्धान्त-
इति निगमयति—

अथो खल्वाहुरुक्तमेव कार्यमहः समृद्धये ॥ १३ ॥

अथो इति पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । उक्त्यसंस्थमेवैतदहः कार्यं, कि-
मर्थमहः समृद्धौ सम्पूर्णताया इति ब्रह्मवादिनाहः । अग्निष्टोमे हि
पूर्वयोः सवनयोः पञ्चपञ्च स्तोत्राणि तृतीये तु द्वे एवेत्यहः समृद्धिर्न
भवति, उक्त्ये तु तृतीयसवने पञ्च स्तोत्राणीत्यहः समृद्धं भवति ॥ १३ ॥

उक्त्यसंस्थाङ्गीकारे युक्त्यन्तरमाह—

सर्वाणि रूपाणि क्रियन्ते सर्वं ह्येतेनाह्वाप्यते ॥ १४ ॥

उत्तरेषामह्नां सम्बन्धीनि यानि रूपाणि स्तोमपृष्ठविमक्त्यादीनि
तान्यस्मिन्नुक्त्ये क्रियन्ते अतः सर्वं हि यज्ञसम्बन्धि रूपं तेनाह्वा
उक्त्यसंस्थेन आप्यते प्राप्यते तत उक्त्यसंस्थैव कार्येत्यर्थः । सर्वरूप-
करणञ्च सर्वावाप्तिश्च सम्पादनद्वारेणेति निदानकारेणैवमुच्यते, अथो
खल्वाहुः सर्वाणि रूपाणि क्रियन्त इति आवाट्योः एतेष्वेव सर्वान्
स्तोमान् सर्वाणि पृष्ठानि सर्वा विमक्तोर्देशरात्ररूपाणीति विमक्ति-
मात्रेण कल्पयन्त इति संशयोक्त्वा पुनस्त्रिवृत्पञ्चदशी चतुर्विंशः
सम्पाद्यत इत्यादिना एतान्येवस्तोमपृष्ठादीनि प्रत्येकक्रमेण विविच्य
प्रदर्शितानि तत्सर्वं तत्रैवावगन्तव्यम् ॥ १४ ॥

अस्मिन्नहनि वहिष्पवमानस्य आद्यां स्तोत्रीयां पूर्वपक्षतया विदधाति—
पवन्ते वाजसातये सोमाः सहस्रपाजस इति सह-
स्रवती प्रतिपत्कार्या ॥ १५ ॥

प्रतिपद्यते प्रक्रम्यते वहिष्पवमानस्तोत्रे एषा प्रतिपत् सा सहस्रवती
सहस्रशब्दोपेता कार्या ॥ १५ ॥

एतां प्रशंसति—

सर्व्वत्सरस्य रूपं सर्व्वानेवैनानेतया पुनाति सर्वा-
नभिवदति ॥ १६ ॥

अस्यां हि बहुत्वसंख्या सहस्रपदेन प्रतीयते । संवत्सरश्च बहुदि-
वसात्मकः । अत एषा सहस्रवती संवत्सरस्य बहुदिवसात्मकस्य रूपम्
अनुरूपं अनुगुणेत्यर्थः, अपि चैतान् यजमानान् सर्व्वानेव एतया प्रति-
पदा पुनाति स्तोता शोधयति, कथमिति ? तदुच्यते यस्मादेषा पवन्ते
इत्यनेन बहुवचनेन सर्व्वानभिवदति प्रतिपादयति अत इत्यर्थः । यद्यपि
तत्र बहुवचनेन स्तोमबहुत्वमेव प्रतीयते तथापि बहुत्वश्रुतिसामान्यात्
सर्व्वान् यजमानानेतया पुनातीति श्रुतिः ॥ १६ ॥

इत्थं ब्राह्मणामिष्टेन पक्षमभिधाय स्वामिमत्तं पक्षं दर्शयति—

अथो खल्वाहुः पवस्व वाचो अग्निं इत्येव कार्या
मुखं वा एतत् सर्व्वत्सरस्य यद्वाचोऽग्रमुत्पत एव तत्
सर्व्वत्सरमारभन्ते ॥ १७ ॥

अथो आदिवति पक्षान्तरव्यावृत्त्यर्थः । पवस्व वाच इत्येवैव वहि-
ष्पवमानस्य प्रतिपत्कार्येति ब्राह्मणादिनञ्वाहुः । अस्य प्रायणीयस्याह-
एषामिरूपेति स्तौति मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यद्वाचोऽग्रं मुखत एव
तत् संवत्सरमारभन्त इति । वाचः स्तोत्रशस्त्रात्मिकायाः अग्न्यं प्रा-
ग्न्यं प्रथमयोग इति यत् एतत् संवत्सरस्य सत्रस्य गवामपनस्य मुखं
वै भवति, अस्याञ्च प्रतिपदि पवस्व वाचो अग्निं इति अग्रशब्दो वि-
द्यते । अनेन च श्रुतिसामान्येन स्तुतशस्त्रादिधाङ्गिण्याद्यस्य गवा-
मपनस्य मुखभूतमग्रं प्रतीयते । एवं सत्येषा प्रतिपद्भवतीति यत्नेन
संवत्सरसत्रं मुखत एव आरभन्ते यजमानाः प्रक्रमन्ते अस्यामृच्यग्नि-
यशब्दसद्भावात् अग्नि्यस्य चतुर्विंशस्य रूपेत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

एषा प्रजननहेतुषादपि प्रशस्तेत्याह—

मिथुनमिव वा एषा व्यावृत्तिः पवस्वेति पुंस्त्वो रूपं

वाच इति स्त्रियाः सोमेति पुंशो रूपचित्राभिरिति
स्त्रिया मिथुनमेवैभ्यो यज्ञमुखे दधाति प्रजननाय ॥ १८ ॥

एषा मन्त्रगता व्याहृतिरुक्तिर्मिथुनमित्र वै इत्यवधारणे मिथुनरूपैव
भवति । तदेव दर्शयति-पवस्वेति यत् पवनं प्रतिपाद्यते तत् पुंसः पुर
पस्य रूपं प्रायेण स्तोमस्य पवनं पुरुषपच करोति । यद्वा पवनकर्तुः सो-
मस्य पुंस्त्वादस्य पुरुषत्वं, वाच इति स्त्रोलिङ्गत्वात् स्त्रियारूपं, तथा
सोमेति यदामन्त्रितं तत् पुंसो रूपं चित्राभिरिति स्त्रियाः, एवं सति एषा
प्रतिपद्भवतीति यत् तेन एभ्यो यजमानेभ्यो यज्ञमुखे मिथुनमेव दधाति
किमर्थं प्रजननाय यजमानानां प्रजोत्पत्तये ॥ १८ ॥

अथास्याह अग्निष्टोमस्तोत्रे ब्राह्मणान्तरसिद्धं किञ्चित् साम वि-
दधाति—

अग्ने युङ्क्वा हि ये तवेति जरायोधीयमग्निष्टोम
साम कार्यं युक्तेनैव सर्व्वत्सरेण प्रयन्ति चतुर्विंशत्य-
क्षरासु भवति चतुर्विंशत्यक्षरारूपम् ॥ १९ ॥

अग्ने युङ्क्वा हीत्यस्मिस्तुत्रे गायत्रे जरायोधेत्यस्यामृच्युत्पन्नं साम
यद्यपि नाधीमहे तथःप्यूहेन अस्मिन्नहनि अग्निष्टोमसामत्वेन तत्कार्यम् ।
एवं सति युङ्क्वेति मन्त्रे युक्त्यलिङ्गदर्शनात् उक्तेनैव परस्परसम्बन्धेनैव
सर्व्वत्सरेण प्रयन्ति गच्छन्ति सत्रस्य पारं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कि-
ञ्च एतत्साम चतुर्विंशत्यक्षरासु गायत्रीषु भवति, एतच्चाहश्चतुर्विं-
शस्तोमकं तथा सति संख्यासामान्यात् तत्साम अस्याहोऽनुरूपं
भवति ॥ १९ ॥

अथ स्वामिमते सिद्धान्तमाह—

अथो खल्वाहुर्ग्रज्जायजीयमेव कार्यम् ॥ २० ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २० ॥

इमं पक्षं प्रशंसति—

पन्था वै यज्ञायजीयं पथ एव तन्न यन्ति ॥ २१ ॥

यज्ञायजीयमग्निष्टोमसामेति यदेतत् पथ खलु पन्था यज्ञस्य स्या-
द्य्योमार्गः यज्ञायजीयमग्निष्टोमसाम कुर्व्वन्तीति यत् तत्तेन पथः मा-
र्गादेव एतान् न यन्ति न गच्छन्ति प्रच्युता न भवन्ति ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्धाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ ततीयः खण्डः ।

अथास्मिन्नेवाहनि माध्यन्दिनसवने ब्राह्मणाच्छंसिनः पृष्ठस्तोत्र-
निवर्त्तकमेकं साम विधत्ते--

अभीवर्त्तो ब्रह्मसाम भवति ॥ १ ॥

तज्जोदञ्चमृतीवहमित्यस्मिन् योनावुत्पन्नं साम अभीवर्त्ताव्यम् एतत्
साम ब्राह्मणाच्छंसीयपृष्ठस्तोत्रमनुशंसति, तत्र वक्ष्यमाणासु ऋभु
कर्त्तव्यम् ॥ १ ॥

अथैतन्नामनिर्वचनेन प्रशंसति—

अभीवर्त्सेन वै देवाः स्वर्गं लोकमभ्यवर्त्तन्त यदभी-
वर्त्तो ब्रह्मसाम भवति स्वर्गस्य लोकस्याभिवृत्तयै ॥ २ ॥

अभीवर्त्तारूपेण साम्ना देवाः स्वर्गं लोकमभ्यवर्त्तन्त अगच्छन्
अतएवास्याभिवृत्तिसाधनत्वादस्य साम्नोऽभीवर्त्त इति संज्ञा निष्पन्ना ।
अतएव शाट्यायनकं यदभ्यवर्त्तन्त तदभीवर्त्तस्याभीवर्त्तत्वमिति, अ-
भिपूर्वाद्भुवर्त्त इत्यस्मात्करणे घञ् "उपसर्गस्य घञ्मनुष्येषु बहुल-
मि"ति पूर्वपदस्य दीर्घः । एव सति अस्मिन्नहनि अभीवर्त्तो ब्रह्मणः
पृष्ठ्यसाम भवतीति यत् तत् स्वर्गस्य लोकस्याभिवृत्तयै अभिवर्त्तना-
याभिगमनाय सत्रिणां सम्पद्यते ॥ २ ॥

अस्य च साम्नः इन्द्रं गीर्भिर्हवामह इति पादस्यान्त्यं हे इत्येतत्
हा इति विकृतं निधनं तदेतदनूय प्रशंसति—

एकाक्षरणिधनो भवत्येकाक्षरा वै वाग्वाचैव तदा-
रभ्य स्वर्गं लोकं यन्ति ॥ ३ ॥

अयमभीवर्त्त एकाक्षरणिधनः हे इत्येकमक्षरनिधनं यस्य तादृशो
भवति वाग्वाचैकाक्षरा इति तत्तेन एकाक्षरनिधनप्रयोगेण एकाक्षरणा-
वाचैव यज्ञमारभ्य स्वर्गं लोकं यान्ति यजमाना गच्छन्ति । एतदभीव-
र्त्ताव्यं साम पूर्वस्मिन् पक्षसि विद्यमानानामभिप्लविकानामहं स्वर-
साक्षां च माध्यन्दिने सवने वक्ष्यमाणासु ऋभु ब्रह्मणः पृष्ठस्तोत्रतया
कर्त्तव्यं तथा उत्तरस्मिन् पक्षसि "इन्द्रक्रतुघ्न आभरे"त्येक एव प्रगाथः
ब्रह्मसामाश्रयः कर्त्तव्यः । प्रत्यहं तस्मिन् प्रगाथे अन्यदन्यत्साम ब्रह्मणः
पृष्ठ्यस्तोत्रार्थं कर्त्तव्यम् ॥ ३ ॥

तदेतदुभयं विधत्ते—

साम्नेतो यन्तृचा पुनरायन्ति ॥ ४ ॥

साम्ना अभीवर्त्ताख्येन पूर्वस्मिन् पक्षसि विद्यमानेषु पूर्वोक्तेष्वहःसु प्रत्यहं प्रयुज्यमाने इतो अस्माल्लोकायन्ति गच्छन्ति स्वर्गं तथा ऋचा सामान्याभिप्रायमेकवचनमिन्द्रकतुश्च आभरेति इष्ट्वेनेत्यर्थः उत्तरस्मिन् पक्षसि पुनः पुनः प्रयुज्यमानेनैतेन इष्ट्वेन पुनरायन्ति इमं लोकमभिलक्ष्य स्वर्गात्पुनरावर्त्तन्त, अत उभयलोकप्राप्त्यर्थत्वादुभयोः पक्षसोरेतदुभयं कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

तदेव कथमित्यत आह—

साम वा असौ लोक ऋगयं यदितः साम्ना यन्ति स्वर्गं लोकमारभ्य यन्ति यदृचा पुनरायन्त्यस्मिन् लोके प्रतितिष्ठन्ति ॥ ५ ॥

यदिदं साम तदसौ स्वर्लोकः ऋग्यजुःपेक्षया साम तृतीयं भवति स्वर्लोकश्च पृथिव्यन्तरिक्षापेक्षया तृतीयः । अनयोः स्थानसाम्यादिमेतेन व्यपदेशः, येयमृक् सा अयं लोकः उभयोः प्राथम्यात्, किमतो भवति तदुच्यते इतः साम्ना यन्तीति यत्तत् स्वर्गं लोकमेव साक्षादारभ्य यन्ति । तथा ऋचा ऋग्मिन्द्रयुक्तेन पुनरायन्तीति यत् तेन अस्मिन्नेव लोके पुनः प्रतितिष्ठा भवति ॥ ५ ॥

विहितं साम इष्ट्वचरूपमुभयं व्यतिरेकत्वेन प्रशंसति—

यत्सामावसृजेयुरव स्वर्गाल्लोकात्पथेरन्यदृचमनुसृजेयुर्नश्येयुरस्माल्लोकात् ॥ ६ ॥

यद्यदि पूर्वं विहितं साम अवसृजेयुः परित्यज्येयुः स्वर्गाल्लोकादवपथेरन् अथः पतेयुः । यद्यदि ऋचमनुसृजेयुरस्माद्भूल्लोकान्नश्येयुः प्रव्यवेरन् स्वर्गस्थितिसाधनं साम अस्मिन् लोके प्रतितिष्ठेत्तुः ऋगिति उभयमुक्तं भवति ॥ ६ ॥

तदुभयमनूय प्रशंसति—

समानं साम भवत्यन्योन्यः प्रगाथोन्यद्व्यद्विचित्रमध्वानमवगच्छन्तेति ॥ ७ ॥

पूर्वपक्षेऽस्मिन् पक्षसि उक्तेष्वहःसु समानमेकमेवामीवर्त्तार्यं ब्रह्मसाम भवति प्रगाथः प्रगाथनीयस्तदाथयस्यैष्ट्वचस्त्वन्योऽन्यः प्रत्यहं विलक्षणो भवति । लोकेपि हि दीर्घेऽध्वनि अन्यदन्यत्परस्परविलक्षणं चित्रं सायनीयलघ्वर्यं घनम् अवगच्छन् प्राप्नुवन् अध्वानम्महापथमेति पुरुषः प्राप्नोति एवमेवैते सन्निधोन्यमन्यं प्रगाथमेव गच्छन्तो विपुवःपर्यन्तं यज्ञमार्गं यन्ति ॥ ७ ॥

एतत् प्रजननहेतुत्वेन प्रशंसति—

वृषा वा एष रेतोधा यदमीवर्त्तः प्रगाथेषु रेतो द-
धदेति यदितः समानधुंसाम भवत्यन्योऽन्यः प्रगाथो
रेत एव तद्वधति यत्परस्तात् समानः प्रगाथो भवत्य-
न्यदन्यत्साम रेत एव तद्वितं प्रजनयन्ति ॥ ८ ॥

अमीवर्त्त इति एष वृषा वर्षणशीलः सेचनसमर्थो युवैव अत एव
रेतोधाः रेतसो वीर्यस्य निधाता स प्रगाथेषु प्रगाथस्थास्वश्रु रेतो
दधत् एति गच्छति यत् इतश्चतुर्विंशदारभ्य सामानमेवामीवर्त्त
ख्यं ब्रह्मसाम भवति प्रगाथस्तदाश्रयोऽन्योऽन्यः प्रत्यहं मिश्रो भवतीति
तदेतदुभयं तत्तेन सप्रिणो रेत एव दधति प्रजोत्पादनाय रेतसएव
धारणां कुर्वन्ति परस्तात् परस्मिन्नुत्तरस्मिन् पक्षसि समानः एक
प्रगाथ इन्द्रक्रतुमित्यादिको भवति ब्रह्मसाम तु प्रत्यहमन्यदन्यद्विलक्ष-
णमेव भवतीति यत् तत्तेन हिनं पूर्वस्मिन् पक्षस्याहितरेतएव प्रजन-
यन्ति बहुविधस्य साम्नः प्रयोगेण बहुविधकार्यरूपेणोत्पादयन्ति ॥८॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

साम्नेतः प्रगाथां दुग्धे प्रगाथेन परस्तात्सामानि
दुग्धे सलोमत्वाय ॥ ९ ॥

इतश्चतुर्विंशदारभ्य साम्नैकेन सर्व्या प्रगाथां दुग्धे पूर्वस्मिन्
पक्षसि बहूनि फलानि प्रगाथेभ्यः क्षारयति युक्तात् परस्मिन् पक्षसि
प्रगाथेन पूर्वोक्तेन सामानि दुग्धे यान्यस्मिन् प्रगाथे प्रयुज्यन्ते तेभ्यः
फलानि क्षारयति एवं क्रियमाणमेतदुभयं सलोमत्वाय अनुलोमत्वा-
य भवति । ऋचो हि साम्नाम् आधारतया प्रथमसिद्धाः सामानि तु
तदाश्रितत्वात् पश्चाद्भावीनीति तेनैवानुपूर्व्येण फलोत्पादनमेवानयोः
सलोमत्वम् ॥ ९ ॥

पूर्वस्मिन् पक्षसि श्रृचां चैषामतावृत्तिः उत्तरस्मिन्स्तु साम्नां तदु-
भयं प्रशंसति—

ये वा अध्वानं पुनर्निवर्त्तयन्ति नैनं ते गच्छन्ति ये
ऽपुनर्निवर्त्तयन्ति ते गच्छन्ति ॥ १० ॥

ये खलु पान्थाः अध्वानं पुनर्निवर्त्तयन्ति पुनः पुनर्निवृत्ता गच्छ-
न्ति ते एतमध्वानं न गच्छन्ति अध्वनः पारं न प्राप्नुयन्ति, ये तु अपु-
नर्निवर्त्तयन्ति पुनः पुनर्निवृत्तिराहित्येनाध्वानं यन्ति ते गच्छन्ति अध्वानं

एवमेव सन्निधौऽपि सकृत्प्रयुक्तान् पुनरपि प्रयुज्जानाः संवत्सरसत्रस्य
पारं प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

प्रयुक्तस्य पुनः प्रयोगे दोषमाह--

य आस्तुतं कुर्वते यथा दुग्धामुपसीदेदेवन्तत् ॥ ११ ॥

आस्तुतं पूर्वस्तुतं प्रगाथं ये कुर्वते ते पुनः प्रयुज्जते यथा दुग्धामु
पसीदेत् दोग्धा दोग्धमुपविशेत् एवमेव तद्भवति ॥ ११ ॥

एतदेव व्यतिरेकमुखेन द्रढयति--

ये नास्तुतं यं कामं कामयन्ते तमभ्यश्नुवते ॥ १२ ॥

ये तु आस्तुतं सकृत्प्रयुक्तं न कुर्वन्ते न पुनः प्रयुज्जते यं काम का-
मयन्ते तं प्राप्नुवन्ति ॥ १२ ॥

उक्तमर्थं विचारपूर्वकं नियमयति--

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यातयामाः सर्व्वत्सरा ३ अ-
यातयामा ३ इति ते नायातयामेति वक्तव्यं पुनरन्यानि
स्तोत्राणि निवर्त्तन्त ऊर्द्धमेव ब्रह्मसामैति ॥ १३ ॥

अस्मिन् गवामयनसत्रे ब्रह्मवादिनः परस्परमाहुः, किमिति ? अयं
संवत्सरः सत्रात्मकः किं यातयामो गतरसः उतायातयाम इति वि-
चार्य्यमाणानामिति संशये स्तुतिः। पक्षद्वयोत्थानस्य का शङ्का ? उच्यते
बृहद्रथन्तरयोरेव पुनः पुनः प्रयोगात् वामदेव्यकाले यथोक्तं नित्यशः
प्रयोगात् ब्रह्मसाम्नामीवर्त्तः तथा च सर्व्वान्वयित्वात् प्रयुक्तानां पुनः
पुनः प्रयोगेण यातयामत्वाशङ्का, तथा ब्रह्मसाम्नः पुनः पुनः प्रयुज्यमा-
नस्यापि तदाश्रयाणां प्रगाथानां प्रत्यहं विभिन्नत्वादयातयामत्वमि-
त्युभयदर्शनाद्विशेषाग्रहणाच्च संशये इत्थं निर्णेतव्यम् अयातयाम एव
संवत्सर इति वक्तव्यमभिज्ञेस्तत् कस्य हेतोः ? यतः अन्यान्यमीवर्त्तव्य-
तिरिक्तानि स्तोत्राणि साश्रयाणि निवर्त्तयन् तत्स्थाने साश्रयाण्यप्रयुक्तानि
स्तोत्राणि पुनरावर्त्तन्ते ब्रह्मसामैकमेव ऊर्द्धमनिवृत्तमितरस्याप्याश्रय-
भेदो विद्यते अतो हेतोः संवत्सरस्यागतरसत्वम् ॥ १३ ॥

इति त्राण्ड्यमहाब्रह्मणे चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

अथ चतुर्थः खण्डः ।

तदेवं चतुर्थेऽहनि ब्रह्मसाम विधाय प्रसङ्गात् संवत्सरस्यापि ब्रह्म-
साम निरूपितं, चतुर्विंशस्य पुनरन्यानि स्तोत्राणि तानि सर्व्वानि

आप्येयकल्पेनैव योद्धव्यानि, तदेवं पूर्वस्मिन् पक्षसि चतुर्विंशामिह-
विकस्वरसामस्वहःसु एकमेवामीवर्त्तसाम पुनः पुनरावर्त्तनीयं, प्रगा-
थस्तु प्रत्यहं मित्र इति स्थितं, तत्रादौ पञ्चमासाश्चतुरभिप्लवा इति तेषु
विंशतिशतमहान्याभिप्लविकानि भवन्ति पष्ठे तु त्रयोभिप्लवा इत्यष्टाद-
श त्रयः स्वरसामान इत्येकविंशतिः तदुभयस्मिलित्वा एकवत्त्वा-
रिंशच्छतमहानि भवन्ति । एतेष्वहःसु प्रगाथभेदस्योक्तत्वात्, के ते
स्तोत्रीयाः प्रगाथाऽऽयुचाश्चेत्याकांक्षायामाह—

पञ्चसु माःसु बार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन् पक्षसि पञ्चसु माःसु मासेषु बार्हताः प्रगाथाः आप्य-
न्ते समाप्यन्ते । प्रगाथमुपलक्षणं बार्हताऽऽयुचाश्च समाप्यन्त इत्यर्थः,
कथमेतदुच्यते चतुःशतं ह्येन्द्राबार्हताः प्रगाथा दाशतव्यां विद्यन्ते तेषु
चत्वारः प्रगाथा ऊर्द्धायाः बृहद्रथन्तरकालेयस्तोत्रीया इन्द्रकतुघ्न आ-
भरेत्युत्तरपक्षीयश्चैक इति कुतस्तेषामुद्धारः बृहत् स्तोत्रीयस्य चतुर्विं-
शेऽहनि प्रयुक्तत्वात् अभिप्लवेषु वा युग्मेष्वहःसु प्रयुक्तत्वात् रथन्तर-
स्य स्तोत्रीयस्य युग्मेषु प्रयुक्तत्वात् कालेयस्तोत्रीयस्य अन्वहं प्रयुक्त-
त्वात् इन्द्रकतोश्चोत्तरस्मिन् पक्षसि पृथग्विधस्यमानत्वात् पूर्वस्मिन्
पक्षयोग इति ते उद्भिप्यन्ते ततः शतं भवति तेषु चतुर्विंशे कार्यं
इत्येकोनशतं सप्ताशीतिऽऽयुचः सतो बृहत्या दाशतस्यामासाताः ते खै-
कोनत्रिंशदयुचो भवन्ति अष्टाविंशतिशतं प्रगाथद्वयसमुदायो भव-
ति तत्र विंशतिशतं पञ्चानाम्मासानामपेक्षितम् एकोनशतमेव प्रगा-
था विद्यन्ते इत्येकैकस्मिन् अभिप्लवे तृतीयेष्वभिप्लवेषु एनीयेष्वहः-
सु सतो बृहतीऽऽयुचाः कार्य्याः । इनरेषु प्रगाथा एव कार्य्याः । एवं कृते
पञ्चमस्य मासस्योत्तमेऽभिप्लवे चत्वार एव प्रगाथा लभ्यन्ते तत्र तृती-
येऽहनि सतो बृहतीः कृत्वा पञ्चापि सतो बृहत्यः कार्य्याः । एवं पञ्चसु
बार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते सतो बृहतीऽऽयुचाः अष्टौ परिशिष्यन्ते पष्ठे
च मासे एकविंशतिसंख्यान्यहानि तत्राद्येषु पष्ठेष्वहःसु एते अवशि-
ष्टाऽऽयुचाः कार्य्याः ॥ १ ॥

ततश्च षोडशस्वहःसु कथं प्रगाथलाम इत्याशङ्क्याह—

तेष्वामेषु छन्दसी संयुज्यैतव्यम् ॥ २ ॥

तेषु बार्हतेषु प्रगाथेषु द्वयेषु चोक्तप्रकारेण परिसमासेषु सत्सु अ-
वशिष्टेष्वहःसु द्वे छन्दसी संयुज्य द्युचीकृत्य एतव्यं ब्रह्मसाम्न आश्र-
यत्वेन प्रयोक्तव्यम् ॥ २ ॥

ते द्वे छन्दसी इत्यत आह ।

तिस्र उष्णिहः स्युरेका गायत्री तास्तिस्रो बृहत्पो-
भवन्ति ॥ ३ ॥

तिसृभिरुष्णिग्भिरेकया च गायत्र्या तिस्रो बृहत्स्यः सम्पद्यन्ते उ-
ष्णिहस्त्वाद्यौ पादावष्टाक्षरौ तृतीयो द्वादशकः तथा सति तिसृपूष्णि-
क्षु एकैकस्य गायत्रपादस्य संयोजने प्रत्येकं बहती भवति एवं छन्दो-
द्वयं संयुज्यैतद्व्यमित्यर्थः । तथाच सूत्रकृतोक्तं, षष्ठे मासि गायत्रीपा-
दमेकैकमुष्णिहामुपरिष्ठात्कुर्याद्द्विष्टावानुपपत्तिर्हान्वयेति उष्णिहा
गायत्री चेति, या एता ऐन्द्रयश्चतस्रः अवशिष्टानां प्रथमेऽहनि प्रयुज्य-
न्ते तेभ्यो अन्या एषोत्तरेष्वहःसु प्रयोक्तव्याः य आस्तुत कुर्वते यथा
दुग्धामुपसीदेदिति प्रयुक्तं पुनः प्रयोगे निन्दादर्शनात् ॥ ३ ॥

अथ पक्षान्तरं विधक्षुश्छन्दसां योगे पूर्वोक्तदोषमाह ।

तदाहुः स०शर इव वा एषच्छन्दसां यत् द्वे छन्द-
सी संयुज्यन्तीति ॥ ४ ॥

संशौर्यते शिथिलीभवत्यनेनेति स०शरः यत् द्वे छन्दसी संयु-
ज्यन्तीति एष छन्दसां संशर इव वै शिथिलीभाव एवेति तत्तस्मिन्विषये
ग्रहवादिन आहुः ॥ ४ ॥

कथं तर्हि न्यूनाहः पूरणमिति चेत्तत्राह ।

चतुरुत्तरैरेवच्छन्दोभिरेतव्यं ॥ ५ ॥

गायत्र्यादिभिर्जगत्यन्तैश्चतुरुत्तरैः पूर्वस्मात्पूर्वस्मात् छन्दसः उत्त-
रोत्तरं चतुर्भिरक्षरैरधिकैश्छन्दोभिरेतव्यं गायत्रीव्यातिरिक्तानामेव प-
ष्णाञ्चतुरुत्तरत्वं गायत्र्याः प्रथमतयात् पशूनाञ्चतुष्पात्त्वत्पशुत्वेन स्तु-
तिः । स्पष्टमन्यत ॥ ५ ॥

चतुरुत्तरप्रायन्तामिमं पक्षं प्रशंसति ।

पशवो वै चतुरुत्तराणिच्छन्दा०सि पशुभिरेव
तत् स्वर्गं लोकमाक्रममानयन्ति ॥ ६ ॥

चतुरुत्तरेषु छन्दःसु चतुःसङ्ख्यायोगात् पशूनाञ्च चतुष्पात्त्वात्
पशुत्वेन स्तुतिः । स्पष्टमन्यत ॥ ६ ॥

चतुरुत्तरस्य प्रयोगस्य स्थानान्याह ।

एकाङ्गायत्रीमेकाहमुपेयुरेकासुष्णिहमेकाहमेकाम-
नुष्टुभमेकाहं बृहत्या पञ्चमास इयुः पङ्क्तिमेकाहमुपेयु-

त्रिष्टुभा षष्ठं मासमीयुः श्वो विपुवान् भवितेति
जगतीमुपेयुः ॥ ७ ॥

एकाह्यायत्रीछन्दसः प्राधान्यादेकवचनं एकाह्यायत्रीतृचं एकाहं
एकस्मिन्नहनि आदिभूते चतुर्विंशेऽहनि ब्रह्मसामाधायं उपेयुः उपग-
च्छेयुः कुर्युरित्यर्थः, एषमुत्तरेष्वपि सङ्घैकत्वं द्रष्टव्यं । एकामुष्णिह-
मेकमौष्णिहं तृचं एकाहं एकस्मिन्नहनिप्रथममासस्य प्रथमस्याभिप्लु-
वस्य प्रथमेऽहनि अभीवर्त्तस्याध्वरत्वेन कुर्युः । तस्यैव द्वितीयेऽहनि
एकामनुष्टुभं एकमानुष्टुभं तृचं ब्रह्मसामाधारत्वेनोपेयुः । ततो बृहत्या
याह्नौ प्रगाथैस्तृचैश्च पञ्च मासः पञ्च मासान् प्रथमद्वितीयाभ्यामहो-
रात्राभ्यां वर्जितान् इयुः प्राप्नुयुः तेषु मासेषु याह्नौ तृचेषु च ब्रह्म-
सामाभिधर्त्त कुर्युरिति । अस्मिन्नपि पक्षे आभिप्लुविकेषु तृतीयेष्वह-
नि सु पार्हितास्तृचामन्यत्र प्रगाथा इति द्रष्टव्यं । एवं पञ्च मासेषु पूर्णेषु
द्वौ प्रगाथौ नव तृचाश्च शिष्यन्ते । षष्ठं महाप्रथमामिप्लुवे द्वितीयस्य
पञ्चाहे चैतान् प्रयुज्य एकाहमेकस्मिन्नहनि द्वितीयाभिप्लुविकस्य षष्ठे-
ऽहनि एकां पङ्क्तिमेकं तृचं ब्रह्मसामार्थमुपेयुः । ततस्त्रैष्टुमेत तृच-
ेन षष्ठं मासं षष्ठमासस्य अवशिष्टानि यान्यभिप्लुविकान्यहानि पदसंख्या-
कानि यौ च प्रथमद्वितीयौ स्वरसामानौ एतदहरष्टकं उपेयुः, षष्ठमा-
सशब्देन उक्तान्येवाहानि लक्ष्यन्ते, तत्राह श्वो विपुवान् भवितेति
जगतीमुपेयुरिति, श्वः विपुवान् भविता भविष्यतीति यत्पूर्वमह-
स्तृतीयस्वरसामाख्यं तत्र जगतीञ्जागत्तृचं ब्रह्मसामाधारतयोपेयुः ॥ ७ ॥

इममपि पक्षं निन्दित्वा पक्षान्तरं दर्शयति ।

तदाहुरनवकल्लसानि चा एतानिच्छन्दाऽंसि मध्य-
न्दिने बृहत्या चैव त्रिष्टुभा चैतत्त्वं ॥ ८ ॥

तत्र विषये ब्रह्मवादिन आहुः । एतानि चन्दांसि चतुदशरात्रि मध्य-
न्दिने सधने अनवकल्लसानि अवकल्लसिसमर्पानि यद्यप्यत्र सप्तानामनव-
कल्लसिः समानैवेति प्रतीयते तथापि माध्यन्दिने पञ्चमाने गायत्री बृहती-
त्रिष्टुप्तिरिक्तानामेव चतुर्णामनवकल्लसानामध्ये केन छन्दसैतद्व्य-
न्तत्राह, बृहत्या चेति, याह्नौ प्रगाथैस्तृचैश्च त्रैष्टुभैरेतद्व्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

ननु त्रीणि च्छन्दाऽंसि मध्यन्दिने अवकल्लसानि तेषु गायत्री परि-
त्यज्य इतरयोर्महणे किं कारणन्तत्राह ।

एते चै च्छन्दसी वीर्यवती एते प्रत्यक्षं मध्यन्दि-
नस्य रूपं ॥ ९ ॥

एते वै बृहतीत्रिष्टुमौ छन्दसी वीर्यं वै वीर्यरूपे एव । वीर्यं वै त्रि-
ष्टुबिति श्रुतेः, त्रिष्टुमोवीर्यत्वं बृहत्याभयमित्याहुरन्यानि छन्दा-
सि वर्षीणांसि कस्माद्बृहत्या मध्यन्दिने स्तुवन्तीत्यादिना छन्दोऽन्त-
रेभ्यो वैपिष्ट्यप्रतीतेर्वीर्यवत्त्वं ननु गायत्र्याश्च सोमाहरणादौ छन्दो-
ऽन्तरेभ्यो वैशिष्ट्यदर्शनात् माध्यन्दिने पवमाने चान्वयित्वात्सापि
वीर्यरूपैवेति प्रयोज्या चेत्तेन एते एव बृहतीत्रिष्टुमौ छन्दसी प्रत्यक्षं
असाधारणं मध्यन्दिनस्य रूपङ्गायत्री तु त्रिष्वपि मध्यन्दिनेषु प्रयु-
ज्यते इति सवनप्रयसाधारणं त्रिष्टुब्बृहत्योश्च माध्यन्दिन एव प्रयोग
इत्यसाधारणम् ॥ २ ॥

किमनयोरनियमेन प्रयोग उत नियमेनेति जिज्ञासायामाह ।

राधन्तरेऽहनि बृहती कार्यैतद्वै रथन्तरस्य स्वमाय-
तनं यद्बृहती स्वएव तदायतने रथन्तरं प्रतितिष्ठति
बार्हतेऽहनि त्रिष्टुप् कार्यैतद्वैबृहतः स्वमायतनं यत् त्रि-
ष्टुप् स्वएव तदायतने बृहद्रथन्तरे प्रतितिष्ठन्ती इतः ॥१०॥

चतुर्विंशादिषु यस्मिन्नहनि रथन्तरं प्रयुज्यते तस्मिन्नहनि अ-
भीवर्त्तस्य बृहती आभयत्वेन कार्य्या बार्हताः प्रगाथा इत्यर्थः, बृहती
ति यत् एतद्धि रथन्तरस्यायतनं स्थानम्माध्यन्दिनसवने बृहती पूर्वं
प्रयुज्यते अतस्तदायतनत्वं, एवं सति तत्तेन बार्हतेऽहनि बृहत्याः कर-
णेन स्वकीयएव स्थाने रथन्तरं प्रतिष्ठितं भवति उक्तेष्वहस्तु अस्मि-
न्नहनि बृहत्साम प्रयुज्यते तस्मिन्बार्हतेऽहनि त्रिष्टुप् कार्य्या वैष्टुमे-
तृचे अभीवर्त्तो ब्रह्मसाम कर्त्तव्यं बृहद्विष्टुमोर्द्वितीयप्रयोज्यत्वात्त्रि-
ष्टुमो बृहदायतनत्वं तत्तेन त्रिष्टुमः प्रयोगेण बृहत्साम स्वएवायतने
प्रतितिष्ठतीति शेषः, अत्रापि वैष्टुमबार्हते तृचानां यो यः पूर्वै प्रयु-
ज्यते तत उत्तरमन्योन्य एव उत्तरेष्वहस्तु प्रयोक्तव्यः आस्तुतं कुर्वते
इति प्रयुक्तस्य पुनः प्रयोगे निन्दाश्रवणात् । एवं व्यवस्था बृहतीत्रि-
ष्टुमोः प्रयोगे क्रियमाणे बृहद्रथन्तरे सामनी प्रतितिष्ठन्तीति शत्रन्त-
स्य द्विवचनान्तस्य रूपमेतत् स्वे स्वे एवायतने प्रतिष्ठिते सती इतो
गच्छतः कृत्स्नमहर्ष्याप्नुतः । एतदुक्तं भवति चतुर्विंशेऽहनि वृते-
रथन्तरे उभे अपि प्रयुज्येते आभिप्लविकेषु तु प्रथमतृतीयादिष्वयुष्वहः-
स्तु रथन्तरं प्रयुज्यते द्वितीयादिषु युग्मेष्वहःस्तु बृहत्साम अतश्चतुर्वि-
ंशेऽहनि प्रथम आभिप्लविके च बृहत्यामभीवर्त्तं कुर्यात् द्वितीये त्रिष्टु-
भि एवमत ऊर्द्धं विन्यासेनोभयोश्छन्दसोः प्रयोगः । यद्वा चतुर्विंशे

ऽहनि त्रिष्टुमि अमीवर्तः कार्यः बार्हतं ह्येनदहः अत ऊर्ध्वं बृहती-
त्रिष्टुभोः क्रमेण प्रत्यहं विन्यासेन प्रयोग इति । निदानकारस्तु एनत्
पक्षद्वयमभिधाय पुनरपि पक्षान्तराप्यभ्यधात् बृहत्या चैतव्यं त्रिष्टु-
भा चैतव्यमिति प्रतीकमुपादाय त्रिष्टुमि चतुर्विंशेऽमीवर्तः कुर्यात्
बृहत्यां प्रथम आभिप्लविकं त्रिष्टुमि द्वितीये एवमनुपूर्व्वं छन्दसोः प्र-
योगो भवति तत ऊर्ध्वं विन्यसेत् इत्यादिना तत्सर्वं तत्रैव द्रष्टव्यं, इत्थं
त्रयः पक्षा गताः, प्रगाथेषु प्राप्तेषु छन्दसी संयुज्यैतव्यमिति प्रथमः
चतुरुत्तरैः छन्दोभिरेतव्यमिति द्वितीयः बृहत्या चैव त्रिष्टुभा चैतव्य-
मिति तृतीयः ॥ १० ॥

अथान्ये सप्त पक्षाः प्रदर्शयन्ते ।

त्रयस्त्रिंशता प्रगाथैरेतव्यं त्रयस्त्रिंशद्देवता दे-
यतास्वेव प्रतितिष्ठन्तोयन्ति, चतुर्विंशत्यैतव्यं चतु-
र्विंशतिरर्द्धमासाः संवत्सरः संवत्सर एव प्रतितिष्ठ-
न्तो यन्ति, द्वादशभिरेतव्यं द्वादशमासाः संवत्सरः
संवत्सर एव प्रतितिष्ठन्तोयन्ति, षडभिरेतव्यं षड्वृतव
ऋतुष्वेव प्रतितिष्ठन्तोयन्ति, चतुर्भिरेतव्यं चतुष्पादाः
पशवः पशुष्वेव प्रतितिष्ठन्तोयन्ति, त्रिभिरेतव्यं त्रय-
हमे लोका एष्वेव लोकेषु प्रतितिष्ठन्तोयन्ति, द्वाभ्या-
मेतव्यं द्विपाद्यजमानः स्वर्गस्य लोकस्याक्रान्त्या अन्ये-
नान्येन हि पदा पुरुषः प्रतितिष्ठन्नेति ॥ ११ ॥

चतुर्विंशप्रभृतिषु तृतीयस्वरसामान्तेष्वहःसु त्रयस्त्रिंशता त्र-
यस्त्रिंशतिसंख्याकैर्बार्हतैः प्रगाथैरेतव्यं आदितस्त्रयस्त्रिंशत्स्वहःसु
त्रयस्त्रिंशत्प्रगाथानाममीवर्तस्य क्रमेण स्तोत्रीयत्वेन प्रयुज्य पुन-
रपि तैरेवावृत्तैस्तृतीयस्वरसामान्तं ब्रह्मसाम कर्त्तव्यं तथा सति
त्रयस्त्रिंशद्देवता अष्टौ घसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्या इन्द्रश्च प्रजा-
पतिश्चेति तास्वेव प्रतितिष्ठन्तः सन्तो यजमाना यन्ति एवमुत्तरशा-
पि व्याख्येयम् ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्यचतुर्थः खण्डः ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ।

इत्थं पूर्वस्मिन् •पक्षस्यभीवर्त्तं ब्रह्मसामत्वेन विधाय तत्प्रगा-
याश्च निरूपिताः । अयामिजित् त्रयः स्वरसामानोदिवाकीर्त्यमहस्त्रयः
स्वरसामानो विश्वजिदिति नवरात्र इति नवरात्रो विधातव्यः, पष्ठे
मासि त्रीतिमिषुवान् एक पृष्ठञ्च कृत्वा अभिजिदनुष्ठेयः ततस्तयः स्वर-
सामानः ततो विषुवानिति तत्राभिजिद्विषुवतोर्मध्यगतान् स्वरसा-
म्नो विधत्ते ।

स्वरसामान एते भवन्ति ॥ १ ॥

यथा यथा अपूर्वैत्यस्यां योनावुत्पन्नानि चत्वारि स्वरसंज्ञकानि
सामानि येषु भवन्ति ते स्वरसामानः तानि चत्वारि आर्भवेषु पञ्चमा-
नेष्वनुष्टुप्सु कर्त्तव्यानि । प्रस्तुत्यानायान्धस अयं पूषा रयिमगः सुता-
सो मधुमत्तमा इति आनुष्टुमास्तु च एतेषु कर्त्तव्या इति । अपरे तु स्वर-
राणि पृष्ठानीति वर्णयन्ति, तदुक्तं सूत्रकृता स्वरपृष्ठाश्चेत् समसामि-
केषु पृष्ठस्तोत्रीयेष्विति । यदि स्वरसामानः स्वरपृष्ठाः स्युस्तदा स्वर-
सामसम्बन्धिबृहद्रथन्तरपृष्ठस्तोत्रीयेषु कल्पकारोक्तेषु 'यथा यथा
अपूर्वामस्यपायितेमहः प्रत्यस्मै पिपीपत' इत्येतेष्वेव स्वराणि पृष्ठानि
कुर्यादिति सूत्रार्थः । एवं विधान् स्वरसाम्न अभिजित ऊर्द्धमुपेयुरि-
त्यर्थः । तेषां स्वराख्यानां साम्नां स्वराणि पराणीति च अन्ये द्वे
संज्ञे भवतः ॥ १ ॥

तत्र स्वरसंख्यापूर्वकं स्तौति ।

स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसाऽविध्यत्तं देवाः

स्वरैरस्पृष्वन्यत् स्वरसामानो भवन्त्यादित्यस्य स्पृष्ट्यै॥२॥

आसुरो असुरजातीयः स्वर्भानुर्नाम अन्धकारात्मकः आदित्यं तम-
सा स्वशरीरभूतेनान्धकारेणाविध्यत् अबाधत आवृतवानित्यर्थः तं
आदित्यन्देवाः स्वरैः सामभिः अस्पृष्वन् तस्य तमसोऽपनयनेन अ-
ल्यन् स्पृ प्रीतिबलनयोः, बलिनं कृतवन्त इत्यर्थः । तथा सति स्वरसा-
मानो भवन्तीति यत् तत् आदित्यस्य आदित्यात्मना संस्तुतस्य विषु-
वतः स्पृष्ट्यै बलनाय प्रबलीकरणाय भवति धातूनामनेकार्थत्वात् । स्पृ-
णोती रक्षाकर्मा, देवाः स्वरैः सामभिररक्षन् इदानीमपि सन्निभिः क्रि-
यमाणानि स्वराणि विषुवदात्मन आदित्यस्य रक्षायै भवन्ति अतः स्वर-

रणसाधनत्वात् एतेषां स्वराणीति संज्ञा सम्पन्ना, तथाच तैत्तिरीयकं
यदस्यारणं तत् स्वराणां स्वरत्वमिति ॥ २ ॥

अथैतेषां परसंज्ञान्तद्धेतुकथनेन प्रशंसति ।

परैर्वै देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमपारयन्पदपार-
यंस्तत्पराणां परत्वं ॥ ३ ॥

परशब्दामिधेयैरेतैः स्वरैः देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमपारयन् प्रा-
पयन् । स्पष्टमन्यत् ॥ ३ ॥

वेदनं प्रशंसति ।

पारयन्त्येनं पराणि य एवं वेद ॥ ४ ॥

एतत् स्वरसंज्ञायामप्युपलक्षणं स्वराणि पराणीति संज्ञे यः इत्ये-
वेद एनं वेदितारं स्वर्गं लोकं पारयन्ति सामानि प्रापयन्ति संज्ञावेद-
नेन स्वर्गप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैतेषां स्वरसामानां स्तोमं विधत्ते ।

सप्तदशा भवन्ति ॥ ५ ॥

सर्वेषु स्तोत्रेषु सप्तदश स्तोमो भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

तदेतत्प्रशंसति ।

प्रजापति वै सप्तदशः प्रजापतिमेवोपयन्ति ॥ ६ ॥

संवत्सरो हि प्रजापतिः सप्तदशो भवति द्वादशमासाः पञ्चत्वं
इति एवं सति सप्तदश प्रयुज्जानाः प्रजापतिमेवोपयन्ति ॥ ६ ॥

अनुष्टुप् छन्दसो भवन्त्यानुष्टुभो वै प्रजापतिः
साक्षादेव प्रजापतिमारभन्ते ॥ ७ ॥

प्रजापतिः सवनछन्दांसि गायत्र्यादीनि सवनदेवताभ्यो विभज्य
अनुष्टुभं स्वं छन्दोऽकल्पयदिति ऐतरेयादिषु श्रवणात् प्रजापतेरानु-
ष्टुभां प्रयोगे सति साक्षात्प्रत्यक्षमेव आरभन्ते अवलम्बन्ते ॥ ७ ॥

एते स्वरसामानः कुत्रानुष्ठेया इति तेषां स्थानमाह ।

अयः पुरस्तात् अयः परस्ताद्भवन्ति ॥ ८ ॥

विषुवतः पुरस्तादभिजितऊर्ध्वमुपेतव्याः परस्ताद्विषुवतऊर्ध्वं वि-
श्वजितः प्राक् एतएव प्रतिलोममनुष्ठेया भवेयुः ॥ ८ ॥

अथैतान् प्रशंसति ।

देवा वा आदित्यस्य स्वर्गाल्लोकादवपादादविभयु-

स्तमेतैः स्तोमैः सप्तदशैरदृष्टं हन्यदेते स्तोमाभवन्त्या-
दित्यस्य धृत्यै ॥ ९ ॥

देवाः पुरा आदित्यस्य स्वर्गालोकादवपादात् अधःपतनात् अवि-
भयुर्भाता आसन् तमादित्यमेतैः स्तोमैः सप्तदशकैः स्वरसामभिः अ-
भितः स्थितैः अदृष्टं अदृढयन् यदेते स्तोमाः स्तोमयुक्ताः स्वरसा-
मानोऽभितो भवन्ति तदादित्यस्य धृत्यै धारणाय स्थैर्याय भवन्ति ॥ ९ ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसति ।

चतुस्त्रिंशा भवन्ति वर्ष्म वै चतुस्त्रिंशो वर्ष्म-
णैवैनं सम्मिमते ॥ १० ॥

तेषु स्वरसामसु प्रयुज्यमानाः सप्तदश स्तोमाः द्वौ द्वौ सम्पद्य च-
तुस्त्रिंशा भवन्ति चतुस्त्रिंशच्च वर्ष्म वै उच्छ्रितं स्थानं वर्ष्म तद्रूपः
खलु । ननु यत्र पद्विंश एव स्तोमानि त्रिवृदाद्यपेक्षया उच्छ्रितस्था-
नगताः न चतुस्त्रिंशाः कथन्तस्योच्छ्रितस्थातत्वं, नैपदोपः, अयस्त्रिं-
श एव एकाधिकश्चतुस्त्रिंशो भवतीति तदुपपत्तेः, एवं सति वर्ष्म-
णा उच्छ्रितेन स्थानेन सहैव एनमादित्यं विषुवदात्मकं सम्मिमते स-
त्रिणः स्थापयन्ति स्वरसामभ्यः पुरस्तादभिजित्कार्य्यः आवृत्तेभ्यस्ते-
भ्य ऊर्द्धं विश्वजित् तयोर्विधिर्यवादेनोन्नेय इति ॥ १० ॥

तस्य पराचीनातिपादादविभयुस्तं सव्वैः स्तोमैः
पर्यारिपन्विश्वजिदभिजिद्भ्यां वीर्यं वा एतौ स्तोमौ
वीर्येणैव तदादित्यं पर्युपन्ति धृत्यै ॥ ११ ॥

तस्यादित्यस्य पराचीनातिपादात्पराचीनेन अनामिमुख्येन अति-
पादादत्यूर्द्धगमनात् शङ्कमानात् अविभयुः भीता देवाः तं सव्वैः
स्तोमैस्त्रिवृदादिभिस्त्रयस्त्रिंशान्तैः पर्यारिपन् परिगता आसन् ऋषी-
गतौ, परितोदृष्टीश्चक्रुरित्यर्थः । कथं विश्वजिदभिजिद्भ्यां सर्वस्तो-
माभ्यामूर्द्धं विश्वजिता अधस्तादभिजितेत्यर्थः, वीर्यं वा एतौ स्तोमौ
स्तोमयन्तौ विश्वजिदभिजितौ यदेतौ भयस्तः तच्चेन वीर्येणैव आदित्यं
विषुवदात्मकं पर्युपन्ति सत्रिणः परिगच्छन्ति दृढीकुर्वन्ति किमर्थं धृत्यै
स्थिरत्वाय ॥ ११ ॥

अथ विश्वजिदभिजिद्भ्यां कुनैवा धृतिः आदित्यात्मना संस्तुतस्य
विषुवतः अनवपादायानतिपादाय न भवतीत्युक्तं उपसंहरति ।

अनवपादायानतिपादाय ॥ १२ ॥

एवं स्वरसाक्षा विश्वजिदभिजितोश्च प्रयोगेण धृतत्वात् आदित्या-
त्मनो विपुवतोऽधः पतनमुर्द्ध्वगमनञ्च न भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

तदेवं पष्ठे मासि त्रयोऽभिप्लवाः पडहाः पृष्ठयः पडह अभिजित
स्वरसामान इत्यनुपूर्व्व कर्त्तव्या इत्युक्तं तत्र कञ्चिदोपमाशङ्क्य पक्षा-
न्तरमुपन्यस्यति ।

तदाहुः कर्त्तव्यप्रस्कन्द इव वा एष यत् त्रयस्त्रिंशत्
सप्तदशमुपयन्तीति पृष्ठयोन्तरः कार्यः ॥ १३ ॥

तत्र विषये ब्रह्मवादिन आहुः, किमिति अभिजितो ह्यग्निष्टोमसाम
त्रयस्त्रिंशस्तोमकं तदभन्तरं यत् सप्तदशं स्तोमं स्वरसाम प्रापयन्ति
एषः कर्त्तव्यप्रस्कन्द इव धै कर्त्तं अवरे प्रपात इव भवति उमयोर्मध्ये त्रि-
णवैकविंशौ विद्यमानावतिक्रम्य अवाचीने सप्तदशे प्रवृत्तिरिति तस्य
दोषस्यायं परिहारः । अभिजित् स्वरसामोर्मध्ये पृष्ठयः पडहः अन्तरः
मध्यतः कार्यः ॥ १३ ॥

ननु तत्रापि पृष्ठस्य यत् पडहस्तस्मात् त्रयस्त्रिंशमुपेत इति उक्त-
दोषोऽपरिहृतो भवति तत्राह ।

तस्य यत्सप्तदशमहस्तदुत्तमं कार्यं सलोमत्वाय ॥ १४ ॥

तस्य पृष्ठ्यपडहस्य सप्तदशं तृतीयमहस्तदुत्तमं पृष्ठं कार्यं तथा
सति सप्तदशात् सप्तदशमुपेतो भवति तत् सलोमत्वाय अनुरूपत्वाय
भवति । एतदेव शाट्यायनमुनिभिर्विस्पष्टमाज्ञातं, तदाहुः स्तोमत्वं स-
त्रमिष वा एतत् स्तोमोयन्ति यत्रयस्त्रिंशत् सप्तदशमुपयन्तीति ।
पुरस्तादेव पृष्ठस्य पडहस्याभिजितमुपेत्य पृष्ठस्यैव पडहस्य तस्य यन्म-
ध्ये सप्तदशस्तदुपरिष्ठात् त्रयस्त्रिंशस्य पर्य्यहेयुः तत्सप्तदशात् सप्तदश-
मुपयन्ति ॥ १४ ॥

समाप्तमं स्तोमकृत् तत्र स्तोमा यन्तीति तमिमं पक्षं निरस्पति ।

तदाहुरुदरं वा एष स्तोमानां यत् सप्तदशो यत्
सप्तदशान्मध्यतो निर्हरेयुरशनायवः प्रजाः स्युरशनायवः
सत्रिणः ॥ १५ ॥

तत्रान्ये ब्रह्मवादिन आहुः । स्तोमानां मध्ये सप्तदश इति यत् एष-
यहस्योदरं धै उदरस्थानीयः अतो यत् यदि सप्तदशं मध्यतः पडहस्य
तध्यात् निर्हरेयुः बहिः कुर्युः अत्राद्यस्थानस्योदरस्य निर्हारात्त देशव-
र्त्तिन्यः प्रजाः अशनायवो बुभुक्षिताः क्षुधार्ताः स्युर्मवेयुः ततः सत्रि-
णोपि अशनायवो भवेयुरिति ॥ १५ ॥

कथं तत्र कर्त्तव्यमिति तदाह ।

त्रयस्त्रिंशदेव सप्तदश उपेत्यो वर्ष्म वै त्रयस्त्रिंशो वर्ष्म सप्तदशो वर्ष्मण एव तद्वर्ष्माभिसंक्रामन्ति ॥ १६ ॥

त्रयस्त्रिंशात् स्तोमात् पूर्व्वेद्युः क्रियमाणादेव अनन्तरं सप्तदश एव स्तोम उपेत्यः उपगन्तव्यः । नन्वेवं सति कर्त्तव्यस्कन्दलक्षणो दोष उक्त इति चेत् मैवं, त्रयस्त्रिंशः स्तोमो वर्ष्म अधिकसंख्यत्वात् श्रेष्ठः खलु सप्तदशोपि प्रधानभूतानां पृष्ठस्तोत्राणां निर्वर्त्तकत्वात् वर्ष्म श्रेष्ठः । एवं सति यत् त्रयस्त्रिंशात्सप्तदशमुपयान्ति तद्वर्ष्मण एव श्रेष्ठादेव वर्ष्म श्रेष्ठमभिसंक्रामन्ति अतः सप्तदशात्सप्तदशसंक्रान्तेः कर्त्तव्यस्कन्दलक्षणो दोषो न भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

अथैतेषां स्वरसाम्नां संख्यानिर्णयाय ब्रह्मवादिनां विचारं दर्शयति ।

तानाहुर्मुक्थाः कार्याः अग्निष्टोमा इति यद्युक्थाः स्युः ॥ १७ ॥

केपुचिद् ब्राह्मणेपु स्वरसाम्नां उक्तत्वं श्रुतं केपुचिदग्निष्टोमत्वं तदुभयदर्शनात् संशये ब्रह्मवादिभिर्विचार्यते तान् स्वरसाम्नोऽधिकृत्यैवमाहुः किमुच्यते उक्त्यसंस्थाः कार्याः उताग्निष्टोमसंस्था इति विचार्यमाणानामिति वाक्यद्वये प्लुतिः ॥ १७ ॥

उक्तत्वपक्षे तावदयं गुणइत्याह ।

पशवो वा उक्तानि शान्तिः पशवः शान्तेनैव तद्विपुवन्तमुपयन्ति ॥ १८ ॥

तदुक्त्याः स्युः स्वरसामानः तदा शान्तेनैव कर्मणा विपुवन्तं आदित्यात्मना संस्तुतमुपयन्ति परित्यागमावायेति शेषः कथमुक्त्यस्य शान्त्वमुच्यते पशवो वा उक्तानि तत्साधनत्वात् शान्तिश्च पशवः पशुप्रभावेन क्षीरादिनोत्पाद्यत्वात् अत उक्त्यस्य शान्तत्वम् ॥ १८ ॥

अग्निष्टोमाख्यं विद्यास्पृष्टमं पक्षन्दूपयति ।

तदाहुर्विषीवधमिव वा एतद्यदग्निष्टोमो विषुवानग्निष्टोमौ विश्वाजिदभिजितावधेतर उक्थाः स्युरिति ॥ १९ ॥

तत् स्वरसामविषये ब्रह्मावादिन आहुः । उभयतः शिष्यगतमारुह्योपेतं स्कन्धेन घोढव्यं काष्ठं धीवधं विषमं धीवधं विषीवधं तद्विवेकतत् यत्त्वविषुवान् विश्वजिदभिजिताविति त्रयोऽग्निष्टोमाः अथेतेरे स्वरसामान उक्थाः स्युः अग्निष्टोमानां द्वादशस्तोत्रशस्त्रत्वादल्पत्वं उ-

कथानां पञ्चदशस्तोत्रशस्त्रत्वाद्गुरुत्वं न हि गुरुलघू भारौ धीवचेन बोद्धुं
शक्यौ अतो वैषम्यादेतदवधिषम् ॥ १९ ॥

अग्निष्टोमा एव सर्व्वे कार्याः ॥ २० ॥

सर्व्वेऽपि स्वरसामानोऽग्निष्टोमसंस्था एव कार्याः ॥ २० ॥

अथैतत्प्रशंसति ।

वीर्य्यं वा अग्निष्टोमो वीर्य्य एव मध्यतः प्रतिति-
ष्ठन्ति नव संस्तुता भवन्ति नव प्राणाः प्राणेष्वेव प्र-
तितिष्ठन्ति ॥ २१ ॥

योऽयमग्निष्टोमः स वीर्य्यं वै सर्व्वप्रकृतिवाङ्मौर्य्यरूप एव तथा सति
स्वरसामानोऽग्निष्टोमसंस्थान् कुर्व्वन्तः सत्रिणः मध्यतो गवामयनस्य
मध्ये वीर्य्यं एव प्रतितिष्ठन्ति किञ्च संस्तुता एते षट् स्वरसामानो भ-
वन्ति नवसंख्यायाविभागे समाप्यन्ते तथाहि एकैकमहर्द्धादशस्तोत्रं
सर्व्वेषु च स्तोत्रेषु सप्तदश एव स्तोमः तत्रैकस्मिन्नहनि चतुराधिकाद्वि-
शतस्तोत्रीया भवन्ति एवं षट्सु स्वरसामसु सप्तदशं चतुर्धिशत्युत्त-
रद्विशतञ्च स्तोत्रीया भवन्ति ताश्च षट्त्रिंशदधिकशतं नवका भव-
न्ति किमतो भवति उच्यते नवसंख्या हि पुरुषे प्राणाः सप्त शीर्षण्याः
द्वाषवाञ्चाधिति तथा सति नवसंख्याकेषु प्राणेष्वेव सत्रिणः प्रतितिष्ठता
भवन्ति दीर्घायुषोभवन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

अथ षष्ठः खण्डः ।

गवामयनस्य मध्यवर्त्तिनि नवरात्रे अष्टावहान्युक्तानि अथ पूर्वोत्त-
रयोः पक्षसोर्मध्येऽनुष्ठेयं गवामयनस्य प्रधानभूतं विपुवशाख्यमहः प्र-
दर्शयति ।

विपुवानेष भवति ॥ १ ॥

एष विपुवान् संवत्सरस्य सत्रस्य मध्यतो भवति ॥ १ ॥

अधेमं स्तौति ।

देवलोको वा एष यद्विपुवान्देवलोकमेव तदभ्या-
रोहन्ति ॥ २ ॥

यत् यो विपुवान् एष देवलोको धे देवानां लोकः स्थानभूत आदि-
त्यात्मको हि विपुवान् तत्तेन विपुवतः प्रयोगेण देवलोकमेव यजमाना
अभ्यारोहन्ति ॥ २ ॥

अथ तस्मिन्नहनि स्तोमं विधत्ते ।

एकविंशो भवत्येकविंशो वा अस्य भुवनस्या-
दित्य आदित्यलोकमेव तदभ्यारोहन्ति ॥ ३ ॥

तस्मिन्नहनि सर्वेषु स्तोत्रेष्वेकविंश एव स्तोमो भवति । अस्य
भुवनस्य लोकस्य आदित्य एकविंशो वै अत आदित्यात्मकस्य विपु-
चत एकविंशस्तोमत्वमुचिनं एकविंशस्तोममुपयन्तीति यत् तेन
आदित्यलोकमेवाभ्यारोहन्ति ॥ ३ ॥

कथमादित्यस्यैतल्लोकापेक्षयैकविंशत्वमिति तत् दर्शयति ।

द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य
एकविंशः ॥ ४ ॥

हेमन्ताशिशिरयोः समासेनैकत्वात् ऋतूनां पञ्चसंख्या ॥ ४ ॥

एकविंशस्तोमप्रयुक्तं फलं दर्शयति ।

मध्यत एव यज्ञस्य प्रतितिष्ठन्ति ॥ ५ ॥

एकविंशो वै स्तोमानां प्रतिष्ठा अतो यज्ञस्य संवत्सरसत्रस्य
मध्यतोमध्य एवास्मिन्लोके प्रतितिष्ठन्ति यद्वा द्वादशमासा इत्यादिना
ये अनुक्रान्ता एषु सर्वेषु प्रतितिष्ठन्ति, तथाच शाट्यायनकं, एकवि-
ंशो विपुवान् भवति एकविंशो वा अस्य भुवनस्य विपुवान् द्वाद-
शमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंशः सर्वस्मि-
न्या एषोतिप्रतिष्ठितः यद्यस्मिन्नेव सर्वस्मिन्नधिप्रतितिष्ठन्तीति तस्मिन्
सर्वस्मिन्नधिप्रतिष्ठामेति ॥ ५ ॥

अस्मिन्नहनि बहिष्पवमानस्य प्रतिपदं विधत्ते ।

वायो शुक्रो अयामित इति शुक्रवती प्रतिपद्भव-
त्यादित्यस्य रूपं ॥ ६ ॥

प्रतिपदिति प्रथमस्तुच उच्यते अयन्तुचो विपुवति बहिष्पवमान-
स्य प्रतिपद्भवति प्रतिपच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् शुक्रवती स्त्रीलिङ्गता
भास्वरवाचकशुक्रशब्दोपेतत्वात् एव आदित्यस्य रूपं आदित्यात्मक-
स्य विपुवतोऽनुरूपं ॥ ६ ॥

ननु सर्वेष्वहःसु पावमान्या गायत्र्या हि प्रतिपदा भाव्यं, तत्र
कस्माद्वायवित्यनुष्टुप् विधीयत इति तत्राह ।

वायुर्वा एतन्देवतानामानशेऽनुष्टुप् छन्दमां यद-
तोन्वा प्रतिपत् स्यात्प्रदहेत् ॥ ७ ॥

देवतानां देवानां मध्ये वायुरेवैनमादित्यमानशे व्याप्नोति, छन्द-
साम्मध्ये अनुष्टुबेनमानशे नान्यश्छन्दः यद्यपि अतो वायव्याया अ-
न्या अन्यदेवत्या प्रतिपत्स्यात् तदा यजमानान् प्रदहेत् ॥ ७ ॥

अथेतां वायव्यां प्रशंसति ।

यन्ति वा एते प्राणादित्याहुर्ग्ये गायत्र्याः प्रति-
पदो यन्तीति यद्वायव्या भवन्ति तेन प्राणान्न यन्ति-
प्राणोहि वायुः ॥ ८ ॥

ये यजमानाः गायत्र्याः प्रतिपदो यन्ति अपगच्छन्ति गायत्रीप्रति-
पदं न प्रयुज्जते एते प्राणापानव्यानरूपेण गायत्रीसंस्तुतान् प्राणादेव य-
न्त्यपगच्छन्तीति अत एते प्राणधिरहात् सद्यएव क्षियेरन् इति ब्रह्म-
वादिन आहुः, तत्रायं परिहारः वायव्या वायुदेवत्या प्रतिपद्भवतीति
यत् तेन प्राणाश्च यन्ति नापगच्छन्ति । तत्कुतो हेतोः प्राणो हि वायुर-
तस्तद्देवत्यया प्राणलाभोयुक्त एवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथानया अपरोपि गुणो भवतीत्याह ।

अथो शमयन्त्येवैनमेतया शान्तिर्हि वायुः ॥ ९ ॥

अथो अपिच एनं तपन्तमादित्यं एतया वायव्या शमयन्त्येव वायुः
शान्तिर्हि तापशान्तिकरो भवति ॥ ९ ॥

पवमानस्तोत्रस्य सोमदैवत्यत्वात् वायव्यानुपपन्नेत्याशङ्क्याह—

आयाहि सोमपीतय इति सौमी पावमानी ॥ १० ॥

वायो शुक्रो अयामित इत्यस्यामृचि अनेन तृतीयपादेन सोमकर्तृ-
त्वात् सोम एव पवमानो भवति । एषां सौमी पावमानी च भवति अत
उपपन्नैषा पवमानस्तोत्रे ॥ १० ॥

तथैषा शान्तिहेतुश्चेति प्रशंसति—

नियुत्वती भवति पशवो वै नियुतः शान्तिः पशवः
शान्तेनैव तदादित्यमुपयान्ति ॥ ११ ॥

स्पांर्हो देव नियुत्वतेति नियुच्छब्दोऽस्यां दृश्यते, नियुतश्च वायवो-
हि वडवास्ताश्च पशवः पशवश्च शान्तिरूपाः एवञ्च नियुत्वती एषा प्र-
तिपद्भवतीति यत् तेन शान्तेनैवानुष्ठानेन आदित्यप्रदाहाय ॥ ११ ॥

अथास्मिन्नहनि सामानि विधत्ते—

दिवाकीर्त्यसामा भवति ॥ १२ ॥

दिवाकीर्त्यानि सुक्रियाणि सामानि अस्मिन् प्रयुज्जन्त इति दिवा-

कीर्त्यसामा । अयं विपुवान् दिवाकीर्त्यसामा कार्यः । कानि पुनस्ता-
नि दिवाकीर्त्यानि, भ्राजाम्राजे इत्यादिना अग्रे वक्ष्यमाणानि ॥ १२ ॥

अथैतद्दिवाकीर्त्यसामत्वं प्रशंसति—

स्वर्भानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसाविध्यत्तस्य दे-
वा दिवाकीर्त्यैस्तमोऽपाघ्नन्त्यद्दिवाकीर्त्यानि भवन्ति तम-
एवास्मादपघ्नन्ति रश्मयो वा एत आदित्यस्य यद्दिवा-
कीर्त्यानि रश्मिभिरेव तदादित्यं साक्षादारभन्ते ॥ १३ ॥

आसुरेण स्वर्भानुना तमसा विद्धस्यादित्यस्य बाधकं तमोऽन्धकार
देवा दिवाकीर्त्यैः सामभिरपाघ्नन् व्यनाशयन् अतो यद्दिवाकीर्त्यान्य-
स्मिन् भवन्ति तेन तम एवास्मादादित्यादपघ्नन्ति । कथमेषां साम्नां
तमसो हननसामर्थ्यमिति चेत् उच्यते, दिवाकीर्त्यसामानीति यत् ए-
ते आदित्यस्य रश्मयो वै रश्मिरूपा एव अत एषां युक्तमेव तमसो ना-
शकत्वं तत्तथा सति रश्मिभिरेवादित्यं साक्षात् प्रत्यक्षमारभन्ते, ये स-
त्रिणो विपुषति दिवाकीर्त्यानि प्रयुञ्जत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

दिवाकीर्त्यसामभिस्तमसाऽपहनन सामान्येनोक्तं तदेव विवृणोति—

भ्राजाम्राजे पवमानमुखे भवतो मुखत एवास्य ता-
भ्यां तमोऽपघ्नन्ति ॥ १४ ॥

पवमानमुखे मध्यान्दिनार्भवयोः पवमानयोर्मुखे प्रमुखे भ्राजाम्राजे
सामनी भवतः । गायत्रस्य नित्यत्वात् ततः परस्तात् क्रमेण भवत इत्य-
र्थः । अस्य प्रज्ञामनुद्युतमिति तृचे गातव्यं साम भ्राजं तन्माध्यन्दिने
पवमाने मुखे । परिस्वानो गिरिष्ठा इत्यस्मिन्त्यसाम आभ्राज तदार्भ-
वपवमानमुखे । यद्यप्यत्र पवमानमुख इति सामान्यसम्यन्धएव दृश्यते
ये गायत्रे ते गायत्रीपूत्तरयोः पवमानयोरिति विशेषावगतेरेवं व्या-
ख्यातं, स्पष्टमन्यत् । अनेन भ्राजाम्राजयोः साम्नोः स्थाननियमोऽर्था-
दुक्तोभवति ॥ १४ ॥

तथान्येषामपि त्रयाणां साम्नां स्थानविशेषं प्रदर्शयन् पूर्वोक्तं त-
मोऽपहननमेव तत्साध्यं प्रदर्शयति—

महादिवाकीर्त्यञ्च द्विकर्णञ्च मध्यतो भवतो मध्यत-
एवास्य ताभ्यां तमोऽपघ्नन्ति भासमन्ततो भवति पक्ष-
एवास्य तेन तमोऽपघ्नन्ति ॥ १५ ॥

विभ्राद् बृहत्पिबतु सोम्यमध्विति तृचे जागते गेयं साम महादिवा-

कीर्त्यम् । इन्द्र क्रतुश्च आभरेति प्रगाथे गेयं विकर्णम् । एते सामनी मध्य-
तोऽस्य विपुवतो मध्ये पृष्ठस्तोत्रेषु भवतः । महादिवाकीर्त्यं होतृसाम
इतरद् ब्रह्मसाम । तथाच तैत्तिरीयकं, महादिवाकीर्त्यं होतुः पृष्ठं विकर्णं
ब्रह्मसामेति । एवं सति ताभ्यामस्यादित्यस्य मध्यतो मध्यदेशात् एव
तमो विनाशयन्ति । तथा अन्ततोऽन्तेऽवसाने भासमग्निष्टोमसाम कार्य्यम्
प्रत्यक्षस्येत्यस्यामृच्युत्पन्नं दशस्तोभं साम भासं तन्मूर्द्धानम् इति
तृचेऽत्र गातव्यम् । तेनान्ततः कियमाणेनैव भासेन पक्षः पादप्रदेशादेव
नमोऽपन्नन्ति ॥ १५ ॥

आग्निष्टोमसामत्वेन विहितं भासं प्रशंसति—

दशस्तोभं भवति दशाक्षरा विवराड् विवराज्येव प्र-
तिष्ठति ॥ १६ ॥

इदं भासं दशस्तोभं भवति आद्यन्तयोः प्रयुज्यमाना हाउहावादयो
भासान्ता दशस्तोभास्तेर्युक्तमेतत् । विराट् दशाक्षरा सा चान्नरूपा
“अक्षं वै विराड्”ति श्रुतेः । तथा सति दशस्तोभेन साम्ना विराज्येव
मन्त्रिणः प्रतिष्ठिता भवन्ति ॥ १६ ॥

भासस्य स्तोत्रियद्वारेण स्तुतिं चिकीर्षुः कञ्चित्प्रश्नमुपक्षिपति—

यत्त्वित्याहुः पङ्क्तिभिरितो मासैरध्वानं यन्ति पङ्क्तिभिः
पुनरायन्ति क तर्हि स्वर्गलोको यस्य कामाय सत्रमा-
सत इति ॥ १७ ॥

इतोऽस्माह्लोकात् पङ्क्तिभिः पूर्वपक्षसि भवैर्मासैः अध्वानमेव यन्ति
स्वर्गप्राप्तिसाधनमार्गमेव यन्ति । पुनरुत्तरपक्षैः पङ्क्तिभिः मासैरायन्ति
इमेव लोकं प्रत्यागच्छन्ति । तर्हि तथा सति स्वर्गलोकः क भवति ?
यस्य स्वर्गस्य कामाय काममाप्नुम् इमे यजमानाः सत्रमासत इति यत्तु
यन् खल्वाहुः कथयन्ति ब्रह्मवादिनः ॥ १७ ॥

तत्रेदमुत्तरमाह—

मूर्द्धानन्दिव इति स्वर्गं लोकमारभन्ते ॥ १८ ॥

विपुवतोऽग्निष्टोमसाम्नि मूर्द्धानन्दिव इति स्वर्गलोकवाचकशब्दप्र-
योगात् प्रयोगफलभूतं स्वर्गं लोकमारभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ १८ ॥

तर्हि व्याप्तत्वात् सत्रावसानएव त्रियेत् तत्राह—

अरतिं पृथिव्या इत्यस्मिँह्लोके प्रतितिष्ठन्ति ॥ १९ ॥

यत्र पृथिव्या इति कीर्त्तनात् एषामस्मिँह्लोके प्रतिष्ठा भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ तस्यैतस्य स्तोत्रीयस्य तृचो विपुवतो रूपमित्याह—

वैश्वानरमृतआजातमग्निमिति विपुवत एव तद्रूपं
क्रियते ॥ २० ॥

ऋतामित्यादित्यनाम विपुवानप्यादित्यसंस्तुतः । अत ऋतशब्दस्य
कीर्त्तनं विपुवतोरूपमित्यर्थः । इत्थं प्रथमायाः स्तोत्रीयायाः पादद्वयेन
प्रशंसा कृता ॥ २० ॥

अथ तृतीयापादे अतिथिशब्देनाग्राचप्राप्तिर्भवतीत्याह—

काविं सन्नाजमतिथिञ्जनानामित्यन्नाद्यमेवोपयन्ति ॥ २१ ॥

अतिथिर्ह्यग्नेन तर्पणीयः । अतस्तद्वाचकेनातिथिशब्देन तत्सम्बन्धि
नोऽग्नस्य प्रतीतिः । सन्निधौऽग्राद्यमेवोपगच्छन्ति ॥ २१ ॥

चतुर्थपादे जनयन्तेति पदप्रयोगेण फलं दर्शयति—

आसन्नापात्रजनयन्त देवा इति जायन्त एव ॥ २२ ॥

जनिघातोः प्रयोगात् विशिष्टेन संस्कृतरूपेण पुत्रपौत्रादिना वा
जायन्त एवेति ॥ २२ ॥

विहितमहः प्रशंसति—

तात्रिष्टुब्जगतीषु भवति त्रैष्टुब्जागतो वा आदित्यो
यदतोऽन्यासु स्यादथ स्वर्गाह्नोकात्पथेरन् ॥ २३ ॥

तदेतद्विपुवदहस्त्रिष्टुब्जगतीषु च भवति । अत्र चाहःशब्दपरामर्श-
केन तच्छब्देन तस्मिन् प्रधानभूतं पृष्ठस्तोत्रमग्निष्टोमेति तदेतद्विष्टु-
ब्जगतीषु कर्त्तव्यं, पृष्ठं हि महादिवाकीर्त्यं तद्विष्टुब्जद्विष्टुब्जद्विष्टुब्ज-
तृचे गातव्यं मूर्द्धानमिति तृचे त्रैष्टुम्भे अग्निष्टोमसाम भासं कार्यं त-
च्छब्देन प्रकृतं भासमेवैकं साम परामृश्यते । तत् त्रिष्टुब्जगतीषु त्रैष्टु-
भजागतरूपयुक्तासु कार्यं, तथा हि मूर्द्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या इत्यस्मि-
न्व्या इत्यत्र विद्या इति ऋचो व्यूहेन द्वादशाक्षरत्वात् एषा जागतरूपा-
स्वतस्त्रिष्टुप्त्वादेव त्रैष्टुभरूपाऽपि तिस्रोपि ऋचः त्रिष्टुब्जगत्यो भव-
न्ति निदाने त्वेतद्वाक्यमुदाहृत्य त्रिष्टुब्जगतीष्विति पदं बहुधा व्या-
ख्यातं तत्सर्व्वमनुसन्धेयम्, आदित्यश्च त्रैष्टुब्जागतः कथं गायत्रो
वा अयं लोकः त्रैष्टुभोऽन्तरिक्षलोकः जागतोऽसौ लोकः दिवश्चान्तरि-
क्षस्य मध्ये सञ्चरतीत्यादित्यस्त्रैष्टुब्जागतो भवति विपुवांश्चादित्य-
स्तुतः । अतो विपुवतोऽग्निष्टोमस्य साम त्रैष्टुब्जागतमेव स्यादित्यर्थः ।
ननु शात्यायनकादिषु अनुष्टुप्सु भासं कार्यमिति दृश्यते तत्कथं त्रि-
ष्टुब्जगतीष्विति चेत् नैवम्, अतस्त्रिष्टुब्जगतीभ्यामन्यासु अन्यच्छब्द-

स्कासु यद्यदि भासं स्यात् स्वर्गल्लोकादवपद्येरन् अधः पतेयुः
सन्निगः ॥ २३ ॥

तथा प्रकारान्तरेण एता ऋचः प्रशंसति—

सम्राड्वतीषु भवति साम्राज्यं वै स्वर्गो लोकः
स्वर्ग एव लोके प्रतितिष्ठन्ति ॥ २४ ॥

सम्राड्शब्दवतीषु ऋक्षु भासप्रशिष्टोमसाम भवति यत् स्वर्गस्तत्
साम्राज्यं वै साम्राज्यम् ईश्वरस्य कर्म्मार्थं तथा सति कविं सम्राज-
मिति सम्राड् शब्दप्रयोगात् साम्राज्ये स्वर्गलोके प्रतितिष्ठता भवन्ति ॥ २४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

अथ समस्तः खण्डः ।

“पुर्वमवादिष्म इन्द्र क्रतुघ्न आभर” इत्यास्मिन् प्रगाथे विपुवति वि-
कर्णं ब्रह्म साम कार्यमिति त प्रगाथं माध्यन्दिने पवमाने अमीवर्त्ता-
र्यं साम च विधास्यशाह—

आत्मा वा एष संवत्सरस्य यद्विपुवान् पक्षावेता-
वभितो भवतो येन चेतोऽभीवर्त्तेन यन्ति यश्च पर-
स्तात्प्रगाथो भवति तावुभौ विपुवति कार्थ्यौ पक्षा-
वेव तद्यज्ञस्यात्मन् प्रतिदधति स्वर्गस्य लोकस्य स-
मष्ट्यै ॥ १ ॥

यत् यो विपुवान् एष सर्व्वसंसारस्य गवामयनस्यात्मा मध्यमौ
द्वौ षण्मासौ एतौ विपुवन्तमभितः क्रियमाणौ पक्षावेव भवतः । तत्र
पुर्व्वस्मिन् पक्षसि येनाभीवर्त्तेन यन्ति यश्च परस्तादुत्तरस्मिन् पक्षसि
“इन्द्र क्रतुमि”ति प्रगाथो भवति एतौ विपुवतः पक्षभूतौ । अतो विपुवति
कार्थ्यौ । प्रगाथे विकर्णादयः कार्थ्याः । अमीवर्त्तश्च माध्यन्दिने पवमाने
कार्यः । एतत्तैत्तिरीयोः करणेन यज्ञस्य गवामयनस्यात्मने पक्षौ प्रतिदध-
ति यज्ञमानाः । एतच्च पक्षयोः प्रतिनिधानं स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै
सम्यक् प्रतिकल्पते पक्षवाद्धि पतितुं शक्नोति ॥ १ ॥

कोऽसौ प्रगाथ उत्तरपक्षे यो यस्मिन् विकर्णं भवति तमाह—

“इन्द्रक्रतुघ्न आभरे”ति प्रगाथो भवति ॥ २ ॥

स्वष्टोऽर्थः ॥ २ ॥

अस्य प्रगाथस्य प्रयोगः प्रजातिहेतुरित्याख्यानमुखेन दर्शयति—
वसिष्ठो वा एतं पुत्रहतोऽपश्यत् स प्रजया पशुभिः
प्राजायत यदेष प्रगाथो भवति प्रजात्यै ॥ ३ ॥

पुत्रहतो हतपुत्रः सौदास अग्नौ प्रक्षेपात् शक्त्याप्ये पुत्रे हते इमं
प्रगाथं वसिष्ठोऽपश्यत् स तेन प्रगाथेन प्रजया च पशुमिश्च प्राजायत
यदेष प्रगाथो भवति गवामयने तत् सन्निपां प्रजात्यै पुत्रादिरूपेण य-
जमानाय भवति ॥ ३ ॥

अस्मिन् प्रगाथे “जीवा ज्योतिरशीमही”ति जीवनप्रतिपादनात् स
वत्सरस्य क्षेमेण सन्तरणमेव प्रार्थयितव्याह—

जीवा ज्योतिरशीमहीति ये वै स्वस्ति संवत्सरं-
सन्तरन्ति ते जीवा ज्योतिरश्नुवते ॥ ४ ॥

ये खलु यजमानाः स्वस्ति खलु क्रमेण संवत्सरं सन्तरन्ति ते
जीवाः जायन्तः सन्तो ज्योतिरश्नुवते एतत्पादेन जीवतामेव सतां
संवत्सरसत्रसम्पूर्यां तेजसः प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

तथास्मिन् प्रगाथे विद्यमानं दुराध्य इति पदं व्याचष्टे—

मानो अज्ञाना वृजना दुराध्यो माशिवासोऽवक-
शुरिति ये वै स्तेना रिपवस्ते दुराध्यस्तानेव तदति
क्रामन्ति ॥ ५ ॥

स्तेनाः तस्करा रिपवो बाधकाश्चेति दुराध्यः दुष्टाध्यानाः तानेव त-
त्तेन पदोऽतिक्रामन्ति अशिवासोऽशिवकरा “अस्मात् प्रचिक्रमिषुरिति
मन्त्रवर्णात् । उत्तरप्रन्थे ऋचः सर्वा ह्याख्याता अस्माभिरिति पुनर-
त्र न व्याख्यायन्ते ॥ ५ ॥

पुनरपि प्रगाथशेषमुदाहृत्य प्रशंसति—

त्वया ववयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तराम सो-
ऽतिसंवत्सरो वै प्रवतः शश्वतीरपस्तमेव तत्तरन्ति ॥ ६ ॥

शश्वतीः बह्वीः प्रवतः प्रवणगामिनीः । अपोऽतितराम इति अति-
तरणं ध्रूयते । अत्र प्रवतः शश्वतीरप इति त्रिभिरपि शब्दैर्बहु-
ध्यानेन दुस्तरत्वात् संवत्सरं एवोच्यते एतत् एतेन प्रार्थनेन तं संव-
त्सरमेव यजमानास्तरन्ति ॥ ६ ॥

अथोत्तरस्मिन् पक्षसि विकल्पे त्रयः “प्रगाथाः इन्द्रकतुमि”त्यस्य
स्थाने कत्तव्या इत्युपन्यस्यति—

अथाद्याश्वः श्वस्त्वामिदा ह्यो नरो वयमेनमिद्रा
ह्य इति सन्तनयः प्रगाथा भवन्ति तेषामेकः कार्य्यः
सलोमत्वाय श्वस्तनमेवाभिसन्तन्वन्ति ॥ ७ ॥

एषु प्रगाथेषु अथाद्या श्वः श्वः । इदानीमिदानीं ह्यः पूर्व्वेष्टुरिति अ-
हर्षसम्बन्धदर्शनात् एते प्रगाथाः सन्तनयः सन्तानस्य अहर्षसम्ब-
न्धस्य बाधका भवन्ति । अत उत्तरस्मिन् पक्षसि तेषामेकः प्रगाथः का-
र्य्यः । सच्च सलोमत्वायानुलोमतायै भवति । एवं कुर्व्वन्तो यजमानाः
श्वस्तनम् आगाम्यहरेव वर्त्तमानेनाह्वा भमिसन्तन्वन्ति सन्ततं सम्प-
न्नं कुर्व्वन्ति ॥ ७ ॥

इमं पक्षं निरूप्य पूर्व्वोक्तमेव प्रगाथं विदधाति—

अथो खल्वबाहुर्निद्र कतुप्र आभरेत्येव कार्य्यं-
समृद्धौ ॥ ८ ॥

अथो खल्विति पक्षान्तरपत्तिग्रहे । समृद्धौ समृद्धयर्गमिन्द्र कतुप्र आ-
भरेत्येव प्रगाथं कार्य्यमिन्द्राहुर्महत्वादिनः । बलिष्ठो वा एतं पुत्रहतम्
शत्रादिना समृद्धिहेतुत्वं चास्योक्तम् ॥ ८ ॥

अथोत्तरस्मिन् पक्षसि अहःकलमिति विदधाति—

प्रत्यवरोहिणो मासा भवन्ति ॥ ९ ॥

पूर्व्वस्मिन् पक्षसि ये मासा अनुक्रान्तास्ते उत्तरस्मिन् पक्षसि प्रत्यव-
रोहिणः कार्याः प्रथमं तावत् स्वरस्तामानः तृतीयो द्वितीयः प्रथम इति
क्रमेण प्रथममनुष्ठेयाः पृष्ठपक्ष घण्टाशारम्भणस्त्रिदुषतः कार्य्यः ।
अभिष्टुया अपि प्रतिलोमा मवेयुः ॥ ९ ॥

यथा वा इतो वृक्षं रोहन्त्येवमेतं प्रत्यवरोहन्ति
स्वर्गमेव तल्लोकं रुद्रास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठन्ति ॥ १० ॥

यथा खलु लोकं पुण्या इतो मूलादारम्य उग्रतं वृक्षं रोहन्ति
रुद्रा च पुनरग्रादारम्य मूलमवरोहन्ति एवमेव तत् पद्मभिर्मासैरा-
रुह्य एतं यज्ञ यजमानाः प्रत्यवरोहन्ति तत्तेनारोहाधरोहयोः करणेन
स्वर्गमेव लोकं रुद्रा पद्मभिः मासैरारुह्य पुनः पद्मभिर्मासैरवरोह-
णेनास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठता भवन्ति ॥ १० ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

एवमुत्तरस्मिन् पक्षसि स्वरसामप्रभृति प्रत्यचरोदणमासानुपय-
न्ति उत्तरे मासि श्रौतभिप्लवान् कुर्युः । ततो गोआयुषी द्वे अहनी कर्त्त-
व्ये तत्र विधीयते—

गौश्चायुश्च स्तोमौ भवतः ॥ १ ॥

गोष्टोम आयुष्टोमश्चेति द्वे अहनी उक्थसंस्थे कर्त्तव्ये ॥ १ ॥

अनयोर्द्वित्वसङ्ख्यां प्रशंसति—

द्विपाद्यजमानः प्रतिष्ठित्यै ॥ २ ॥

यस्मादिमौ गोष्टोमायुष्टोमौ द्वौ । अतो द्विपाद् यजमानः प्रतिष्ठित्यै
प्रतिष्ठानाय भवति ॥ २ ॥

स्तोत्रीयासंख्याद्वारेणेतौ प्रशंसति—

ऊनातिरिक्तौ भवत ऊनातिरिक्तं वा अनु प्रजाः
प्रजायन्ते प्रजात्यै ॥ ३ ॥

तत्र गोष्टोमस्य पञ्चदशं बहिष्पवमानं त्रिवृदाज्यानि सप्तदशं मा-
ध्यन्दिनं सवनम् एकचत्वारिंशदधिकद्विशताः स्तोत्रीया भवन्ति ।
आयुष्टोमस्य तु त्रिवृद्बहिष्पवमानं पञ्चदशान्याज्यानि शेषं गोष्टोमव-
दिति स्तोमकल्पात् सत्येकोनपष्ठ्यधिकद्विशतस्तोत्रीया भवन्ति । उभ-
यत्र दशसंख्यया विराट्संपादने सति एतौ गोष्टोमायुष्टोमौ ऊनाति-
रिक्तौ भवतः । गोष्टोम एकया स्तोत्रीययातिरिक्त इतरश्चैकया न्यूनः
किमितो भवति उच्यते 'ऊनं वातिरिक्तं यदाहि पुंसो हि वीर्यमतिरि-
क्तं स्त्रिया न्यूनमथवा स्त्रिया अतिरिक्तं पुंसो न्यूनम्, एतदूनातिरिक्तं
युगलमनुलक्ष्य ईदृशे युगले प्रजाः प्रजायन्ते स्त्रीपुंसरूपा उत्पद्यन्ते ।
यदा तु स्त्रीपुंसयोरपि वीर्यं समं भवति तदा नपुंसकमेव जायते । उक्तं
हि 'पुमान् पुंसोधिके शुके स्त्री भवत्याधिके स्त्रियाः, तथाच या-
स्कः, "शुक्रातिरेके पुमान् भवति, शोणितातिरेके स्त्री भवति, द्वाभ्यां
समेन नपुंसको भवती"ति । एवं न्यूनातिरिक्तं करणं सत्रिणां प्रजात्यै
पुत्रादिरूपेण प्रजननाय भवति ॥ ३ ॥

अथैतौ संयुज्य स्तौति—

वैराजो भवतोऽन्नं विराडन्नाद्य एव प्रतितिष्ठन्ति ॥ ४ ॥

एतौ गोष्टोमायुष्टोमौ वैराजौ विराजमभिसम्पन्नौ भवतः 'दशाक्ष-
रा विराडिति श्रुतः । दशसंख्यया अनयोः स्तोत्रीयाणां विभागे सति-
विराट्संपत्तेर्वैराजत्वं, स्पष्टमन्यत् ॥ ४ ॥

इत्थमुत्तरस्मिन् पक्षे षष्ठे मासि त्रिंशत्संख्यान्यहानि विहितानि
तत ऊर्ध्वं द्वादशाहस्य मध्यतो यो दशरात्रः स कर्त्तव्य इति विदधाति—

द्वादशाहस्य दशाहानि भवन्ति ॥ ५ ॥

प्रायणीयोदयनीयौ मुक्ता यानि मध्ये दशाहानि तानि कर्त्तव्यानी-
त्यर्थः ॥ ५ ॥

अथैतानि स्तौति—

विरड्वा एषा समृद्धा षड्दशाहानि विराज्येव स-
मृद्धायां प्रतितिष्ठन्ति ॥ ६ ॥

सर्वस्तोमसर्वपृष्ठसंयोगात् एषा समृद्धा विराज्यत् यान्येता-
नि दशाहानि तेन विराज्येव समृद्धायां सत्रिणः प्रतितिष्ठता भवन्ति ॥६॥

अथ विहितानि दशाहान्यवयुज्य स्तौति—

पृष्ठानि भवन्ति ऋषीर्षे वै पृष्ठानि ऋषीर्षे एव प्रतिति-
ष्ठन्ति छन्दोमा भवन्ति पशवो वै छन्दोमाः पशुष्वेव-
प्रतितिष्ठन्त्यथैतद्दशममहराप्तस्तोममाप्तछन्दआप्तवि-
भक्तिकमनिरुक्तं प्राजापत्यम् ॥ ७ ॥

पृष्ठे पङ्क्ते क्रमेण रथन्तर्यद्वैरूपवैराजशाकरैवतानि सामानि
पृष्ठानि पृष्ठस्तोत्रनिर्वाहकाणि भवन्ति तानि च सर्वसाधकत्वाद्वाङ्मर्य-
मित्युच्यते तथा सति धार्य्येव प्रतितिष्ठन्ति पङ्क्तानन्तरं त्रयश्छन्दोमा
भवन्ति ते च पशुसाधनत्वात् पशवो वै तदनुष्ठानेन पशुष्वेव प्रतिति-
ष्ठन्ति । अथ छन्दोमानन्तरं एतद्दशममहरविश्राक्यनामकं भवति तदे-
वाहराप्तस्तोमादि विशेषणैर्विशेष्यते एकाहि गणो द्वादशाहिको दशरात्रः
तत्र पूर्वेष्वहस्सु त्रिवृदादयोऽष्टाचत्वारिंशान्ताः स्तोमाः क्रमेण प्रयु-
ज्यमाना आप्यन्ते समाप्यन्ते इत्याप्तस्तोमकमेतत् । तथा आप्तछन्दवि-
भक्तयश्च सः तं तेन तस्मै तस्मात् तस्य तस्मिन्निति सप्त आमन्त्रित-
विभाक्तरष्टमी ताश्च पूर्वेष्वेवाहस्सु समाप्ता इति । इदमहराप्तविभ-
क्तिकमनिरुक्तं देवतावाचिनः षडस्य पृष्ठस्तोत्रे अमाद्यादनिरुक्तम् अत्र
हि 'कयानश्चित्र आभुवदि'ति कवतापु रथन्तरं पृष्ठस्तोत्रस्य छन्दो देव-
ता सा चात्र न निरुच्यते। आज्येष्वपि 'यद्य सूर उदित' इति तृचस्यो-
क्ते अनिरुक्ते 'धत्वा मन्दन्वि'ति 'तृचस्याद्ये अनिरुक्ते इत्येवम् आस्मत्त-
दनि अनिरुक्तदेवता द्रष्टव्या अत एवैतद्दहः प्राजापत्यम् 'अनिरुक्त प्रजा-
पतिरिति'भुतेः, अतएवहुणविशिष्टमहः सत्रिणां फलावाप्त्यै सम्पद्यत
इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथैतस्मिन् दशमेऽहनि किञ्चिद्धर्मं विधत्ते—

यदध्याहुराति तद्रेचयन्ति तस्मान्न व्युच्यम् ॥ ८ ॥

अस्मिन्नहनि यत् यदध्याहुः विद्युवन्ति । अन्नानं संशितं, शंसयितुं चानुष्ठेयं पदार्थं स्तुतशस्त्रादिषु तादृशं शब्दं वा इदमेतेनायथाकृतम् इदमेतेन यथोक्तमिति क्रियमाणविरोधिवचनं यदि कुर्वन्ति विभक्तारः । (तद् तदाऽतिरेचयन्ति कर्मातिरेकमवगमय्य दूषयन्ति.) तस्मात् न व्युच्यम् अस्मिन्नहनि विरुद्धवचनं न कर्त्तव्यम् अविवाक्यमहरिति होतदाचक्षते ॥ ८ ॥

अथास्मिन्नहनि अनुष्टुप्छन्दसः प्रयोगं परोक्षेण विधत्ते—

परोक्षमनुष्टुममुपयन्ति प्रजापतिर्वा अनुष्टुप् यत् प्रत्यक्षमुपेयुः प्रजापतिमृच्छेयुः ॥ ९ ॥

आनुष्टुभं छन्दः परोक्षम् अप्रत्यक्षमुपयन्ति उपेयुः कुर्युः । अष्टाक्ष-
रैश्चतुर्भिः पादैः प्रत्यक्षमनुष्टुप् भवति अतोऽन्या द्वित्रिंशदक्षरा प-
रोक्षानुष्टुप् सैवास्मिन्नहनि कार्यो न प्रत्यक्षा आभवे श्यावाश्वान्धी-
गवे अनुष्टुप्सु प्रकृतौ भवतः ते एव पर्युषु प्रघन्वेति पिपीलिकमध्यासु
कार्ये इति इदं शमनुष्टुभं परोक्षमुपयन्त्यतिरेके निन्दामुखेन पुरोच्यते ।
यदिदमनुष्टुप्छन्दः स प्रजापतिर्वै तदीयत्वात् तद्रूप एव तदीयत्वञ्च
पूर्वमेवोक्तम् एवं सति यत् यदि प्रत्यक्षमनुष्टुममुपेयुः प्रजापतिमृच्छेयुः
प्राप्नुयुः सन्नान्तेर अस्माल्लोकात्प्रच्युता भवेयुरित्यर्थः । इह लोके चि-
रं स्थित्वा देहान्ते प्रजापतेः सायुज्यं सन्निभिः काम्यते ॥ ९ ॥

अथैतस्याहोऽग्निन्नरोदीधितिभिररण्योरिति विराडाग्निष्टोमसाम वा-
मदेव्यं त्रयस्त्रिंशस्तोमकं कार्यमिति विधित्सुरर्धवादेनैव द्विधिमुन्नयति—

यो वै सत्रस्य सदेद सद्भवति व्वामदेव्यं वै साम्नां-
सदग्निर्देवतानां विवराद् छन्दसान्त्रयस्त्रिंशः स्तोमानां
तान्येव तदेकधा संभृत्योत्तिष्ठन्ति ॥ १० ॥

यः खलु सत्रस्य सत् सारं वेद । ससत् सारभूतः श्रेष्ठः स्वानां भवति ।
किं तत् सत्रस्य सारमित्युच्यते—साम्नां मध्ये वामदेव्यं वामदेवेन दृष्टं
साम सत् सत्रसम्बन्धि सत्रात्मकं, देवानां मध्ये अग्निः, छन्दसां मध्ये
विराट्, स्तोमानां मध्ये त्रयस्त्रिंशः, एवं सति वामदेव्यादीन्येकधा स-
ंभृत्योत्तिष्ठन्ति सन्नादुत्थिता भवन्ति । आग्नेयीषु विराट्सु वामदेव्यम-
ग्निष्टोमं त्रयस्त्रिंशस्तोमकं कुर्युरित्यर्थः ॥ १० ॥

अथ वामदेव्यस्तुत्यर्थं ब्रह्मवादिनां विचारं दर्शयति—

ब्रह्मवादिनो व्यवदन्ति यतः सत्रादुदस्थाताः स्थिताश्चेति ॥ ११ ॥

यतो गच्छतः सत्रात् किमेते सत्रिण उदस्थाता उत्तिष्ठन्ति उत स्थितात् सत्रादिति ब्रह्मवादिन आहुः । उभयत्र विचार्यमाणानामिति प्लुतिः, तिष्ठतेर्लुङ्लङिति वर्तमाने लुङ् प्रत्ययेन मध्यमः ॥ ११ ॥

तत्र केचन यतः सत्रादुत्तिष्ठन्ति केचित् स्थितादिति तदुभयं विविच्य दर्शयन् फलमपि तयोः दर्शयति—

ये रथन्तरेण स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ते यत उत्तिष्ठन्ति तान् द्रूयादप्रतिष्ठाना भविष्यन्तीति ये बृहता स्तुत्पोत्तिष्ठन्ति ते स्थितादुत्तिष्ठन्ति तान् द्रूयात् स्थायुकैषां श्रीर्भविष्यति न वसीयांसो भविष्यन्तीति ॥ १२ ॥

ये रथन्तरमग्निष्टोमसाम कृत्वा तेन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ते यतो यतः गच्छतः सत्रात् उत्तिष्ठन्ति । रथन्तरं हि माध्यान्दिने सवने बृहतः पूर्वं प्रयुज्यते तस्मिन् समये गच्छत्येव यज्ञो न समाप्यत इति गच्छत एव सत्रादुत्तिष्ठन्ति तान्यदि कश्चिद् द्रूयात् अप्रतिष्ठानाः प्रतिष्ठाराहिताः एते सत्रिणो भविष्यन्ति तथैव तेषां फलं स्यादिति शेषः । ये बृहदग्निष्टोमसाम कृत्वा तेन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति रथन्तरप्रयोगावस्थायां बृहता स्थितत्वात् ते स्थितादेव सत्रादुत्तिष्ठन्ति तान्यदि कश्चिद् द्रूयात् स्थायुका स्थितिशीलास्य श्रीर्भविष्यति नोत्तरोत्तरं चर्द्धते अतो न वसीयांसः अस्यांसो भविष्यन्तीति तदपि फलं तथैव स्यादित्यर्थः । तस्मादुभयमग्निष्टोमसाम न कार्यमित्युक्तं भवति अतो वामदेव्येन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

पूर्वोक्तमेष पक्षे निगमयति—

ये वामदेव्येन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ते सतः सदाभ्युत्तिष्ठन्ति पूर्णात्पूर्णमायतनादायतनमन्तरिक्षायतना हि प्रजा ॥ १३ ॥

ये वामदेव्येन स्तुत्वोत्तिष्ठन्ति ते सतः सारात् सारममिलस्योत्तिष्ठन्ति वामदेव्यादिकात् पूर्वोक्तात् सतः सारात् उत्तिष्ठन्तः सत्फलं लभन्त इत्यर्थः । तथा पूर्णाद्यास्मादुत्तिष्ठन्तः पूर्णफलं प्राप्नुवन्ति तथा 'अन्तरिक्षं वै वामदेव्यमिति श्रुतेर्वाग्मदेव्यमन्तरिक्षात्मकमायतन

प्रजाश्चान्तरिक्षायतना अवकाशमन्तरेण सञ्चरणानुपपत्तेस्तासां तदा-
यतनत्वं तथा सति आयतनमृताद् वामदेव्यादुत्तिष्ठन्त आयतनं प्रजाना-
मायतनं स्थानम् अन्तरिक्षात्मकम् अभिलक्ष्योत्तिष्ठन्ति प्रजानामायत-
नत्वं लभन्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथ स्तोत्रीयाक्षरसंख्यया प्रशंसति—

त्रयस्त्रिंशदक्षरासु भवति त्रयस्त्रिंशद्देवतास्वेव
प्रतिष्ठायोत्तिष्ठन्ति ॥ १४ ॥

“आग्निं नर” इत्याद्यासु त्रयस्त्रिंशदक्षरासु वामदेव्यं भवति । देव-
तासु त्रयस्त्रिंशत्, तथा सति स्तोत्रीयाक्षरसंख्यया देवतास्वेव प्रति-
ष्ठायोत्तिष्ठन्ति ॥ १४ ॥

अथ वामदेव्यं बहुधा प्रशंसति—

प्राजापत्यं वै वामदेव्यं प्राजापतावेव प्रतिष्ठायो-
त्तिष्ठन्ति पशवो वै वामदेव्यं पशुष्वेव प्रतिष्ठायोत्ति-
ष्ठन्ति ॥ १५ ॥

वामदेव्यं हि कयानश्चित्र इत्यनिरुक्तदेवतायां तस्यामृच्युत्पन्न-
मनिरुक्ता च प्राजापत्या अतस्तत्रोत्पन्न वामदेव्यामिति प्राजापत्य-
मित्युच्यते पशुसाधनत्वात् शान्तिहेतुत्वाच्च वामदेव्यस्य तच्छब्दत्वं,
स्पष्टमन्यत् ॥ १५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य अष्टमः खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

अहर्गणेष्वन्त्यान्यहान्युदवसनीयान्तानि पत्नीसंयाजान्तानीतराणि
अस्मिन् दशमेऽहनि पत्नीसंयाजेभ्य ऊर्द्धमपि मानसस्तोत्रादयः केचित्
धर्मा अनुष्ठेयाः । तानत्र विधास्यन् आदावाहवनीयोपस्थानं विधत्ते—

पत्नीः संयाज्य प्राञ्च उदेत्यायं सहस्रमानव इत्य-
तिच्छन्दसाऽऽहवनीयमुपतिष्ठन्ते ॥ १ ॥

पत्नीसंयाजान् कृत्वा प्राञ्चः प्राङ्मुखा उदेत्य प्राग्वांशाग्निर्गम्य मानसेन
स्तोष्यतः ‘अयं सहस्रमानव’ इति अतिच्छन्दसा अतिच्छन्दस्यृचि गी-
तेन गोरिति निघनवता उद्गातारः त्रय आहवनीयमुपतिष्ठन्ते । नन्वत्राति-
च्छन्दमेति ऋच एव करणता श्रूयते न साम्नः, अतः कथं साम्नोपस्था-
नमुच्यते, यस्मात् सूत्रकारएवमुक्तवान् आहवनीयं गत्वाऽयं सहो हा-

इति त्रिरुद्गाता गायेन्निधनमिनरावनूपेयातामिति, अतः साम्नैवोपस्था-
नमवगम्यते इति गानविशिष्टैवर्चोपस्थानं, पत्नीसंयाज्येति क्त्वाप्र-
त्ययश्च पूर्वकालतामात्रेण समानकर्तृकत्वेऽपि, उद्गातृणां पत्नीसंयाजेन
सम्बन्धाभावात् ॥ १ ॥

एतदतिच्छन्दसोपस्थानं स्तौति—

इमे वै लोका अतिच्छन्दा एष्वेव लोकेषु प्रति
तिष्ठन्ति ॥ २ ॥

गायत्र्यादीनां छन्दसां भूराद्यैकैकलोकसम्यन्धिनामतिच्छन्दास्तु
इमे त्रय एव लोकाः तत्र गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीनामन्तर्भावित्वात् । अत-
स्तत्करणकोपस्थानेन एष्वेव भूरादिलोकेषु सत्रिणः प्रतितिष्ठन्तीति ॥ २ ॥

तदीयं निधनमनूय प्रशंसति—

गोरिति निधनं भवति विराजो वा एतद्रूपं यद्वा-
विंराज्येव प्रतितिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

यत् एनद्विराड्छन्दसोरूपं गौः । गोमात्रं हि लोके विराजनि यद्वा
गोप्रमथं यदेतत् क्षीरादिकमेतत् विराड्'शं वै विराडि'ति श्रुतेः, अतो-
ऽनेन विधानेन अन्नरूपे विराज्येव प्रतितिष्ठन्ति ॥ ३ ॥

अथ मानसं स्तोत्रं विधत्ते—

प्रत्यञ्चः प्रपद्य सार्षराइया ऋग्भिः स्तुवन्ति ॥ ४ ॥

आहवनीये यत् प्रत्यञ्चः प्रत्यङ्मुखाः सदः प्रपद्य सार्षराइया सर्प-
राक्षो ब्रह्मवादिनो तथा दृष्टामिः ऋग्भिः 'आयद्गौः पृश्निररकमीदि'त्या-
दिभिः स्तुवन्ति । आसु गायत्रिसास्त्रा स्तुवन्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथैताः प्रशंसति—

अर्बुदः सर्प एताभिर्मृतान्त्वचमपाहत मृतामेवै-
ताभिस्त्वचमपघ्नते ॥ ५ ॥

अर्बुदो नाम कादूवेयः । एताभिः ऋग्भिर्मृतां शीर्णान्त्वचमपाहत
अपागमयत् सत्रिणोप्येताभिर्मृतां पापात्मिकान्त्वचरूपामपघ्नते अप-
गमयन्ति ॥ ५ ॥

प्रतिष्ठादेतवधैता इति प्रशंसति—

इयं वै सार्षराइयस्यामेव प्रतितिष्ठन्ति ॥ ६ ॥

इयं वै दृश्यमाना भूमिः सार्षराक्षी सर्पणशीलानां प्राणिनामीदृ-
शी ये तु तद्दृष्टामिः ऋग्भिः स्तुवन्ति ते चास्यामेव भूमौ प्रतितिष्ठन्ति ॥ ६ ॥

अस्य च स्तोत्रस्य त्रिक एव स्तोम इति तत्संख्यया प्रशंसति—

तिसृभिः स्तुवन्ति त्रय इमे लोका एष्वेव लोकेषु
प्रतितिष्ठन्ति ॥ ७ ॥

स्तोत्रायासु त्रिसंख्यायोगात् त्रिष्वपि लोकेषु प्रतितिष्ठन्तीत्यर्थः ॥७॥

अध्वर्युणा स्तोत्रोपाकरणं मनसा कर्त्तव्यमिति विधत्ते—

मनसोपावर्त्तयति ॥ ८ ॥

असज्जसर्ज्ज्यादिकमुपावर्त्तध्वमित्यन्तं स्तोत्रोपाकरणं मन्त्रमनसा जपोदित्यर्थः ॥ ८ ॥

तद्योद्गातृणामपि हिङ्कारप्रस्तावादिकमपि मनसैव कर्त्तव्यमिति विधत्ते—

मनसा हिङ्करोति मनसा प्रस्तौति मनसोद्गायति
मनसा प्रतिहरति मनसा निधनमुपयन्त्यसमाप्तस्य
समाप्त्यै ॥ ९ ॥

“सर्वे निधनम्” इति वचनादत्र निधनमुपयन्तीति बहुवचनम् एतच्च मनसा करणं यश्चे यत्किञ्चिदसमाप्तमनुष्ठानेनानवाप्तमस्ति तस्य सर्वस्य समाप्त्यै समापनाय भवति ॥ ९ ॥

असमाप्तसमापनं लोके प्रसिद्धमित्याह—

यद्वै ववाचा न समाप्नुवन्ति मनसा तत्समापयन्ति ॥ १० ॥

यत् खलु वाचा वाक्येन लौकिकाः पुरुषाः समाप्तुं न शक्नुवन्ति मनसैव तत्समापयन्ति ॥ १० ॥

स्तोत्रस्थानस्य परिश्रयणं विधत्ते—

परिश्रिते स्तुवन्ति ब्रह्मणः परिगृहीत्यै ॥ ११ ॥

परिश्रिते कटादिभिरावेष्टिते स्थाने स्तुयुः । तच्च परिश्रयणं ब्रह्मणः स्तोत्रात्मकस्य परिगृहीत्यै परिग्रहणाय यद्दिग्गमनाभावाय भवति ॥ ११ ॥

अथ ब्रह्मोद्यं विधत्ते—

ब्रह्मोद्यवर्द्धन्ति ब्रह्मवर्चस एव प्रतितिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

अथ सूत्रकारः गायत्री त्रिर्भूयुरिति धानञ्जप्यश्चतुर्होतारमभिप्रेत्यै-
तदिति गौतमः, तर्के वा कथयेयुर्यथाद्वयत्रिरत्र इति पाण्डिः, तत्सवि-
तुर्वरेण्यमित्येषा गायत्री साक्षाद्ब्रह्मणः प्रतिपादिका तस्यास्त्रिर्वचनं ब्र-
ह्मोद्यमिति धानञ्जप्यस्य मतम् । चित्सृक् चित्तमाज्यमित्यादिकाः पञ्चा-
नुवाकाः चतुर्होतारोऽध्वर्युभिः समाम्नाताः तेषामाद्यं स्तुत्यनुशंसनाय
होता व्याचक्षते इति विधास्यते तदेवाख्यानं ब्रह्मोद्यमिति गौतमः, यथा

विरात्रेऽश्वमेधे वादिप्रतिवादिरूपेण तर्कं प्रश्नप्रतिवचने कुर्वन्ति 'किं-
स्विदासीदि'त्यादिभिर्मन्त्रैस्तथैवात्रापि कर्त्तव्यमिति शाण्डिल्यः, एवं
ब्रह्मवादे कृते सति ब्रह्मवर्धनस एव यजमानाः प्रतितिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

स्तोत्रानुशंसनार्थं होतुश्चतुर्होतृमन्त्रं विधत्ते—

चतुर्होतारं होता व्याचष्टे स्तुतमेव तदनुशंसति
नहि तत् स्तुतं यदननुशस्तम् ॥ १३ ॥

मानसस्तोत्रानन्तरं स्तोत्रीया ऋचो मनसा शस्वा चतुर्होतृणा-
माद्यञ्चित्तिष्ठित्यनुवाकं व्याचक्षीत । व्याप्यानमध्यर्च्युस्वरेण कथनं
तत्तेन व्याप्यानेन स्तुतस्य स्तोत्रस्यानुशंसनं कृतं भवति । यद्यपि स्तो-
त्रीयाभिरेव अनुशंसनं कृतं तथापि ताः पराच्यः शस्यन्त इति नैतावता
स्तोमाभिः शंसन निष्पद्यते तदर्थमेव तद्व्याख्यातमित्यर्थः, अनुशंसनामा-
चे कृतमापि स्तोत्रमकृतसमं स्यादित्ययमर्थो नहि तदित्यादिनोच्यते ॥ १३ ॥

अथ प्रजाप्रतिपरिवादः कर्त्तव्य इति विधत्ते—

प्रजापतिं परिवदन्त्याप्तवैवैनं तद्व्याचक्षते तावदा-
पामैनमिति ॥ १४ ॥

हे प्रजापते त्वं दुर्लभः दुराराध्यश्च तथापि त्वां दशमेनाह्वा गृहीत-
वन्तः क्केदानीं गमिष्यसीत्येवं परिवादं कुर्युरित्यर्थः, यद्वा श्रुत्यन्तरप्र-
सिद्धोऽकुशलोवाऽयं प्रजापतिः यो दंशमशकान् असृजत् यस्तेनानित्या-
दिकम्, अथ वा "प्रजापतिर्वै स्वां दुहितरमम्यधावदि"त्यादिकं यत्पापं
कर्म तस्य कीर्त्तनं परिवादः, तथा च सूत्रितं 'प्रजापतिं परिवदन्ति पापैः
कर्मभिरित्येके नत्वधीमहे, अपि वाध्यर्च्युवहुचानां न किञ्चित्स्यादि'ति कि-
मर्थः प्रजापतेः परिवादः? उच्यते यथा महारण्ये मत्तगजमुपायेन गृही-
त्या सन्तुष्टाः परिवदन्ति क्केदानीं दुर्ग्रहो मूढचारी दुश्चरित्रः त्वं गमि-
ष्यसीति परिवदन्ति एवमेव प्रजापतिं प्रत्यक्षत उपलभ्य हर्षातिशयेन
परिवादः क्रियते तदेतदुच्यते, एनं प्रजापतिं धयन्तावदापाम प्राप्तवन्त
इति बुद्ध्वा एनं प्रजापतिमाप्तवैव प्राप्यैव तद्व्याचक्षते तस्य मत्सनाय
प्रजापतिकृतं तत् पापकर्म कथयन्ति ॥ १४ ॥

अथ गृहपतिकर्त्तृकमौदुम्बरीधारणं विधत्ते—

गृहपतिरौदुम्बरीं धारयति गृहपतिर्वा ऊर्जो यन्तो-
र्जमेवैभ्यो यच्छति ॥ १५ ॥

सत्रिणां मध्ये यो गृहपतिरसावौदुम्बरीं सदसो मध्ये' निधातां
धारयति समन्वारमत आनक्षत्रदर्शनात् नोत्सृजेत्, ऊर्जा ऊदुम्बर

इति श्रुते.' ऊर्जपैवौदुम्बरी, गृहपतिः खलु ऊर्जोऽग्नस्य यन्ता नियन्ता
प्रदातेत्यर्थः । तस्मादौदुम्बरीधारणेन ऊर्जमग्नमेव एभ्यः सन्निभ्यो यच्छ
ति ददाति ॥ १५ ॥

अथ सर्वेषां वाग्यमनं विधत्ते—

व्वाचं यच्छन्ति ॥ १६ ॥

आनक्षत्रदर्शनादेतद्वाग्यमनम् ॥ १६ ॥

अथैतत् स्तौति—

दुग्धानीव वै तर्हि छन्दांसि यातयामान्यन्तग-
तानि तान्येव तद्रसेनाप्याययन्ति ॥ १७ ॥

तर्हि तस्मिन् काले पूर्वेष्वहःसु दुग्धानि इव वै दुग्धान्येव छन्दांसि
अतोऽन्तगतानि यातयामानि गतरसानि तत्तथा सति अनेन वाग्यमनेन
तान्येव छन्दांसि रसेनाप्याययन्ति पुनः सारयुकानि कुर्वन्ति ॥ १७ ॥

प्रकारान्तरेण स्तौति—

अथो इवस्तनमेवाभिसन्तन्वन्ति ॥ १८ ॥

अथो अपि च श्वस्तनं परस्मिन् दिवसे कर्त्तव्यं कर्मैवामिलक्ष्य वाचं
सन्तन्वन्ति श्वस्तने कर्मणि वाचा निष्पाद्यं स्तुतशस्त्रादिकं कुर्वन्ति
वाग्यमनेन सम्पादयन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

अथ गवामयनस्य सत्रत्वेनादक्षिणत्वाद्दक्षिणामावाद्यं स्तुतशस्त्रा-
दिकं कुर्वन्ति कृतं वा समृद्धमावमाशंक्य तां सम्पादयति—

आत्मदक्षिणं वा एतद्यत्सत्रम् ॥ १९ ॥

आत्मैव दक्षिणा यस्य तादृशमेव तत् यदेतत्सत्रं सत्रपागः । न यज्ञा-
न्तरवत् गवादिदक्षिणमतो दक्षिणासद्भावात् समृद्धिरस्त्येवेत्यर्थः ॥ १९ ॥
एतत् स्तौति—

यदा वै पुरुष आत्मनोऽवद्यति यं कामं कामयते
तमभ्यश्नुते ॥ २० ॥

यदा खलु पुरुष आत्मनः स्वशरीरात् अवद्यति देवेभ्यः प्रदातुं, तदा
यं कामं कामयते तमभिप्राप्नोति ॥ २० ॥

आत्मनोऽवदानप्रकारं दर्शयति—

द्वाभ्यां लोमावद्यति द्वाभ्यां त्वचं द्वाभ्यां माथुंसं
द्वाभ्यामस्थि द्वाभ्यां मज्जानं द्वाभ्यां पीवश्च लोहितञ्च ॥ २१ ॥

सर्व्वत्सरसत्रस्य आदितो द्वाभ्याम्मासाभ्यामात्मनः सम्यन्धि यत्नोम
शरीरगतं लोम तदवद्यति देवेभ्यो दातुं स्वशरीरात् पृथक् करोति,

द्वाभ्यां लोमान्तर्गतं त्वत्तमवद्यति, अथ द्वाभ्यान्त्वगन्तर्गतं मांसम-
वद्यति, पुनर्द्वाभ्यां मांसान्तर्गतमस्थ्यवद्यति, ततो द्वाभ्याम्मज्जानम-
स्थ्यन्तर्गतम्मज्जास्थं रसमवद्यति, पुनरन्याभ्यां मांसाभ्यामवाशिष्टं पी-
वो मेदो लोहितञ्चावद्यति, एवं द्वादशभिर्मसैः पुरुष आत्मानमेव कृ-
त्स्नमवदाय देवेभ्यो दत्तवान् भवति किमत्र बाह्यया दक्षिणयेति आत्म-
दक्षिणं सश्रमित्युक्तम् ॥ २१ ॥

अथ सत्रिणां सशिखं वपनं विधत्ते—

शिखा अनु प्रवपन्ते पाप्मानमेव तदपद्यन्ते लघी-
याधंसः स्वर्गं लोकमयामेति ॥ २२ ॥

सर्वे सत्रिणः शिखाः शिरसि विद्यमानान् सर्वान् केशान् अनुक्रमेण
दीक्षानुपूर्व्यां प्रवपन्ते प्रकर्षेण वापयेयुः, तत्तेन वपनेन पाप्मानमेवापद्यते
अपद्यन्पाप्मानो भवन्ति, सशिखं वपनं कुर्वतः कोऽभिप्रायः ? इति चेत्
लघीयांसो लघुतमाः केशभारराहित्येन स्वर्गोत्पत्तनाय लघुतमगात्राः
सन्तः स्वर्गं लोकमयाम प्राप्नुवामेति ॥ २२ ॥

प्रकारान्तरेण वपनं प्रशंसति—

अथो गवामेवानुरूपा भवन्ति सर्वस्यान्नाद्यस्या-
वरुध्यै ॥ २३ ॥

एतत्सत्रानुष्ठानेन गावः शृङ्गदीना भूत्वा सर्वमन्नाद्यं प्राप्नुयुरिति
आदावुक्तम् अतः सत्रिणापि सर्वस्यान्नाद्यस्यावरोधाय अनुष्ठितसत्राणां
गवां शृङ्गदीनानामनुरूपा भवन्ति सशिखवपनेन सदृशा भवन्ति । २३॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे चतुर्थाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

दशमस्याह ऊर्द्धम्महाव्रताएवं गवामयनस्योपान्त्यमहरनुष्ठेयं तद्वि-
धधुराख्यानमुखेन तन्नाम निर्वचि ।

प्रजापतिः प्रजा असृजत सोऽरिच्यत सोऽपद्यत तं
देवा अभिसमगच्छन्त तेऽयुवन्महदस्मै व्रतधं सम्म-
राम यदिमन्धिनवदिति तस्मै यत्सव्वत्सरमन्नं पच्यते
तत्समभरधंस्तदस्मै प्रायच्छधंस्तदन्नजयत्तदेनमधिनो-
न्महन्मर्या व्रतं यदिममाधिन्वीदिति तन्महाव्रतस्य म-
हाव्रतत्वम् ॥ १ ॥

सर्वकारणभूतः प्रजापतिः इमाः सर्वाः प्रजा असृजत आदौ सृष्ट-
वान्, ततो बहुकार्यसृष्टेः स प्रजापतिः अरिच्यत रिक्तः क्षीणोऽभवत्,
ततोऽपद्यत धान्यातिशयेन अशेत, तमभिलक्ष्य देवाः समगच्छन्त, त-
तस्ते इदमब्रुवन्, अस्मै रिक्ताय प्रजापतये महद्भूतमन्नं सम्भराम, यद्-
न्नमिमन्धिन्नवत् प्राणयेत्तर्पयेदिति, धिविः प्राणनार्यः अस्माल्लेष्टि रूप-
मेतत् । एवमुक्त्वा यदन्नं सर्व्वत्सरं पच्यते समस्तेन सर्व्वत्सरेण निष्प-
द्यते तत्तस्मै तदर्थं तदन्नं समभरन् सम्पादितवन्तः सम्पाद्य चास्मै
तत्प्रायच्छन् तदन्नं स प्रजापतिः अवजयदमक्षयत् 'व्रजिरत्र भक्षणार्थः,
मक्षितं तदन्नमेनं प्रजापतिमधिनात् अतर्पयत् । तदनन्तरं देवा इदम-
ब्रुवन् 'हे मर्या मर्याः पतन्महद्भूतं यदेनं प्रजापतिमधिन्वीत् अता-
प्सीदिति । यदिदं ममद्भूतमित्युक्तं तन्महाव्रतस्य महाव्रतप्रवृत्तिनि-
मित्तं सर्व्वत्सरान्ते कर्त्तव्यमिदमहः प्रजापतेरन्नत्वेन स्तूयत इति कर्म-
णोऽपि महाव्रतनाम सम्पन्नम् ॥ १ ॥

प्रकारान्तरेण निर्वचनं दर्शयति—

प्रजापतिर्वाव महाभुंस्तस्यैतद्भूतमन्नमेव ॥ २ ॥

स प्रजापतिः खलु सर्व्वभ्यो महान् तस्यैतद् भूतं कर्म अन्नमेव अन्न-
वत् तृप्तिकरमेव अतो महतः सम्बन्धि व्रतमिति कृत्वा महाव्रतमित्यु-
च्यते । अस्मिन् पक्षे वैयधिकरण्यात् 'आन्महतः समानाधिकरणे'ति
विधीयमानमात्वं व्यत्ययेनेति द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥

इदमहर्विषुवतः स्थाने कर्त्तव्यमिति पूर्वपक्षेणोपन्यस्यति—

तदाहुर्मध्यः सर्व्वत्सरस्योपेत्यं मध्यतो वा अन्नं ज-
ग्धं धिनोति ॥ ३ ॥

जग्धं भक्षितमन्नं मध्यत उदरमध्यस्थं सत् धिनोति तर्पयति अ-
तोऽन्नस्थानीयमिदमहः सर्व्वत्सरस्य मध्यतो मध्ये उपेत्यम् उपेतव्यमनु-
ष्ठेयमित्यर्थः । तत्तत्र महाव्रतविषये केचिदाहुः, अपरेऽभिज्ञाः सर्व्वत्सर-
स्यान्त एवोपेत्यमित्याहुरिति ॥ ३ ॥

सिद्धान्तयति—

तद्वाहुर्धन्मध्यत उपयन्त्यर्द्धमन्नाद्यस्याप्नुवन्त्यर्द्धं
सम्बद् कुर्वन्तीत्युपरिष्ठादेव सर्व्वत्सरस्योपेत्यं सर्व्व-
त्सरे वा अन्नं सर्व्व पच्यते ॥ ४ ॥

तदु तत्रैव विषये अभिज्ञा ब्रह्मवादिन आहुः । यत् यदि मध्यतः
सर्व्वत्सरस्य मध्ये इदमहुरुपयन्ति तर्हि सर्व्वत्सरसाध्यस्यान्नाद्यस्या-

क्षमेषान्नुवन्ति अर्द्धं संपद् कुर्वन्ति व्यर्थं कुर्वन्तीति । अतः सर्व्वत्स-
रूपोपरिष्ठादेव इदमहुरुपेत्य सर्व्वत्सरे सम्पूर्ण एव हि सर्व्वमग्नं पच्यते
अतः सर्व्वस्याग्नस्य प्राप्तयेऽवकल्पत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथास्याहुः पञ्चविंशः स्तोमः स्यादिति विधित्सुराह—

चतुर्विंशं भवति चतुर्विंशो वै सर्व्वत्सरोऽन्नं
पञ्चविंशम् ॥ ५ ॥

इदमहश्चतुर्विंशतिस्तोमकं भवति सर्व्वत्सरो हि चतुर्विंशत्यर्द्ध-
मासात्मकः । तस्यैतदनुगुणम् । अतस्तत्साध्यमग्नं पञ्चविंशं पञ्चविंशति-
संख्यापूरकं भवति ॥ ५ ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

यद्वा अदश्चतुर्विंशं प्रायणीयन्तदेतदुदयनीयम् ॥ ६ ॥

सर्व्वसत्रसाधारणावाद्यन्तावतिरात्राविति कृत्वा उपाद्यं प्रायणीय-
मुपात्त्यं प्रायणीयमिति उच्यते । यद्वै यत् खलु अदः पूर्व्वमुक्तं चतुर्विं-
शस्तोमकं प्रायणीयमुपाद्यमहः तदेवैतदिदानीमुच्यमानं महाप्रतमु-
दयनीयम् एवं सति उपक्रमोपसंहारौ समानरूपौ भवतः ॥ ६ ॥

ननु महामितमहः पञ्चविंशस्तोमकं तस्य कथं चतुर्विंशस्तोमकेन
प्रायणीयेन साम्यमित्यत आह—

यत् सर्व्वत्सरमग्नं सम्भरन्ति सैषा पञ्चविंश्यु-
पजायते ॥ ७ ॥

संवत्सरं संवत्सरपर्यन्तं संवत्सरे चतुर्विंशत्यर्द्धमासात्मके समाप्ते
देवा यदग्नं सम्भरन्ति तेषां तदग्नमेव पञ्चविंशी पञ्चविंशतिसंख्यापूरणी
स्तोत्रीयोपजायते सम्पद्यते अतः फलरूपेणा पृथग्भूतेति प्रायणीयेन
साम्यम् एव सति अस्मिन्नहनि सर्व्वस्तोत्रेषु पञ्चविंशस्तोमः कर्त्तव्य
इति विधिरुच्येतव्यः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्णश्चतुरोदेयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ७ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवन्दिकमार्गप्रवक्तृकथावीरनुकम्पा-
लसाम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माघमीये सामवेदार्थ-
प्रकाशे ताण्ड्यमहान्नाह्नणे चतुर्थाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥ ४ ॥ १० ॥

चतुर्थाध्यायः समाप्तिमगमत् ।



पञ्चमोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उक्तं महाव्रतस्याहः सर्वेषु स्तोत्रेषु पञ्चविंशः स्तोमः कार्यः इति शिरः पक्षौ पुच्छ आत्मेति पञ्चविधं होतुः पृष्ठस्तोत्रं तत्र महाव्रतार्यं, महाव्रतमित्युच्यते—

वामदेव्यं महाव्रतं कार्यम् ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

तस्मिंश्च स्तोत्रे आत्मैव पञ्चविंशः स्तोमः, शिरःप्रभृतिषु स्तोमान्तरं, तत्र शिरसस्त्रिवृत्स्तोमं विधत्ते—

त्रिवृच्छिरो भवति ॥ २ ॥

त्रिभिस्तृचैर्वर्त्तत इति त्रिवृत् स एव स्तोमः शिरोभागश्च भवति ॥२॥

तस्य स्तोमस्य शिरसा सहानुरूप्यं दर्शयति—

त्रिवृज्ज्ञेय शिरोलोमत्वगस्थि ॥ ३ ॥

लोके प्राणिनां शिरः लोम त्वक् अस्थीति भेदेन त्रिवृज्ज्ञेय त्रिगुणमेव खलु । अतः शिरसस्त्रिवृत्तः स्तोमो युक्तः ॥ ३ ॥

शिरोव्यतिरिक्तस्य पाङ्कत्वप्रतिपादनेन शिरसस्त्रिवृत्त्वं व्यतिरेकेन दर्शयति—

पाङ्क इतर आत्मा लोम त्वङ्मांसमस्थि मज्जा ॥४॥

इतरः शिरोव्यतिरिक्त आत्मा देहः पाङ्कः पङ्क्तियुक्तः पञ्चसंख्योपेतः, कथमित्युच्यते—लोमत्वङ्मांसमस्थिमज्जेति भेदेन, एव शिरः पाङ्कश्च भवति अपि तु त्रिवृदेवेत्यर्थः ॥ ४ ॥

शिरसा त्रिवृत्स्तोमकेन स्तवनं विधत्ते—

सकृद्विद्वत्तेन शिरसा पाराचा स्तुवते ॥ ५ ॥

अनेन आदौ सकृत् विद्वत्स्य पाराचा अनावृत्तेन शिरसा स्तुवते उद्गातारः ॥ ५ ॥

तदेतदनावृत्तस्तवनं प्रशंसति—

तस्माच्छिरोऽङ्गानि मेधन्ति नानुमेयति न कृश्यन्त्यनु कृश्यति ॥ ६ ॥

तस्मादनावृत्तस्तवनात् अविकृतरूपमेकरूपमेव शिरो भवति अत
इतराण्यङ्गानि मेघन्ति घर्द्धमानान्यनुवर्द्धन्ते इतरेष्वङ्गेषु घर्द्धमानेष्वपि
शिर एकमेघावतिष्ठते तथा कृश्यन्ति कृशी भवन्ति अङ्गानि अनु न
कृश्यति नाह्वीभवति इतरेष्वङ्गेष्वपक्षीयमाणेष्वपि स्वयन्नापक्षीयते॥६॥

नन्वितरेषामपि वृद्धिकार्ष्यं कथं स्यातां तत्राह—

पुनरभ्यावर्त्तमितरेणात्मना स्तुवते तस्मादितर आ-
त्मा मेघति च कृश्यति च ॥ ७ ॥

इतरेण पक्षपुच्छादिरूपेणात्मना पुनरभ्यावर्त्त पुनः पुनरभ्यावृत्त्य
एकमेव तृचमावर्त्य स्तुवते तस्मादावृत्त्या विकृतत्वात् इतर आत्मा
शिरोव्यतिरिक्तो देहो मेघति च कृश्यति च कदाचिद्वर्द्धते कदाचित्
कृशीभवति ॥ ७ ॥

शिरसो गायत्रीसाम्नः स्तोत्रीयां विधत्ते—

अर्कवतीषु गायत्रीषु शिरो भवति ॥ ८ ॥

अर्कशब्दोपेतासु गायत्रीच्छन्दस्कासु 'इन्द्रमिन्द्राग्निनो बृहदिन्द्रो द-
धीधो अस्थमिच्छेदमिधुतामघमिति' तृचं त्रयात्मकासु नवस्वृक्षु शिरो
भवति ॥ ८ ॥

अथासामर्कत्वं गायत्रत्वञ्च प्रशंसति—

अन्नं वा अर्को ब्रह्मवर्चसं गायत्र्यन्नाद्यं चैवेभ्यो ब्र-
ह्मवर्चसञ्च मुखतो दधाति ॥ ९ ॥

अर्च्यते पूज्यते अनेनेति व्युत्पत्त्या अन्नमेवार्कः । गायत्री च तेजोरू-
पेणाग्निना सह प्रजापतिमुखादुत्पन्ना ब्रह्मवर्चसं तेजोविशेष इति गा-
यत्री ब्रह्मवर्चसमित्युच्यते । एवमुभयोः स्तोत्रादौ करणेन एभ्यो यजमा-
नेभ्यः अन्नाद्यञ्चैव ब्रह्मवर्चसञ्च मुखतः प्रमुखे दधाति विदधाति उ-
द्गातेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अथ पक्षौ स्तोमविशिष्टौ विधत्ते—

पञ्चदशस्तदशौ पक्षौ भवतः पक्षाभ्यां वै यजमा-
नो व्वयो भूत्वा स्वर्गं लोकमेति ॥ १० ॥

पञ्चदशस्तोमं रथन्तरं दक्षिणपक्षतया कार्यं सप्तदशस्तोमं वृ-
हदुत्तरपक्षत्वेन । एवं कृताभ्यां पक्षाभ्यामेव यजमानो वयः पक्षौ भूत्वा
स्वर्गं लोकमुत्पतनेन प्राप्नोति । एवमेकः पञ्चदशः पक्षः इतरः सप्तदश
इत्युक्तम् ॥ १० ॥

अधुनोभावपि समानस्तोमौ स्यातामिति केपाञ्चिन्मतमुपन्यस्यति—

तावाहुः समौ कार्यौ पञ्चदशौ वा सप्तदशौ वा
सर्वोवधत्वाय ॥ ११ ॥

तौ पक्षौ पञ्चदशस्तोमकौ सप्तदशस्तोमकौ वा समौ समानावेव
कार्याविति केचिदाहुः । किमर्थे ? सर्वोवधत्वाय समानोवधत्वाय
इतरथा हि वैषम्यमेव दोषः स्यादिति ॥ ११ ॥

इमं पक्षं निराकृत्य पूर्वोक्तमेव पक्षं परिगृह्णाति—

तद्वाहुर्यत्समौ भवत एकवीर्यौ तर्हि भवत इति
पञ्चदशसप्तदशावेव कार्यौ साचीव वै वयः पक्षौ कृ-
त्वापतीयः पतति ॥ १२ ॥

तत् उ आहुरिति पदच्छेदः, उ इति पक्षान्तरपरिग्रहे । तत्र आहु-
ब्रह्मवादिनोऽभिज्ञाः । किमिति ? यद्यदि समौ समानस्तोमौ भवतः तर्हि
तदा एकवीर्यौ समानवीर्यौ भवत इति, अस्वेकवीर्यत्वं को दोष
इति चेत् पतनासामर्थ्य इति ब्रूमः । वयः पक्षौ साचीव वै तिर्यगिव प-
क्षौ कृत्वा पतीयः पतति अतिशयेन पतनं करोति पक्षयोः साम्ये तु
साचीमावो न न्यात् अतः पञ्चदशसप्तदशावेव कार्यौ ॥ १२ ॥

बृहद्रथन्तरयोः किं दक्षिणतः कार्यं किमुत्तरत इत्याकांक्षायामाह—
दक्षिणतो बृहत्कार्यं दक्षिणो वा अर्द्ध आत्मनो वी-
र्यवत्तरः ॥ १३ ॥

दक्षिणतो दक्षिणपक्षे बृहत्साम कार्यम् इन्द्रादिभिः सह प्रजापतेरु-
रस उत्पत्तेः वीर्यवद्बृहत् आत्मनो देहस्य दक्षिणोऽर्द्धो भागः वीर्यवत्तरः
अतिशयेन वीर्यवान् अतस्तत्र बृहत्साम प्रयोगार्हमित्यर्थः । परिशेषात्
रथन्तरमुत्तरमिति गम्यते ॥ १३ ॥

तमिमं पक्षं निरस्य सिद्धान्तमाह—

अथो खत्वाहुरुत्तरत एव कार्यं ब्राह्मणाच्छंसि-
नोऽर्द्धात् त्रैष्टुभं वै बृहत्त्रैष्टुभो ब्राह्मणाच्छंसि
त्रैष्टुभः पञ्चदशस्तोमः ॥ १४ ॥

अथो अद्विविति पक्षान्तरपरिग्रहे । उत्तरत एव बृहत्सामकार्यमि-
ति ब्रह्मवादिन आहुः ब्राह्मणाच्छंसिनोऽर्द्धात् समीपात् होतुरुत्तरो
ब्राह्मणाच्छंसी उत्तरस्मिन् पक्षे क्रियमाणं बृहत्साम ब्राह्मणाच्छंसिनः

समीपवर्त्ति भवति नान्यथा तस्मादुत्तरतः कार्यमिति कथनम्, अन-
योः सम्बन्धः घृहत्साम त्रैष्टुभं, त्रिष्टुभा सह प्रजापतेरुत्सवत्पक्षैः ।
ब्राह्मणाच्छंसी च होत्रकाणां द्वितीयः त्रिष्टुप्छन्दसां द्वितीयेति संख्या-
साम्यात् त्रैष्टुभत्वं उभयोस्त्रिष्टुप्छन्दसाम्बन्धात् समीप्यपुचितं
यद्यप्यनेन न्यायेन त्रैष्टुभः पञ्चदशस्तोम इति पञ्चदशस्यापि त्रिष्टु-
भत्वभवेणात् उत्तरपक्षे प्रयोगः प्रसक्तः तथापि 'रथन्तरेण पञ्चदशेन
स्तुवीरन्' 'वृहता सप्तदशेन स्तुवीराग्नि'ति प्रयोगवचनकाले वक्ष्यमाण-
त्वात् अत्र पञ्चदशस्तोमत्वं पूर्वपक्षाभिप्रायेणेति ज्ञायते ॥ १४ ॥

तथा दक्षिणपक्षे रथन्तरं कार्यमिति आह—

दक्षिणतो रथन्तरं कार्यममैत्रावरुणस्यार्द्धाद्यत्र वै
रथन्तरं गायत्रो मैत्रावरुणो गायत्रः सप्तदशस्तोमः ॥ १५ ॥

पूर्ववद्व्यारयेयं, गायत्र्या सह रथन्तरस्य प्रजापतिमुखादुत्पन्नत्वा-
द्गायत्रत्वं मैत्रावरुणस्य च होत्रकाणां प्रथमत्वात् मध्यमच्छन्दसा गायत्रे-
ण सम्बन्धः सप्तदशस्तोमस्य गायत्रत्वमेवं सम्पाद्यम् । सप्तदशस्तोमो
जगती च प्रजापतेः मध्यकायादुत्पन्नत्वात् जगती च द्वे गायत्र्याविति
जगती द्वारा सप्तदशस्य गायत्रत्वम् ॥ १५ ॥

एकविंशत्तमकं पुच्छं कार्यमिति विधत्ते—

एकविंशं पुच्छं भवति ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १६ ॥

तदेव प्रशंसति—

एकविंशो वै स्तोमानां प्रतिष्ठा तस्माद्वयः पुच्छे-
न प्रतिष्ठापोत्पतति पुच्छेन प्रतिष्ठाय निषीदति ॥ १७ ॥

स्तोमानां त्रिवृदादीनां मध्ये एकविंशः प्रतिष्ठाहेतुः तस्मात्प्रति-
ष्ठाहेतोरैकविंशस्य पुच्छे करणात् वयः पक्षो पुच्छेन प्रतिष्ठाय आ-
श्रयमवष्टभ्य पक्षाभ्यामुत्पतति तथा पुच्छेनैव प्रतिष्ठाय स्वाश्रयमाल-
भ्य निषीदति उपविशति ॥ १७ ॥

अथ पुच्छत्वेन यज्ञायज्ञीयं पुच्छं कार्यमिति कुत एतदित्यत आह—

यज्ञायज्ञीयं पुच्छं कार्यं यज्ञायज्ञीयं ह्येव महा-
व्रतस्य पुच्छम् ॥ १८ ॥

इति प्रसिद्धौ यज्ञायज्ञीयं साम हि महाव्रतस्य पुच्छतया प्रसि-
द्धं 'वृहद्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञीयं पुच्छमि'ति मन्त्रवर्णादेतच्च यज्ञायज्ञी-

यमैन्द्रीषु कार्यं पृष्ठस्तोत्रस्यैन्द्रत्वात् ॥ १८ ॥

अथैतं पक्षं निरस्य पक्षान्तरमाह—

अथो खल्वाहुरतिशयं वै द्विपदां यज्ञायज्ञीयं भ-
द्रमेव कार्यं ऽममृद्ध्यै ॥ १९ ॥

अथो खल्वभिज्ञा ब्रह्मवादिन आहुः चतुष्पदास्वृक्षु हि यज्ञायज्ञीयं
गीयते द्विपदां यजमानानां तदतिशयम् अतिशयितमतिरिक्तामिति अतो
मद्रं साम पुच्छतया कार्यन्तद्धि द्विपदासु गीयते तथा सति तत्साम
द्विपदां यजमानानां समृद्धौ समृद्ध्यर्थं भवति ॥ १९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

महाव्रतस्तोत्रस्य पक्षिरूपेण क्लृप्तस्य शिरःप्रभृतीनांस्तोमा उ-
क्ताः सामानि च विहितानि अथ तस्यैवापरं कल्पं दर्शयति—

वामदेव्यम्महाव्रतं कार्यन्तस्य गायत्र्यं शिरो बृह-
द्रथन्तरे पक्षौ यज्ञायज्ञीयं पुच्छम् ॥ १ ॥

यद्यपि पञ्चानां समुदाय एव महाव्रतशब्दवाच्यः वामदेव्यं कयानश्चि-
न्नेत्यस्यामुत्पन्नं साम । अतस्तस्यात्मत्वेन कार्यमित्यर्थः, गतमन्यत् ॥ १ ॥

यद्यपि पञ्चाविधे महाव्रते एकैकस्यां विधायां सहस्रप्रोतत्वं वक्ष्यति
नत्समुदायवेदनमादौ प्रशंसति—

यो वै महाव्रते सहस्रं प्रोतं वेद प्रसहस्रं पशूनाप्नोति ॥ २ ॥

शिरःपक्षादिरूपेण पञ्चावयवे महाव्रते सहस्रं प्रोतं सम्बद्धं वेद
जानाति सहस्रं सहस्रसंख्यान् पशूनाप्नोति ॥ २ ॥

तस्य पञ्चावयवाः किमात्मकाः तेषु किं सहस्रं प्रोतमिति तदुभयं
क्रमेण दर्शयति—

तस्य प्राची दिक् शिरस्तच्छन्दोभिः सहस्रमसाव-
न्यतरः पक्षः सनचत्रैः साहस्रोऽयमन्यतरः पक्षः स
ओपधिभिश्च वनस्पतिभिश्च साहस्रोऽन्तरिक्षमात्मा
तद्वयोभिः साहस्रं प्रतीची दिक् पुच्छन्तदग्निभिश्च
रश्मिभिश्च साहस्रं प्रसहस्रं पशूनाप्नोति य एवं वेद ॥ ३ ॥

तस्य महाव्रतस्य प्राची दिक् शिरः । तदात्मकमित्यर्थः । तत् छन्दो-
भिर्गायत्र्यादिभिः साहस्रसम्बन्धी । यद्यप्यसाधन्यतरोऽयमन्यतुर इति
पक्षयोः सम्बन्धविशेषो न श्रुतः तथापीयं वै रथन्तरमसौ वै वृद्धि'ति
श्रुतेः, विशेषोऽप्यगम्यते । अन्तरिक्षं अन्तरिक्षलोक आत्मा तद्वयोभिः प-
क्षिभिः साहस्रं अन्तरिक्षचारित्वात् पक्षिणां प्रतीचीदिगात्मकं पुच्छं
तत् अग्निभिश्च रश्मिभिश्च साहस्रं वेद यजमानस्य प्रतीच्यां हि गार्ह-
पत्यादिरूपेण भूषांसोऽग्नयो भवन्ति उदितस्य चादित्यस्य रश्मयः
प्रतीच्यां प्रसरन्तीति प्रतीच्यात्मकं पुच्छम् अग्निभिश्च रश्मिभिश्च सह-
स्रसम्बन्धीत्यर्थः । एवं प्राच्याद्यात्मकेषु महाव्रतावयवेषु सहस्रयोगित्व-
यो वेद दशसहस्रं पञ्चान्नोति । आदावुक्तस्यैवोपसंहारः ॥ ३ ॥

अस्मिन् कल्पे वामदेव्यमात्मत्वेन कार्यमित्युक्तं तच्चिरस्यति—

तदाहुरपृष्ठं वै वामदेव्यमनिघनं हीति ॥ ४ ॥

तत्तत्र महाव्रते ब्रह्मवादिन आहुः । अत्र पृष्ठमिति होतुरेव पृष्ठस्तोत्रं
विधक्षितं वामदेव्यं होतुः पृष्ठत्वे अयोग्यं कुतः ? अनिघनं हि तदचो
यद्भिर्भूतान्निघने यतोऽस्य नास्ति तत् इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अनिघनत्वं कथमपृष्ठत्वे हेतुः तत्राह—

अनायतनं वा एतत् साम यदनिघनम् ॥ ५ ॥

साम्नो निघनमायतनं यस्य नास्ति तदनायतनं आयतनरहितम्-
प्रतिष्ठितं ततो वामदेव्यस्य पृष्ठानर्हतेत्यर्थः ॥ ५ ॥

तर्हि किममहाव्रतस्यात्मत्वेन कार्यं तत्राह—

राजनम्महाव्रतं कार्यम् ॥ ६ ॥

इन्द्रभरोनेमधितेत्यस्यामुत्पन्नं राजनाय्यं साम तदासेति एवे अ-
स्य स्तोत्रस्यात्मत्वेन कार्यम् ॥ ६ ॥

तदेतत्प्रशंसति—

एतद्वै साक्षादन्नं यद्राजनं पञ्चविधं भवति पाङ्क्तुं ह्यन्नम् ॥ ७ ॥

एतत् खलु साक्षात्प्रत्यक्षमन्नं यद्राजनं साम स्तोमादिभिः शोम-
मानमन्नवत् प्रीतिकरं भवति, महाव्रतं चान्नत्वेन संस्तुतम् अतस्तत्रैत-
त्प्रयोगार्हमित्यर्थः, अपि चैतत्साम पञ्चविधं भवति महाप्रस्तावादिम-
र्त्तानां प्रत्येकं प्रयोज्यत्वात् पञ्चवारं तथा चैतरेयकोपनिषदि ध्रूयते, "प-
ञ्चकृत्वः" प्रस्तौति पञ्चकृत्वोद्गायति पञ्चकृत्वोपद्रवति पञ्चकृत्वो निघन-
मुपयन्तीति । यद्वा हुं हुं हुं हुं हुं हो हो हो हो हो इत्यादि पञ्चस्तोम-
योगात् षागिडासुयोवृद्धा इति पञ्चनिघनयोगाद्वा पाञ्चविध्यम्, अन्नं

हि पाङ्क्तु पङ्क्तिसम्बद्धम् अक्ष्यं साधं चोभ्यं लेह्यं पेयमिति, अतो राज-
जनस्य पञ्चावधत्वात् पञ्चविधानरूपत्वम् ॥ ७ ॥

ननु वामदेव्यस्याकरणे तत्कृतं फलत्र स्यादित्यत आह—

हिङ्कारवद्भवति तेन वामदेव्यस्य रूपम् ॥ ८ ॥

यदेतत्साम हिङ्कारवद्भवति तेन वामदेव्यस्य रूपमस्मिन् सामन्य-
न्तर्भूतम् अत एतत्करणेन तत्कार्यमपि लभ्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

नन्यस्यापि पृष्ठस्तोत्रे योग्यता कथमित्यत आह—

निधनवद्भवति तेन पृष्ठस्य रूपम् ॥ ९ ॥

निधनवस्तेन प्रतिष्ठितत्वात् इदं साम पृष्ठस्तोत्रमित्यर्थः । अस्य
पञ्च निधनानि पूर्वमेव प्रदर्शितानि ॥ ९ ॥

अथ ब्राह्मणाच्छंसिनः पृष्ठस्तोत्रनिर्वर्त्तकमेकं साम विधत्ते—

अतिच्छन्दःसु पञ्चनिधनं वामदेव्यं ब्रह्मसाम का-
र्यम् ॥ १० ॥

कथानश्चित्रेत्यस्यामुत्पन्नं 'इह प्रजापरायस्योपाय आगन्माम इदं
वामं चराचराय' इत्यादिभिः पञ्चमिर्निधनैरुपेतं वामदेव्यं साम अतिच्छ-
न्दःसु 'त्रिकटुकेषु माहिषोयवाशिर' इत्यादिषु ब्रह्मसामत्येन कार्यम् ॥ १० ॥
तदेतदतिच्छन्दस्सु गानं स्तौति—

अति वा एषाऽन्यानि च्छन्दांसि यदतिच्छन्दा
अत्येतदन्यान्यहान्यहर्यन्महाव्रतम् ॥ ११ ॥

अतिच्छन्दा अतिच्छन्दश्छन्दस्का यत् या ऋक् एषा अन्यानि गा-
यत्र्यादीनि च्छन्दांसि अति वै अतीत्येव वर्त्तते यन्महाव्रताख्यमहः ।
एतदस्यान्यान्यहान्यतिवर्त्तते । अतोस्मिन्नहनि अतिच्छन्दःप्रयोगो युक्त
इत्यर्थः ॥ ११ ॥

तत्र विहितं ब्रह्मसाम प्रशंसति—

ब्रह्मसाम्नैव तदन्यान्यहान्यतिमेदपाति ॥ १२ ॥

ततः स्वतएव वृत्तम्महाव्रतमहर्ब्रह्मसाम्नैव तदन्यान्यहान्यतिमेद-
यति आत्मानं वर्द्धयति स्वतो वृद्धमपि पुनः राजनेन साम्ना वर्द्धत
इत्यर्थः ॥ १२ ॥

निधनद्वारेण प्रशंसति—

पञ्चनिधनं भवति पाङ्क्तुं ह्यन्नम् ॥ १३ ॥

पञ्च निधनानि पूर्वं प्रदर्शितानि तद्युक्तमेतत् ब्रह्मसाम भवति अन्न-
१३ ता०

स्य पाङ्क्तुं पूर्वमुक्तम् अतोऽन्नसंस्तुते महाव्रतेऽहनि पञ्चनिधनं साम
प्रयोगार्हमित्यर्थः ॥ १३ ॥

इति ताण्ड्यमहोद्गाहणे मञ्जमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ तृतीयः खण्डः ।

अथेलान्दं सामाग्निष्टोमसामत्वेन कर्त्तव्यमिति विधत्ते—

इलान्दमग्निष्टोमसाम कार्यम् ॥ १ ॥

‘अग्निरस्मि जन्मना’ इत्यास्यामुत्पन्नम् ‘अग्ने तव श्रवो वय’ इति प-
ट्टुचे इलान्दमग्निष्टोमसाम कार्यम् ॥ १ ॥

तदेतत्साम प्रशंसति—

एतद्वै साक्षादन्नं यदिलान्दमिरान्नं वा एतदिराया-
मेवान्नाद्येऽन्ततः प्रतितिष्ठन्ति ॥ २ ॥

इलान्दमिति यत् एतत् प्रत्यक्षमन्नं कुतः ? इरान्नं वा एतदिरायामेव
इरा भूमिरन्नञ्च तत् उभयमिरान्नं इरान्नशब्दवाच्यमेवैतत्साम इलान्द-
मित्युच्यते । रलयोरेकत्वस्मरणात् लकारस्य च व्यत्ययेन रकारः । इ-
रायां भूमौ अन्नाद्ये च अन्ततः सन्नस्यावसाने यजमानाः प्रतिष्ठिता
भवन्ति ॥ २ ॥

यत्पूर्वमुक्तम् ‘अग्ने तव श्रवो वय’ इत्यादिके पट्टुचे इलान्दं कार्य-
मिति ता क्रचो विधास्यन् तदीयं छन्दो विधत्ते—

समुद्रो वा एतच्छन्दः सलिलं लोमशं समुद्र इव
खलु वै स भवति सलिल इव लोमश इव यो भवति ॥ ३ ॥

एतदिलान्दस्याधारभूतं छन्दः समुद्रो वै समुद्र इव अप्रधृष्यं सत्
समुद्रनामकं भवति ‘अग्ने तव श्रवो वय’ इत्यादिषु द्वयोर्द्वयोर्क्रचोः साम
समाप्यते प्रत्युच्चं चत्वारिंशदक्षराणि मिलित्वा अशीत्यक्षराणि सम्प-
द्यन्ते एवमेकैका स्तोत्राया अशीत्यक्षरा भवति । अशीत्यक्षरस्य छन्दसः
सिन्धुरिति संज्ञा समुद्रशब्दश्च सिन्धुपर्याय इति असावपि छन्दसः
संज्ञा । कुतोऽस्य छन्दसः संज्ञा कुतोऽस्य छन्दसः समुद्र इवाप्रधृष्यत्वं ?
सलिलं सर्वतो लेलायति चेद् साम लोमशं नानाविधा स्तोमा आव-
त्तमाना अस्य साम्नो लोमत्वेन निरूप्यन्ते लोमभिर्युक्तमेव विशिष्ट-
स्य साम्न आधारत्वात् छन्दः समुद्र इत्युच्यते । लोकेऽपि यः पुरुषः
सलिल इव सर्वतो लेलायमान इव लोमश इव लोमस्यानीपैः पुत्रपौत्रा-

दिमिरुपेत इव भवति । इव शब्दोऽवधारणे उक्तविशेषणविशिष्ट एव भवति । यद्वा संलिलमुदकं तद्यथा व्याप्नोति एवं कृत्स्नं विषय व्याप्नुवन् । यथा च लोमशः पुरुषो आपादमस्तकं लोममिरावेष्टितो भवति तथा परिजनैरावेष्टितो यो भवति समुद्रवदप्रधृष्य इत्यर्थः । एवमस्यापि साम्नः संलिलत्वात् लोमशत्वाच्च तदाश्रयं छन्दः समुद्रवदप्रधृष्यमित्युक्तम् ॥ ३ ॥

अथैतच्छन्दस्का श्रवः सामाधारतया विधत्ते—

तस्मादेतासु कार्य्यंभुंसमृज्यै ॥ ४ ॥

यस्मादेतच्छन्द उक्तप्रकारेण समुद्रः तस्मादेतासु च्छन्दस्कास्त्वृष्टु इलान्दं कार्य्यं तच्च यजमानानां समृज्यै सम्पत्स्यै भवति ॥ ४ ॥

अस्य च साम्नस्त्रीणि निधनानि 'एवमतम्, एसुवः, एशकुन' इति तानि प्रत्येकमनूय प्रशंसति—

व्रतमिति निधनं भवति महाव्रतस्यैव तद्रूपं क्रियते, स्वरिति भवति स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै, शकुन इति भवति शकुन इव वै यजमानो वयः भूत्वा स्वर्गलो-
कमेति ॥ ५ ॥

व्रतमिति निधनमस्य साम्नो भवतीति यत् महाव्रतस्यैव तदनुगु-
णं रूपं क्रियते महाव्रतेऽपि व्रतशब्दसद्भावात् । स्वरिति द्वितीयं निधनं स्वर्गं साधयति अतः स्वर्गलोकस्य संप्राप्त्यै भवति । शकुन इति तृतीयं निधनं भवति तेन शकुन इव पक्षीव यजमानो वयः पक्षी भूत्वा स्वर्गं लोकं प्राप्नोति । इतीलान्दमग्निष्टोम साम कार्य्यमित्युक्तम् ॥ ५ ॥

अथ यज्ञायज्ञीयं वा कार्य्यमिति विधत्ते—

यज्ञायज्ञीयमग्निष्टोमसाम कार्य्यम् ॥ ६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ६ ॥

तदेतत् स्तीति—

यद्वा अन्या वाङ्मनातिवदेत्तदग्निष्टोमसाम कार्य्यञ्चै
वाग्वाचमतिवदति वाग्यज्ञायज्ञीयं वाच्येषान्ततः
प्रतितिष्ठन्ति ॥ ७ ॥

यत् साम अन्या वाङ्मनातिवदत्युत्कृष्टं न वदेत् तदेव सामो-
त्कर्षविधिभूतं तदेवाग्निष्टोमसाम कार्य्यं न खलु वागेव स्वयं वाचम-
तिवदति यज्ञायज्ञीयं च वाङ्मनिधनत्वात् वागेव तस्मादिति वा तद्रदि-

तस्य चाग्रपस्य यज्ञायज्ञीयकरणात् अन्ततः सन्नावसाने वाच्येव सन्नि-
 णः प्रतितिष्ठन्ति ॥ ७ ॥

अथ वारवन्तीयं वा अग्निष्टोमसाम कर्त्तव्यमिति दर्शयति—

वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कार्यम् ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

इदं स्तौति—

अग्निर्वर्वा इदं वैश्वानरो दहन्नेत्सस्माद्देवा अधिभयु-
 स्ते वरुणशाखयाऽवारयन्त यदवारयन्त तस्माद्वा-
 रवन्तीयम् ॥ ९ ॥

अग्निर्वैश्वानरः पूर्वमिदं जगत् दहन् ऐत आगच्छत् तस्माद्भेदे देवा
 भीता भासन् दहन्तं तमग्निं वरुणो वृक्षविशेषः तस्य शाखयाऽवारयन्त
 अशमयन् तस्माद्वरुणशाखया वारवन्तीयमग्निष्टोमावकत्वात् अथ सा-
 म्नो वारवन्तीयमग्निष्टोमसम्पन्नम् ॥ ९ ॥

प्रसङ्गादन्यदपि किञ्चिदाह—

तस्माद्वरुणोभिषज्य एतेन हि देवा आत्मानम-
 प्रायन्त ॥ १० ॥

तस्मादुपशमहेतुत्वात् वरुणो वृक्षो मिषज्यो मिषजि मेषजे साधुः ।
 एतेन हि वरुणेन हि देवा आत्मानं दहतोऽग्नेः सकाशादरक्षन् अतो यु-
 क्तमेवैतस्य मेषजसाधुत्वम् ॥ १० ॥

अन्यदपि किञ्चित्प्रासङ्गिकं रूपं विदधाति—

तस्माद्ब्राह्मणोऽवारणेन न पिबेद्द्वैश्वानरन्नेच्छमया-
 दिति ॥ ११ ॥

तस्माद्वरुणवृक्षस्याग्न्युपशमहेतुत्वात् अग्न्युपासको ब्राह्मणः व-
 रणविकारेण पात्रेण न पिबेत् वैश्वानरमुपास्यमानमग्निज्ञेत् नैव शमये-
 शान्तं करवाणीति बुद्ध्या ॥ ११ ॥

प्रकृतमेव वारवन्तीयं स्तौति—

पशवो वै वारवन्तीयं शान्तिः पशवः शान्तादे-
 व तत्सर्व्वत्सरादुत्तिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

पशूनां पोषकत्वात् वारवन्तीयं पशवो वै पशवः अलु पशवश्च
 शान्तिः शान्तिहेतवः तत्तस्माच्छान्तिरूपस्य वारवन्तीयस्यान्ततः कर-
 णात् शान्तादेव सर्व्वत्सरादुत्तिष्ठन्ति सन्निः ॥ १२ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

अथ चतुर्थः खण्डः ।

एवं महाव्रतस्तोत्रस्य स्वरूपमभिधाय 'प्राणेन पुरस्तादि'त्यादिना 'आसन्दीमारुह्योद्गायती'त्यन्तेन तत् प्रयोगप्रकार उच्यते । पक्षिरूपस्य तस्य महाव्रतस्य लोमनखस्थानीयानां विधास्यमानानां प्राणादिसान्नां परिमाद इति संज्ञा तैश्चाहवनीयादिकमुपस्थेयमित्यस्मिन् खण्डे विधीयते । अस्य चोपस्थानस्य कालादिकं सूत्रकारो विशदीकृतवान् । महाव्रतस्य पृष्ठ उपाकृते युक्तं स्तोमं परिमादो गायेदिनि भाडितायनः, प्रतिगृह्य तृणे अयुक्त्वेति गौतमशाण्डिल्यौ, धानञ्जयश्च प्रागेव स्तोत्रोपाकरणादित्येक इति, तत्र प्राणसाम्ना आहवनीयोपस्थानं विधत्ते—

प्राणेन पुरस्तादाहवनीयमुपनिष्ठन्ते प्राणमेव तज्जयन्ति ॥ १ ॥

इन्द्रं नर इत्यस्यां 'हाउ३ आयुः३ सात्यम३' इति गीयमानं साम प्राणः । तेन साम्ना पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्यवस्थाय आहवनीयमुपनिष्ठन्ते । सदसो निर्गत्य दक्षिणेनाग्निर्घ्रायं गत्वा चित्याग्निमुत्तरेण आहवनीयस्य पूर्वमागं प्राप्य उपस्थानमित्यर्थः । यद्यपि परिमादो गायेदित्येकवचनेन एकस्यैव गानकर्तृत्वात् तत्करणके उपस्थानेऽप्येक एवेति उपनिष्ठन्त इति बहुवचनमनुपपन्नं तथापि 'सर्वाण्युद्गाता सकृत् सकृद्गायेत् निधनमितरावुपेयातामपि मध्ये निवनेषु' इति सूत्रकारेण इतरयोरपि निधनमोशेऽन्यस्योक्तत्वात् त्रयोऽप्युपस्थाने कर्तार इति बहुवचनमुपपद्यते । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । तत्तेन प्राग्नादिक् सम्बन्धिनाहवनीयोपस्थानेन प्राणमेव पञ्चवृत्त्यात्मकं शरीरे वर्त्तमानस्य प्राणवायोः या प्राणाख्या प्रथमा वृत्तिः तामेव जयन्ति लभन्त इत्यर्थः । प्राणवृत्तिरपि नासिकातो निर्गत्य प्राग्नामिनी भवति । अतः प्राक् सम्बन्धिनोपस्थानेन तज्जयो युक्तः ॥ १ ॥

अथ चित्याग्नेः पुच्छस्य अपानसाम्नोपस्थानं विधत्ते—

अपानेन पश्चात्पुच्छमुपनिष्ठन्ते अपानमेव तज्जयन्ति ॥ २ ॥

यद्यैतं प्रत्याव्रज्य पश्चादवस्थाय 'इन्द्रं नर' इत्यस्यामेव 'हाउ३ आनो३ द्वि३ मनो३हम३' इति गीयमानं साम अपानः । तेन पुच्छमुपनिष्ठेरन् तत्तेन प्रत्यग्दिकसम्बन्धिनोपस्थानेन प्रत्यग्नामिनीम्-अपानवृत्तिमेव जयन्ति ॥ २ ॥

मतपक्षौ नाम द्वे सामनी 'इन्द्रं नर' इत्यस्यामेवोत्पन्ने ताम्यां चि-
त्याग्नेः पक्षयोरुपस्थानं विधत्ते—

व्रतपक्षाभ्यां पक्षादुपतिष्ठन्ते दिश एव तज्जयन्ति ॥३॥

'व्रतपक्षयोः पूर्वेण दक्षिणं पक्षमि'ति सूत्रकारेण व्यवस्थाया दशि-
नत्वात् पूर्वेण व्रतपक्षेण दक्षिणं पक्षमुत्तरेणात्तरं चोपतिष्ठेरन् एते अपि
सामनी 'इन्द्रं नर' इत्यस्यामुत्पन्ने 'हाउ३ हे४३ ह४३ इन्द्रं नरो' इति
गीयमानं साम पूर्वं व्रतपक्षः । हाउ३ इहा३ ह४३ इन्द्रं नरो' इति
गीयमानं सामोत्तरः तत्तेन दिक्सम्बन्धः । पक्षयोरुपस्थानेन दिशां
जयो भवति ॥ ३ ॥

पुनरन्यदुपस्थानं विधत्ते—

प्रजापतेर्हृदयेनापिकक्षमुपतिष्ठन्ते ज्यैष्ठ्यमेव तज्जयन्ति ॥४॥

अपिकक्षं पक्षमूलमुत्तरमपिकक्षमुपतिष्ठेरन् प्रजापतेः ज्येष्ठत्वात्
तत्तेनोपस्थानेन ज्यैष्ठ्यमेव जयन्ति ॥ ४ ॥

अथ चात्वालस्योपस्थानं विधत्ते—

वासिष्ठस्य निहयेन चात्वालमुपतिष्ठन्ते स्वर्गमेव
तल्लोकमाप्त्वा श्रियं व्वदन्ते ॥ ५ ॥

'असावि देवम्' इत्यस्यामुत्पन्ने साम वासिष्ठस्य निहवः । तेन चात्वा-
लमुपतिष्ठेरन् 'आइहो३ एहिया उ२३४वा हाइ असावि देवगोदृज्जीता३क्षां
धाउ' इत्येतदादिकं तत्साम 'विभ्ये देवा मम शृण्वन्तु' इत्यस्यामृचि
'सुधेष्पिद्धो अन्तमा मयेमेति' विद्यते तस्य चायमर्थः । हे देवाः वः सु-
ष्माकम् अन्तमाः अन्तिकतमाः सन्तः सुग्नेषु सुखेषु मदेम इति । अत
एवंरूपस्यार्थस्य दर्शनात् एतत् कारणकोपस्थाने स्वर्गमेव लोकमाप्त्वा
लब्त्वा श्रियं सम्पदमभिवदन्ते ॥ ५ ॥

अथैतस्य साम्न आधारभूतामृचं विधाय प्रशंसति—

वैश्वदेव्यामृचि भवति विवश्वरूपं वै पशूनां रूपं
पशूनेषु तज्जयन्ति ॥ ६ ॥

वैश्वदेव्यामृच्येतत् साम भवतीति विवश्वरूपं बहुरूपं हि पशूनां
रूपं तत्तेन वैश्वदेव्याः करणेन पशूनेषु जयन्ति ॥ ६ ॥

अथान्यदुपस्थानं विधत्ते—

सत्रस्य ह्यग्नीध्रमुपतिष्ठन्त ऋद्धावेव प्रतितिष्ठन्ति ॥७॥

'औहोषा३ अगन्म ज्योतिः' इति सत्रस्य ऋद्धिस्तेन साम्ना आग्नी-

अम् आग्नीध्रमण्डपस्थमग्निमुपतिष्ठेरन् 'अगन्म ज्योतिरमृता अमूम'
इत्यादिना ऋद्धेः सूचितत्वात् । ऋद्धौ समृद्धावेव प्रतितिष्ठन्ति ॥ ७ ॥

अस्य च साम्नो निधनं स्वर्ज्योतिरिति तत्र वर्णव्यूहेन चतुरक्षर-
निधनं भवति तदनूद्य प्रशंसति—

चतुरक्षराणिधनं भवति चतुष्पादाः पशवः पशुष्वे-
व प्रतितिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

यावत् प्राणस्य विरामो भवति तावन्तं कालमेतन्निधनमावर्त्तये-
युरिति विधत्ते—

आतमितोर्निधनमुपयन्त्यायुरेव सर्वमाप्नुवन्ति ॥ ९ ॥

आतमितोस्तमुग्लाने इत्यस्मात् 'भावलक्षणेस्थेणकृज्वादिचरिहुत-
मिजनिम्यस्तोसुन्' इति तोसुन् प्रत्ययः । आतमनात् प्राणवायोः याव-
त्तमनं ग्लानं श्रमो भवति तावत्पर्यन्तं स्वर्ज्योतिः स्वर्ज्योतिरिति अनु-
वृत्तसन्तः पुनः पुनरावर्त्तयेयुः । एवं प्राणस्यान्तर्निरोधेन सर्वं सम्पूर्ण-
मेवायुः प्राप्नुवन्ति ॥ ९ ॥

नया हविर्दानयोरुपस्थानं विधत्ते—

श्लोकानुश्लोकाभ्यां हविर्दाने उपतिष्ठन्ते कीर्त्ति-
मेव तज्जयन्ति ॥ १० ॥

'हाऊ स्वरता ब्रह्मणा, इति गीयमानं साम श्लोकः 'आनवस्ते रथ-
मश्वायाता १२२४' इत्यस्यां गीयमानं 'हाऊ स्वरता स्वरतस्वरा २३ता'
इत्यादिकं साम अनुश्लोकः । तत्र पूर्वेण श्लोकेन साम्ना हविर्दानयोः
पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखाः स्थित्वा हविर्दाने उपतिष्ठेरन्, हविर्दानयोः प-
श्चात् स्थित्वा अनुश्लोकेन हविर्दाने एवोपतिष्ठेरन् । तदुक्तं सूत्रकारे-
ण 'पुरस्तात्प्रत्यङ्मुखाः पश्चादितरेणेति, तत्तेन सामद्वयोपस्थानेन
कीर्त्तिमीयुः । एते पुण्यश्लोकाः । एतैः सम्यक् सत्रमनुष्ठितमित्येवं रूपं
यशः प्राप्नुवन्ति ॥ १० ॥

अथ अन्यदुपस्थानं विधत्ते—

यामेन मार्जालीयमुपतिष्ठन्ते पितृलोकमेव तज्ज-
यन्ति ॥ ११ ॥

ब्रह्मेषु सामसु 'नाके सुपर्णम्' इत्यस्यां यत्पाठितं यामम 'औ होई
इया हाऊ अहो होइवा नाके सुपा' इत्यादि नेन मार्जालीयन्धिष्णमुप-

विष्टेरन् । वेवेर्दक्षिणभागे हि 'मार्जालीयं पितृलोकश्च दक्षिणत इति त-
त्तेन मार्जालीयोपस्थानेन पितृलोकमेष जयन्ति ॥ ११ ॥

अथ सदस उपस्थानं विधत्ते—

आयुर्णवस्तोभाभ्यां सद उपतिष्ठन्ते ब्रह्म चैव तत्
क्षत्रञ्च जयन्ति ॥ १२ ॥

'हाऊ३ आ विश्वतो दावन्विश्वतो न आ भर' इत्यायुः, विश्वतो दा-
वन्विश्वतो न आ' इति नव स्तोमाः । सदसः पुरस्तात् स्थित्वा पूर्व्वेण
आयुः साम्नोपतिष्ठन्ते पश्चात् स्थित्वा उत्तरेण आयुर्णवस्तोमेन साम्ना ।
उक्तं हि सूत्रकारेण 'यथा हविर्दाने तथा' इति । तत्र ज्योतिः शब्देन
समृद्धिवचनेन ब्रह्म च क्षत्रञ्च कीर्त्यत इति तत्तेन सामद्वयोपस्थानेन
ब्रह्म च ब्राह्मणजातिं क्षत्रं क्षत्रियजातिञ्च उभयमपि जयन्ति ॥ १२ ॥

अथ गार्हपत्योपस्थानं विधत्ते—

ऋद्वस्य साम्ना गार्हपत्यमुपतिष्ठन्ते ॥ १३ ॥

'हरीत इन्द्र इमधूणि' इति गीयमानं ऋद्वस्य साम, तेन गार्हपत्यं
शालामुखीयमुपतिष्ठेरन् ॥ १३ ॥

अथैतत्साम स्नौति—

इन्द्रं सर्व्वाणि भूतान्यस्तुर्वस्तस्यैकमङ्ग-
स्तुतमचायत्तदस्यैतेनास्तौत्तिनास्य प्रियं धामोपागच्छ-
त्प्रियमेवास्यैतेन धामोपगच्छन्ति ॥ १४ ॥

पुरा इन्द्रं फलकामनया सर्व्वाणि भूतान्यस्तुवन् तस्यैकमङ्गं गुह्य-
रूपमस्तुतं न केनापि स्तुतमासीत् ऋष्यैस्तदङ्गमचायत् अजानत् ज्ञा-
त्वा च स तस्येन्द्रस्य तदङ्गमेतेन साम्नाऽस्तौत् तेनास्य प्रियं धामो-
पागच्छत् अत एतेनोपतिष्ठमाना अपि अस्येन्द्रस्य प्रियमेव धाम स्था-
नमुपगच्छन्ति, अस्मिन् साम्नि 'भुडिति प्रभुडितीन्द्रस्तसरति' स्तोम-
वदेन भोगसाधनं गुह्यमङ्गं प्रतीयते । 'इन्द्रस्तसरपूता' इत्यत्र च तसरश-
ब्देन तदेवोच्यते । तत्र शाट्यायनकम् 'ऋद्वस्य इन्द्र भुडिति मयघनिन्द्र
भुडिति प्रभुडितीन्द्रस्तसरपूता २३४५ इति पुनः पुनस्तसरभिघर-
गित्येतत्' इत्यादिकमनुसंधेयम् । अतो गुह्यस्य स्तुतिरधिगन्तव्या ॥ १४ ॥

अस्य च निधनं प्रत्यक्षमुपेतव्यं न परोक्षेणेति विधत्ते—

येत् परोक्षं निधनमुपेयुर्हीतमुखं प्रतिमुखेरन् प्रत्य-
क्षमुपयन्ति हीतमुखमेवापजयन्ति ॥ १५ ॥

यत् यदि अस्य साम्नो निधनम् 'इन्द्रस्तसरपूता' इत्येतत् परोक्षमु-
पेयुरपगच्छेयुः हीतमुखं लज्जाविष्टमुरवाकारं पुत्रं प्रतिमुञ्चेरन् स्वात्मनि
संयोजयेरन् । यत् यदि प्रत्यक्षमुपयन्ति तदोद्गीतमुखमेवमपरो निर्देशः
हीतमुखत्वं पुत्रादिगतमपजयन्ति तिरस्कुर्वन्ति । किमिदं निधनस्य प-
रोक्षं किंवा प्रत्यक्षमिति चेत्? तदुभयं विविच्य प्रदर्शितं निदाने 'ऋदयं
प्रत्यक्षज्ञापितं परोक्षमपि वन्देति प्रत्यक्ष इन्द्र इति परोक्षम्' इत्यादिना
'ऋदयास इन्द्र भुङ्' इतीन्द्रपदमित्युपरि सर्वाणीन्द्रवाचकानि पदानि
सम्बुध्यन्तानि प्रयोज्यानि तेनेन्द्रस्तसरपूता इति प्रथमान्तमपोह्य इ-
न्द्रस्तसरपूतेति संयोज्य यथा 'ऋदयास इन्द्र मधवस्त्रिन्देति' श्राणि स-
म्बुध्यन्तानि एवं हीन्द्रः सम्बोध्यत्वात् प्रत्यक्षकृतो भवति अतस्तद्वा-
चकं निधनमपि प्रत्यक्ष भवति । प्रथमान्तत्वे तु परोक्षकृतत्वेन निधन-
स्य परोक्षता स्यात् । सुप्रकृताऽपि इन्द्रप्रभृति प्रत्यक्षं निधनमुपेयु-
रिति ॥ १५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

अथ पञ्चमः खण्डः ।

एवं महाव्रतस्तोत्रस्याङ्गभूता लोमनखस्थानीयास्त्रयोदश परिमा-
दा गताः । एतेषाञ्च लोमनखस्थानीयत्वं तैत्तिरीये समाम्नातं 'यदित
इतो लोमानि इतो नखात्परिमादः क्रियन्ते तान्येव तेन प्रत्युप्यन्त इ-
ति, अथ महाव्रतस्तोत्रं पञ्चविधम् अत्राध्वर्युः शिरसोद्गायेन्मैत्रावरुणो-
दक्षिणेन पक्षेण ब्राह्मणाच्छंस्युत्तरेण गृहपतिः पुच्छेनोद्गातात्मनेत्येवं क-
र्तृविशेषसम्बन्धं धरति । तत्रोद्गातुरुद्गानकाले कञ्चिद्विशेषं विधत्ते—

आसन्दीमारुह्योद्गायति देवसाक्ष्य एव तदुपरिपद्यं
जयति ॥ १ ॥

उद्गाता आसन्दीमारुह्य आत्मना राजनेन साम्ना उद्गायति तत्तेन
भूमिं परित्यज्य आसन्धा उपर्यारोहणेन देवसाक्ष्ये देवानां दर्शन एव
उपरिपद्यम् उपरि सदनम् उन्निष्ठे स्वर्गादाववस्थानं जयति लभते ॥ १ ॥

आसन्धा ओदुम्बरीत्वं विधाय प्रशसति—

औदुम्बरी भवत्यूर्गुदुम्बर ऊर्जमेवावरुन्धे ॥ २ ॥

उदुम्बरविकारैः औदुम्बरैः काष्ठैर्निर्मिता भवति । योऽयमुदुम्बरः
स ऊर्गं वै बलकरमश्रमेव ऊर्ग्विभागसमये तस्योत्पत्तेः । तथा च तैत्ति-
रीयकं 'देवा वा ऊर्जं व्यभजत तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति । अन औदुम्ब-

र्यासन्द्युपवेशनेन ऊर्जमेव साक्षात्प्राप्नोति । यदुक्तं सूत्रकारेण 'प्रादेश
शमात्राः पादा अरत्निमात्राणीतराण्यङ्गानी'ति ॥ २ ॥

तदेतद्विधाय प्रशंसति—

‘प्रादेशमात्री भवत्यस्य लोकस्यानुद्धानाय ॥ ३ ॥

‘प्रादेशमात्रपादत्वात् प्रादेशमात्री आसन्दी । एवं पादानां ह्रस्वाय
स्त्वम् अस्य लोकस्य अस्मात् लोकादनुद्धानाय भवति ॥ ३ ॥

अथ तस्यारोहणं विधाय प्रशंसति—

छन्दोभिरारोहति स्वर्गमेव तल्लोकमारोहति ॥ ४ ॥

‘गायत्रेण त्वा छन्दसारोहामि’ ऋगुमेन त्वा छन्दसारोहामि, जा
गतेन त्वा छन्दसारोहामि, आनुष्टुमेन त्वा छन्दसारोहामि, वृरा-
जेन त्वा छन्दसारोहामि’ इति वैराजपञ्चमः गायत्र्यादिमिदं छन्दोभिरा-
सन्दीमारोहति । छन्दोधिकल्पश्च सूत्रकारेणोक्तः ‘चतुर्भिरिति धानञ्ज-
प्यस्त्रिभिः शाण्डिल्य’ इति । तत्तेन रोहणेन स्वर्गं लोकमारोहति ॥ ४ ॥

उपावरोहणकाले एतैरेव प्रतिलोमैश्छन्दोभिरुपावरोहणं विधत्ते—

छन्दोभिरुपावरोहस्यास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठति ॥ ५ ॥

एतेषामेव छन्दसां प्रतिलोम आरोहण इति गायत्रस्य प्रथमं च
भूलोकात्मकत्वात् अस्मिन् लोके पुनः प्रतितिष्ठतीति । तदुक्तं सूत्रकृता
‘आहूयमाने भक्षे प्रतिलोमैः आरोहणीयैः अवरुह्य जपेन्मही धीः पृथि-
वी चनेति सर्वे सह स्तुवीरन्नि’ति । यद्यध्वर्युं प्रभृतयः शिरःप्रभृतिभि-
रुद्धानं कुर्युः । तेषामेकैकया स्तोत्रीयान्त्यया अस्तुतया उद्गाता अभि-
समेयुरिति वक्ष्यति ॥ ५ ॥

उद्गातुस्तासामुद्धानं विधत्ते—

सर्व्वेणात्मना समुद्धृत्योद्ग्रेयमेषु लोकेषु नेह्याहितोऽ-
सानीति ॥ ६ ॥

अध्वर्युं प्रभृतिभिः परिशेषिताः स्तोत्रीयाः समुद्धृत्य संगृह्य सर्व्वे-
ण स्तोत्रीयेण आत्मना आत्मभूतेन राजनेन उद्ग्रेयमुद्धानं कार्य्यम् एषु
लोकेषु स्थानेषु शिरःप्रभृतिषु नेत् नैव व्याहितोऽन्तरितोऽसानी भवा-
नीति बुध्वा अतः प्रभृतिषु सर्व्वपूरात्पु स्तुतं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथोद्गातुरासन्धाः सकाशात्पादयोरवरोहणं विधत्ते—

एकस्यां स्तोत्रीयायामस्तुतायां पादानुपाहरति ॥ ७ ॥

पञ्चविंशस्तोमस्य राजनस्य एकस्यां स्तोत्रीयायाम् अन्त्यायामस्तु-

नार्यां प्रस्तूयमानायामुद्राता पादावुपाहरति भूमेरासन्नं स्थापयति ॥७॥

अथ त्रयाणामप्युद्रातृणां पादयोर्भूमौ स्थापनकालं विधत्ते—

सह निधनेन प्रतिष्ठामुपयन्त्येष्वेव लोकेषु प्प्रति-
तिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

उत्तमे निधने राजनस्य 'व्वाजीडासु बृहन्ना३४५' इत्यन्तेन सह प्रति-
ष्ठामुपयन्ति भूमौ पादौ प्रतिष्ठापयन्ति । एवं भूमौ स्थापनेन एष्वेव
लोकेषु प्रतिष्ठिता भवन्ति । अत्र बहुवचनेन प्रस्तोतृप्रतिद्वित्रोस्तस्मात्
प्रष्टिरूपादासनात् भूमौ पादप्रतिष्ठापनं कर्त्तव्यमित्यवगम्यते ॥ ८ ॥

अथ प्रसङ्गात् होतुरप्यासनविशेषं विधाय प्रशंसति—

प्रेङ्खामारुह्य होता शशंसति महस एव तद्रूपं क्रियते ॥९॥

होता प्रेङ्खां दोलामारुह्य तत्रैवासीनो निष्केवल्यं बृहतिसदस्यात्मकं
शस्त्रं शंसति तत्तेन महसस्तेजस एवैश्वर्य्यरूपमेतत्क्रियते ॥ ९ ॥

कथं प्रेङ्हारोहणेन महसो रूपं कृतं भवति तत्राह—

यदा वै प्रजा मह आविशति प्रेङ्खास्तर्ह्यारोहन्ति ॥ १० ॥

यदा खलु प्रजाः जनान् महस्तेज ऐश्वर्य्यमाविशति तर्हि तस्मिन्
काले प्रेङ्खा आरोहन्ति ॥ १० ॥

नयाध्वर्य्योरासनं विधत्ते—

फलकमारुह्याध्वर्युः प्रतिगृणाति ॥ ११ ॥

औदुम्बरफलकमारुह्याध्वर्युः निष्केवल्यं शस्त्रं प्रतिगृणाति ॥११॥

अन्येषामपि ऋत्विजामासनानि विधत्ते—

कूर्चानितरेऽध्यासत ऊर्ध्वा एव तदुत्क्रामन्तो यन्ति ॥१२॥

उक्तेभ्यो येऽन्ये मैत्रावरुणादयस्ते कूर्चान् वृत्तीरध्यासने, तथा
ह्यतरेयकं 'वृत्तीर्होत्रकाः समधिरोहन्ति सप्रह्लाका' इति । एवं सर्वेषामृ-
त्विजामूर्ध्वोपवेशनात् ऊर्ध्वा एव उर्ध्वाभिमुखा एव सन्त उत्क्रामन्त ए-
हिकर्मोपावसाने स्वर्गे प्रत्युत्क्रामन्तो यन्ति इदानीमुच्चिक्रामिष्यैव ते
प्रासनेपूषविशन्तीत्यर्थः ॥ १२ ॥

ग्राहणश्च श्रद्धश्च सत्रिणां प्रशंसनं निन्दनञ्च क्रमेण कुर्यातां तदे-
तद्विधत्ते—

अभिगरापगरौ भवतो निन्दत्येनानन्यः प्राण्यः
शशंसति य एनान्निन्दति पाप्मानमेवाशंसोऽपहन्ति यः

प्रशंसति यदेवैषां सुष्टुतं सुशस्तं तत् सोऽभि-
गृणाति ॥ १३ ॥

अभिगारः स्तोता, अपगृणाति अपवदतीति अपगरो निन्दता, ता-
बुमौ आनीतौ भवतः । तयोरेव्यः शूद्रः एनान् सत्रिणो निन्दति एतैः
सम्यङ्नानुष्ठितमित्यपवदति । तथा अन्यो ब्राह्मणः एनान् प्रशंसति एषां
सत्रिणां सम्यन्धि सुष्टुतं शोभनं स्तवनं सुशस्तं सुशसनं च यदास्ति
तदेवासाधभिगृणाति ॥ १३ ॥

अथ चर्मनिमित्तं ब्राह्मणशूद्रयोर्विवादं विधत्ते—

शूद्रार्यौ चर्मणि व्यायच्छेते तयोराय्यं वर्णमु-
ज्जापयन्ति ॥ १४ ॥

शूद्रश्चार्यश्चोर्मौ चर्मणि परिमण्डले आदित्यप्रतिरूपे निमित्ते व्या-
यच्छेते व्यायमनं विविधमाकर्षणम्मदीयम्मदीयमिति तत् कुरुतस्त-
योर्मध्ये आर्यं वर्णं ब्राह्मणजातिमुज्जापयन्ति यथा ब्राह्मणो जयेत् त-
था कुर्युरित्यर्थः ॥ १४ ॥

तदेतत् स्तौति—

देवाश्च वा असुराश्चादित्ये व्यायच्छन्तस्तन्देवा
अभ्यजयँस्ततो देवा अभवन् । परासुरा अभवन्नात्मना
परास्य भ्रातृव्यो भवति य एवं वेदे ॥ १५ ॥

पुरा वै देवाश्चासुराश्चासावादित्योऽस्माकमेवेति तस्मिन् आदित्ये
विषये व्यायच्छन्तः विवादं कृतवन्तः । तत्रादित्यं देवा अभ्यजयन् । असु-
राः पराभभवन् जयं न प्राप्नुवन् । स्पष्टमन्यत् ॥ १५ ॥

ब्राह्मणस्य जयो यथा स्यात् तथा कर्षध्यमित्युक्तं, तदेव प्रशंसति—
यदार्यं वर्णमुज्जापयन्त्यात्मानमेव तदुज्जापयन्ति ॥ १६ ॥

आर्यं ब्राह्मणं वर्णमुज्जापयन्तीति उत्कर्षेणामुं प्रापयन्तीति यत्
तत्तेन सत्रिण आत्मानमेव उज्जापयन्ति । जयतेर्णिच् 'क्रीड्जीनां णावि'-
अत्ये 'अस्ति क्रीड्जीनां' 'स्पर्दिना' 'पुण्यलभः' ॥ १६ ॥

व्यापमनहेतुमूतस्य चर्मणः किञ्चिद्गुणं विधाय प्रशंसति—

परिमण्डलश्चर्म भवत्पादित्यस्यैव तद्रूपं क्रियते ॥ १७ ॥

तच्चर्मं परितः कृतमण्डलाकारं भवति । तत्तेन आदित्यस्यैव रूप-
मस्मिन् चर्मणि क्रियते । आदित्ये हि पुरा देवानां व्यापमनं कृतमि-
त्युक्तम् अत एवैतच्चर्मं आदित्यप्रतिरूपकं भवति ॥ १७ ॥

अथास्मिन् स्तोत्रे गीयमाने दुन्दुभीनां वादनं विधत्ते—

सर्वासु स्रक्तिषु दुन्दुभयो वदन्ति या वयनस्पतिषु
व्वाक्तामेव तज्जयन्ति ॥ १८ ॥

सर्वासु स्रक्तिषु वेद्याः कोणेषु दुन्दुभयो वदन्ति शब्दं कुर्युस्तदेवं
यथा वदन्ति तथा तान्वादयतीत्यर्थः । वाद्यपूर्वं देवेभ्यो निष्क्रम्य वयन-
स्पतिषु या वाक् प्रविष्टा तामेव वाचं तत्तेन दुन्दुभिः शब्देन जयन्ति
प्राप्नुवन्ति ॥ १८ ॥

अथ भूमिदुन्दुभिर्वादनं विधत्ते—

भूमिदुन्दुभिर्भवति या पृथिव्यां व्वाक्तामेव तज्ज-
यन्ति ॥ १९ ॥

आग्नीध्रीयस्य पञ्चादङ्गमन्तर्वेद्यर्द्धं वहिर्वेदि भूमाववटं खात्वा सव-
नीयस्य ऋष्यमचर्मणापिदधाति स भूमिदुन्दुभिर्भवति तां “वादयन्ती”-
ति शेषः, स्पष्टमन्यत् ॥ १९ ॥

अन्यासामपि वाचां प्रयोगं विधत्ते—

सर्वा व्वाचो वदन्ति येषु लोकेषु व्वाक्तामेव
तज्जयन्ति ॥ २० ॥

सर्वाः संस्कृताश्चासंस्कृताश्च ग्राम्यवाचश्च वदन्ति प्रेक्षकाः सर्वे
जना इत्यर्थः, गतमन्यत् ॥ २० ॥

अथ राजपुरुषाणां देवयजनस्य परितो गमनं विधत्ते—

सप्तर्द्धाः कवचिनः परियन्तीन्द्रियस्यैव तद्रूपं क्रिय-
तेऽथो महाव्रतमेव महयन्ति ॥ २१ ॥

सप्तर्द्धाः सम्बद्धहस्तत्राणादिकाः कवचिनः कवचयुक्ताश्च राजपु-
रुषाः रथमारुह्य गृहीतचापशराः सन्तः परियन्ति देवयजनं परितो
गच्छेद्युः । इन्द्रियस्यैव धलस्यैव तद्रूपं क्रियते यदेतत् कवचिनां परिगमनं
अथो अपि च महाव्रतमेव महाव्रताख्यमेवाहर्महयन्ति ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ।

अथ षष्ठः खण्डः ।

एवं पञ्चविधमहाव्रतस्तोत्रस्य शिरःप्रभृतिगान् पञ्चावयवानध्व-
र्यादयः पञ्च सहोपक्रम्य युगपदुद्गायेयुरित्येकः पक्षः, उद्गातैव कृत्स्न-
स्तोत्रमुद्गायेदित्यपरः, तत्र प्रथमं पक्षं विदधाति ।

सर्वे सहर्त्विजो महाव्रतेन स्तुवीरन् ॥ १ ॥

महाव्रतेन शिरआदिभिः पञ्चविधेन स्तोत्रेण ऋत्विजः सर्वे युगपत् स्तुवीरन् ॥ १ ॥

कतमः कतमेनावयवेन स्तुवीत इत्यत आह—

अध्वर्युः शिरसोद्गायेन्मैत्रावरुणो दक्षिणेन पक्षेण
ब्राह्मणाच्छृंस्युत्तरेण गृहपतिः पुच्छेनोद्गातात्मना ॥२॥

शिरसा शिरस्त्वेन परिकल्पितेन प्रिवृता स्तोमेन गायत्रेण साम्ना
अध्वर्युः शिरसोद्गायेत्, तथा मैत्रावरुणो दक्षिणेन पक्षेण, तथा तेन
परिकल्पितेन रयन्तरसाम्ना पञ्चदशस्तोमेनोद्गातोद्गायेत्, तथा ब्राह्मणा-
च्छस्युत्तरेण पक्षेण तदात्मना परिकल्पितेन सप्तदशस्तोमेन गृहसाम्ना
स्तुवीत । गृहपतिर्यजमानः भर्द्रं यज्ञायज्ञायं च विकल्पितेन परिकल्पिते-
नान्यतरेण एकविंशस्तोमकेनोद्गायेत् । स्वयमुद्गाता आत्मनो मध्ये आ-
त्मा तद्रूपतया परिकल्पितेन राजनसाम्नाद्गायेत्, अप्राध्वर्युः शिर-
सोद्गायेदित्यादिना अध्वर्युप्रभृतीनामुद्गातृकार्ये विधानात्प्रस्तोतृप्रति-
हर्त्तारावपि तस्य तस्य कल्पनीयौ । तत्राध्वर्योरग्रे द्वितीयः प्रस्तोता
तृतीयः प्रतिहर्त्ता कार्यः पक्षयोस्तु द्वितीययोरुद्गातृत्वात् तदनन्तर-
भाविनौ तृतीयचतुर्थवेच प्रस्तोतृप्रतिहर्त्तारौ कार्यौ पुच्छे तु अविनि-
युक्तौ सुब्रह्मण्योन्नेतारौ प्रस्तोतृप्रतिहर्त्तारौ कर्त्तव्यौ न ह्यत्र गत्यन्तरम-
स्तीत्येकः पक्षः । अध्वर्युप्रभृतीनामेवोद्गातृत्वविधानाच्चेतरयोर्याध इति
उद्गातृत्वगौ यौ प्रस्तोतृप्रतिहर्त्तारौ तावेव सर्वत्र क्रमेण प्रस्तोतृप्रति-
हर्त्तारौ कुर्यातामित्यपरः पक्षः । इममेव पक्षं सुत्रकारः 'सर्वे सहर्त्विजो
महाव्रतेन स्तुवीरन्' इत्युद्गातृविकार एव स्यादित्यादिना दर्शितवान् ॥२॥

यथाध्वर्युप्रभृतयः सर्वे महाव्रतेन स्तुवीरन्-तत्र किञ्चिद्विशेषमाह—

तद्यद्येवं कुर्युरेकैकया स्तोत्रीययाऽस्तुतयोद्गातारम-
भिसमेयुः ॥ ३ ॥

तत्तत्र महाव्रते यद्येवं कुर्युः । तदा स्वीयेषु स्तोत्रेषु शिरःप्रभृतिषु
अस्तुतया एकैकया स्तोत्रीयया उद्गातारमभिसमेयुरभिगच्छेयुः । इय-
मस्तुतेत्युद्गात्रे निषेदेयुरित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथैतर्हि निषेदितानां स्तोत्रीयानां क्रमेणोद्गात्रा विनियोगप्रकारमाह—

तिसृभिरुद्गाताऽऽत्मन उद्गीथाथ या शिरसः स्तोत्रीया
तां दध्वादपराभित्सृभिरुद्गीथाथ या दक्षिणस्य पक्षस्य

स्तोत्रीया तान्दध्यादपराभिस्तिसृभिरुद्गीयाथ योत्तरस्य
पक्षस्य स्तोत्रीया तान्दध्यात्तिसृभिर्वैकया वा स्तुतुं-
स्यादथ या पुच्छस्य स्तोत्रीया तान्दध्यात् ॥ ४ ॥

आत्मनः राजनस्यादितस्तिसृभिः स्तोत्रीयामिरुद्गीय उद्गानं कृत्वा
अद्यान्तरं या शिरसः स्तोत्रीया अध्वर्युणावशेषिता तामुद्गाता दध्यात्
प्रथमपर्यायस्य प्रथमविष्टावानन्तरं तथा स्तुवीतेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि
योज्यम् । यदा राजनस्य साम्नः पञ्चविंशस्तोमस्य अन्त्याभिस्तिसृभिः
स्तोत्रीयामिरेकया वा अस्तुतं स्यात् स्तुतिः कृता न भवेत् अथास्मिन्
स्थाने गृहपतिनोच्छेषितां पुच्छस्य स्तोत्रीयाम्प्रत्येतत् । नत्वेकैकस्या
उच्छेषणम् ॥ ४ ॥

आत्मनि प्रतिधानञ्च किमर्थमित्यत आह—

आत्मन्येव तदङ्गानि प्रतिदधति स्वर्गस्य लोकस्य
समष्ट्यै ॥ ५ ॥

तप्तेन उक्तक्रमेण स्तोत्रीयाणां प्रक्षेपणेन आत्मनि मध्यकाय एव
शिरःप्रभृतीन्यङ्गानि प्रतिदधति संयोजयति । सम्पूर्णाङ्गो हि गन्तुं श-
क्नोति प्रतिधानं स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै सम्प्राप्त्यै भवति ॥ ५ ॥

अथ सर्वे महाव्रतेन स्तुवीरन्नित्युक्तं पक्षं निरस्य उद्गातैव शिरःप्र-
कृतिकेन सर्वेण स्तोत्रेण स्तुवीतेत्यमुं पक्षं दर्शयति—

अथो खल्वाहुः कथमध्वर्युर्वह्वचः साम गायेदित्यु-
द्गातैव सर्वेणोद्गायेत्तदेव समृद्धं समृद्धावेव प्रतिति-
ष्ठन्ति ॥ ६ ॥

अध्वर्युर्यजुर्वेदाध्यायी मैत्रावरुणोऽपि, हव्यः ऋग्वेदाध्यायी, अनि-
त्यं हि तयोः सामाध्ययनं ततः कथं साम गायेतामिति ब्रह्मवादिन आ-
हुः । अथो खल्विति पक्षान्तरपरिग्रहे एवमुक्ता तदनन्तरमेव निश्चित-
घन्तः उद्गातैव सर्वेण कृत्स्नेन शिरःप्रभृतिकेन महाव्रतस्तोत्रेणोद्गा-
येत् तदेव समृद्धं, स्वशाखात्वेन सम्यगधीतत्वात् स्वरादिविकल्पा-
भावेन सम्यक् प्रयुक्तत्वात् तदेव स्तोत्रं समृद्धं सम्पूर्णं भवति । तथा
च सत्रिणोऽपि समृद्धावेव प्रतिष्ठिता भवन्ति ॥ ६ ॥

अथास्मिन् पक्षे स्तुतिप्रकारमाह—

हविर्द्धाने शिरसा स्तुत्वा सध्वरवधाः प्रत्यश्च एयुस्ते
दक्षिणेन धिष्ण्यान् परीत्य पश्चान्मैत्रावरुणस्य धिष्ण्य-

स्थोपविश्य रथन्तरेण पञ्चदशेन स्तुवीरिस्त उदञ्चः
सप्तर्षेयुर्जघनेन होतुर्धिष्ण्यं पश्चाद्ब्राह्मणाच्छ्रुत्सिनो
धिष्ण्यस्थोपविश्य बृहता सप्तदशेन स्तुवीरिस्ते । येनैव
प्रसर्पेयुस्तेन पुनर्निःसृप्योत्तरेणाग्नीध्रं परीत्य पश्चाद्गार्हप
त्यस्थोपविश्य पुच्छेनैकविंशेन स्तुवीरिस्ते येनैव
निःसर्पेयुस्तेन पुनः प्रसृप्य यथायतनमुपविश्यासन्दीमा-
रुह्योद्गातात्मनोद्गायति ॥ ७ ॥

हविर्दाने हविर्दानमण्डपे उद्गातारः शिरसा स्तुत्वा संख्याः
समन्वारब्धाः प्रत्यञ्चः प्रत्यङ्मुखाः सन्त पयुः हविर्दानाद्रुच्छेयुः अप-
रया द्वारा हविर्दानान्निष्क्रम्य माज्जालीयादीनां धिष्ण्यानां दक्षिणतः
परीत्य पूर्वया द्वारा सदः प्रविश्य मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पश्चादुपविश्य
रथन्तरेण पञ्चदशेन स्तुवीरन् । ततस्त उद्गातारः उदञ्चः उदङ्मुखाः प्र-
सर्पेयुः होतुर्धिष्ण्यमपरेण ब्राह्मणाच्छ्रुत्सिधिष्ण्यस्य पश्चादुपविश्य बृहता
सप्तदशेन स्तुवीरन् ते पुनर्येनैव यथा प्रसर्पेयुः तेनैव पुनर्निःसृप्य निर्ग-
त्य दक्षिणेन धिष्ण्यान् परीत्य पूर्वया द्वारा सदो निर्गत्य अपरया द्वारा
हविर्दाने प्रपद्य पूर्वया द्वारा हविर्दानान्निष्क्रम्येत्यर्थः । तत उत्तरेणा-
ग्नीध्रमाग्नीध्रोयं धिष्ण्यं परीत्य गार्हपत्यस्य पश्चादुपविश्य एकविं-
शस्तोमकेन पुच्छेन स्तुवीरन् त उद्गातारो येनैव यथा निःसर्पेयुः सदसो
निष्क्रान्ताः तेनैव पुनः सदः प्रसृप्य प्रपद्य यथायतनमुपविशेयुः । तत
उद्गाता आसन्दीमारुह्य आत्मनोद्गानं कुर्यात् । अत्रोपविश्येति पूर्व-
कालतामात्रे क्ताप्रत्ययो द्रष्टव्यः ॥ ७ ॥

अत्रोद्गाने पत्नीनां धोणाविशेषैरुपगानं विधत्ते—

तं पत्न्योऽपघाटिलाभिरुपगायन्त्यार्विज्यमेव तत्प-
त्न्यः कुर्वन्ति सह स्वर्गलोकमयामेति ॥ ८ ॥

तमुद्गातारमपघाटिलाभिर्धोणाविशेषैरुपगायन्ति उपगानं कुर्युः
तदुपगानमार्विज्यमेव पत्न्यः कुर्वन्ति यजमानैः सह स्वर्गं लोकं प्रा-
प्नुयामेति बुद्ध्या । अपघाटिलाशब्दस्यार्थं सूत्रकारो विस्पष्टमेवोक्तवान्
'पश्चिमेनोपगातृन्द्वे द्वे एकैका पत्नी काण्डधीर्णा पिच्छोलां व्यत्यासं घाद-
येदुपमुखं पिच्छोलावादेन काण्डमयी अपघाटिला इत्याचक्षत' इति,
उपमुखं स्थापयित्वा मुखमारुतेन वाचमाना धोणाऽपघाटिला इत्याच-

क्षतशति । पिच्छोला वादनदण्डेन वाद्यमाना काण्डमयी काण्डवीणा इत-
रयोरेव अपघाटिलासंज्ञेत्यर्थः ॥ ८ ॥

अस्मिन्नहनि सर्वेषामपि यजमानानां गृहेषु ब्राह्मणभोजनार्थं पाकः
कच्य इति विधत्ते—

कुले कुलेऽन्नं क्रियते तद्यत्पृच्छेयुः किमिदं कुर्वन्ती-
तीमे यजमाना अन्नमत्स्यन्तीति ब्रूयुः ॥ ९ ॥

अन्येष्वहःसु गृहपातिप्रधाना एव सर्वे ब्राह्मणान् भोजयितुमन्नानि
कामयन्ते । अस्मिन् अहनि कुले कुले यजमानानां गृहे गृहे अन्नं क्रियते
पृथक् पृथक् ब्राह्मणान् भोजयितुमन्नं कर्त्तव्यम् । तत्र एव क्रियमाणे य-
द्यदि पृच्छेयुः प्रेक्षका जनाः किमिदं कुले कुले कुर्वन्तीति तदैवं प्रति-
ब्रूयुः इमे यजमाना अन्नमत्स्यन्तीति अस्मिन् लोके बहुलमन्नं प्रदाय
अमुष्मिन् लोके बहुलमेते भोक्ष्यन्त इति ॥ ९ ॥

अथैतत्प्रशंसति—

यो वै दीक्षितानां पापं कीर्त्तयति तृतीयमेवाऽंशं
पाप्मनोहरत्यन्नादस्तृतीयं पिपीलिकास्तृतीयम् ॥ १० ॥

यः अत्र दीक्षितानां दीक्षणीयेषु संस्कृतानां पापमशुभं कीर्त्तयति
स पुरुषः एषां पापस्य तृतीयमंशं हरति । यो दीक्षितानामग्नमाप्तिं सोऽ-
न्नादस्तृतीयमंशं हरति । आज्येष्वग्नेषु च बहुषु सत्सु बह्व्यः पिपीलिका-
स्तद्भक्षणार्थमागच्छन्ति तास्तृतीयमंशं पापं हरन्ति । अत आज्यादिषु
पिपीलिकापठने दोषाशंका न कार्येत्यर्थः ॥ १० ॥

परिमादः पूर्वमुक्ताः ता अन्नस्य प्रशंसति—

परिमाद्भिश्चरन्ति त्वक्च वा एतल्लोम च महाव्रतस्य
यत् परिमादस्त्वचश्चैव तल्लोम च महाव्रतस्याप्त्वाव-
रुन्धते ॥ ११ ॥

याः पूर्वमुक्ताः परिमादस्ता महाव्रतस्य त्वक्लोमस्थानीयास्ततस्ता
आप्त्वा प्राप्य अवरुन्धते स्वयमपि त्वचं लोम च लभन्त इत्यर्थः । 'यदे-
तान् ह वै पुरुषो देवेभ्यः करोति तादृगस्मै देवाः कुर्वन्ती'ति श्रुतेः ॥ ११ ॥

अथ वीणाविशेषस्य वादनं विधत्ते—

वाणं वितन्वन्त्यन्तो वै व्वाणोऽन्तो महाव्रतमन्ते-
नैव तदन्तमभिवादयन्ति ॥ १२ ॥

वाणं महावीणा तम् वितन्वन्ति तंत्रीभिः संयोज्य बादयन्तीत्यर्थः ।

वाणो घाणानामन्तः परमः श्रेष्ठ इत्यर्थः । वाणः खलु सर्वेषां वाद्यविशेषाणां अन्तोऽवसानभूतः महाप्रतमहामन्तः तत्तेनान्तेनैवान्तमभिलक्ष्य वादयन्ति ॥ १२ ॥

तस्य वाणस्य तन्त्रीसंख्यां विधाय प्रशंसति—

शततन्त्रीको भवति शतायुर्वै पुरुषः शतवीर्यः ॥ १३ ॥

“सर्वमायुर्यन्ती”ति शेषोऽर्थो निगदसिद्धः ॥ १३ ॥

वाणस्योल्लेखनं विधाय प्रशंसति—

तमुल्लिखेत् प्राणाय त्वाऽपानाय त्वा व्यानाय त्वेति प्राणापानव्यानानेव तदाप्त्वाऽवरुन्धते ॥ १४ ॥

प्राणाय त्वेत्यादिना मन्त्रेण औदुम्बर्याः शाखया वाणमुपलिखति हे वाण ! त्वां प्राणार्थमुल्लिखामीति मन्त्रार्थः । तत्तेन प्राणादीनि चाप्त्वा प्राप्य निरुन्धते इति ॥ १४ ॥

अथ यजमानप्रेष्याख्ययः उदकुम्भं धारयन्त्यो नयेयुरिति विधत्ते—

परिकुम्भिन्यो मार्ज्जालीयं पन्तीदस्मध्विदस्मध्विति सघोषा एव तद्वयो भूत्वा सह स्वर्गं लोकं यन्ति ॥ १५ ॥

इदं मध्विदं मध्विति मन्त्रं शंसन्त्यः पुनः पुनर्गायन्त्यः कुम्भिन्यो दास्यः मार्ज्जालीयं धिष्यं परियन्ति परितो नृत्यन्तीत्यर्थः । तत्तेन एवं सशब्दं परिवर्त्तमानेन यजमानाः सघोषा एव सन्तः चयः पक्षिण इवान्तरिक्षगा भूत्वा सह संघशः स्वर्गं लोकं प्राप्नुवन्ति देहावसान इत्यर्थः ॥ १५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

इत्थं गवामयनस्योपान्त्यमहर्विस्तरेणोक्तं तथा पूर्वस्मिन् पक्षस्यामिष्टुर्विकेष्वहःसु स्वरसामसु च अन्वहमेकमेव ब्रह्मसामामीवन्तस्तोत्रीया त्वन्या अन्या उत्तरस्मिन् पक्षसि ब्रह्मसामस्तोत्रीया एका एव ‘इन्द्र क्रतुश्च आभरेति’सामानि अन्वहमन्यदन्यादिति च सर्वस्य गवामयनस्य साधारण्येनोक्तम् । अथ तस्मिन् प्रकृते गवामयने सर्वेष्वहःसु आर्भवे पवमाने अनुष्टुप्सु गौरीवितं साम कार्यमिति विधित्सुपाद—

देवा वै व्याचं व्यभजन्त तस्या यो रसोऽत्यरिच्यत तद्गौरीवितमभवदनुष्टुभमनु परिप्लवते व्यागनुष्टुव्याचो रसो गौरीवितम् ॥ १ ॥

देवाः खलु पुरा वाचं छन्दोरूपां व्यमजन्त गायत्रीं प्रातःसवने
अग्नये वसुभ्यो व्यमजन्त । त्रिष्टुभं माध्यन्दिने सवने इन्द्राय रुद्रेभ्यो
व्यमजन्त । जागतं तृतीयसवने विश्वेभ्यो देवेभ्य आदित्येभ्यो व्यमजन्त ।
एवं विभज्यमानायास्तस्या वाचः यो रसः सारोऽत्यरिच्यत तद्गौरी-
वितन्नाम सामाभवत् । तच्च अनुष्टुभमनुलक्ष्य परिप्लवते सञ्चरति । कुत-
एतत् ? यदिदमनुष्टुप्छन्दः सा वाक् गौरीवितं च वाचो रसः अतो
अनुष्टुप्छन्दस्कामेवर्च्य आधारतया गृह्णाति ॥ १ ॥

एवं विशिष्टछन्दस्येतत्साम विधाय प्रशंसति—

यद्गौरीवितेनान्वहं स्तुवते वाच्येव तद्वाचा रस-
न्दधति ॥ २ ॥

अभि प्र गोपति गिर इत्यस्यां योनावुत्पन्नं साम गौरीवितं तच्चानु-
ष्टुभमूहते एवमूहेनामुष्टुभे तुचे गेयेन तेन साम्ना अन्वहं गवामयने
अहन्यद्गनि सर्वेष्वहःसु आर्भवे एवमाने स्तुवते इति यत् तच्चेन वाच्येव
वाचा रसं सारं दधति निदधति ॥ २ ॥

एतद्वेदनं प्रशंसति—

रसवद्वाचा वदति य एवं ववेदेति ॥ ३ ॥

एवमर्थं यो वेद जानाति स वाचा रसवत् रसयुक्तमेव वदति धव-
नस्य सारवत्त्वेन ग्राह्या वाग् भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

अस्मिन् सास्त्रि विद्यमानं किञ्चिदनूय प्रशंसति—

द्वादसम्भवति स्वर्गस्य वा एतौ लोकस्यावसान-
देशौ पूर्व्वेणैव पूर्व्वमहः स्थापयन्त्युत्तरेणोत्तरमहर-
भ्यतिवदन्ति ॥ ४ ॥

द्वादसावावुत्क्षेपावस्मिन् सास्त्रि मवत इति द्वादसम् उत्क्षेपो-
नाम दीर्घविशेषः । एतावुत्क्षेपौ स्वर्गस्य लोकस्यावसानदेशौ पारद-
र्शिनौ तत्र पूर्व्वेणैवोदासेन पूर्व्व वर्त्तमानमहः संस्थापयन्ति उत्तरेणोदा-
सेन उत्तरमहः । अस्मिन् अदिश्य अतिवदन्ति इदमहरतीत्य प्रतिपा-
दयन्ति ॥ ४ ॥

गौरीवितसामगतावुदासावुपजीव्य प्रशस्य तद्व्यतिरेके वाघोपन्या-
सेन प्रशंसति—

एतद्वै यज्ञस्य श्वस्तनं यद्गौरीवितं यद्गौरीवितमनु-
सृजेयुरश्वस्तना अप्रजसः स्युः ॥ ५ ॥

यद्वीरीवितं साम एतत् खलु यज्ञस्य यज्ञसम्बन्धि इवस्तनं इवः पर-
स्मिन् दिने भयं पूर्वापरयोरहोः सन्धायकमित्यर्थः । यद्यदि तद्वीरीवित-
मनुसृजेयुः परित्यजेयुः तदा सत्रिणोऽदवस्तनाः उत्तरकाले सम्यन्धर-
हिताश्च अप्रजसः प्रजाराहिताः स्युर्मन्वेयुः । अतोऽन्वहं कर्त्तव्यमित्यर्थः ५॥
प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

सं वा अन्यो यज्ञस्तिष्ठत इत्याहुर्वागेव न सन्ति-
ष्ठत इति यद्वीरीवितमन्वहं भवति व्वाचमेव तत्पुनः
प्रयुञ्जते ॥ ६ ॥

अन्यो वाप्रहितो यज्ञः सन्तिष्ठते वै परिसमाप्त एव भवतीति ब्रह्म-
वादिन आहुः तथा अन्येषु सन्तिष्ठमानेष्वपि वागेव न सन्तिष्ठत इत्या-
हुर्मन्मादेवं तस्माद्वीरीवितं वाचः स्वरात्मकं सामान्वह भवति तत्तेन ।
असंस्थितां पुनः प्रयुञ्जते इवस्तनामावाय गौरीवितं साम प्रत्यहमनु-
सृप्सु कर्त्तव्यमित्युक्तं भवति । अत एतत् आद्यन्ते अहनी मुक्ता अन्ये-
षु मध्यवर्तिष्वहःसु कर्त्तव्यमिति श्रायते ॥ ६ ॥

अथ सुहानारयं सामान्वहं कार्यमिति विधित्सुस्तस्य निधनं
विदधाति—

स्वर्णिणधनमन्वहं भवति ॥ ७ ॥

‘सोमः पुनान ऊर्मिणे’त्यम्या योनावुत्पन्नं सुमानं तस्योपेति निधनं
तस्य स्थाने स्वरिति निधनं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तथा च सूत्रकृतोक्तं ‘उपा-
स्थानेष्वन्यानि निधनानि स्वरातादेशे तथा स्वराणि स्युरि’ति प्रकृत्य
स्वरसकाशाच्चे दैवोदाससुहानयोश्चेति ॥ ७ ॥

अथैतत् प्रशंसति—

देवक्षेत्रं वा एतेऽभ्यारोहन्ति ये स्वर्णिणधनमुपयन्ति
स उ वै सत्रिणः सत्रमुपनयेदित्याहुर्न एनान्देवक्षेत्रम-
भ्यारोह्येदिति न वै देवक्षेत्रं आसीन आर्त्तिमाच्छति
यत् स्वर्णिणधनमन्वहं भवति नैव काञ्चनार्त्तिमाच्छन्ति ॥ ८ ॥

ये स्वर्णिणधनमुपयन्ति उपगच्छन्ति प्रयुञ्जते इत्यर्थः । एते देवक्षेत्रं
देवानां स्थानं स्वर्गशब्दवाच्यमेवाभ्यारोहन्ति । अपि च य उद्गातादि-
रेतान् यजमानान् देवक्षेत्रं स्वर्णिणधनेनाभ्यारोहयेत् । इतिर्हेतौ अतः
कारणात् स एव सत्रिणो यजमानान् सत्रमुपनयेत् फलप्रदानशब्दं
सम्पूर्णप्रयोगं प्रापयेदित्याहुर्ब्रह्मवादिनः । किञ्च न वै खलु देवक्षेत्रे देवा-

नां स्थाने आसीनः पुरुषः अस्मिन्माच्छन्ति कदाचिदपि तस्यास्तिर्न भवतीत्यर्थः । एवं सति यत् स्वर्णिधनमन्वहमनुष्ठितं भवति तेन काञ्चनार्थिकामपि हिंसां नैवाच्छन्ति न प्राप्नुवन्ति ॥ ८ ॥

अस्मिन् स्वर्णिधने किञ्चिदोपमाशङ्क्य परिहरति—

च्यवन्ते वा एतेऽस्माल्लोकादित्याहुर्न स्वर्णिधनमुपयन्तीति यदृचा स्वरूपं यन्त्यस्मिँल्लोके प्रति तिष्ठन्ति यदेकारोऽन्तरिक्षे यत्साम्नामुष्मिन्सर्वेषु लोकेषु प्रति तिष्ठन्ति स्वर्णिधनेन तुष्टुवानाः ॥ ९ ॥

अन्वहं स्वर्णिधनमुपयन्तः सद्य एवैते स्वर्गं गच्छन्ति । अतोऽस्माल्लोकात् च्यवन्त इत्याहुर्ब्रह्मवादिनस्तस्यायं परिहारः यदृचा स्तोत्रीयया स्वरूपं यन्ति स्वर्णिधनमुपगच्छन्ति । ऋचि हि स्वर्णिधनं गीयते तेनास्मिन् लोके प्रतितिष्ठन्ति ऋगात्मको हि भूलोकः । एषुवरिति (?) यदेकारस्तत्र विद्यते तेनान्तरिक्षलोके प्रतितिष्ठन्ति यत् साम्ना स्वर्णिधनमुपयन्ति तेनामुष्मिन् स्वर्गे प्रतितिष्ठन्ति । एवं च स्वर्णिधनेन तुष्टुवानाः स्तुवन्तः सत्रिणः सर्वेषु लोकेषु प्रतितिष्ठता भवन्ति ॥ ९ ॥

अथ सुज्ञानं विधत्ते—

सुज्ञानं भवति ॥ १० ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १० ॥

सोमः पुनान इत्यस्यामुत्पन्नं साम शोभनज्ञानहेतुत्वात् सुज्ञानम् एतदेव आख्यायिकामुखेन प्रदर्श्य सत्रिणामपि अनेन साम्ना शोभनज्ञानप्राप्तिर्भवतीत्याह—

देवा वै स्वर्गल्लोकं यन्तोऽज्ञानादविभयुस्त एतत् सुज्ञानमपश्यँस्तेन ज्ञात्रमगच्छन्त्यत् सुज्ञानमन्वहं भवति ज्ञात्रमेव गच्छन्ति ॥ ११ ॥

देवाः पुरा स्वर्गं लोकं गच्छन्तः शङ्कमाना अज्ञानादविभयुः भीता आसन् तदेतत्सुज्ञानं साम दृष्ट्या प्रायुञ्जत प्रायुङ्क्त तेन ज्ञात्र संज्ञानमगच्छन् प्राप्ताः । तथा सति इदानीमपि सत्रे अन्वहं सुज्ञानं क्रियते इति यत् तेन ज्ञात्रं ज्ञानमेव गच्छन्ति सर्वे यजमानाः ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

अथ श्यावाश्वन्निहवश्चैते द्वे सामनी अन्वहं भवेतामिति विधित्सुराह—
ये वै वाचमन्नमादयन्त्यन्नादा भवन्ति ये त्वितर्पय-
न्ति रुक्षा भवन्ति ॥ १ ॥

ये खलु पुरुषाः वाचमन्नमादयन्ति वागन्नमग्निनां प्रयुज्यत इत्यर्थः ।
ते अन्नादा अन्नस्यात्तरो भवन्ति ये वाचवितर्पयन्ति निरभिलाषां कु-
र्वन्तीत्यर्थः । ते रुक्षा अन्नराहित्येन पुरुषा अस्मिन्वा भवन्ति ॥ १ ॥

किञ्च यद्वाचोऽन्नमन्तर्दशयति—

गौरीवित॑ श्यावाश्वन्निहव एतानि वै सामानि
वाचोऽन्नमेतेषां वागन्नं यदेतानि न च्यवन्ते वाचमेव
तदन्नमादयन्ति तेन सर्वेऽन्नादा भवन्ति ॥ २ ॥

पूर्वविहितस्यापि गौरीवितस्य पुनः सन्पादमेतत्स्तुत्यर्थम् । इतरे
एवाप्राप्तत्वात् विधित्सिते एतानि सामानि श्रीणि वाचमृगात्मिकाया
अन्नं वागक्षराभिर्व्यकिद्वारा अन्नवदुपकारकं, तथा एषाञ्च सास्त्रामृगा-
त्मिका वागन्नं साधारणत्वेन तावदुपकारकम् एवम्परस्परोपकारकत्वात्
सास्त्रां वाचश्चाश्रत्वम् । एवं सति एतानि सामानि अन्वहं न च्यवन्ते न
गच्छन्ति प्रयुज्यन्त एवेति यत् तत्तेन वाचमेवादयन्ति सास्त्रां प्रयो-
कारः तेन सर्वे सन्निधोऽन्नादा भवन्ति ॥ २ ॥

अथैतानि प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

अभिक्रान्तापक्रान्तानि भवन्त्यभिक्रान्तापक्रान्तं वै
वाचो रूपम् ॥ ३ ॥

अभिक्रान्तमारोहः अपक्रान्तमवरोहः तदुभयमेतेषु सामसु भवति
किमतो भवतीति उच्यते लोके भद्रां वाचं पुरया अभिक्रामन्ति तद्विप-
र्ययां वाचं पुरुषाः अपक्रामन्ति । अतो अभिक्रान्तापक्रान्ता एव । अभि-
क्रान्तापक्रान्तान्येवैतानि सामानि वाचो रूपमनुरूपं भवति ॥ ३ ॥

अथ माध्यन्दिने पवमाने वृद्धतीप्त्रन्वहं गृधः कार्य इति विधत्ते—

प्लवोऽन्वहं भवति ॥ ४ ॥

‘पुनानः सोमधारये’ इत्यस्यां योनावुत्पन्नं साम गृधः । तत् प्रतिदिचसं
कत्तन्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

तदेतत् लौकिकप्लवसाम्येन स्तौति—

समुद्रं वा एते प्रक्षान्ति ये सर्व्वत्सरमुपयन्ति यो-

वा अप्लवः समुद्रं प्रस्नाति न स तत उदेति यत्प्लवो
भवति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥ ५ ॥

ये संवत्सरं संवत्सरसाध्यं गवामयनमुपयन्ति एते समुद्रमेव प्रस्ना-
न्ति अवगाहन्ते समुद्रवदस्य सप्तस्यातिगाम्भीर्यात् । यः स्रज्जु अग्लवः
उडुपरहितः सन् समुद्रमवगाहते स ततः समुद्राग्नोदेति मोदच्छति
निमग्न एव भवति यस्तु गृवात् समुद्रं प्रस्नाति स तु ततः सकाशादुदे-
त्येव । एवं सति समुद्रकल्पे संवत्सरसत्रे अन्वहं ग्लवो भवतीति यत्
तेन ग्लवेन संवत्सराख्यं सत्रन्तीत्वा स्वर्गलोकस्य सम्प्राप्त्यै यजमाना
भवन्ति ॥ ५ ॥

अत्रत्यग्निघनमनूय प्रशंसति—

अति विश्वानि दुरिता तरेमेति यदेवैषां दुष्टदुतं
दुःशस्तं तदेतेन तरन्ति ॥ ६ ॥

अस्य साम्नो निघनम् 'अति विश्वानि दुरिता तरेमे'ति अस्मिन्निघने
विश्वानि दुरितानि अतितरेमेत्याशासनं दृश्यते एषां सत्रिणां यदुदु-
ष्टुतम् अयथाशास्त्रं स्तुतं यच्च दुःशस्तम् अयथाशंसनम् स्तवनं
कृतम् एते नातितरणप्रार्थनेन तदुभयन्तरन्ति ॥ ६ ॥

अयामिष्टवपडहस्य प्रथमेऽहनि अनुष्टुप्स्वोकोनिघनाख्यं साम
कर्त्तव्यमिति विधत्ते—

ओकोनिघनं पडहमुखे भवति ॥ ७ ॥

'तमु अभिप्रगायत आजामि रक्ते अश्रयत' इत्येतस्यां योनावुत्पन्नं
साम ओकोनिघनं तत्र हि ओक इति निघनं दृश्यते । तत् साम पड-
हस्य मुखे पडहस्य प्रमुखे प्रथमेऽहनि कार्यम् ॥ ७ ॥

तदेतत् स्तौति—

परां वा एते परावतं गच्छन्ति ये पडहस्यान्तं
गच्छन्ति यदोकोनिघनं पडहमुखे भवति प्रज्ञात्यै ॥ ८ ॥

ये सत्रिणः पडहस्य अन्तं गच्छन्ति प्रथममहरारभ्य यावत् पष्ठ-
महस्तावत्पर्यन्तश्चैरन्तर्येणानुतिष्ठन्ति ते पराम्परावतम् अतिदूरं
गच्छन्ति अतिदूरं हि गच्छतां मार्गज्ञानमपेक्षितं यत् पडहमुखे ओको-
निघनं भवति तत् यज्ञस्य प्रज्ञात्यै भवति ॥ ८ ॥

कथमोकोनिघनेन प्रज्ञातिर्भवति तत्राह—

यदा वै पुरुषः स्वमोक आगच्छति सर्व्वं तर्हि प्रजा-

नाति सर्व्वमस्मै दिवा भवति ॥ ९ ॥

यदा वै खलु पुरुषः स्वं स्वकीयम् ओको गृहं स्थानमागच्छति प्राप्नोति तर्हि तस्मिन् काले सर्व्वं प्रजानाति स्वगृहप्राप्तेः पूर्वं समाधिष्येन किञ्चिन्न ज्ञायते गृहप्राप्तौ सत्यां समपनोदे सति ज्ञानवान् भवतीत्यर्थः । सर्व्वञ्च विद्यमानं वस्तु अस्मै गृहप्राप्त्या दिवा दिवे प्रकाशाय भवति प्रज्ञातं भवतीत्यर्थः । अत ओको निधनेन तस्य प्रज्ञातिर्युक्तेत्यर्थः ॥ ९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य अष्टमः खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

उक्तं गवामयनमथ तस्य दीक्षाकालमाह—

एकाष्टकायां दीक्षेरन् ॥ १ ॥

‘प्रायश्चित्ताष्टमी एकाष्टका । उक्तं हि आपस्तम्बेन ‘प्राच्याः पौर्णमास्या उपरि पडष्टका तस्यामष्टमी ज्येष्ठा या सम्पद्यते तामेकाष्टकेत्या चक्षत’ इति ॥ २ ॥

अथ तस्यामेकाष्टकायां संवत्सरसत्राय दीक्षेरन्—

एषा वै संवत्सरस्य पत्नी यदेकाष्टकैतस्यां वा गताऽं रात्रिं व्वसति साक्षादेव तन् संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते ॥

यत्तु या इयमेकाष्टका एषा खलु संवत्सरस्य प्रजापत्यात्मकस्य पत्नी स्त्री तथा सति एकस्यामेवैकाष्टकायाम् एताऽं रात्रिम् ‘अत्यन्तसंयोगे द्वितीया’ वसति । संवत्सररामकः प्रजापतिः शेते । लोके पत्न्याः समीपे हि पतीरात्रौ वसति । एवं वैकाष्टकायां दीक्षमाणाः साक्षात् प्रत्यक्षमेव संवत्सरं प्रजापत्यात्मकमारभ्य गतिवा दीक्षन्ते ॥ २ ॥

अस्मिन् पक्षे एको दोषः स्यादित्याह—

तस्य सानिर्या यदपोऽनमिनन्दन्तोऽभ्यवयन्ति ॥ ३ ॥

तस्यैकाष्टकायां दीक्षितस्य सानिर्या दोषः । अनमिनन्दन्तः प्रातिहरिताः सन्तः । अपोऽभ्यवयन्तीति यदेकाष्टकायां दीक्षितमानानां शिशिरं अधभृथः स्यात् तदा आपः सूर्य्यरास्मिभिः शोषितत्वेन अदपीयस्त्वात् तद्विषयामिलापरहिता एवावभृथं गच्छन्ति योयममिनन्दनामाधः सोऽस्मिन् दोषपक्षे इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अपरोऽप्ययं दोषः स्यादित्याह—

विच्छिन्नं वा एते सर्व्वत्सरस्याभिदीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्तेऽन्तनामानावृत्तू भवेते ॥ ४ ॥

सर्व्वत्सरस्य विच्छिन्नं विच्छेदमभिमुखीकृत्यैते दीक्षन्ते य एकाष्टकायां दीक्षन्ते दीक्षितान् कुर्वन्ति । कुत एतत् ? उच्यते 'मधुश्च माधवश्च व्यासन्तिकावृत्तू' इत्यादाविव । अप्रापि ऋतुशब्देन मास एवोच्यते । यावेतौ माधफाल्गुनौ मासौ ऋतुशब्दवाच्यौ एतावन्तनामानौ शिशिरर्तुं सर्व्वत्सरान्त इति ॥ ४ ॥

तौ मासावन्तशब्दवाच्यौ तयोर्हि सर्व्वत्सरः समाप्यते तथा चैवास्मिन् सर्व्वत्सरे सत्रारम्भः, अपरस्मिन् यजत इत्यत आह—

आर्त्तं वा एते सर्व्वत्सरस्याभि दीक्षन्ते येऽन्तनामानावृत्तू अभि दीक्षन्ते ॥ ५ ॥

ये अन्तनामानौ अन्तशब्दवाच्यौ ऋतू मासावमिलस्य दीक्षन्ते एते सर्व्वत्सरस्यान्तं हि अन्तमेवाभिलक्ष्य दीक्षन्ते ॥ ५ ॥

एवं दोषप्रस्तत्वादयं पक्षो न कार्य्य इत्याह—

तस्मादेकाष्टकायाश्च दीक्षपम् ॥ ६ ॥

यस्मादेते पूर्व्वोका दोषाः प्रसज्येरन् तस्मादेकाष्टकायाश्च दीक्ष्य दीक्षणं न कार्य्यम् ॥ ६ ॥

एवं प्रथमपक्षं निन्दित्वा पक्षान्तरमाह—

फाल्गुने दीक्षेरन् ॥ ७ ॥

यस्मिन् मासे फाल्गुनी पौर्णमासी युज्यते स फाल्गुनः । तस्मिन् दीक्षा कार्या ॥ ७ ॥

तदेतद्गुणकथनेन प्रशंसति—

मुखं वा एतत्सर्व्वत्सरस्य यत् फाल्गुनो मुखत एव तत्सर्व्वत्सरमारभ्य दीक्षन्ते ॥ ८ ॥

यत् फाल्गुनो मास एतत् सर्व्वत्सरस्य मुखं यदुत्तरे फाल्गुनो मुखत एव तत् सर्व्वत्सरस्याग्निमाध्यायेति । एतदुक्तं भवति यदा फाल्गुनी पौर्णमासी उत्तरफाल्गुनीयुक्ता तदा फाल्गुनमासः सर्व्वत्सरस्यादिर्भवतीति तत्तथा सति मुखत एव प्रथमत एव सर्व्वत्सरमारभ्योपक्रम्य दीक्षन्ते ॥ ८ ॥

अस्मिन् पक्षसि दोषो विद्यत इत्याह—

तस्य सानिर्घ्या यत्सम्मेधे विविषुवान् सम्पद्यते ॥९॥

तस्य फाल्गुने दीक्षणस्य सानिर्घा दोषः यत् संमेधे मेघसंघयुक्ते सत्रे विषुवान् मध्यमहः सम्पद्यते । आदित्यस्तुतो हि विषुवान् तस्य मेघरन्तर्द्धानं सम्भाव्यते इति यत् स दोषः स्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

तर्हि सर्वदोषविनिर्मुक्तो दीक्षायाः कालः क ? इत्याशङ्क्याह—

चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन् ॥ १० ॥

चित्रायुक्तः पौर्णमासः चित्रापूर्णमासः तस्मिन् दीक्षेरन् ॥१०॥
तदेतत् स्तौति—

चक्षुर्व्वा एतत्संवत्सरस्य यच्चित्रापूर्णमासो मुखतो नै चक्षुर्मुखत एव तत्संवत्सरमारभ्य दीक्षन्ते तस्य न निर्य्यास्ति ॥ ११ ॥

चित्रापूर्णमास इति यत् एतत् संवत्सरस्य चक्षुर्व्वा । जायमानस्य हि प्रथमं मुखज्जायते तत्रापि चक्षुरेव प्रथममाविर्भवति । अतस्तत्सादृश्यादस्य चक्षुषः । उक्तक्रमेण मुखतो मुखप्रदेश एव चक्षुः । अतो मुखत एव तत् संवत्सरमारभ्य गृहीत्वा दीक्षन्ते । यः फाल्गुनगुण उक्तः सोऽप्यत्र विद्यत इत्युक्तं भवति । तस्य न निर्य्यास्ति कश्चिदपि दोषो न विद्यते ॥११॥

इत्थं चित्रापौर्णमास्यां दीक्षितव्यमित्युक्तम् अथ तस्मिन्नेव मासे शुक्लैकादश्यां दीक्षितव्यमित्याह—

चतुरहे पुरस्तात् पौर्णमास्या दीक्षेरन् ॥ १२ ॥

चैड्याः पौर्णमास्याः पुरस्ताच्चतुरहे चतुर्णामह्नां समाहारश्चतुरहस्तस्मिन्विद्यमाने गवामयनस्य दीक्षा कार्य्या ॥ १२ ॥

एवं दीक्षणस्य गुणमाह—

तेषामेकाष्टकायां क्रयः सम्पद्यते तेनैकाष्टकान्न संयद् कुर्वन्ति ॥ १३ ॥

सर्वेषां सत्राणां द्वादश दीक्षा भवन्ति तत एकादशीप्रभृति द्वादशसु गतासु रात्रिषु त्रयोदशीरात्रिरष्टमी स्यात् । एकाष्टका च बहुलाष्टमीति अस्यामेकाष्टकेत्युपचारः तस्याः क्रयः सम्पद्यते । प्रथमे ह्युपसर्जने राजक्रयस्तस्मिन् दिने प्रातःकाले प्रायणीयाद्या यज्ञावयवाः प्रक्रम्यन्ते तेन प्रक्रमेण एकाष्टकां न संयद् कुर्वन्ति क्रियानुपयोगेन व्यर्थं न कुर्वन्ति । अत एव एकाष्टकाप्रारम्भकृतो गुणश्चास्मिन् पक्षेऽन्तर्भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

अन्येऽपि गुणा अस्मिन् पक्षे सन्तीत्याह—

तेषां पूर्वपक्षे सुत्या सम्पद्यते पूर्वपक्षे मासाः सन्तिष्ठमाना यन्ति पूर्वपक्ष उत्तिष्ठन्ति तानुत्तिष्ठतः पशव ओपधयोऽनुत्तिष्ठन्ति तान्कल्याणी वागभिवद-
त्यरात्सुरिमे सन्निधे इति ते राध्नुवन्ति ॥ १४ ॥

तेषामेकादश्यां दीक्षमाणानां सुत्या सोमयागः पूर्वपक्षे सम्पद्यते । सत्राणां सर्वेषां द्वादशोपसदः तत्राष्टमीप्रभृति द्वादशसु गतासु त्रयोद-
शी शुक्लपक्षपञ्चमी तस्यां प्रथमोऽतिरात्र इति पूर्वपक्षे सुत्या प्रारभ्यत
इत्यर्थः । त्रिशता त्रिशताऽहोभिर्मासेषु सन्तिष्ठमानेषु पूर्वपक्ष एव
सर्वमासाः सन्तिष्ठमाना यन्ति वर्तन्ते । एवं द्वादशसु मासेषु गतेषु
पूर्वपक्ष एव सत्रादुत्तिष्ठन्ति । तानुत्तिष्ठतः सत्रादुत्थानं कुर्वतो यज-
मानाननु पश्चात् पशव ओपधयश्चोत्तिष्ठन्ति उर्द्धं रोहन्ति । तान्यजमा-
नान् कल्याणी शोभना वाक् यशस्करो वाक् वदति । किमिति इमे सन्नि-
धौ यजमानाः अरात्सुः समृद्धा अभवन्ति तदनन्तरन्ते सन्निधौ रा-
ध्नुवन्ति समृद्धा भवन्ति ॥ १४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

उक्तो गवामयनस्य दीक्षाकालः । अथ तस्मिन्नेव गवामयने विकल्पे-
न मासि मास्येकमद्वयसृजेयुरिति विधास्यन्नाह—

आ वा एते संवत्सरं प्याययन्ति य उत्सृजन्ति ॥ १ ॥

ये अहान्युत्सृजन्ति एते संवत्सरमाप्याययन्ति । छिद्रवान् हि देहो
रसादिभिरायत्तो भवति एवमेव संवत्सरमध्ये एवमनुशिष्टः संवत्स-
रेऽपि तदन्तर्भवति । ततः केषाञ्चिदहामुत्सर्गस्य संवत्सरछिद्रवत्त्वेनाप्या-
यितो भवति ॥ १ ॥

अनुत्सर्गे बाधमाह—

यथा वै हतिराध्मात एवधंसंवत्सरोऽनुत्सृष्टो यन्नो-
त्सृजेयुरमेहेन प्रमायुकाः स्युः ॥ २ ॥

यथा चर्ममयो हतिराध्मातः छिद्रराहित्येन वायुना पूरितः एव-
महामुत्सर्जनाभावे संवत्सरोऽप्याध्मातो भवति । एवं स्थिते यद्यदहानि
नोत्सृजेयुः अमेहेन आध्मानकृतेन उदावर्त्ताप्येन रोगेण प्रमायुकाः मर-
णशीलाः स्युर्मवेयुः सन्निधौ । अतोऽद्वयसर्गः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ २ ॥

तथा प्रकारान्तरेणैतत् प्रशंसति—

प्राणो वै सवँत्सर उदाना मासा यदुत्सृजन्ति प्राण एषोदानान्दधति यो दीक्षितः प्रमीयते या सवँत्सर-
स्यानुत्सृष्टस्य शुक्सा तमृच्छति ॥ ३ ॥

देहधारकः प्राण एव सवँत्सरः । उदानाः ऊर्द्धगमनादिप्रवृत्तिहेतवः
तस्य वृत्तयः उदाना मासाः । एव स्थिते मासे अदानि यदुत्सृजन्ति तेन
उदानान् स्तिमितान् प्राण एव दधति धारयन्ति । अनुत्सर्गे तु ऊर्द्धगम-
नेन स्तिमित्यमावात्प्राणसकाशादुदाना निर्गताः स्युः । अपि च अहोमि-
रनुत्सृष्टस्य सवँत्सरस्य या शुरु शोकः सा तमृच्छति प्राप्नोति । यो
दीक्षितः सत्रमध्ये प्रमीयते ध्रियते । तस्मादहानुत्सर्जनं कार्यमित्युक्तं
भवति ॥ ३ ॥

अथ किं कृत्स्नमद्वयत्सृज्यं उत किञ्चिदनुत्सृज्यमिति जिह्वासायां
ब्रह्मवादिनां विचारं दर्शयति—

तदाहुरुत्सृज्यान्नोत्सृज्यामिति ॥ ४ ॥

तत्तत्र गवामयनाविषये ब्रह्मवादिन आहुः । किमिति किं ? कृत्स्नमह-
रत्सृज्यं उताह. किञ्चिदेवोत्सृज्यम् अहस्तु नोत्सृज्यमिति ? श्रुत्यन्तरे तु
पक्षद्वयदर्शनाद्ब्रह्मवादिनां विचारः विचार्यमाणानामिति प्लुतिः ॥ ४ ॥

तत्र न सर्वमुत्सृज्यमपि तु किञ्चिदेवोत्सृज्यमिति पक्षमवलम्ब्याह—
यदुत्सृजेयुरुक्थान्युत्सृजेयुस्तदेवोत्सृष्टं तदनुत्सृष्टम् ॥ ५ ॥

यद्यहान्युत्सृजेयुः । यदीति वचनादयमुत्सर्गपक्षो वैकल्पिक इति ग-
म्यते । तस्मिन् पक्षे उक्थसंस्थेष्वहःसु उक्थान्यग्निष्टोमसाम्नः पराणि
स्तोत्राणि शस्त्राणि चोत्सृजेरन् । तदेवाह उत्सृष्टमग्निष्टोमसाम्नः परस्य
प्रयोगस्य परित्यागात् उत्सृष्टं भवति । तत्पर्यन्तस्यानुष्ठानात् अनुत्सृ-
ष्टञ्च भवति ॥ ५ ॥

अथास्मिन् पक्षे प्रकारान्तरेणोत्सर्जनानुत्सर्जने दर्शयति—

अथो खल्वहुरेकात्रिकं कार्यन्तदेव साक्षादुत्सृष्टम-
भ्युत्पुण्वन्ति ॥ ६ ॥

अथो सतिषति पक्षान्तरपरिग्रहे । अहस्तर्गपक्षे एकत्रिकमेव स्तोमं
कार्यम् । उत्सृष्टव्येऽहनि विषुवत्स्तोत्रेष्वेकैव स्तोत्रीयेष्वर्चमेषु च तिष्ठ
इत्यर्थः । तत्तत्र साक्षादेव स्तोमस्योत्सर्गः । विषमेषु स्तोत्रेषु
एकैव स्तोत्रीया स्यात् समेषु चतस्र इत्यर्थः । कुत इत्युत्सृष्टं स्तोमम-

मित्यज्यमभ्युत्पुण्वन्ति सवनादुपरि सुन्वन्ति अभिषवं कुर्वन्तीत्यर्थः । एवं स्तोममात्रस्योत्सर्जनादन्येषां स्तुतशस्त्राणामनुत्सर्जनाच्च तद-
दृक्स्त्वष्टमनुत्सृष्टञ्च भवति ॥ ६ ॥

अथ पक्षान्तरविधित्सयेमं पक्षं दूषयति—

‘छिद्रो वा एतेपां संवत्सर इत्याहुर्व्यं स्तोममुत्सृ-
जन्तीति ॥ ७ ॥

य उक्तं प्रकारान्तरेण स्तोममुत्सृजन्ति एतेपां संवत्सरः संवत्सर-
साध्योयागः छिद्रो वै छिन्नावयव एव भवतीति ब्रह्मवादिन आहुः । अ-
तोऽहरेवोत्सृज्यमित्ययमेव पक्ष आदरणीयः ॥ ७ ॥

अस्मिन् पक्षे छिद्रपिधानाय कर्त्तव्यं सम्पूर्णप्रयोगमाह—

पशुमालभन्ते स्तोममेव तदालभन्ते स्तोमो हि
पशुः ॥ ८ ॥

यदहर्लक्षष्टं कामयन्ते तस्याहः सवनीयं पशुमेवालभन्ते तत्तेन
स्तोममेवालभन्ते । स्तोमग्रहण शस्त्रादीनामन्येषामप्युपलक्षणार्थम् ।
स्तोमो हि पशुः पशुवत् देवताप्रीतिकरत्वात् । अतः पश्वनुष्ठानेनैव
स्तोमादिकं सर्वमनुवृत्तं भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ तस्मिन्नहनि प्रातः सवनयोगमाह—

इव उत्सृष्टाः स्म इति ववत्सानपाकुर्वन्ति प्रातः
पशुमालभन्ते तस्य ववपया प्रचरन्ति ततस्सवनीयेनाष्टा-
कपालेन तत आग्नेयेनाष्टाकपालेन ततो दध्मैन्द्रेण तत-
श्ररुणा ववैश्वदेवेन तत्प्रातः सवनं सन्तिष्ठते ॥ ९ ॥

इवः परेद्युरहः । उत्सृष्टाः स्मः, अहस्तत्सर्जनं करिष्याम इति बुद्ध्या पू-
र्वस्मिन्नेवाहनि ववत्सानपाकुर्वन्ति सायन्दोदार्थं मातृभ्यः पृथक्कुर्युः । उ-
त्सृष्टाः स्म इति सृजेयुः । लङुत्तमवहुवचने रूपमेतत् । अनेन विहितस्य
ववत्सापाकरणस्य दोहार्थत्वात् सायं दुग्ध्वा तत्पयो दाधि कुर्वन्ति इ-
त्युक्तं भवति । ततः प्रातःकाले उत्सृष्टव्यस्याहो यः सवनीयः पशुस्त-
मालभन्ते । आलम्भनस्य यागार्थत्वाद्दालम्भनादीन् संस्कारान् कुर्युरि-
त्यर्थः । ततस्तस्य पशोर्वपया प्रचर्य ततः सवनीयेनाष्टाकपालेन अ-
ष्टसु कपालेषु संस्कृतेन पुरोडाशेन प्रचरन्ति । ततोऽन्येनाग्नेयेनाग्नि-
दैवत्येनाष्टाकपालेन तत ऐन्द्रेण दध्मा ततो वैश्वदेवेन श्ररुणा प्रचरेयुः ।
तत्तेनानुष्ठानेन प्रातःसवनं सन्तिष्ठते समाप्यते ॥ ९ ॥

अथ माध्यन्दिनसवनस्य प्रयोगमाह—

ततः पशुपुरोडाशेनैकादशकपालेन ततः सवनीये-
नैकादशकपालेन ततो मरुत्वतीयेनैकादशकपालेन त-
तश्चरुणैन्द्रेण तन्माध्यन्दिनं सवनं सन्तिष्ठते ॥ १० ॥

ततो माध्यन्दिनसमये पशुपुरोडाशेन यद्देवत्यः पशुस्तद्देवत्येनैका-
दशसु कपालेषु संस्कृतेन पुरोडाशेन प्रथममिष्ट्वा ततः सवनीयेनैन्द्रेणै-
कादशकपालेन प्रचर्य ततो मरुत्वतीयेन मरुत्वहुणापिशिष्टेनैन्द्रदेवत्ये-
नैकादशकपालेन प्रचर्य ततः केवलेन्द्रदेवत्येन चरुणा प्रचरेयुः । तत्ता-
वतैव माध्यन्दिनं सवनं परिसमाप्यते ॥ १० ॥

अथ तृतीयसवनकृत्यमाह—

पशुना प्रचरन्ति ततः सवनीयेन द्वादशकपालेन
ततो वैश्वदेवेन द्वादशकपालेन ततश्चरुणाऽऽग्निमारुतेन
तत्तृतीयसवनं सन्तिष्ठते ॥ ११ ॥

पशुना पश्ववयवैः हुदाद्यङ्गैः प्रथमं प्रचरन्ति । ततः सवनीयेनैन्द्रेण
पुरोडाशेन द्वादशकपालेन प्रचर्य ततो वैश्वदेवेन विश्वदेवदेवत्येन
द्वादशकपालेन प्रचर्य ततोऽग्निमरुदेवत्येन चरुणा प्रचरेयुः । तत्तावतैव
तृतीयसवनं परिसमाप्यते ॥ ११ ॥

एवं सवनत्रये परिसमाप्ते यत् सायं काले कर्त्तव्यं तद्दर्शयति—

गृपदाज्येन प्रचर्य पत्नीसंयाजयन्ति ॥ १२ ॥

दधिमिधमाज्यं गृपदाज्यं तेनानुयाजान् इष्ट्वा ततः पत्नीः संयाजय-
न्ति पत्नीसंयाजान्तमहः समापनीयमित्यर्थः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्द्दं निवारयन् ।

पुमर्षीश्चतुरोदेयाद्विधातीर्थमहेश्वरः ॥ १२ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवक्तृवीरबुक्कभूपाल-
साम्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण विरचिते माधवीये सामवेदार्थ-
प्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पञ्चमाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

पञ्चमाध्यायः समाप्तिमगमत् ।

इति प्रथमा पञ्चिका ।

अथ पष्ठोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं चन्द्रे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

चतुर्थे पञ्चमे चैव गवामयनमीरितम् ।

सर्वप्रकृतिभूतोऽयमग्निष्टोम इहोच्यते ॥

तमेतमग्निष्टोमं विवधुराह—

प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स एतम-
ग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्तेनेमाः प्रजा असृजत ॥ १ ॥

प्रजापतिर्ब्रह्मा हिरण्यगर्भः । अकामयत कामितवान् । किमिति ? उच्यते ।
बहु स्याम् इदानीमेक एव सन् नानारूपो भवेयं तदर्थं प्रजायेयेति स्वरू-
पातुपमर्देनैव प्रकर्षेण नानारूपेणोत्पद्येमिति । स एवं कामयमानः एत-
मग्निष्टोमं प्रजननसाधनरूपमपश्यत् दृष्टवान् 'यज्ञायक्षीय' इत्यस्यामा-
श्रय्यामुत्पन्नेनाग्निष्टोमसाम्ना समाप्तेरस्याग्निष्टोम इति नाम सम्पन्नम् ।
नमग्निष्टोममाहरत् अन्वतिष्ठत तेनादृतेन इमा दृश्यमानाः प्रजाः असृजत
सृष्टवान् । अत्र यस्मात् प्रजापतिराहरत् तस्मादन्यैरयमग्निष्टोमोऽनुष्ठा-
तव्य इति विधिरुन्नेयः । 'यत् स्तूयते तद्विधीयत' इति न्यायात् ॥ १ ॥
कथं प्रजाः सृष्टवानिति ? तत्राह—

एकादशेन च वै सता स्तोत्रेणाग्निष्टोमस्यासृजतै-
कादशेन च मासा सव्वत्सरस्य ता द्वादशेन च स्तोत्रे-
णाग्निष्टोमस्य पर्यगृह्णात् द्वादशेन च मासा सव्वत्स-
रस्य ॥ २ ॥

सन्त्यग्निष्टोमे द्वादश स्तोत्राणि 'द्वादशाग्निष्टोमस्य स्तोत्राणी'ति
श्रुतेः । तत्रैकादशेन वै स्तोत्रेणाग्निष्टोमस्य सम्यन्धिना तथा सव्वत्सरस्य
गवामयनसत्रस्य सम्यन्धिना एकादशेन च मासा मासेनोभाभ्यां सि-
न्धुः प्रजापतिः ताः प्रजा असृजत । पूर्वं गवामयनप्रस्तावे गवामयनेन
सर्वमसृजतेति वर्णितत्वात् तदवयवभूनेन एकादशेन मासेन सह इदा-
नीं सृष्ट्यभिधानमेकादशस्य स्तोत्रस्य स्तुत्यर्थे । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ।
ताः सृष्टाः प्रजाः अग्निष्टोमस्य द्वादशेन स्तोत्रेण सव्वत्सरस्य गवामय-
नस्य द्वादशेन मासेन पर्यगृह्णात् आत्मसात् कृतवान् । लोके एकादश
द्वादशयोर्मासयोरनतिक्रमेण प्रसवः प्रजायते ॥ २ ॥

उत्कलक्षणानुष्ठानेन तदेव लभ्यत इति प्रशंसति—

तस्मात्प्रजा दशमासो गर्भं भृत्वैकादशमनु प्रजा-
यन्ते तस्माद्वादशान्नाभ्यतिहरन्ति द्वादशेन हि परिगृ-
हीतास्तद्य एव वेदं परि जाताः प्रजा गृह्णाति प्र जाता
जनयन्ति ॥ ३ ॥

यस्मात् प्रजापतिरेकादशेन प्रजा असृजत तस्माद्लोके प्रजाः स्त्रियः
दशमासो दशमासान् गर्भं भृत्वा धारयित्वा एकादशमनु एकादशे
मासि प्रजायन्ते प्रजनयन्ति । यस्मात् द्वादशेन प्रजापतिः पर्यगृह्णात् त-
स्माद् द्वादशमासगमिलर्क्षाकृत्य नातिहरन्ति गर्भं धारयन्ति । धनति-
क्रमणे कारणमाह—हि यस्मात् द्वादशेन स्तोत्रेण परिगृहीताः प्रजाः
गृह्णाति परिग्रहं करोति न कदाचिच्च परित्यजतीत्यर्थः । किञ्च जाता
अनुकृत्य ताः प्रजाः प्रजनयति उत्पादयति ॥ ३ ॥

अथ प्रजापतेः सृष्टिप्रसङ्गे किञ्चिदर्थमाह—

तासां परिगृहीतानामश्वतर्य्यत्यक्रामत्तस्या अनु-
हाय रेत आदत्ता तद्वडवायान्न्यमाडयस्माद्वडवा द्विरेता
स्तस्मादश्वतर्य्यप्रजा आत्तरेता हि ॥ ४ ॥

तासां प्रजापतिना परिगृहीतानां प्रजानाम्मध्ये अश्वतर्य्यत्यक्रामत्
अतिक्रम्यागच्छत् । तामनुहायानुगम्य तस्या रेतः प्रजोत्पादनसाधन-
वीर्य्यं आदत्त स्वीकृतवान् । आदाय वडवायां न्यमाद् निमाज्जनं स्यापन-
मकरोत् । यस्मादेवन्तस्माद्वडवा द्विरेता स्वकीयरेतसा सह द्विरेता अभूत्
अश्वमश्वतरञ्च रेतोद्वयसामर्थ्यात् प्रसृत इत्यर्थः । रेतस आहतत्वात् अ-
श्वतर्य्यप्रजा अनपत्याभूत् अश्वतर्य्याः कदाचिदश्वतरोऽन्योऽश्वो वा न
जायंत इत्यर्थः । सा आत्तरेता हि परित्यक्तप्रजननसामर्थ्यां खलु । अयम-
र्थः । सर्वोपि तैत्तिरीयके स्पष्टमाज्ञायते 'अग्निष्टोमेन वै प्रजा असृजत ता
अग्निष्टोमेनैव पर्यगृह्णात् 'तासां परिगृहीतानामश्वतर्य्यत्यक्रामत्तस्या
अनुहाय रेत आदत्ते' त्यादिना ॥ ४ ॥

अथास्या दक्षिणाऽनर्हतां विषयविशेषे तद्वर्हताञ्चाह—

तस्माद्वदक्षिणीयाऽति हि सा यज्ञमरिच्यतातिरि-
क्तस्य दक्षिणा स्यात्सलोमत्वाय षोडशिनः स्तोत्रेदेयाजति-
रिक्तो वै षोडशपतिरिक्त एवातिरिक्तो ददाति ॥ ५ ॥

तस्माद् तस्मादेव हेतोरश्वतरी अदक्षिणीया दक्षिणायामनर्हा । तस्मादित्युक्तं विवृणोति-हि यस्मात् सा यज्ञं यष्ट्यं प्रजापतिम् अत्यरिच्यत अतिक्रम्यागच्छत 'यज्ञो वै प्रजापतिरिति'ति श्रुतेः । अत एषा यज्ञे यदतिरिक्तं तस्य दक्षिणा स्यात् । अतिरिक्ताया दक्षिणाकल्पनं सलोमत्वाय आनुलोम्याय साहस्याय भवति । कोऽसावतिरिक्तः प्रदेशः यस्मिन् सा दीयते नमाह-पोडशिनो यज्ञस्य स्तोत्रे सा देया दातव्येया । तस्मिन् यागे पञ्चदशभिः स्तोत्रैः फलमेव उक्थादिभ्य एक पोडशिस्तोत्रमतिरिक्तं भवति । तदेवाह यत् पोडशम् अस्तोत्रमतिरिक्तं तत्राश्वतरीन्ददद्यजमान अतिरिक्तवति पोडशिनि अतिरिक्तामिमां ददाति प्रयच्छति ॥ ५ ॥

इत्थं प्रासादिकं परिसमाप्य प्रकृतमनुसरति-'प्रजापतिः प्रजासृष्टिसाधनत्वेनाग्निष्टोममपश्यत् तेन प्रजा असृजतेति' योऽग्निष्टोम उक्तः स्तस्य त्रिवृदादिभिः स्तोमैर्गायत्र्यादिभिश्छन्दोभिरग्न्यादिमर्देवैरग्न्यैर्ब्राह्मणादिभिः साध्यत्वात्तेषां सृष्टिं क्रमेण विवधुरादौ त्रिवृद्गायत्र्यादिसम्पाद्यां सृष्टिमाह-

सोऽकामयत यज्ञं सृजेयेति स मुखत एव त्रिवृतमसृजत तं गायत्रीच्छन्दोऽन्वसृज्यताग्निर्देवता ब्राह्मणो मनुष्यो वसन्त ऋतुस्तस्मात्त्रिवृत्स्तोमानां मुखं गायत्री छन्दसामग्निर्देवतानां ब्राह्मणो मनुष्याणां वसन्त ऋतूनां तस्माद्ब्राह्मणो मुखेन वीर्यं कुरोति मुखतो हि सृष्टः ॥ ६ ॥

सः प्रजापतिरकामयत किमिति सर्वसाधकं यज्ञं सृजेयेति । स एतमग्निष्टोममपश्यत् तमाहरदित्युक्तस्यैवेद विवरणम् । सः प्रजापतिः मुखेन आत्मनो मुखादेव त्रिवृतं त्रिवारमावृत्तित्रयसाध्यमेतन्नामकं स्तोममसृजत । तं त्रिवृतमनु पञ्चाद्रायत्रीच्छन्दः गायत्र नाम छन्दोऽन्वसृज्यत, तदनु अग्निर्देवताऽन्वसृज्यत, तमनु मनुष्यो ब्राह्मणोऽन्वसृज्यत, तथा तमनु वसन्ताख्यश्च ऋतुरसृज्यत, यस्माद्यदेतं मुखत एव सृष्टास्तस्मादेते त्रिवृदादयः स्वस्वजातीयानां मध्ये मुख्या अमवन् । त्रिवृदादीनां मुख्यानां मध्ये ब्राह्मणस्य मुख्यत्वप्रयुक्तं वीर्यं लोकसिद्धं दर्शयति-तस्मान्मुखसृष्टत्वेन मुरयत्वात् ब्राह्मणो मुखेनेदानीमपि वीर्यं स्वाध्यायप्रवचनादिजन्यं सामर्थ्यं कुरोति । तस्मादित्युक्तं विवृणोति हि यस्माद्ब्राह्मणो मुखतः सृष्टस्तस्मादित्यर्थः ॥ ६ ॥

उक्तार्थविदुषः फलमाह—

करोति सुखेन व्वीर्यं य एव व्वेद ॥ ७ ॥

एवमुक्तमर्थं यो वेद सोऽपि सुखेन व्वीर्यं कुरोति सुखसाध्येन स्वा-
ध्यायप्रवचनादिनैवाभीष्ट साधयति इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ पञ्चदशस्तोमत्रिष्टुभादीनां सृष्टिमाह—

स उरस्त एव बाहुभ्यां पञ्चदशमसृजत तन्त्रिष्टु-
च्छन्दोऽन्वसृज्यतेन्द्रो देवता राजन्यो मनुष्यो ग्रीष्म-
ऋतुस्तस्माद्राजन्यस्य पञ्चदश स्तोमत्रिष्टुच्छन्द इन्द्रो-
देवता ग्रीष्म ऋतुस्तस्माद् बाहुवीर्यो बाहुभ्यां हि
सृष्टः ॥ ८ ॥

सः प्रजापतिरुरस्त एव । तस्यैव च व्याख्यानं बाहुभ्यामिति । पञ्चद-
शस्तोमं तृचगतानां तिसृणामृचां त्रिष्वपि पर्यायेषु पञ्चवारावृत्ति-
साध्यं पञ्चदशस्तोममसृजत । एवमुत्तरत्र सप्तदशादीनामावृत्तिप्रयुक्तसं-
ख्यावस्वमिति द्रष्टव्यम् । तमनु त्रिष्टुच्छन्द इत्यादिग्रीष्म ऋतुस्त्वन्तः
पूर्ववद्योज्यः । तस्माद्यस्मात् पञ्चदशादीनां राजन्येन सहोत्पत्तिः तस्मा-
द्राजन्यस्य पञ्चदशादयो भवन्ति । तेषां पञ्चदशादीनां राजन्यसम्बन्धः
श्रुतिषु प्रसिद्धः ‘वसन्ते हि ब्राह्मणमुपनयीत’ ‘ग्रीष्मे राजन्योऽग्नीनाद-
धीत’ ग्रीष्मे राजन्य इत्यादिना राजन्यसम्बन्धः । एवं प्रथमेऽपि पर्याये
ब्राह्मणस्य त्रिवृद्वायव्यादीनां विशेषसम्बन्धोऽवगन्तः । तस्माद् बाहुवी-
र्य इत्यादि स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

करोति बाहुभ्या व्वीर्यं य एव व्वेद ॥ ९ ॥

ऋज्वर्थः ॥ ९ ॥

अथ सप्तदशादिसृष्टिमाह—

स मध्यत एव प्रजननात्सप्तदशमसृजत तज्जगती-
च्छन्दोऽन्वसृज्यत विवश्वे देवा देवता व्वैश्यो मनुष्यो
व्वर्षा ऋतुस्तस्माद्वैश्योऽद्यमानो न क्षीयते प्रजननाद्भि-
सृष्टस्तस्माद् बहुपशुव्वैश्वदेवो हि जागतो व्वर्षा ह्यस्यर्तु-
स्तस्माद्ब्राह्मणस्य च राजन्यस्य चाद्योऽधरो हि सृष्टः ॥ १० ॥

सः प्रजापतिः मध्यतो मध्यदेशादेव । तस्यैव व्याख्यानं प्रजननात् स-

सदृशं स्तोममसृजत । तमनु जगतीच्छन्दोऽन्वसृज्यत । तदनु क्रमेण विश्वे देवा देवता वैश्यो मनुष्यो वर्षा ऋतुश्चान्वसृज्यत । तस्मात्प्रजोत्पादकप्रजननादुत्पन्नत्वात् वैश्यजातीयोऽद्यमानो मक्ष्यमाणो राजादिभिर्धनैरपहियमाणोऽपि न क्षीयते किन्तु पशुपालनादिना समृद्धो भवत्येव । तत्र हेतुः प्रजननाद्धि सृष्ट इति । तस्मादु तस्मादेव कारणात् स वैश्यो बहुपशुर्भवति । तत्रोपपत्तिरुच्यते—वैश्वदेवो हि जागतो विश्वैर्देवैः सह सृष्टत्वात् असाधपि वैश्वदेवस्तस्मादित्यर्थः । वैश्वदेवत्वमस्य बहुपशुत्वे हेतुः । जागतः जगत्या सद्योत्पन्नत्वात् असौ जगतीसम्बन्धो भवति । वर्षा ह्यस्य-स्तुरित्ययमपि बहुपशुत्वे हेतुः—एतत् स्तोमसम्बन्धस्थोपलक्षणम् । अनेन वैश्यस्य सप्तदशस्तोमजगतीच्छन्दःप्रभृतीनां च विशेषसम्बन्ध उक्तो भवति । तस्मादयं पूर्वसृष्टस्य ग्राहणस्य च राजन्यस्य चाद्योऽदनीय उप-ज्जीघर्षी भवति । तस्मादिति हेतुं विवृणोति—हि यस्मादधरः पश्चान्नावी निकृष्टः सृष्टस्तस्मादित्यन्वयः ॥ १० ॥

अथैकविंशस्तोमादिसृष्टिमाह—

स पत्त एव प्रतिष्ठाया एकाविंशमसृजत तमनु-च्छन्दोऽन्वसृज्यत न का चन देवता शूद्रो मनुष्य-स्तस्माच्छूद्र उत बहुपशुरयज्ञियो विवदेवो हि, न हि तं का चन देवताऽन्वसृज्यत तस्मात्पादावनेज्यन्नाति वर्द्धते पत्तो हि सृष्टस्तस्मादेकविंशस्तोमानां प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा-या हि सृष्टस्तस्मादनुष्टुभं छन्दांशुंसि नानु व्यूहन्ति ॥ ११ ॥

सः प्रजापतिः पत्त एव प्रतिष्ठाया इति परस्परं सामानाधिकरण्यं पादयोः प्रतिष्ठाहेतुत्वं स्पष्टम् । प्रतिष्ठारूपाभ्यां पादाभ्यां एकविंशं स्तोममसृजत । तमनु अनुच्छन्दोऽन्वसृज्यत । तदनु इतरोष्विव चात्र का चन देवता न सृष्टा किन्तु शूद्रो मनुष्योऽन्वसृज्यत । तस्मात्पूर्वं देवसृष्ट्यभावात् शूद्र उत बहुपशुः पशुबहुत्वोपेतोऽपि अयज्ञियो यज्ञानर्होऽभूत् । 'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवकलत्' इति श्रुत्यन्तरम् । तस्मादित्युक्तं कस्मादित्याह—विवदेवो देवरहितः सत्त्वयम् । एतदपि कुत इत्यत आह—तं शूद्रमनु न हि का चन देवताऽसृज्यत । यस्मात् विदेवः तस्माच्छूद्रः पादावनेज्यं त्रैवर्णिकानां पादप्रक्षालनरूपं कर्मातिक्रम्य न वर्द्धते । एतदितरशुश्रूषोपलक्षणं द्विजातिशुश्रूषातिरिक्तं किञ्चिदपि धर्मघ्नानुतिष्ठेदित्यर्थः । तथा च स्मर्यते 'शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा परमो धर्म उच्यते । अन्यथा कुर्यते किञ्चिद्भवेत्तत्तस्य निष्फलमिति । तत्रोपपत्तिरुच्यते—हि

यस्मादयं पत्तः सृष्टः । किञ्च तस्मात्प्रजापतेः प्रतिष्ठारूपपादतः सृष्ट-
त्वादयमेकविंशस्तोम इतरस्तोमानाम्मध्ये प्रतिष्ठा भवति । एक-
विंशस्तोमकेन यज्ञायज्ञीयेनाग्निष्टोमस्य समातेरस्य प्रतिष्ठात्वम् । हि
यस्मादेकविंशः प्रतिष्ठायाः सृष्टः । अत इत्यर्थः । तस्मात्पादतोनि-
कृष्टप्रदेशादुत्पन्नत्वात् अनुष्टुप्छन्दस्यनु तृतीयार्थमित्यर्थः । अनोः
कर्मप्रवचनयित्वात् छन्दांसीति द्वितीया । अनुसवनप्रयुक्तैर्गायत्र्यादि-
च्छन्दोभिः सद् न व्यूहन्ति पृष्ठपादिषु छन्दसां व्युदे क्रियमाणे स्वस्था-
न एवानुष्टुम प्रयुज्यते न तस्य स्थानेऽन्यद्वापऽयादिकं छन्दः तेषां वा
स्थानेऽनुष्टुमं प्रयुज्यत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

किमर्थमेवमिति तत्राह—

पापवसीयसो विधृत्यै ॥ १२ ॥

पापप्रधरस्थानादुत्पन्नमनुष्टुप्छन्दः । वसीयः पुण्यं सुखाद्युत्तम-
स्थानोत्पन्नं गायत्र्यादिकं तदुभयस्य विधृत्यै विधरणाय असाङ्कर्याये
त्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ वेदितुः फलमाह—

विधृतिः पापवसीयसो भवति य एव वैवेद ॥ १३ ॥

यदुक्तमर्थज्ञानातिशयाय पुण्यद्वयस्य विधृतिः विवेचनको भवति
तस्मिन्नुमे समानाश्रयणे स्त इत्यर्थः ॥ १३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥ ६ ॥ १ ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ।

तदेवमग्निष्टोमोऽश्वस्य जोतिष्टोमस्य प्राधान्येन त्रिवृदादिस्तोमश्च
तुष्टयस्य च सृष्टिरुक्ता । इदानीं तेष्वेव हि तत् ज्ञानव्यमित्याह—

यो वै स्तोमानुपदेशनवतो वैवेदोपदेशनवान्भवति ॥ १ ॥

वै शब्दो वाक्यालङ्कारे । यः पुमान् स्तोमान् त्रिवृदादीन् उपदेशन-
वतो वक्ष्यमाणोपदेशेन युक्तान् वेद जानाति सोऽप्युपदेशनवान् भवति
वक्ष्यमाणेन प्राणादिदेवतावान् भवति ॥ १ ॥

के ते उपदेशा इति ? तानाह—

प्राणो वै त्रिवृदर्द्धमामः पञ्चदशः सव्वत्सरः सप्तदश
आदित्य एकविंश एते वै स्तोमा उपदेशनवन्त उपदे-
शनवान् भवति य एव वैवेद ॥ २ ॥

यस्तु त्रिवृत्स्तोमोऽस्ति 'प्राणो वै त्रिवृदिति' उपावृत्त्या नवशः स-
म्पद्यन्ते । मुख्यः प्राणोऽपि शीर्षण्यैः सप्तप्राणैः अर्वावृत्तिभ्यां प्राणद्वया-
भ्यां सह नव प्राणात्मकः । अतो नवमेदसाम्यात् त्रिवृत्प्राण इति स्तूयते ।
यथा पञ्चदशस्तोमोऽप्यर्द्धमासात्मकः पञ्चदशमिरहोमिर्युक्तत्वात् तत्सं-
ख्यासाम्येन स्तुतिः । योऽयं सप्तदशस्तोमः स संवत्सरः 'द्वादशमा-
साः पञ्चर्त्तवो हेमन्तशिशिरयोः समासेन तावान् संवत्सर' इति श्रुतेः ।
सप्तदशसंख्यासाम्यादसौ सप्तदश इत्युच्यते । योऽयमेकविंशस्तोमः स
आदित्य एव "द्वादशमासाः पञ्चर्त्तवस्त्रय इमे लोका असावादित्य इत्ये-
कविंश" इति श्रुतेरादित्यस्यैकविंशत्वात् तत्संख्यासाम्येनास्यादित्य-
त्वम् । एते स्तोमा उक्तास्त्रिवृदादय उपदेशनवन्तः त्रिवृदादीनां प्राणा-
द्यात्मादिकथनमेवोपदेशनं तद्वन्तः । शिष्टं गतम् ॥ २ ॥

अथोक्तस्तोमचतुष्टयस्य प्रसङ्गेन त्रिणवत्रयस्त्रिंशपोऽप्युपदेशन-
वस्त्वमाह—

इमे वै लोकास्त्रिणवस्त्रिणवस्य वै ब्राह्मणेनेमे लोका-
स्त्रिप्पुनर्नवा भवन्ति ॥ ३ ॥

त्रिणवस्वरूपस्य त्रिवृत् त्रयात्मकत्वाविधानेन इमे भूरादयो लोकाः
त्रिः पुनर्नवा(१) भवन्ति त्रित्वसंख्योपेताः सन्तः पुनर्नवसंख्याका भवन्ति
'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोका' इति श्रुतेः एकैकस्य त्रिवृत्स्वाग्निलित्वा
नवसंख्याकत्वम् । लोकत्रयस्याथपस्य स्तोमस्य त्रैलोक्यात्मकत्वमेवो-
पदेशनवत्त्वम् ॥ ३ ॥

अथोक्तार्थविदुषः फलमाह—

एषु लोकेषु प्रति तिष्ठति य एव वेदे ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः । यदा त्रिणवस्य वा इत्यादिकमेवं वेदेत्यन्तं वेदितुः
फलं त्रिणवस्य वै ब्राह्मणेनेमे वै लोकास्त्रिणव इति ध्यानज्ञानेन इमे
लोकास्त्रिप्पुनर्नवेषु जानातः प्रतिष्ठितो भवति ॥ ४ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशस्योपदेशनवत्त्वमुच्यते—

देवता वाव त्रयस्त्रिंशोऽष्टौ वसव एकादश रु-
द्रा द्वादशादित्याः प्रजापतिश्च ववदकारश्च त्रय-
स्त्रिंशौ ॥ ५ ॥

अयं त्रयस्त्रिंशस्तोमः । देवता वाव देवता एव । उक्तेस्तोमे देवतासु
च एकत्वापादकं संख्यासाम्यनुपपादयति—अष्टौ वसव इत्यादिना ॥५॥

अथ विदुषः फलमाह—

स देवेन यज्ञेन यजते य एव वैवेद ॥ ६ ॥

यः पुमानेवं जानाति स देवेन सन्निहितदेवकेन यज्ञेन यजते । उक्त-
देवतात्मकत्वमेवास्य स्तोमस्योपदेशनवत्त्वम् ॥ ६ ॥

अथ प्रकारान्तरेण त्रयस्त्रिंशं स्तोत्रमाह—

यो वा अधिपतिं वैवेदाधिपतिर्भवति त्रयस्त्रिंशो
वै स्तोमानामधिपतिः पुरुषः पशूनाम् ॥ ७ ॥

त्रयस्त्रिंशो वै त्रयस्त्रिंशः खलु स्तोमानामधिपतिः । उक्तस्तोमस्यो-
ऽधिकत्वस्योपेतत्वात् । पुरुषस्यापि अधिपतित्वोपन्यासः स्तोमदृष्टा-
न्तत्वेन नस्यैव स्तुत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ पुरुषस्याधिपतित्वमेवोपपादयति—

तस्मान्न्यञ्चोऽन्ये पशवोऽदन्त्यदूर्ध्वः पुरुषोऽधिप-
तिर्हि सः ॥ ८ ॥

तस्मात्पुरुषस्याधिपतित्वात् अन्ये पुरुषइत्यतिरिक्ता गवाश्मादयः
पशवो न्यञ्चोऽवाङ्मुखाः सन्तः अदन्ति भक्षयन्ति तृणानि, पुरुष ऊ-
र्ध्वमुखः सन् भुङ्क्ते । ऊर्ध्वत्वे हेतुं विवृणोति—स पुरुषः अधिपतिः खलु ॥ ८ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

अधिपतिः समानानां भवति य एव वैवेद ॥ ९ ॥
स्वष्टोऽर्थः ॥ ९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे षष्ठाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ ६ ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ।

अथ संख्याक्रमेणाग्निष्टोमं प्रथमं विवक्षुस्तं बहुफलसाधनत्वेन
प्रशंसति—

एष वाव यज्ञो यदग्निष्टोमः ॥ १ ॥

एष वाव एष एव मुख्यो यज्ञो यदग्निष्टोमः । अग्निष्टोम इति सर्वफ-
लसाधनत्वेन मुख्यत्वादेव एष यज्ञः । इतरे त्वेकैकफलसाधनत्वान्नघन्या
इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ तदेवाह—

एकस्मा अन्यो यज्ञः कामायाहिपते सर्व्वेभ्योऽ-
ग्निष्टोमः ॥ २ ॥

अन्य उक्थादिकः । एकस्मै कामाय एकं फलमुद्दिश्याद्वियते अनु-
ष्ठियते । यथा 'उक्थेन पशुकामो यजेत' 'पोडशिना व्वीर्यकामो यजेत'
'वाजपेयेनाधिपत्यकामो यजेतेति' अग्निष्टोमस्तु सर्व्वेभ्य आद्वियते अ-
तोऽयमेव मुख्यो यज्ञः ॥ २ ॥

अथ सर्व्वकामसाधनोऽग्निष्टोम इत्युक्तं तत्र पशोरपि फलसाधनत्वे-
नायं समृद्ध इत्याह—

द्वादश स्तोत्राप्यग्निष्टोमो द्वादशमासाः सँवत्सरः
सँवत्सरं पशवोऽनु प्रजायन्ते तेन पशव्यः समृद्धः ॥ ३ ॥

द्वादशानां स्तोत्राणामाहारोऽग्निष्टोमः, द्वादशमाससमुदायात्मकश्च
सँवत्सरः, अतः संख्यासादृश्यादग्निष्टोम एव सँवत्सरः । अनु सँवत्सरे
हि पशवो गर्भन्धृत्वा प्रजायन्ते अतः सँवत्सरः पशव्यस्तेन सँवत्सरे
णास्यामेदादयमपि पशव्यः पशुभ्यो हितो भवति अत एव समृद्धः ॥ ३ ॥

अथास्य प्रकारान्तरेण पशव्यत्वमाह—

द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि तच्चतुर्विंश-
तिश्चतुर्विंशतिरर्द्धमासाः सँवत्सरः सँवत्सरं पश-
वोऽनु प्रजायन्ते तेन पशव्यः समृद्धः ॥ ४ ॥

अग्निष्टोमे यज्ञे द्वादश स्तोत्राणि द्वादश शस्त्राणि तदुभयं मिलित्वा
चतुर्विंशतिसंख्या सम्पद्यते । सँवत्सरश्चतुर्विंशतिरर्द्धमासात्मकः । तथा
सत्ययं संख्यासाभ्यात् सँवत्सरात्मकः । शिष्टं पूर्व्ववत् ॥ ४ ॥

अथ ब्रह्मवर्चसफलसाधनत्वेन प्रशंसति—

अग्नौ स्तोत्रमग्नौ शस्त्रं प्रति तिष्ठति तेन ब्रह्म
वर्चस्यः ॥ ५ ॥

अस्य स्तोत्रमन्तिमं यज्ञायज्ञीयमग्नौ प्रति तिष्ठति तत्राग्नेयं, तथास्य
शस्त्रं चान्तिममाग्निमारुतमग्नावेव प्रतितिष्ठति समाप्नोति । आग्निमारु-
तेऽपि अग्निः स्तूपते । अतस्तदुभयोपेतोऽग्निष्टोमो ब्रह्मवर्चस्यो भवति
तेजोविशेषरूपत्वात् । अग्नोरपि तेजोविशेषसद्भावात् अस्योक्तफलसा-
धनत्वम् ॥ ५ ॥

अथास्याग्निष्टोमस्य ज्योतिष्टोमत्वव्यपदेशः किञ्चिद्व्यघ्न इति प्रश्न-
माक्षिप्योत्तरमाह—

किंज्योतिष्टोमस्य ज्योतिष्टोमत्वमित्याहुर्विवराजं
संस्तुतः सम्पद्यते विराड्वै च्छन्दसां ज्योतिः ॥ ६ ॥

अस्य ज्योतिष्टोमस्य किञ्ज्योतिष्टोमत्वं किं कारणकत्वमित्याहुर्ब्रह्म-
वादिनः ? अयं यज्ञस्त्रिवृदादिभिः सस्तुतः सन् विराजं सम्पद्यते । 'दशा-
क्षरा विराडिति श्रुतेः । दशसंख्या सम्पद्यत इत्यर्थः । तथा सति विराजत
इति विराडिति व्युत्पत्त्या छन्दसां मध्ये विराट् ज्योतिः । एवं च स्तो-
मानां मध्ये विराट् द्वारा सम्पत्तेरयं ज्योतिष्टोम इत्युच्यत इति । विरा-
जेन दशसंख्याधिक्यकलृप्तिश्चेत्यमवगन्तव्या प्रातःसवने बहिष्पवमा-
नस्त्रिवृदतो नवस्तोत्रीया भवन्ति । आज्यस्तोत्राणि चत्वारि तानि पञ्च-
दशानि पण्डितोत्रीया भवन्ति । तदुभयम्मिलित्वा एकोनसप्ततिस्तोत्री-
या भवन्ति । माध्यन्दिने सवनेऽपि पञ्चदश माध्यन्दिनः पवमानः पृष्ठ-
स्तोत्राणि चत्वारि अपि सप्तदश स्तोमानि मिलित्वा अशीतिस्तोत्रीया
भवन्ति । तृतीयसवनेऽपि सप्तदश आर्भवः पवमानः । एकविंशस्तोमम-
ग्निष्टोमस्तोत्रं मिलित्वा अष्टविंशस्तोत्रीया भवन्ति । सवनत्रयं मिलित्वा
नवत्यधिकं शतस्तोत्रीया भवन्ति । अतश्च दशशो भागे सति अन्ते द-
शावशिष्यन्ते । एवं दशसंख्योपेतविराट्त्वसम्पत्तेस्तत्सम्यन्धादस्य
ज्योतिष्टोमत्वम् ॥ ६ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

ज्योतिः समानानां भवति य एव ऋवेद ॥ ७ ॥

ऋज्वर्थः ॥ ७ ॥

अथाग्निष्टोममेव प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

ज्येष्ठयज्ञो वा एष यदग्निष्टोमः ॥ ८ ॥

अग्निष्टोम इति योऽस्ति एष ज्येष्ठयज्ञः खलु देवानां ज्येष्ठा प्रजापतिः
'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताम्र' इत्यादिस्तुतेः । तत्सम्यन्धादस्य ज्येष्ठत्वम्
'प्रजापतिर्वा एष यज्ञो यदग्निष्टोम' इति श्रुतिः ॥ ८ ॥

अथामुमेव पक्षं प्रजापतेः श्रेष्ठत्वसम्पादनद्वारा पुनः प्रशंसति—

प्रजापतिः प्रजा असृजत ता अस्मै श्रेष्ठ्याय नाति-
ष्ठन्त स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्ततोऽस्मै प्रजाः
श्रेष्ठ्यापातिष्ठन्त ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रजापतिना सृष्टाः । अस्मै स्रष्टुं प्रजापतये श्रेष्ठ्याय श्रेष्ठमा-
वाय नातिष्ठन्त अमुं श्रेष्ठमिति नास्तिष्ट । इतरत् सुमानम् ॥ ९ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

तिष्ठन्तेऽस्मै समानाः श्रेष्ठ्याय य एव ऋवेद ॥ १० ॥

स्पर्ष्टोऽर्थः ॥ १० ॥

पूर्वमुक्त एव त्रिवृतमसृजत तं गायत्रीच्छन्दोऽन्वसृज्यते'त्यादिना
छन्दश्चतुष्टयस्य सृष्टिरुक्ता तत्रादितस्त्रयाणामेव सवनत्रयसम्बन्धो
दृश्यते कथन्तुरीयस्य तत्सम्बन्ध इति ब्रह्मवादिनः शङ्कामुपक्षिपति—

यत्त्रिवत्याहुर्गायत्रं प्रातःसवनं त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं
सवनञ्जागतं तृतीयसवनं क्व तर्हि तुरीयं छन्दोऽनुष्टु-
प्ति ॥ ११ ॥

यद्यदि तु इदानीमिति वक्ष्यमाणप्रकारेणाहुर्ब्रह्मवादिनः तेषामुक्ति-
प्रकारमाह—गायत्रं गायत्र्या सम्पद्यं प्रातःसवनं, प्रातःसवने गायत्र्या
सम्बद्धो दृश्यत इत्यर्थः । एवमुत्तरयोरापि योज्यम् । तर्हि एवं सति तुरी-
यञ्चतुर्थमनुष्टुप् छन्दः क कुतः सवने सम्बध्यत इत्येवं यद्याहुरिति
समन्वयः । तदा वक्ष्यमाणमुत्तरं श्रूयादिति शेषः ॥ ११ ॥

अनुष्टुप्सम्बन्धः किमर्थं पृच्छयत इति तत्राह—

छन्दसां वा अन्ववलुप्तिं यजमानोऽन्ववलुप्यते ॥ १२ ॥

छन्दसां गायत्र्यादीनां चतुर्णामध्ये यस्यापि छन्दसोऽवलुप्तिं
नाशमनु यजमानोऽप्यनुक्रमेणानुलुप्यते नश्यति । अत उक्तः प्रश्नो
युक्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ नम्योत्तरमाह—

अष्टाक्षरा गायत्री हिङ्कारो नवम एकादशाक्षरा
त्रिष्टुब् द्वादशाक्षरा जगती छन्दोभिरेवानुष्टुभमा-
प्नोति यजमानस्यानवलोपाय ॥ १३ ॥

गायत्र्याः पादस्य स्वतोऽष्टावक्षराणि हिङ्कारो बहिष्पवमानस्याद्यो-
ऽक्षरः तेन सह नव सम्पद्यन्ते । माध्यन्दिनस्य पवमानस्यान्यायां त्रि-
ष्टुभि एकादशाक्षराणि । आर्मवपवमानस्यान्यायां जगत्यां द्वादशाक्ष-
राणि सहिङ्कारच्छन्दस्त्रयगताक्षराणि मिलित्वा द्वात्रिंशतिः सम्पद्यते ।
अनुष्टुबपि द्वात्रिंशदक्षरा तथा सति त्रिभिरेव छन्दोभिः सहिङ्कारैरनु-
ष्टुभमाप्नोति स्तोताऽसाधुनुष्टुप् स्वावयवैस्त्रिभिः सहिङ्कारैः अष्टाक्षरा-
दिरूपैश्छन्दस्त्रयं व्याप्य तद्वारा सवनत्रयमथाप्नोतीत्युक्तं भवति । असा-
धातिर्यजमानस्यानवलोपायाविनाशाय भवति एवन्तुरीयस्य छन्दसः
सवनत्रयसम्बन्धन्तुत्तरं श्रूयुरित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

उक्तार्थविज्ञानं सङ्कोचविस्तराभ्यां प्रशंसति—

यो वा अनुष्टुभं सर्वत्रापि सवनान्यन्वापत्तां

वेद सर्वत्रास्यापि भवत्येषा वा अनुष्टुप् सर्वत्रापिः
सवनान्यन्वायत्ता तद्य एवं वेद सर्वत्रास्यापि भ-
वति ॥ १४ ॥

योवा यः कश्चिदपि पुरुषः अनुष्टुभं सर्वत्रापि सर्वत्र यज्ञे आपिर्व्याप्तिः
तां वेद जानाति । कथन्तस्या व्याप्तिरिति तामाह—सवनानि धीष्यपि
अनुक्रमेणायत्तां गायत्र्याद्यक्षरद्वारेण संख्याप्राप्तां वेद अस्य वेदितुः
सर्वत्र आपिर्व्यापनं अप्रतिहतसञ्चारो भवति । का सा अनुष्टुप् एषा
वै छन्दोऽक्षरसमाहारासिद्धा खल्वनुष्टुप् उक्तलक्षणोपेता । तद्य एवमि-
त्यादेयसंहारार्थत्वादपुनरुक्तिः ॥ १४ ॥

अथ पूर्वविहितं स्तोमचतुष्टयं यज्ञनिर्वाहकत्वेन प्रशंसति—

यद्वै राजानोऽध्वानं धावयन्ति येऽध्वाना वीर्यव-
त्तमास्तान्युज्जते त्रिवृत्पञ्चदशः सप्तदश एकविंश एते
वै स्तोमाना वीर्यवत्तमास्तानेव युङ्क्ते स्वर्गस्य लोकस्य
समष्ट्यै ॥ १५ ॥

यद्वै यदा वा खलु राजानः संप्रामकर्त्तारः अध्वानं माजिमार्गं धाव-
यन्ति गमयन्ति रथान् तदा ते ये अश्वानाम्मध्ये वीर्यवत्तमा अतिश-
येन वीर्योपेता अश्वाः सन्ति तान् युज्जते योजयन्ति रथेषु । अपं दृष्टा-
न्तः । एवमुद्गाता स्तोमानाम्मध्ये त्रिवृदादयोऽतिशयेन वीर्यवत्तमाः
अतस्तानेव युङ्क्ते स्वर्गप्राप्तिसाधने यज्ञे । तत्तेषां योजनं स्वर्गस्य लोकस्य
समष्ट्यै सम्यक् प्राप्तये सम्पद्यते ॥ १५ ॥

एवं प्रशस्य स्तोमचतुष्टयमग्निष्टोमस्य प्रतिष्ठासाधनविधत्ते—

चतुष्टोमो भवति प्रतिष्ठा वै चतुष्टोमः प्रतिष्ठित्यै ॥ १६ ॥

अग्निष्टोमश्चतुष्टोमो भवति विहितत्रिवृदादिस्तोमचतुष्टयं निर्वर्त्य
कर्त्तव्यः । स चतुष्टोमः प्रतिष्ठा वै प्रतिष्ठारूपः खलु यथा पादचतुष्टयोपे-
तोऽश्वादिः प्रतिष्ठितो भवति तद्वदयमपीति भावः । सा चतुष्टोमफलतिः
प्रतिष्ठित्यै यजमानस्य स्थैर्य्याय भवति ॥ १६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे षष्ठाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ ६ ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ।

अथोद्गातुर्व्यापारात्मकं प्रथमं कर्म शपनार्थमौदुम्बस्युच्छ्रयणन्त-

द्विधुस्तस्योत्पत्तिमाह—

प्रजापतिर्देवेभ्य ऊर्जं व्यभजत्तत उदुम्बरः समभ-
षत्प्राजापत्यो वा उदुम्बरः प्राजापत्य उद्गाता यदुद्गा-
तौदुम्बरीं प्रथमेन कर्मणान्वारभते स्वयैव तद्देवतयात्मा-
नमार्तिवज्याय वृणीते ॥ १ ॥

देवानामूर्ध्वभागे उदुम्बरोत्पत्तिस्तैत्तिरीये श्रूयते 'देवानामूर्जं व्य-
भजत्तत उदुम्बर उदतिष्ठदिति' यस्मादेवं तस्मादुदुम्बरः प्राजापत्यो वै
प्रजापतिदेवताकः खलु । उद्गाता प्राजापत्यामौदुम्बरीं प्रथमेन कर्मणा
निमित्तेनान्वारमत इति यत् स्वयैव तद्देवतया प्रजापतिनात्मानमार्तिव-
ज्याय वृणीते वृत्तवान् भवति । अथ वक्ष्यमाणमन्त्राणां विनियोगं सूत्र-
कार आह 'अग्नेौदुम्बरीरुत्वोदङ्मुखस्तिष्ठन्नध्वर्युणा सहोच्छ्रूयेत्
दक्षिणोत्तराभ्यां पाणिभ्यां द्युतानस्त्वेत्यायोरिति श्वभ्रंऽवध्यादवधाय
जपे'न्नमः समुद्राये'ति ॥ १ ॥

अथ समन्त्रकमौदुम्बर्युच्छ्रयणं विधत्ते—

तामुच्छ्रयति "द्युतानस्त्वा मारुत उच्छ्रयतूदिवधं
स्तभानान्तरिक्षं पृण हृधं हृ पृथिवीम्" ॥ २ ॥

तामुच्छ्रयति ऊर्जं स्थापयति मानार्थं द्युतानस्त्वा मारुत इत्यादिम-
न्त्रेण । मन्त्रस्यायमर्थः, हे शस्त्रे त्वा त्वान्युतानो द्योतमान एतन्नामको
मारुतां पुत्रो मारुतो देव उच्छ्रयतु ऊर्जं स्थापयतु, तथा दिवं द्युलोकं
उत्तस्तमान उपरि स्थितमपतनाय स्तम्भनङ्कुरु तवोच्छ्रयणेन । तथान्त-
रिक्षन्तव स्थौल्येन पृण पूरय, तव मूलेन पृथिवीं हृधं हृ हृदां कुरु ॥ २ ॥

अथाध्वर्युणा निधीयमानायाः शास्त्राया उद्गात्रन्वारम्भमन्त्रं विधत्ते—

तामन्वारभत "आयोष्ट्वा सदने सादयाम्यवतश्छा-
यायाधं समुद्रस्य हृदय" इति ॥ ३ ॥

हे उदुम्बरी! त्वा त्वाम् आयोः 'इण्गतौ' यजमानस्य स्वर्गप्रापकस्य स-
वनप्रयगामिनो वा देवान् प्रति गच्छतो वा यज्ञस्य सदने स्थाने सादया-
मि । तथा अवतश्छायायां रक्षकस्य यज्ञस्य छायायां सादयामि । तथा
समुद्रस्यान्तरात्मनोऽन्तरिक्षस्य, यद्वा समभिप्रयन्त्येनमृत्विगादय इति
समुद्रः सदः तस्य हृदये मध्यदेशे सादयामि । इतिशब्दो मन्त्रसमाप्ति-
द्योतनार्थः । अनेन मन्त्रेण तां शास्त्रामन्वारभते अनुक्रमेण स्पृशेत् ॥३॥

मन्त्रगतमायुःशब्दं व्याचष्टे—

यज्ञो वा आयुस्तस्य तत्सदनं क्रियते ॥ ४ ॥

य आयुः स यज्ञो वै । अत्रायुःशब्देन यज्ञोऽभिधीयत इत्यर्थः । अस्य व्युत्पत्तिर्मन्त्रव्याख्यानावसरे प्रदर्शिता । तत्तेन मन्त्रेण आयुःशब्दप्रयोगेण तस्य यज्ञस्यैव सदनं क्रियते ॥ ४ ॥

अथावतश्छायायामिति मन्त्रभागं व्याचष्टे—

यज्ञो वा अवति तस्य सा च्छाया क्रियते ॥ ५ ॥

योऽयं यज्ञः स खलु भवति रक्षति यजमानमतोऽघनात् यज्ञस्यैव च्छाया कृता भवति ॥ ५ ॥

समुद्रस्येति भागस्य सदोरूपतां दर्शयति—

मध्यतो वा आत्मनो हृदयन्तस्मान्मध्ये सदस औदुम्बरी मीयते ॥ ६ ॥

आत्मनो यजमानस्य हृदयममध्यतो वै मध्ये खलु तस्मात्तदनुकृपाय सदसो मध्यदेशे औदुम्बरी मीयते प्रक्षिप्यते । मन्त्रेसमुद्रशब्दाभिधेयस्य ब्राह्मणे सदःशब्देन व्यवहारात्तस्य सदस एवार्थो विवक्षित इत्युक्तं भवति ॥ ६ ॥

अथौदुम्बर्यनुमन्त्रणे योऽयं मन्त्रः 'नमः समुद्राय नमः समुद्रस्य चक्षुषे मामा यून्वर्वाहासीर्दुर्गस्यूर्जोदा ऊर्जस्मे देहूर्जस्मे धेहूर्जस्मे धेहीत्यादि मन्त्रास्ति तत्र नमः समुद्रायेति वाक्यद्वयं व्याचष्टे—

“नमः समुद्राय नमः समुद्रस्य चक्षुष” इत्याह वशाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुस्ताभ्यामेव तन्नमस्करोति ॥७॥

वाचो निरवधिकत्वात्समुद्र इत्युच्यते, चाग्रपसमुद्रस्य मनसः पूर्वरूपत्वात् समुद्रचक्षुरित्यनेन मन उच्यते । 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूप' इति हि श्रुतिः कौपीतकिनः, तत्तथा सत्यमुं भागं पठन्नुद्गाता वाचो मनसश्च नमस्कारं कृतवान् भवति ॥ ७ ॥

मामा यून्वर्वाहासीर्दुर्गस्यूर्जोदा ऊर्जस्मे धेहूर्जस्मे धेहीत्यादि मन्त्रास्ति तत्र नमः समुद्रायेति वाक्यद्वयं व्याचष्टे—

“मामा यून्वर्वाहासीर्दुर्गस्यूर्जोदा ऊर्जस्मे धेहूर्जस्मे धेहीत्यादि” इत्याह साम वै यून्वर्वा साम एव तन्नमस्करोत्यात्विज्यं करिष्यन् ॥ ८ ॥

यून्वर्वा यून्वर्वाः पुरुषं यूनां प्राप्नोतीति यून्वर्वा साम वै तत्तथा सत्येत्तत् पाठेन साम एव नमस्करोति ॥ ८ ॥

आत्विज्यं करिष्यन्नुद्गाता एतदेव विवृणोति—

यो वा एव सांज्ञे नमस्कृत्य साम्नात्विज्यं करोति

न साम्नो हीयते नैनं सामापहते ॥ ९ ॥

यः पुमान् एवमुकरीत्या सास्त्रे नमस्कृत्य साक्षा सामगाननिमित्तेनार्त्विज्यं करोति स सास्त्रः सकाशात् हीयते न वियुक्तो भवति । एनमुद्रातारं साम न अपहते न परित्यजति सामाप्यनेन न दुष्टं भवति । तच्चैवं परार्थं प्रयुक्तवानिति न हिनस्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

न केवलमस्य सामकृतवाधाभावः किन्तु अन्यदीयनिन्दापि न प्राप्नोतीत्याह—

य एनमनुव्याहरति स आर्त्तिमाच्छति ॥ १० ॥

योऽन्यः पुमानेनमुक्तप्रकारेणार्त्विज्यकारिणमनुव्याहरति अधिकक्षिपति स एवार्त्तिमधिकक्षेपप्रयुक्तमाच्छति सर्वतः प्राप्नोति ॥ ११ ॥

अथोर्गसीत्यादि मन्त्रमागमुपादाय तच्चात्पर्यमाह—

“ऊर्गस्यूर्जोदा ऊर्जं मे देह्यूर्जं मे देह्यन्नं मे देह्यन्नं मे देहि” प्रजापतेर्वा एतदुदरं यत्सद ऊर्गुदुम्बरी यदौदुम्बरी मध्ये सदसो मीयते मध्यत एव तत्प्रजाभ्योऽन्नमूर्जन्दधाति ॥ ११ ॥

मन्त्रमागस्यायमर्थः, हे उदुम्बरि त्वम् ऊर्गसि अन्नमसि देवानामन्नविभागे उत्पन्नत्वादत् ऊर्जोदा अन्नस्य दात्री भवसि, ऊर्जंमे मह्यं देहि, तथाच मे मयि ऊर्जन्धेहि स्थापय । मे इति ‘सुपांसुलुगे’त्यादिना सप्तम्याः शेषावे रूपसिद्धिः । उक्तएवार्थः । अन्नमे देहि इति शब्दान्तरेणोच्यते—सद इति । यत् एतत् प्रजापतेः उदरं खलु उदुम्बर इति यत्तत् ऊर्गं अन्नमेवात् एव मध्यदेश उदर एव प्रजननात् अन्नसिद्ध्यर्थमन्नम् ऊर्जं दधाति स्थापितवान् भवतीत्यर्थः । तथा सति यदौदुम्बरी सदसो मध्ये मीयते तत् मध्ये ऊर्गस्थापनमेव प्रजानां जीवनाय तेषामुदरे अन्नं स्थापितं भवतीत्यर्थः । अन्नमित्यूर्जमित्यस्य व्याख्यानम् ॥ ११ ॥

एतदेष व्यतिरेके दोषप्रदर्शनेन द्रढयति—

तस्माद्यत्रैषा यातयामा क्रियते तत् प्रजा अशनायवो भवन्ति ॥ १२ ॥

तस्मान्मन्त्रेण स्थापनादन्नं दधाति । यस्मादेवमतः । यत्रैषा औदुम्बरी यातयामा मन्त्रादित्येन गतरसा सती क्रियते तत्तत्र देशे प्रजा अशनायवः क्षुधिता भवन्ति । यस्मादेवं तस्मान्मन्त्रेण स्थापनादन्नं दधातीति सम्बन्धः ॥ १२ ॥

मध्यतोऽग्रे दधातीत्युक्तं किं तन्मध्यमप्र विवक्षितं कथं वा तत्रा-
श्रनिधाने प्रजानां वृत्तिर्भवतीति तत्राह—

साम देवानामन्नं सामन्येव तद्देवेभ्योऽन्न ऊर्जन्द-
धाति स एव तदूर्जि श्रितः प्रजाभ्य ऊर्जं विभजति ॥ १३ ॥

तस्य सामोपजीवनं प्रायच्छदिति, सामविधाने उक्तत्वादन्नवत्
प्रीतिकरत्वाद्वा देवानामन्नं साम तत्तथा सति सामन्येव देवानामन्नभूते
सामनि ऊर्जमन्नन्दधाति किमर्थः? देवेभ्यः देवांस्तर्पयितुम् । स इति श्रित
इति च लिङ्गव्यत्ययः । तत्तथा स एव तदेव देवानामन्नभूतम् ऊर्जि अग्रे
धितं साम प्रजाभ्य एषामर्थाय ऊर्जं विभजति प्रयच्छति ॥ १३ ॥

अथौदुम्बरिप्रसङ्गात् उद्गात्रादीनां स्वस्वप्रयोगादिव्यवस्थामाह—

उदङ्ङासीन उद्गायत्युदीचीन्तादिशमूर्जा भाज-
यति प्रत्यङ्ङासीनः प्रस्तौति प्रतीचीन्तादिशमूर्जा
भाजयति दक्षिणासीनः प्रतिहरति दक्षिणान्तदिश-
मूर्जा भाजयति प्राञ्चोऽन्य ऋत्विज आर्त्विजं कुर्व-
न्ति तस्मादेषा दिशां वीर्यवत्तमैतां हि भूयिष्ठाः
प्रीणन्ति ॥ १४ ॥

योदुम्बरी पूर्वं गानार्थमिर्मिता तस्या उदङ्ङासीनः उदग्देशे
स्थित्वा उद्गाता गानभागहायति तत्तेन उदीचीन्दिशम् ऊर्जा अग्रेण
भाजयति वह्नश्राद्धीति । एवं प्रस्तोता प्रत्यङ्ङासीनः प्रस्तौति तत्तेन
प्रतीचीन्तादिशमूर्जा भाजयति । एवं दक्षिणामिमुखः प्रतिहर्ता दक्षिणा-
न्तदिशमूर्जा भाजयति । अन्ये होत्रादिसप्तत्विजः प्राञ्चः प्राङ्मुखाः आ-
र्त्विज्यं कुर्वन्ति । तस्माद्बहुभिः स्वाभिमुखमनुष्ठितत्वाद्देवा प्राची दिक्
दिशामन्यासाम्मध्ये वीर्यवत्तमा अतिशयेन वीर्यवती । तस्मादित्य-
स्य विवरणमेतां होत्यादि ॥ १४ ॥

अथ उद्गादिनाः प्रदत्तमवतारयति—

ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात्सत्यात्प्राञ्चोऽन्य ऋत्वि-
ज आर्त्विज्यं कुर्वन्तीति विपरिकम्पोद्गातार इति
दिशामभीष्टयै दिशामभिप्रीत्या इति प्रयात्तस्मात्सर्वा-
सु दिक्ष्वन्न विवक्षते सर्वा ह्यभीष्टाः प्रीताः ॥ १५ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात्सत्यात् कुतो हेतोरिति तत्रोत्तरमाह—

दिशामभिष्टयै दिशामभिप्रीत्या इति द्रूयादित्यस्मात् सर्वासु दिक्ष्वन्नं विद्यते सर्वा ह्यभीष्टाः प्रीता इति सर्वासु दिक्षु पूर्वरीत्या आर्वि-
त्यकरणान्दिशामभिष्टयै तिसृणामपि दिशाममितो याणाय पूजनाया-
मिप्राप्तये वा भवति तथा दिशां सर्वासामभिप्रीत्यै अभिप्रीणनाय
भवति एकामपि दिशमनातिहाय सम्भावनायेत्यर्थः । एवमुत्तरं द्रूयात्,
यस्मादेवं तस्मात् सर्वासु दिक्षु अन्नं विद्यते लभ्यत इत्यर्थः । उक्तार्थ-
स्यैवोपपादनं सर्वा हीति । यस्मात् सर्वा अपि दिशः अभीष्टाश्च
प्रीताश्च तस्मात्सर्वासु दिक्षु अन्नं विद्यते इति युक्तम् ॥ १५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

अथ पञ्चमः खण्डः ।

अथ समन्त्रकं द्रोणकलशस्य प्रोहणं विवक्षुस्तस्योत्पत्तिमाह—

प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजापेयेति सोऽशो-
चत्तस्य शोचत आदित्यो मूर्ध्नोऽसृज्यत सोऽस्य मूर्द्धा-
नमुदहन् स द्रोणकलशोऽभवत्तस्मिन् देवाः शुक्रमगृहत
तां वै स आयुपार्त्तिमत्यजीवत् ॥ १ ॥

प्रजापतिरकामयतेत्युक्तार्थम् । तस्य शोचतः आदित्यो मूर्ध्नोऽसृ-
ज्यत सृष्टोऽमृत् । स सृष्ट आदित्यः तस्य प्रजापतेर्मूर्द्धानं मस्तकप्रदेशं
स्वोत्पत्यर्थं उदहन् ऊर्ध्वं घातितवान् । स मिथो मूर्द्धां द्रोणकलशोऽभ-
वत् । तस्मिन् कलशे देवाः शुक्रं शुक्लं दीप्तं सोमरसं प्रत्यगृहत गृहीत-
वन्तः । स प्रजापतिः । आयुषा शिरोमङ्गात् क्षीणेनायुष्येण या आर्त्तिर-
मृत् तामार्त्तिमत्यजीवत् अतिक्रम्य चिरकालं जीवितवान् स्वशिरोमा
गकपाले आप्यायकस्य सोमरसस्य धारणेन आर्त्तिं पश्यन्हरदित्यर्थः ॥ १ ॥

अथोक्तार्थवेदनं प्रशंसति—

आयुपार्त्तिमतिजीवति य एव वैवेद ॥ २ ॥

योऽन्य एवमुक्तमर्थं जानातिस आयुषा नैमित्तिकायुःक्षयेण जनिता
या आर्त्तिः तामतिजीवति अतिक्रम्य शतवर्षं जीवति ॥ २ ॥

इदानीं समन्त्रकं द्रोणकलशप्रोहणं विधत्ते—

तं प्रोहे “हानस्पत्योऽसि बार्हस्पत्योऽसि प्राजापत्योऽसि
प्रजापतेर्मूर्द्धास्यत्यायुपात्रमसीदमहम्मां प्राञ्चं प्रोहामि
तेजसे ब्रह्मवर्चसापि”ति ॥ ३ ॥

ते प्रजापतिशिरस्त उत्पन्नं कलशं धानस्पत्य इत्यादिना मन्त्रेण प्राञ्चं प्रोहेत् प्रेरयेत् । एतत्प्रोहणमध्वर्यादिभिस्त्रिभिरपि कर्त्तव्यं, तथा च सूत्रम् 'ऋतमसीति द्रोणकलशमालभ्य धानस्पत्योऽसीति प्रोहेयुरिति' अयं मन्त्रः पूर्वं व्याख्यातः ॥ ३ ॥

अथ मन्त्रस्य प्रथमभागस्य तात्पर्यं व्याचष्टे—

यदाह धानस्पत्य इति सत्येनैवैनं तत्प्रोहति ॥ ४ ॥

मन्त्रे उद्गाता धानस्पत्य इति यदाह तत्तेन एनं द्रोणकलशं सत्येनैव प्रोहति । वस्तुतो द्रोणकलशस्य धानस्पतिविकारत्वात् सत्य इति 'वृहस्पतिर्वै देवानामुद्गाता तमेव तद्युनक्ति' इति एतेन मन्त्रभागेनैव प्रोहणं कृतवान् भवति ॥ ४ ॥

अथ द्वितीयभागस्य तात्पर्यमाह—

यदाह बार्हस्पत्य इति वृहस्पतिर्वै देवानामुद्गाता तमेव तद्युनक्ति ॥ ५ ॥

तं वृहस्पतिमेव युनक्ति प्रेरयति ॥ ५ ॥

अथ तृतीयचतुर्थभागयोस्तात्पर्यमाह—

यदाह प्राजापत्य इति प्राजापत्यो ह्येष देवताया यद्द्रोणकलशो यदाह प्राजापतेर्मूर्द्धंति प्राजापतेर्ह्येव मूर्धं उदहन्यत ॥ ६ ॥

द्रोणकलशस्य प्राजापतेर्मूर्द्धंरूपत्वमुक्तप्रकारेण स्पष्टं तत्सम्बन्धादेव स प्राजापत्य इत्युच्यते ॥ ६ ॥

अथ पञ्चमस्य तात्पर्यमाह—

यदाहा "त्यायुपात्रमि"त्याति ह्येतदन्यानि पात्राणि यत् द्रोणकलशो देवपात्रं द्रोणकलशः ॥ ७ ॥

मन्त्रे अत्यायु पात्रमिति यदाहोद्गाता तद्युनक्ति इति शेषः, तत्कथं युनक्ति? इति तत्राह—द्रोणकलश इति । यत् पात्रमसि एतत् पात्रमन्यानि मनुष्याणां पात्राणि अति हि अतीत्य वर्त्तन्ते खलु । अथवा मनुष्यास्तेषां पात्राण्यतीत्य वर्त्तन्ते इति व्युत्पत्त्या अत्यायुपात्रत्वात् तेनान्येषामतिक्रमणं युक्तमित्यतिक्रमणमेव दर्शयति । अयं द्रोणकलशो देवपात्रं देवानां पानसाधनं पात्रम् अत्रत्यो हि सोमस्तद्देवार्थं गृह्यते तस्माद्देवपात्रत्वात् नरपात्रातिक्रमणेनात्यायुपात्रमिति मन्त्रभागोयुक्त इत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति विदुषः फलमाह—

देवपात्री भवति य एव वैवेद ॥ ८ ॥

य उक्तार्थज्ञः स देवपात्री देवपात्रं द्रोणकलशस्तद्वान् भवति । सोम-
यागानुष्ठाता भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ प्रासङ्गिकं किञ्चिदाह—

ब्राह्मणं पात्रे न मीमांसेत यं ब्राह्मणमिव मन्यते
प्र देवपात्रमाप्नोति न मनुष्यपात्राच्छिद्यते ॥ ९ ॥

ब्राह्मणं पात्रे पात्रभावे अयं पात्रं भवति न धेति न मीमांसेन विचार-
न्न कुर्यात् । किं ब्राह्मणब्रुवमात्रेण न मीमांसितव्यं नेत्याह—यं पुरुषं ब्राह्म-
णमिव मन्येत । इव शब्द एवकारार्थः । जात्या ब्राह्मणमेव यदि निश्चिनु-
यात् तदा तद्विषयं वृत्तिविद्यादिस्वभावासद्भावज्ञ मीमांसतेत्यर्थः । तथा
च स्मृतिः 'न पुच्छेद्द्रोणचरणे न स्वाध्यायं श्रुतं तथा । हृदये कल्पयेद्देवं
सर्वदेवमपोद्विज' इति । एवं यस्मिन्विचारमकृत्वा पात्रमेवेति यो निश्चयं
करोति तस्य तदेव पात्रमन्वेति विद्यातपोयुक्ते यत्फलं भवति तत्तस्मि-
न्नपि भवतीत्यर्थः । किञ्च स पुमान् मनुष्यपात्राज्ञ छिद्यते मनुष्याणां
पात्रं भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

उक्तं द्रोणकलशप्रोक्षणं हविर्दानादधः कर्त्तव्यं तत्राक्षगतवागवरो-
चनायेति वक्ष्यति । अतो वागक्षरसम्बन्धं वक्तुमात्स्यायिकामाह—

वाग्वै देवेभ्योऽपक्रामत्सापः प्राविशत्तां देवाः पुन-
रयाचँस्ता अब्रुवन्यत्पुनर्दद्याम किन्नस्ततः स्यादिति
यत्कामयध्व इत्यब्रुवँस्ता अब्रुवन्यदेवास्मासु मनुष्या
अपूतं प्रवेशयँस्तेनासँसृष्टा असामेति ॥ १० ॥

पुरा देवेभ्यः सकाशात् स्वयमात्मानं प्रकाशयन्ती वाक् अपक्रामत्
आत्मानमप्रकाश्यापगताभूत् 'वै शब्दः श्रुत्यन्तरप्रसिद्ध्यर्थः' तथाच तै-
त्तिरीयकं 'वाग्वै देवेभ्योऽपक्रामत् यज्ञायातिष्ठमानेत्यादि । सापगता
अपः प्राविशत् तां वाचं पुनर्यज्ञार्थमयाचन् प्रार्थयन् ताश्च पुनरब्रुवन्
किमिति यत्पुनर्दद्याम यच्छाम नोऽस्माकं ततः किं फलं स्यादिति पृ-
ष्टास्ते देवाः तर्हि यत्फलं कामयध्व इत्यब्रुवन् ताश्च पृष्टाः पुनरब्रुवन्
हे देवाः अपूतमपूतादिकं अस्मासु मनुष्याः तदुपलक्षिताः सर्वे प्राणि-
नः प्रवेशयान् प्रवेशयेयुः । लोह्यहुवचनस्येदं रूपम् । तेनापूतेन असँसृ-
ष्टाः संसर्गरहिताः । असाम भवेम ॥ १० ॥

उक्तार्धग्रहाविदः फलमाह—

शुद्धा अस्मा आपः पूता भवन्ति य एव वैवद॥११॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ११ ॥

अथाप्राप्ताया वाचो वनस्पतीन् प्रवेशमाह—

सा पुनर्त्तार्त्यकामत् सा वनस्पतीन् प्राविशत्तान्दे-
वाः पुनरयार्चस्तान्न पुनरददुस्तानशपन् स्वेन वः कि-
ष्कुणा वज्रेण वृश्चानिति तस्माद्वनस्पतीन् स्वेन किष्कु-
णा वज्रेण वृश्चान्ति देवशप्ता हि ॥ १२ ॥

पुनर्त्ता अर्द्धिः पुनर्हता सा अत्यकामत् । अतिक्रम्य सा वनस्पतीन्
प्राविशत् । प्राविष्टान्तां देवाः इत्यादि अशर्पान्नत्यन्तः स्पष्टः । शापप्रका-
रमाह—वो युष्मान् स्वेन स्वसम्बन्धिना वानस्पत्येन किष्कुणा दण्डेन
युक्तेन वज्रेण परश्वादिना वृश्चान् वृश्चेयुरिति । यस्मादेवन्तस्मादिदा-
त्तामपि स्वेन किष्कुणा वज्रेण वृश्चान्ति । हि यस्माद्वनस्पतयो देवैः श-
प्ताः । अत इत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

इदानीमक्षसम्बन्ध वक्तुं प्रविष्टाया वाचश्चतुर्द्धा विभागमाह—

ता वैवनस्पतयश्चतुर्द्धा वाच विवन्पदयुर्दुन्दुभौ वीणा-
यामक्षे तूणये तस्मादेपा वदिष्टैपा वल्गुनमा व्वाग्वा
वनस्पतीनां देवानां ह्येपा व्वागासीत् ॥ १३ ॥

तान्तेषु प्रविष्टां वाचं वनस्पतयश्चतुर्द्धा चतुःप्रकारं विवन्पदयुः वि-
मज्य निधनमकुर्वन् । केष्विति उच्यते—दुन्दुभौ मेर्या वीणायां वेणु-
निर्मिततन्तुसम्बद्धायां विपञ्चयाम् । अक्षेरयादिचक्रयोर्मध्यवर्तिनि ति-
र्यग्दण्डे । तूणये अनुपि गुणे । तस्मादुक्तपदार्थप्रवेशादैर्पत्र वाक् यदिष्टा
अतिशयेन वक्त्रा । अत एवैव वल्गुतमा चारुतमा वाक् याश्चोत्तमनोहादि-
नीत्यर्थः । एतद्युक्तं कत्याह—या वनस्पतीनां वनस्पतिविकाराणां दुन्दु-
भ्यादीनां सम्बन्धिनी । उक्तस्यैव विवरणं देवानां हीति । यस्मात् दुन्दु-
भ्यादिषु प्रविष्टा वाक् यदिष्टा वल्गुनमा च अतः खलु देवानां
योग्यासीत् ॥ १३ ॥

इदानीमक्षस्यवागवरोधनाय तदधः फलशमोहणन्तदुपरि दशाप-
विप्रस्थापनञ्च विधत्ते—

अथोऽधोऽधं द्रोणकलशं प्रोहन्ति तस्या व्वाचोऽवक-
ध्या उपर्युपर्यक्षं पवित्रं प्रयच्छन्त्युभयत एव व्वाचं प-
रिगृह्णन्ति ॥ १४ ॥

अक्षमघोऽधः । अक्षस्याव्यवहितेऽधःप्रदेशे । द्रोणकलशं प्रोहन्त्युद्गा-
तारः । तच्च प्रोहणं तस्या अक्षप्रविष्टाया वाचोऽवरुध्या अवरोधनाय
भवति । तथा उपर्युपर्यक्षम् अक्षस्याव्यवहिते उपरि भागे । पवित्रं प्रय-
च्छन्ति । तथा सति उभयत एव वाचमक्षस्यां परिगृह्णन्ति स्वायत्तां
कुर्वन्ति ॥ १४ ॥

अथाक्षस्पर्शननिन्दापूर्वकं तस्यास्पर्शं विधत्ते—

यस्य कामयेतासुर्यमस्य यज्ञं कुर्यां ववाच वृज्जीये-
ति द्रोणकलशं प्रोहन्त्याहुभ्यामक्षमुपस्पृशेदसुर्यमस्य
यज्ञङ्करोति ववाच वृज्जे योऽस्य प्रियः स्यादनुपस्पृशन्नक्षं
प्रोहेत्प्राणा वै द्रोणकलशः प्राणानेवास्य कल्पयति ॥ १५ ॥

अस्य यजमानस्य यज्ञम् । असुर्यमसुरेभ्यो हितं देवानामप्रीतिकरं
कुर्याम् । अस्य वाचश्च वृज्जीय जयेयं प्रतिहतवचनं करोमीति यस्य य-
स्मै यजमानाय कामयेतोद्गाता तस्मै द्रोणकलशं प्रोहन् याहुभ्यामक्ष-
मुपस्पृशेत् । तथा सति अस्य यज्ञमसुर्यं करोति । अस्य वाचं वृज्जे वज्र-
यति । अथाऽक्षोपस्पर्शनं तत्र निषिद्धमित्यामिप्रायः । अयोक्तवैलक्षण्येन
यो यजमानोऽस्योद्गातुः प्रियः स्यात्तस्योक्तदोषद्वयाभावायाक्षमनुपस्पृ-
शन् प्रोहेत् । तथा सति योऽयं द्रोणकलशः सः । प्राणो वै प्राणारयोऽमू-
त् । प्रजापतेः शिरस्त उत्पन्नत्वात् । अतः अनुपस्पृशन् द्रोणकलशं प्रोह-
न्नुद्गाता अस्य यजमानस्य प्राणानेव कल्पयति यजमाने स्थापितवान्
भवति । अतोऽक्षस्पर्शनमकृत्वा प्रोहेदिति तात्पर्यम् । नन्वक्षस्पर्शाभावेन
यजमाने वा स्थापनमुचितं तदकृत्वा कथं प्राणकल्पनं विरुद्धमिति ?
नैषदोषः, यजमाने प्राणेन वा ध्रियते यदा च प्राणस्य तदतो व्याप्रियते ।
तथा च तैत्तिरीयकं 'यत्रैतदधीते वा भापते वा ववाचि
तदा प्राणो भवति व्याक् तदा प्राणं रोढि । अथ यत्र तूष्णीं
वा भवति स्वपिति वा प्राणे तदा व्याग्भवति प्राणस्तदा ववाचं रोढी-
ति' नाखितरेषामिवोद्गातृणामन्त्रेण वरणाभावात् ॥ १५ ॥

कथमेषामार्त्विज्यकरणमिति ब्रह्मवादिनः प्रश्नमुपक्षिपति—

यन्निवत्याहुर्वाचान्यानृत्विजो वृणते कस्मादुद्गा-
तारो वृता आर्त्विज्यं कुर्वन्तीति ॥ १६ ॥

यन्नु यद्यन्यानित्याहुरेवं साक्षेपं यदि द्रूयुः । वचनप्रकारमेव प्र-
दर्शयति 'ववाचा इन्द्रं होत्रात् मरुतः पोत्रादि'त्यादि रूपया अन्यान् होत्रा-
दीन् ऋत्विजो वृणते । अघ्वर्यवो वा कस्मादित्यादि स्पष्टम् ॥ १६ ॥

तेषामेषमुत्तरं द्रुयादित्याह—

यद्द्रोणकलशमुपसीदन्ति तेनोद्गातारो वृताः ॥१७॥

यस्मादेते द्रोणकलशमुपसीदन्ति प्रोहन्ति तेन ते वृत्ता एवमार्त्वि-
ज्यं कुर्वन्ति ॥ १७ ॥

कथं द्रोणकलशेनैषा वृतिरिति तत्राह—

प्राजापत्या वा उद्गातारः प्राजापत्यो द्रोणकलशो
द्रोणकलश एवैनानार्त्विज्याय वृणीते ॥ १८ ॥

यज्ञात्मकप्रजापतिसम्बन्धाद्वा 'प्रजापतिः सामे'ति ध्रुनेः । तत्सम्ब-
न्धाद्वा उद्गातारः प्राजापत्याः । द्रोणकलशश्च तन्मूर्द्धत उत्पत्तेः प्राजा-
पत्यः । तथा सत्युभयोः समानसम्बन्धात्तेन तेषां वरणमिति ॥ १८ ॥

अथ द्रोणकलशस्य प्राङ्मुखप्रोहणस्यायमाशय इत्याह—

प्राञ्च उपसीदन्ति प्राञ्चो यज्ञस्याग्रे करवामेति ॥ १९ ॥

इतः पूर्वमेतेषामुद्गातृणाङ्गाने प्राङ्मुखत्वासम्भवात् द्रोणकलश-
प्रोहणे प्राङ्मुखा एवोपसीदन्ति । कया बुध्येते ? यज्ञस्याग्रे आदौ प्रथमं
कर्म्म प्राञ्चः सन्तः करवामेति ॥ १९ ॥

अथ द्रोणकलशं प्राङ्मुखः प्रोहेत्प्राच्या दिशोऽभिजयायेत्याह—

अनभिजिता वा एषोद्गातृणां दिग्भ्यत्प्राची पद्द्रो-
णकलशं प्राञ्चं प्रोहन्ति दिशोऽभिजित्यै ॥ २० ॥

प्राच्या अनभिजितस्त्वमौदुम्बरे गाने उद्गातृणां प्राङ्मुखगानाभा-
वाभिप्रायकं स्पष्टम् । न तु रषादिकमश्वाद्यो युक्ता वहन्ति ॥ २० ॥

कथमुद्गातृणां यज्ञे योग इति प्रश्नमवतार्य द्रोणकलशोपसम्पत्तिरे-
व तेषां योग इत्याह—

यन्निवत्याहुरन्तराश्वः प्रासेवौ युज्यतेऽन्तरा श-
स्य अनङ्वान्क उद्गातृणां योग इति यद्द्रोणकलशमु-
पसीदन्ति स एषां योगस्तस्माद्युक्तैरेवोपसचन्न ह्ययु-
क्तो व्यवहति ॥ २१ ॥

प्रासेवौ रथयुगस्य सुविरलतोमपथार्धरज्जू तयोर्मध्ये अश्वेः यु-
ज्यते । शस्ये शकटयुगस्योमपथार्धकीलके तयोर्मध्येऽनङ्वान् । तथा
सति यज्ञाख्ये रथे कथमुद्गातृणां योग इति प्रश्नः ? यदेते द्रोणकलशं
द्विवर्द्धनाक्षापःस्थितमुपसीदन्ति स एषैषां योग इति तस्योत्तरम् । त-
स्माद्युक्तैरेवानन्यविस्तैरेव उपसद्यं कलशोपसदनं कर्त्तव्यम् । तथा सति न
ह्ययुक्तो व्यवहत्यमुद्गातृवर्गः ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ६ ॥ ५ ॥

अथ पष्ठः खण्डः ।

अथ ग्रावणामुपरि द्रोणकलशाध्यूहनं विधत्ते—

ग्रावणः स०साद्य द्रोणकलशमध्यूहन्ति विद्वद्वै ग्रा-
वाणोऽन्न० सोमो राष्ट्रं द्रोणकलशो यद्वग्रावसु द्रोणक-
लशमध्यूहन्ति विद्वद्येव तद्राष्ट्रमध्यूहन्ति ॥ १ ॥

द्रोणकलशाध्यूहनकर्तृमिरुद्रातृभिः प्रथममभिपवसाधनान् ग्रावणः
संसाद्य प्रश्नात् द्रोणकलशाध्यूहनं कर्त्तव्यम् । तथा सति ये ग्रावाणः स-
न्ति ते विद्वद्वै बहुत्वसंख्यायोगात् तेषां विद्वद्व्यवहारः । सोमस्यान्नत्वं
प्रसिद्धम् । यो द्रोणकलशः स राष्ट्रं राष्ट्रमिति राजेति कोचिद्राज्यमित्यपरे ।
तथा सति यद्वग्रावसु सोमरसाधारं द्रोणकलशमध्यूहन्ति तत्तेन विद्वदे-
व राष्ट्रम् अन्नस्येदमध्यूहन्ति स्थापितवन्तो भवन्ति ॥ १ ॥

अथ यजमानस्य पापं कामयमान उद्राता एवं कुर्यादित्याह—

यं द्विष्याद्विमुखान् ग्रावणः कृत्वेदमहममुममुष्याय-
णममुष्याः पुत्रममुष्या विशोऽमुष्मादन्नाद्यान्निरूहामी-
ति निरूहेद्विश एवैनमन्नाद्यान्निरूहति ॥ २ ॥

उद्रता यं यजमानं द्विष्यात् द्वेष्टि तस्मै ग्रावणः । अभिपवोपलामिमु-
खान् परस्परनिवृत्तमुखान् कृत्वा इदमिदानीमहममुं द्वेष्ट्य यजमान 'अ-
मुमित्यत्र तन्नामनिर्देशात्' कथममुष्यायणं अमुष्यगोत्रोत्पन्नम् अमुष्याः
पुत्रम् अमुष्या विशः सकाशात् 'अन्नाप्यमुष्या इति पञ्चम्या विशो नाम
निर्देशात्' एवमहममु द्वेष्ट्य यजमानं विशोऽन्नाद्यान्निरूहामि नाश-
यामि इत्येवं मन्त्रमुच्चार्य निरूहेत् । एवं कुर्वन्नुद्राता विशोऽन्नाद्या-
न्नैवैनं यजमानं निरूहति ॥ २ ॥

अथ यजमानस्य मद्रं कामयमान एवं कुर्यादित्याह—

योऽस्य प्रियः स्यात्सन्मुखान् ग्रावणः कृत्वेदमहममु-
ष्यायणममुष्याः पुत्रममुष्यां विद्वद्यमुष्मिन्नन्नाद्येऽध्यूहामी-
त्यध्यूहेद्विद्वद्येवैनमन्नाद्येऽध्यूहति ॥ ३ ॥

पूर्ववाक्येनैव व्याख्यातप्रायमिदम् ॥ ३ ॥

द्वेष्ट्यस्य च प्रियस्य चोमयस्य प्रयोगमनादृत्यात्मन एव श्रेयःकाम-
यमान आह—

अथो तदुभयमनादृत्येदमहं मां तेजासि ब्रह्मवर्च-

सेऽध्यूहामीत्यध्यूहेत्तेजस्येव ब्रह्मवर्चस आत्मानम-
ध्यूहति ॥ ४ ॥

अथो तदुभयं द्वेष्यस्य प्रियस्य चाप्रियभूतं ध्रेयञ्चानादृत्येत्यर्थः ।
प्राप्तित्वप्राप्तमनो नाम निर्दिशेत् । तेजः शरीरकान्तिः । ब्रह्मवर्चसं श्रुता-
ध्ययनजन्यतेजः । इतरत् सुष्ठानम् ॥ ४ ॥

अथ द्वेष्यविषयं प्रयोगान्तरमाह—

यः कामयेत विशा राष्ट्रं हन्यामिति व्यूह्य प्रा-
व्णोऽघो द्रोणकलशं सादयित्वा पाशं शुसवनमुपरिष्ठा-
दभिनिदध्यादिदमहममुपा विशाऽदो राष्ट्रं हन्मीति
विशैव तद्राष्ट्रं हन्ति ॥ ५ ॥

यः । उद्गाता कामयेतेति किमिति ? परिजनेनामुं राजानं हन्याम इति ।
स प्राव्णो व्यूह्य पृथक् पृथक् स्थापयित्वा । अघः भूमाघेघ द्रोणकलशं
सादयित्वा उपांशुसवनम् उपांशुप्रहारं स्तूपते येन तं प्रावाणम् उप-
रिष्ठादभिनिदध्यात् । इदमिदानीमहममुपा विशा अमुभिः परिजनैः अ-
दो राष्ट्रममुं राजानं हन्मीति 'अमुपाद इत्युभयत्र परिजनानां राक्षस-
नाम गृह्णीयात्, शिष्टोऽयं कल्पः । अन्यस्मिन् अपि यजमाने तद्देशराष्ट्रो-
ऽप्रियस्य पापविकीर्षायां कार्य्य इति केचित् । यजमानस्यैव राक्षस-
पदे । तदेवं पञ्च कल्पा उपन्यस्ताः । तत्र प्रथमो नित्यप्रयोगार्थः । शिष्टा-
स्तत्तत्प्रतिपादितकामनायां इति मन्तव्यम् ॥ ५ ॥

वसवस्त्वेत्यादिभिर्मन्त्रैर्द्रोणकलशसम्माज्जनं वक्ष्यति, तत्रत्येषु ना-
यज्यादिच्छन्दःसु किञ्चित्तेदितव्यमित्याह—

यो वै दैवानि पवित्राणि श्वेद पूतो यज्ञियो भवति
च्छन्दांस्ति वै दैवानि पवित्राणि तैर्द्रोणकलशं पाष-
यन्ति ॥ ६ ॥

यानि दैवानि देवसम्बन्धानि पवित्राणि शोधकानि तानि छन्दां
स्वेध छलु । तैस्तज्जिह्वैर्मन्त्रैरित्यर्थः । द्रोणकलशं सोमरसधारणाय पा-
षयन्ति पावने कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ देवपवित्राण्यच्छन्दोभिर्युक्तायनसाधनमन्त्रानाह—

वसवस्त्वा गावत्रेण च्छन्दसा पुनन्तु रुद्रास्त्वा त्रै-
ष्टुभेन च्छन्दसा पुनन्तवादित्यास्त्वा जागतेन च्छन्दसा

पुनन्त्वेतानि वै दैवानि पवित्राणि पूतो यज्ञियो भव-
ति य एव वैवेद ॥ ७ ॥

सिद्धा मन्त्रार्थाः, सम्मृजन्त्विति मन्त्राम्नाने सिद्धे पुनन्तु इदानीं
वर्णनं सम्मृजन्त्वित्यस्य व्याख्यानार्थमिति मन्तव्यम् । अथवा मन्त्रपाठा-
देव तस्मिन् सिद्धे पुनन्त्विति वा प्रयोक्तव्यमिति वैकल्पिकत्वबोधनार्थम् ।
मन्त्रग्राहणयोरप्युभयोरपि प्रमाणत्वाविशेषात् । यथेन्द्रं गोमिह्वामह
इत्येव स्वाध्याये सिद्धे इन्द्रं गोमिह्वामह इत्यनुवर्णनं ह्वामह इति वा
प्रयोक्तव्यमित्येवमर्थमिति तद्वदिहापीति मन्तव्यम् । एवं जातीयकेषु वि-
कल्पो द्रष्टव्य इति निदाने निर्णीतत्वात् ॥ ७ ॥

अपूर्वमेव दशापवित्रस्य शुक्लत्वं विधातुमाख्यायिकामाह—

स्वर्मानुर्वा आसुर आदित्यन्तमसाविध्यत्तं देवा
न व्यजानंस्तेऽत्रिमुपाधायंस्तस्यात्रिर्भासेन तमो-
पाहन्यत् प्रथममपाहन् सा कृष्णाविरभवद्यद्वितीयं
सा रजता यत्तृतीयं सा लोहिनी यथा वर्णमभ्यतृणत्
सा शुक्लासीत् ॥ ८ ॥

पूर्वं स्वर्मानुर्नामकोऽसुर आदित्यं तमसान्धकारेणाविध्यदातत-
वान् । तं सर्वं देवा नाज्ञासिपुः । ते देवा अत्रिं महर्षिमुपाधावन्नादित्यस्या-
वरणान्धकारमपजहीति । तस्य तमोऽत्रिर्भासेनापाहन्नपजघान । तत् यत्त-
मोभागं प्रथममपाहन् सा कृष्णा कृष्णवर्णाऽऽविरभवत्, यद्वितीयं
सा रजतवर्णा आविरभवत्, यत्तृतीयं सा लोहिनी लोहिताऽऽविरभ-
वत् । यथा अन्त्योपादेयलिङ्गेन स्त्रीलिङ्गता येन प्रयोगेणेत्यर्थः । वर्णमत्र
रोहितम् अभ्यतृणत् प्रकाशं चकार । अत्र तुदिः प्रकाशनकर्मा । तस्मादु-
पपदिका यत्र क्व च स्थनति तदपामितुन्दन्तीत्यादिषु तथा दर्शनात् । सा
शुक्ला मेध्यासीत् ॥ ८ ॥

इदानीं तद्विधत्ते—

तस्मान्छुक्लं पवित्रं शुक्रः सोमः स शुक्रत्वाय ॥ ९ ॥

तस्मात्तिरोहितवर्णस्यैव शुक्लाविरूपेण परिणतत्वात् शुक्लं शुक्लावि-
रोममयं दशापवित्रं कर्त्तव्यम् । तथापि सोमोऽपि शुक्रः सोमः निर्मलः ।
अतः स शुक्रत्वाय शुक्लसोमानुगुण्याय भवति ॥ ९ ॥

एवं पवित्रस्य शुक्लत्वं विधाय तदेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढयति—

यं द्विष्यात्तस्यैतेषां वर्णानामपि पवित्रे कुर्यात्पा-

पमनैवैनं तमसा विवध्यति कृष्णमिव हि तमो योऽस्य प्रियः स्यादासक्तिशुक्लं कुर्याज्ज्योतिर्वै हिरण्यं उपोतिरेवास्मिन्दधाति ॥ १० ॥

यं यजमानमुद्गाता द्विष्यात्तस्य प्रयोगः । एतेषां शुक्लव्यतिरिक्तानामन्यतमवर्णमपि पवित्रे कुर्यात् । तथा सति कृष्णादित्रयस्यापि पापरूपत्वात् पाप्मनैवैनं यजमानं तमसा विवध्यति पापभूयिष्ठं करोतीत्यर्थः । कृष्णमिव हि कृष्णं तमः शुक्लव्यतिरिक्तवर्णमिव हि पापमिव हि वर्तते विरोधित्वसाम्यात् । यश्च यजमानोऽस्योद्गातुः प्रियः स्यात्तस्य प्रयोगे पवित्रमाशक्तिशुक्लं कृष्णवर्णान्तरस्य लेशतोऽपि संसर्गामावेन शुक्लवर्णं कुर्यात् । हिरण्यशब्देनात्र तत्रत्यं तेजो लक्ष्यते । पवित्रगतं यत्तेजः तत् ज्योतिर्वै साक्षात् ज्योतिरेव । तथा सति ज्योतिरेवास्मिन् यजमाने दधाति ॥ १० ॥

अथ पवित्रस्य शुक्लवर्णत्वप्रसङ्गेन किञ्चित् पूर्वनिदानं विधत्ते—

तस्मादात्रेयं चन्द्रेणेच्छन्त्यत्रिर्हि तस्य ज्योतिः ॥ ११ ॥

तस्मात्कारणादात्रेयम् अत्रिमोक्षोत्पन्नं ब्राह्मणं चन्द्रेण हिरण्येनेच्छन्ति संयोजयितुम् अनेन विधिरुश्रेयः । हिरण्यमात्रेयाय ददातीत्यन्यत्र विधानात् ॥ ११ ॥

तस्मादित्युक्तं विवृणोति—

अभ्यतृणत्पवित्रं विष्णुहन्ति हस्तकार्यमेव न यज्ञस्य क्रियत एतद्वा उद्गातृणां हस्तकार्यं यत्पवित्रस्य चित्रहणम् ॥ १२ ॥

अत्रिर्हि तस्यादित्यज्योतिरभ्यतृणत् प्रकाशितवान् । अथोद्गातृणां दशापवित्रं साधारणं विधत्ते । पवित्रं शुक्लवर्णं विष्णुहन्ति विस्तारयेयुः । तथा सति यदस्योद्गातुभिः यद्वस्तनं कृतं भवति तदेव कृतं भवति तदेव विवृणोति—एतद्वा उद्गातृणामिति । इतो अन्यस्याध्वर्यादिव देतेषां हस्तकार्यस्याभावादित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथोक्तार्थज्ञानस्य फलमाह—

न हस्तवेष्ट्यान्निर्गच्छति य एव वेद ॥ १३ ॥

हस्तवेष्ट्यान् हस्तेन व्यापारान् कर्मणो न निर्गच्छति सर्वदास्य यागदानाद्यनुष्ठानाय हस्तो व्यापारयतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

अथोक्तप्रसारणं व्यतिरेकेण द्रवयति—

योऽपि न विवृह्णाति प्राणादेनमन्तर्यन्ति ॥ १४ ॥

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

पवित्रप्रसारणे तत्सङ्कोचामाधाय किञ्चिद्वक्तव्यमित्याह—

तं द्रूपाद्वेपमानः प्रमेष्यसे इति वेपमान एव प्रमीयते ॥ १५ ॥

तम् उद्गातारं पवित्रं प्रसारयन्तं द्रूपात्किमिति ? उच्यते—वेपमानः कम्पमानः प्रमेष्यसे । नित्यमपि वेपमान एव प्रमीयते स इति । तथा स प्रियोऽत उक्तं पवित्रविग्रहणं सूत्रकार आह “अवधूय पवित्रमुदग्दशमवाङ्नामि वितनुयुः पवित्रन्त इति ऋचैक” इति ॥ १५ ॥

अथोद्गातुर्द्वारानुमन्त्रणं समन्त्रैकैकदेशोपादानं विधत्ते—

प्र शुक्रैतु देवी मनीषास्मद्रथः सुतष्टो न व्वाजीत्युद्गाता धारामनुमन्त्रयते ॥ १६ ॥

मन्त्रैकदेशः पूर्वं व्याख्यातः । इत्यनेन मन्त्रेण शोध्यमानसोमधारामनुमन्त्रयते ॥ १६ ॥

अथानुमन्त्रणमन्त्रशेषम् आयुष इत्यादिभागस्य पूर्वपठितस्य विकल्पपाठमाह—

आयुषे मे पवस्व वर्चसे मे पवस्व विवदुः पृथिव्यादिवो जनित्राच्छृण्वन्त्वापोऽधः क्षरन्तीः सोमेहोद्गायेत्याह मह्यं तेजसे ब्रह्मवर्चसायेति ॥ १७ ॥

आयुष इत्यादिक इहोद्गायेत्यन्तः पूर्ववदेवोक्तः । पश्चाद्वैकल्पिकं मन्त्रशेषमाह ‘मह्यं तेजसे ब्रह्मवर्चसाये’ति ॥ १७ ॥

अथ पवमानानुमन्त्रणप्रसङ्गात् पावनं स्तौति—

एष वै सोमस्योद्गीथो यत्पवते सोमोद्गीतमेव साम गायति ॥ १८ ॥

यत् सोमः शब्दायमानः पवते एवं सोमस्योद्गीथः । तथा सति सोमेनोद्गायेति श्रुवन् यजमानः सोमोद्गीतमेव साम गायति ॥ १८ ॥

अथ सोमशोधने नियममाह—

अच्छिन्नं पावयन्ति यज्ञश्चैव प्राणाँश्च सन्तन्वन्ति सन्ततं पावयन्ति यज्ञस्य सन्तत्यै ॥ १९ ॥

अच्छिन्नं धाराविच्छेदादित्येवं यथा तथा पावयन्ति । तद्यजमानस्य यज्ञस्य प्राणानाञ्च सन्तानाय सन्ततं प्रवन्धं पावयन्ति । यज्ञस्य सन्तत्यै प्रवन्धाय । सन्ततिः यज्ञस्य शरब्धस्याविच्छेदेन समाप्तिः । सम्प्रवन्ध उत्तरोत्तरं यज्ञस्य सिद्धिरिति विनियोगः ॥ १९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥ ६ ॥ ६ ॥

अथ सप्तमः खण्डः ।

अथ प्रवृत्तहोमस्य यौ “सूर्यो मा वेकुरे”त्यादिकौ मन्त्रौ तपोर्द्वितीय-
मन्त्रसाध्यहोमं विधातुमाख्यायिकामाह—

बृहस्पतिर्वै देवानामुदगायत्तं रक्षां स्पृजिष्यां
सन् स य एषां लोकानामधिपतयस्तान् भागधेयेनोपा-
धावत् ॥ १ ॥

बृहस्पतिर्मन्त्राभिमानो एतन्नामको देवः देवानां यज्ञे पूर्वमुदगा-
यत् औद्गात्रमकरोत् तं तथा कुर्वाणं रक्षांस्यजिघांसन् हन्तुमैच्छन्
स बृहस्पतिः एषां पृथिव्यादीनां लोकानां येऽधिपतयोऽभ्याप्यंस्तान्
भागधेयेन वक्ष्यमाणमन्त्रसाध्यहोमलक्षणेन भागधेयेनोपाधावत् अग्नी-
ण्यदित्यर्थः ॥ १ ॥

इदानीं समन्त्रकं होमं विधत्ते—

सूर्यो मा दिव्याभ्यो नाण्ड्राभ्यः पातु वायुरन्तरिक्षा-
भ्योऽग्निः पार्थिवाभ्यः स्वाहेति जुहोति ॥ २ ॥

मन्त्रस्तु पूर्वमेव व्याख्यातः । उक्तमन्त्रो भागत्रयेण कर्त्तव्यः ॥ २ ॥
अथ मन्त्रस्य तात्पर्यमाह—

एते वा एषां लोकानामधिपतयस्तान् भागधेयेनो-
पासरत् ॥ ३ ॥

य एषां भूरादीनां लोकानामधिपतयः त एते वै निर्दिष्टाः सूर्या-
दयः खलु । तथाहि तिस्र एव देवताः क्षित्यन्तरिक्षयुष्मानाः अग्निर्वायुः
सूर्य इति तान् भागधेयेन तदुचितभागप्रदानेन उपासरत् अनुसृतवान्
भवति । यतस्ते प्रीता रक्षःकृतोपद्रवं पर्याहरन् । अत इदानीमप्युद्गातुमि-
रेतत्कर्त्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

वेदितुः फलमाह—

करोति वाचा वीर्यज्ञ सदस्यामार्त्तिमाच्छति य
एवैवेद ॥ ४ ॥

वाचा वीर्यकरणश्राम वेदशास्त्रादिना स्वसामर्थ्यप्रकटनम् ॥ ४ ॥

अथ वेकुरेत्यनेनाप्युक्तं प्रवृत्तहोमं विधातुमाख्यायिकामाह—

वाग्वै देवेभ्योऽपाक्रामत्तां देवा अन्वमन्त्रयन्त सा
ऽब्रवीदभागास्मि भागधेयम्मेऽस्त्विति कस्ते भागधेयं

कुर्यादित्युद्गातार इत्यब्रवीदुद्गातारो वै वाचे भागधेयं कुर्वन्ति ॥ ५ ॥

पुरा वाग्देवता देवेभ्यः सकाशात् अपाक्रामत् मन्त्रात्मिका वाक् देवान् गुणैः प्रकाशयन्ती अपगताभूदित्यर्थः । तां वाचं देवा अन्वमन्त्रयन्त अनुमन्त्रमाह्वानमकुर्वन् । सा आहूता वागब्रवीत् किमिति ? अभागाऽस्मि यथा भवतां यज्ञे भागोऽस्ति तद्वत् मह्यन्नास्ति इति । तयोक्ता देवास्तर्हि ते कः भागधेयं कुर्यादित्यब्रुवन् । सा च पुनरुद्गातार इत्यब्रवीत् । तेषां तद्भागप्रदानयोग्यताच्यते । उद्गातारः खलु वाचे देव्यै भागधेयं कुर्वन्ति तेषामध्वर्यादिवद्भस्त्व्यापारलक्षणक्रियाया अभावाद्वागेकव्यापारत्वाच्चेत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

इदानीं समन्त्रकहोमं विधत्ते—

तस्यै जुहुयाद् वेकुरानामासि जुष्टा देवेभ्यो नमो वाचे नमो वाचस्पतये देवि ववाग्यत्ते वाचो मधुमत्तस्मिन् मा घाः सरस्वत्यै स्वाहेति ॥ ६ ॥

अयम्मन्त्रः पूर्वं व्याख्यातः । अनेन यो यः सर्पति स स जुहुयात् ॥६॥ मन्त्रगतयोर्वाक्सरस्वतीशब्दयोरैक्यार्थमाह—

वाग्वै सरस्वती तामेव तद्भागधेयेनारभते ॥ ७ ॥

आलम्ब्यते उद्गात्रादिकमित्यर्थः ॥ ७ ॥

अद्वेष्यस्य वाग्ध्यानात्मप्रयोगकथनव्याजेन अद्वेष्ययजमानप्रयोगेण वाग्ध्यानमात्रप्रयोगेण नालं किन्तु मन्त्रपाठः कर्त्तव्य इत्याह—

यं द्विष्यात्तस्यैतामाहुतिञ्जुहुयाद्वाचं मनसा ध्यायेद्वाचमेवास्य व्यृङ्क्ते ॥ ८ ॥

यं यजमानं द्विष्यादुद्गाता तस्य प्रयोगे एतामाहुतिं जुह्वद्भोमं कृवन् वाचमनसाध्यायेन्मन्त्रं ब्रूते । कुतः ? अद्वेष्यस्य प्रयोगे मन्त्र उच्चारयितव्य इत्यभिप्रायः । अत्र मन्त्रसमाप्नाये वेकुरानामासीति मन्त्रः प्रथमं समाप्नातः सूर्योमेति पश्चात् । अत्र क्रमाविपर्यासः किमर्थः ? मन्त्रेषु स्तुतिमात्रमेव विवाक्षितं न क्रम इति केचित् । अपरे तु स्तुतिमात्रविवक्षायामपि क्रमविलङ्घनस्यान्याय्यत्वादेवं वा क्रमः स्यादिति क्रमविकल्पार्थमिति ॥ ८ ॥

अथ बहिष्पवमानार्थं प्रसर्पणं विधत्ते—

बहिष्पवमानं सर्पन्ति स्वर्गमेव तल्लोकं सर्पन्ति ॥ ९ ॥

ये अध्वर्युप्रमुखाः वहिष्पवमानार्थं सदः सकाशाच्चात्थालं प्रति सर्पन्ति तत्तेन स्वर्गं लोकमेव प्रति सर्पन्ति । यजमानस्य एतत् कर्तृक-
प्रसर्पणमावे स्वर्गासिद्धेस्तस्य स्वर्गार्थमेवैते प्रसर्पन्ति ॥ ९ ॥

प्रसर्पणे किञ्चिन्नियमद्वयं विधत्ते—

प्रकाणा इव सर्पन्ति प्रतिकूलमिव हीतः स्वर्गो लोकः
त्सरन्त इव सर्पन्ति मृगधर्म्मा वै यज्ञो यज्ञस्य शान्त्या
अमन्त्रासाय ॥ १० ॥

वहिष्पवमानस्य स्वर्गत्वेनोपन्यासात्तदर्थं प्रसर्पणे प्रक्वाणैरिव कर्त्त-
व्यम् । यद्यपि स्वर्गं सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वादनुकूल एव तथापि मृगवृत्त्य-
नन्तरमावित्वाप्रतिकूलमिवोच्यते । किञ्च त्सरन्त इव 'त्सरच्छन्नगतौ'
यथा पादप्रसारणध्वनिर्घोषयने तथा मृदुपदन्यासैर्गन्तव्यम् । यथा मृग-
ग्राहिभिस्तद्वत् 'त्सरद्गमने' कारणमाह—यो यज्ञः स मृगधर्म्मो वै मृगस्य
यः पलायनधर्म्मः स तद्धर्मयुक्तः खलु । किमर्थमेवं कृतिरिति चतुच्यते—
यज्ञस्य शान्त्यै शमनाय स्थैर्याय । तदेवाह—अमन्त्रासाय । प्रसर्पणे हि प्रा-
प्तो भवति ॥ १० ॥

अथ तत्र घाङ्गिनयमं तदभावे दोषं कथयन् विधत्ते—

वाचं यच्छन्ति यज्ञमेव तद्यच्छन्ति यद्वाववदेयुर्ग्रजं
निर्घ्रूयुस्तस्मान्न व्यववद्यम् ॥ ११ ॥

तदेतत् प्रसर्पकाः वाचं यच्छन्ति नियमयन्ति तत्तेन यज्ञमेव यच्छ-
न्ति । यज्ञस्य मन्त्रादिलक्षणवाक्पूर्वकत्वाद्वागेव यज्ञः । यद्यपि व्यवहरे-
युर्विधिं दुष्टं वाचं घ्रूयुस्तर्हि यज्ञमेव निर्घ्रूयुः नितरां घ्रूयुः । अयमिति
प्रकाशयेयुरित्यर्थः । तस्मात्तैर्न व्यववद्यम् ॥ ११ ॥

अथाध्वर्युप्रभृतिब्रह्मान्तानां पञ्चर्त्विजां तत्र समारम्भणं विधत्ते—

पञ्चर्त्विजः संप्रव्याः सर्पन्ति पाङ्क्तो यज्ञो यावान्
यज्ञस्तमेव सन्तन्वन्ति ॥ १२ ॥

यजमानवर्जिताः पञ्चर्त्विजः । संप्रव्याः सम्यक् परस्परं सङ्गताः
सर्पन्ति । तत्र व्यपञ्चसंख्या स्तूपते—पाङ्क्तो यज्ञः । यज्ञस्य पाङ्कत्वं तैत्तिरीये
प्रश्नमुखेन स्पष्टीकृतम् । "नच्छां न यजुषा पङ्क्तिराप्यते यत्किञ्च यज्ञस्य
पाङ्कत्वमि"ति धाताः करम्मः परिधापः पुरोडाशः पयस्पाशेन पङ्क्तिरुच्यते
तेन यज्ञस्य पाङ्कत्वमिति । एतैरेव तु दधिष्पङ्क्त्यस्य पङ्क्तिनराशंसपङ्क्ति-
सवनपङ्क्तिनां प्रदर्शनेन यज्ञस्य पाङ्कत्वमुपरणिताम् ॥ १२ ॥

यो वै यज्ञहविष्पाङ्क्तिं वेदेत्यत्र समारभ्य प्रसर्पताममध्ये प्रस्तोतृवि-
च्छेदे प्रयोगमाह—

यदि प्रस्तोताऽवच्छिद्यते यज्ञस्य शिरश्छिद्यते ब्रह्म-
णे ववरन्दत्वा स एव पुनर्वर्त्तव्योऽदिच्छन्नमेव तत्प्रति
दधाति ॥ १३ ॥

यदि प्रस्तोता अध्वर्योरन्वारम्भादवच्छिद्यते तदा यज्ञस्य शिर एव
छिद्यते । तस्य शिरो हि तन्मुत्पस्य प्रथमभागस्य ग्राह्यत्वात् । तस्य प्राय-
श्चित्तार्थं ब्रह्मणे वरङ्गो दत्त्वा स एव ब्रह्मा पुनर्वर्त्तव्यो वरणीयः । तत्तेन
च्छिन्नमपि शिरः प्रति दधानि ॥ १३ ॥

अथोद्गात्रवच्छेदे प्रयोगमाह—

यद्युद्गातावच्छिद्यते यज्ञेन यजमानो वृध्यतेऽदक्षि-
णः स यज्ञक्रतुः सस्थाप्योऽथान्य आहृत्यस्तस्मिन्देयं
यावदास्यन् स्यात् ॥ १४ ॥

यदि उद्गातावच्छिद्यते प्रस्तोत्रन्वारम्भणात्तदा वृध्येन नष्टेन यज-
मानो वृध्यते गतसमृद्धो नष्टो भवति । तस्माद्यज्ञ एव क्रतुर्यज्ञक्रतुः सप्र-
वृत्तः अदक्षिणो दक्षिणाविहीनः समापनीयः । अथानन्तरं अन्यस्तत्सं-
स्थोयाग आहृत्यः पुनरनुष्ठेयः । तस्मिन् पुनः कृते यज्ञे देयं दातव्यं किं
द्रव्यमन्यदिति ? नेत्याह । यावज्जनं पूर्वस्मिन् यज्ञे दास्यन् स्यात् यजमा-
नस्तदेव धनं तस्मिन् यज्ञे तेन देयम् ॥ १४ ॥

अथ प्रतिहर्त्तावच्छेदमाह—

यदि प्रतिहर्त्ताऽवच्छिद्यते पशुभिर्यजमानो वृध्यते
पशवो वै प्रतिहर्त्ता सर्ववेदसन्देयं यदि सर्ववेदमत्र
ददाति सर्वज्यानिञ्जीयते ॥ १५ ॥

यदीत्यादि स्पष्टम् । प्रतिहारमानभागे पशुसमृद्धेस्तद्भाग्यता अपि
पशव इत्युच्यते । पशुनाशमावाप सर्ववेदसं देयं सर्वमपि धनं दातव्यम् ।
यदि सर्वं धनं न दद्यात् तदानीं यजमानः सर्वज्यानि जीयते सर्वपु-
त्रपशुधनादिरूपां हानिं हीयते । अपरो धात्वर्थोऽनुवादः । सर्वाभिः समृ-
द्धिभिर्विहीनो भवतीत्यर्थः । अत्रावच्छेदप्रकरणे एकैकावच्छेदे प्रतिनिय-
तप्रायश्चित्तानुष्ठानात्र कदाचित्प्रतिपत्तिः । उद्गात्रप्रतिहर्त्तः सहावच्छेदे
कथमित्याशंकापूर्वतन्त्रेऽधिकाराध्याये प्रायश्चित्तादे अत्रोक्त उद्गात्र-
प्रतिहर्त्तारवच्छेदवाक्यद्वयं विपर्ययकृत्य सहावच्छेदे कथमित्याहास्ति

प्रायश्चित्तं तच्च विकल्पितमिति विचारद्वयम् । तयोरेव क्रमावच्छेदे
उत्तरावच्छेदं प्रबल इत्येकं । सचोद्गातृमन्त्र-धी चत् सर्वस्वमव दातव्यं
'न द्वादशऽशतमिति' द्वितीय इति विचारद्वयकृतम् । तच्चत्वारो वि-
चारा क्रमणात्र निर्णयाय प्रदर्शयन्ते । तत्र प्रथमं दर्शयति 'उद्गातु प्र-
तिहन्तुश्च सदावच्छेदनऽस्ति न । प्रायाश्चित्तमुतास्त्यत्र ताश्नामत्तवि-
द्यातत । एकैकस्येव विच्छेदकर्तृत्वात् निहन्यते । कालमात्रं तु तत्रैकं
प्रायश्चित्तमतो भवेत्' व्यातिष्ठोमस्तु श्रूयते । तद्युद्गातावच्छिद्यत अद-
क्षिणा यज्ञं समाप्याऽध्याप्य आहृत्य तत्र तद्दद्याद्यदास्यन् स्यात् । यदि
प्रतिहर्त्ता विच्छिद्यत सर्वस्व दद्यादिति । अस्यायमर्थः प्रातः सवनेन बहि-
ष्यवप्रातन स्ताप्यमाना ऋषिजः शालाया बहिः प्रसपन्ति तदानीमेक-
स्य पृष्ठतोऽन्य इत्येष पिपीलिकाघत् पङ्कधाकारण गन्तव्यम् । तत्र पुरतो
गन्तुं कच्छं गृहीत्वैव पृष्ठताऽन्यो गच्छत् । एव सात याद प्रमादादुद्गाता
गृहीत कच्छं मुञ्चत्तदा दक्षिणामदत्त्वा प्रक्रान्तो यज्ञं समापनीय न स-
माप्य पुनरपि स यज्ञं प्रयोक्तव्यः । तास्मिन् प्रयोग यदीप्सितं द्रव्यं तद्-
द्यात् । यदा प्रतिहर्त्ता मुञ्चेत् तदा तस्मिन्नत्र प्रयोगे सत्र दद्यादिति ।
तत्र यद्युद्गातृप्रतिहर्त्तारौ युगपत् मुञ्चता तदानीमुक्तं प्रायश्चित्तनिमित्तं
विहन्येत । एकैककर्तृकाऽवच्छेदो निमित्तत्वेन श्रुतः । यय तूमयकर्तृ-
कत्वात्तैकेन व्यपदेष्टुं शक्यते । तस्माच्छ्रूयमाणस्य निमित्तस्य विहित-
त्वान्नास्ति प्रायश्चित्तमिति प्राप्ते भूमः, द्वाः ह्यत्रावच्छेदौ तयारककस्यैक-
एव कर्त्तैति निमित्तस्य नास्ति विधानं । कालमात्रेक्यात् एव यत्रा-
न्ति । तस्मान्नामत्तविद्यातामावादस्ति प्रायश्चित्तम् । द्वितीयं दर्शयति
'समुच्चयो विकल्पो वा प्रायाश्चित्तद्वयऽग्निमा' अदक्षिणं पूर्वमस्मिन् प्रयो-
गेऽन्यत्तु पाश्चिमम् । प्रयागे पश्चिमे नास्ति निमित्तं तेन नद्वयम् । प्रातमेक-
प्रयोगऽतो विरुद्धत्वाद्विकल्पिते' अदक्षिणात्र सर्वस्वदानं चानि यत्प्रा-
यश्चित्तद्वयमग्निमत्तभेदेन श्रुतं तन्निमित्तद्वयसन्निपाते समुच्चेन-यम् । य-
द्यदक्षिणावसर्वस्वदानयोरन्योन्यविरोधं तर्हि प्रयोगभेदेन व्यवस्थापनी-
यम् । अथच्छेदयुक्तं प्रथमप्रयोगे दक्षिणा न दातव्या उत्तरप्रयोगे सर्व-
स्व दातव्यम् । सत्यापि प्रयोगभेदे कर्मण एकत्वात् । समुच्चय इति
प्राप्ते भूमः, न ह्युत्तरप्रयागं दक्षिणा दातव्या विच्छेदो विद्यते न च । सति
निमित्ते प्रायश्चित्तं युक्तम् । तस्मात्प्रथमप्रयाग एव निमित्तद्वयवशा-
त्प्रायश्चित्तद्वयं प्राप्तं तन्मन्योन्ये विरुद्धाविरुद्धत्वाद्विकल्पिते ।
तृतीयं दर्शयति 'अथच्छेदक्रमे पूर्वं प्रबलं स्यादुतोत्तरं । असजातवि-

रोधेन पूर्वोत्तरसेधनम् । निरपेक्षोत्तरज्ञानं जायते पूर्वबाधया । न बाधकान्तरं तस्य नेन प्रथममुत्तरम् उद्गातृप्रतिहर्तृकयोरवच्छेदयोर्द्वौ-
गपद्ये समानबहुलत्वादस्तु प्रायश्चित्तयोर्विकल्पः । यदा तु क्रमेणाव-
च्छेदौ स्यातां तदानीमसंज्ञानविरोधित्वेन पूर्वस्य प्रथमत्वात् श्रुतिलि-
ङ्गादावित्तरस्य प्रवृत्तिर्गिरुध्यते इति चेत् ? मैवं, श्रुतिलिङ्गादावुत्तर-
स्य सापेक्षत्वात् । पूर्वण विरोधे सत्युत्तरस्योत्पत्तिरेव नास्ति । इदं तु ज्ञान-
द्वयमन्योन्यनिरपेक्षं बाध्यद्वयादुत्पद्यते इति नास्त्युत्पत्तिप्रबन्धे । उत्प-
द्यमानं चोत्तरज्ञानं स्वविरुद्धस्य पूर्वज्ञानस्य बाधेनैवोत्पद्यते । ननु निरपे-
क्षत्वस्य समानत्वात् पूर्वज्ञानमेवोत्तरस्य बाधकमस्त्विति चेत् ? न, प-
र्वज्ञानोत्पत्तिदशायामविद्यमानस्यात्तरज्ञानस्य बाध्यत्वायोगात् । उत्तर-
कालेतु स्वयं बाधितं पूर्वज्ञानं कथमुत्तरस्य बाधकं भवेत् । नचान्यत्कि-
ञ्चिदुत्तरस्य बाधकं पश्यामः । नस्मादुत्तरकालीनावच्छेदनिमित्तं प्रा-
यश्चित्तमनुष्ठेयम् । चतुर्थं दर्शयति 'उद्गातुः पश्चिमेच्छेदे पुनर्यागस्य द-
क्षिणा । शनं द्वादशयुक्तं स्याद्यदि वा सर्ववेदसम् । तद्वाद्यत्पुरादिष्ट-
मित्युक्ते शतदक्षिणा । प्रतिहर्तुः पुरा च्छेदात्सर्ववेदसबाधितम् । शत-
दानं पूर्वयागे सर्ववेदसदक्षिणा । प्राप्ते व्यूहा प्रयोगे तु दानव्य सर्व-
वेदसम् । यद्युद्गाता पश्चादवच्छिद्येन तदा तस्यावच्छेदस्य प्रथमत्वेन त-
न्निमित्तं प्रायश्चित्तमनुष्ठेयम् । तच्च प्रायश्चित्तमीदृशं, प्रथमप्रयोगं दक्षिणा
रहितमनुष्ठाय द्वितीयप्रयोगे पूर्वमिदं सुना दक्षिणा दानव्या इति । पूर्व-
गां द्वादशाधिकं शनं तत्प्रतिहर्तृवच्छेदनिमित्तसर्वस्वेन बाधितम् । नचो-
द्गात्रवच्छेदेन पश्चाद्गाविना सर्वस्वमिदं बाध्यते इति शङ्कनीयम् । बा-
धकस्य दक्षिणान्तरस्य तत्रानुक्तत्वात् । यादृत्सितं तदुत्तरप्रयोगे देयमि-
त्येतावदेव ततोऽत्रोच्यते । इत्थिनञ्च सर्वस्वमित्युक्तम् । अत उत्तरका-
लीनोद्गात्रेऽवच्छेदनिमित्तेऽपि पुनः प्रयोगे पूर्वकालीनप्रतिहर्तृवच्छे-
दप्रयुक्तं सर्वस्वमेव दातव्यम् ॥ १५ ॥

अथ बहिष्पवमाने प्रसर्पणसमयेऽध्वर्युः प्रस्तरप्रतिहरणं विधत्ते—

अध्वर्युः प्रस्तरं हरति ॥ १६ ॥

प्रस्तरो दर्भमुष्टिः ॥ १६ ॥

प्रस्तरं प्रशंसति—

यजमानो वै प्रस्तरो यजमानमेव तत् स्वर्गलोकं
हरति ॥ १७ ॥

प्रस्तरस्य हविरासनादिद्वारा यागसाधनत्वात् यजमानोऽपि सा-

क्षाद्यज्ञसाधनमिति साधनत्वसाम्यात् प्रस्तरौ यजमानत्वेन स्तूयते । त-
त्तथा सति बहिष्पवमानस्य मृगत्वेन पूर्वं प्रतिपादितत्वात् प्रस्तर प्रह-
रन् अध्वर्युर्यजमानमथ स्वर्गं लोकं प्रति हरति प्रापयति । इदमेव वा-
क्यं विपर्ययित्य प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपाद 'प्रस्तर इति कर्मनामधेयवा-
गुणो वा प्रस्तरस्य स्तुतिर्वेति' त्रेषां सशय्य स्तुतिरिति सिद्धान्तितम् ।
तथाहि 'यजमान प्रस्तराऽत्र गुणो वा नाम वा स्तुतिः । सामानाधि-
करण्येन स्यादेकस्यान्यनामता । गुणो वा यजमानस्तु कार्यप्रस्तरल-
क्षिते । अशाशित्वाद्यभावेन पूर्ववद्भावे सस्तुतिः । अथमेदादनामत्व-
गुणश्चाद्विक्रियेत स । यागसाधकताद्वारा विधयप्रस्तरस्तुतिः' । इदमा-
स्त्रायते यजमान प्रस्तर इति । तत्र यजमानस्य प्रस्तरशब्दा नामधेय प्र-
स्तरस्य वा यजमानशब्दो नामधेयम् कुत ? उद्दिष्टा यागेनेत्यादाविव
सामानाधिकरण्यादित्येक पक्षः, गुणविधिरेव इत्यपर पक्षः । तदापि
यजमानकार्यं जपादौ प्रस्तरस्याचेतनस्य सामर्थ्याभावात् प्रस्तरकार्यं
सम्यग्धारणादौ यजमानस्त्वशक्तत्वात् यजमानरूपा गुणा विधीयते । ए-
व सति पश्चाच्छ्रुतस्य प्रस्तरशब्दस्य कार्यलक्षकत्वेन प्रथमश्रुतौ यज-
मानशब्दो मुख्यवृत्तिर्भविष्यति । न चात्र पूर्वव्यायन स्तुतिः सम्भवति
अष्टाकपालद्वादशकपालयारिव प्रस्तरयजमानयोरशाशित्वाभावात् । 'वा-
गुर्वेक्षेपिष्ठा देवता ऊर्जोऽप्रुध्या' इत्यादिवत् स्तुतिरिति चत् ? न, शिप्र-
त्वादिधम्मवत् कस्यचिदुत्कर्षस्याप्रतीते तस्मान्नामगुणयोरन्यतरत्वप्रा-
प्तं ब्रूम । गामहिषयोरिवार्थभदस्यात्यन्तप्रसिद्धत्वान्नामत्वमत्र युक्तम् । गु-
णपक्षे त्वग्नौ प्रहरणस्य प्रस्तरविपर्ययत्वात् यजमाने प्रहर्ते सति कर्मलो-
प स्यात् । तस्माच्च प्रस्तरौ यजमानशब्देन स्तूयते । यथा सिंहो देवद-
त्त इत्यत्र सिंहगुणेन शौर्यादिनोपेतो देवदत्तः सिंहशब्देन स्तूयते । त-
था यजमानगुणन यागसाधकत्वेन युक्तः प्रस्तरौ यजमानशब्देन स्तूयते ।
एव यजमान एककपाल इत्यादिषु द्रष्टव्यम् ॥ १७ ॥

अथ प्रकारान्तरेण प्रस्तरं प्रशंसति ।

यज्ञो वै देवेभ्योऽश्वोभूत्वापाक्रमत्तं देवाः प्रस्तरेणा-
रमयँस्तस्मादश्वः प्रस्तरेण सम्मृज्यमान उपावरमते
यदध्वर्युः प्रस्तरं हरति यज्ञस्य शान्त्या अपत्रा-
साय ॥ १८ ॥

यज्ञं खलु पूर्वं देवस्य सकाशादश्वो भूत्वा अपाक्रामदपगतवान् ।
तदा देवाः अश्वस्य घासं प्रस्तर इति मत्वा तमश्वं प्रस्तरेण प्रदर्शिते-

नारमयन् । तस्मादिदानीमपि अश्वः प्रस्तरेण तृणमुष्टिना सम्मृज्यमान उप-
समीपिनारमते क्रीडति । तस्मादध्वर्युः प्रस्तरं हरति यज्ञस्य शान्त्या
अप्रत्रासाय अपलापनाय च भवति ॥ १८ ॥

अथ प्रकारान्तरेण स्तौति—

प्रजापतिः पशूनसृजत तेऽस्मात् सृष्टा अशनायन्तो-
ऽपाक्रमंस्तेभ्यः प्रस्तरमन्नं प्रायच्छत् एनमुपावर्त्तन्त त-
स्मादध्वर्युणा प्रस्तर ईपदिव विधूयो विधूतमिव हि तृ-
णं पशव उपावर्त्तन्ते ॥ १९ ॥

पूर्वं प्रजापतिना सृष्टाः पशव अशनायन्तो अशनामिच्छन्तः स्रष्टुः
सकाशात् अपाक्रमन् अपसृत्यागच्छन् । तेभ्यः प्रस्तरं दर्ममुष्टिमन्नत्वेन
प्रायच्छत् । ततो लब्धान्नास्ते प्रजापतिमुपावर्त्तन्ते । तस्मात् पशूनामन्नत्वा-
दध्वर्युणा प्रस्तर ईपदिव विधूयश्चालनीयः । तथा सनि विधूतमिव हि तृ-
णं ईपद्विधूततृणमपेक्ष्य पशवो यजमानं उपावर्त्तन्ते । यजमानस्य शान्त्यै
पशवः समृद्धा भवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

उपैनं पशव आवर्त्तन्ते य एवं वेद ॥ २० ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २० ॥

अथ प्रस्तरं भूमौ स्थापयित्वा गानं विधत्ते—

प्रस्तरमासद्योद्गायेद्द्विषोऽस्कन्दाय ॥ २१ ॥

उद्गाता प्रस्तरमपि हरन् आसद्य भूमावासजनं कृत्वोद्गायेत् । तथा
सति प्रस्तरस्य हविरासादनार्थत्वात्तदपरित्यज्यासजनं हविषोऽस्कन्दा-
याप्रच्युत्यै भवति ॥ २१ ॥

एवमुक्तप्रकारेण गुणसद्भावेऽपि दोषोऽप्यस्तीत्याह—

यजमानन्तु स्वर्गाल्लोकादवगृह्णाति ॥ २२ ॥

तुल्यार्थे वैलक्षण्यश्रोतव्यः । तु किन्तु 'यजमानो वै प्रस्तर' इत्युक्त-
त्वाद्यजमानमेव स्वर्गाल्लोकादवगृह्णाति निरुध्य भूमौ स्थापितवान्
भवति प्रस्तरं भूमावासज्जयन्नुद्गाता ॥ २२ ॥

तर्हि क उपाया इति चेत्तानाह—

अष्टौषतोपस्पृशतोद्गेयन्तेनास्य हविरस्कन्नं भवति
न यजमानः स्वर्गाल्लोकादवगृह्णाति ॥ २३ ॥

अष्टौवता जानुनोपस्पृशता तथासञ्जयता प्रस्तरमुद्वेगम् । आसञ्जना-
द्भगिणोऽस्कन्दः भूमेः उपरि स्थापनात् स्वर्गादनवग्रहश्च भवति ॥२३॥

अथ वहिष्पवमानस्य स्तोत्रस्य चात्वालसम्बन्धं सार्थवादमाह—

चात्वालमवेक्ष्य वहिष्पवमानं स्तुवन्त्यत्र वा
असावादित्य आसीत् देवा वहिष्पवमानेन स्वर्गं लोक
महरन्त्यचात्वालमवेक्ष्य वहिष्पवमानं स्तुवन्ति यज
मानमेव तत् स्वर्गं लोकं हरन्ति ॥ २४ ॥

उद्गाताश्चात्वालदेशमवेक्ष्य वहिष्पवमानं स्तुवन्ति तत्र स्थित्वा
स्तोतव्यमित्यर्थः । तत्किमर्थमित्याह पूर्वं अत्र चात्वालदेशे सद्यसौ
दिवि हृदयमान आदित्य आसीत् । तमादित्यं देवाः वहिष्पवमानेन
स्तोत्रेण स्वर्गं लोकमहरन् । तथा सति यच्चात्वालावेक्षणपूर्वकं वहि-
ष्पवमानस्तपनं तत् यजमानस्य स्वर्गलोकहरणाय भवति ॥ २४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथ अष्टमः खण्डः ।

अथास्मिन् खण्डे वहिष्पवमान एव स्तुयते नवभिः स्तोत्रीयाभिः
हिङ्कारे दशमीभिः स्तोतव्यमिति विधक्षुराह—

स तु यज्ञेन यजेतेत्याहुर्गस्य विवराजं यज्ञमुखे
दध्युरिति ॥ १ ॥

यस्य यजमानस्य यज्ञमुखे यज्ञस्य मुखस्थानीये वहिष्पवमाने वा-
ग्व्यापारे वहिष्पवमानस्य प्राथम्याद्यज्ञमुख्यायं तस्मिन्विराज दध्युः प्र-
क्षिपेयुर्नापेयुरित्यर्थः । स एव स तु यजमानो यज्ञेन यजेत यष्टवानित्या-
हुर्ब्रह्मादिनः ॥ १ ॥

इदानीं विराटपदर्शनद्वारेण तद्विषये—

नवभिः स्तुवन्ति हिङ्कारो दशमो दशाक्षरा विवरा-
ज विवराजमेवास्य यज्ञमुखे दधति ॥ २ ॥

नवभिः स्तोत्रीयाभिस्त्रिवृत्स्तोमगताभिः स्तुवन्ति स्तुयुरित्यर्थः ।
नासां हिङ्कारो दशमो भवति । तथा सति दशसङ्ख्यासम्पद्यते । विरा-
जपि दशाक्षरा तद्वारा अस्य यजमानस्य यज्ञमुखे वहिष्पवमाने विराज-
मेव दधति स्थापयन्नयुद्गातारः ॥ २ ॥

अथ स्तोत्रीयाणां दशसंख्यामेव प्रशंसति—

नवभिः स्तुवन्ति नव प्राणाः प्राणैरेवैनं समर्द्ध-
यन्ति हिङ्कारो दशमस्तस्मान्नाभिरनवतृण्णा दशमी
प्राणानाम् ॥ ३ ॥ .

नवभिः स्तुवन्ति स्तुयुः । नव प्राणाः सप्तशीर्षण्या द्वावर्धाञ्चरिति
तेषां नवसङ्ख्या । तथा सति कृत्स्नेः प्राणैरेवैनं समर्द्धयन्ति । यतो हि
ङ्कारो दशमो भवति । तस्मात्प्राणानां नवानां दशमी सती नाभिरनवतृ-
ण्णा भवति इतरप्राणवद्विच्छिद्रा भवति ॥ ३ ॥

अथ हिंकारं विमुञ्च्य स्तौति—

नवभिः स्तुवन्ति नवाध्यय्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णा-
ति तानेव तत्पावयन्ति तेषां प्राणानुत्सृजन्ति ॥ ४ ॥

यन्नवभिः स्तोत्रीयाभिः स्तुवन्ति अध्यय्युश्च प्रातःसवने नवग्र-
हान् गृह्णाति । तथा सति तत्तेन स्तवनेन तानेव ग्रहान् पावयन्ति शो-
ध्यन्ति । किञ्च तेषां ग्रहाणां प्राणानुत्सृजन्त्यूर्ध्वमुखान् कल्पयन्ति ।
ग्रहाणां नवसंख्यं पूर्वाचार्यैः संग्रहीता उपांशुरन्तर्यामश्च वायव्यश्चे-
न्द्रवायवः । नतश्च मैत्रावरुणाः शुक्रो मन्थी ततः परः । तत आश्रयणो
नाम ध्रुवो नवम इत्यन' इति ॥ ४ ॥

अथवा बहिष्पवमानं प्रजननसाधनत्वेन स्तौति—

प्रजापतिर्वै हिङ्कारस्त्रियो बहिष्पवमान्यो यद्विद्वृ-
त्त्य प्रस्तौति मिथुनमेवास्या यज्ञमुखे दधाति प्रजन-
नाय ॥ ५ ॥

हिङ्कारस्य प्राथम्यात् प्रजापतिरपि वृत्स्नस्यापि प्रथम इति हि-
ङ्कारस्य प्रजापतित्वम् । बहिष्पवमानसम्बन्धिन्यः स्तोत्रीयाः स्त्रियः स्त्री-
स्थानीयाः । तथा सति यद्विद्वृत्त्या स्तौति तेनास्य यजमानस्य यज्ञमुखे
मिथुनमेव दधाति । किमर्थं प्रजननाय यजमानस्यापत्याद्युत्पत्त्यर्थम् ॥ ५ ॥

अथ हिङ्कारपूर्वकं बहिष्पवमानं स्तौति—

एष वै स्तोमस्य योगो यद्विङ्कारो यद्विद्वृत्त्य प्रस्तौ-
ति युक्तेनैव स्तोमेन प्रस्तौति ॥ ६ ॥

हिङ्कारगानं यदस्ति एष स्तोमयोगः । तथा सति यद्विद्वृत्त्य हि-
ङ्कारमुच्चार्य स्तौति तदा युक्तेनैव स्तोमेन प्रस्तौति । ननु स्तोमयोगः
पूर्वमेवोक्तः किमर्थमत्र पुनर्विधीयत ? इति नैपक्षोपः । अत्र हिङ्कारस्तु-
त्यर्थत्वात् ॥ ६ ॥

पुनर्हिङ्कारं प्रशंसति—

एष वै साम्नांरसो यद्विङ्कारो यद्विङ्कृत्य प्रस्तौति
रसेनैवैता अभ्युद्य प्रस्तौति ॥ ७ ॥

रसः सारः साम्नामादौ प्रयुज्यमानत्वादस्य रसरूपत्वम् । यद्यदि हिङ्क-
ृत्य रसरूपं हिङ्कारमुच्चार्य स्तौति गायति । स्तोत्रीयाः रसेनैव एताः
स्तोत्रीयाः नृचा अभ्युद्याभिवन्दनं कृत्वा प्रस्तौति गायति ताः सरसाः
करोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

यद्विष्ण्वमानस्तोत्रीयाः सर्वाः समानदेवताः समानच्छन्दस्काश्च
भवन्ति तत् स्तौति—

आरण्येभ्यो वा एतत् पशुभ्यः स्तुवन्ति यद्विष्ण-
वमानमेकरूपाभिः स्तुवन्ति तस्मादेकरूपा आरण्याः
पशवः ॥ ८ ॥

यद्विष्ण्वमानं स्तोत्रमेकरूपाभिः स्तोत्रीयाभिः स्तुवन्तीति यत्
समानदेवताकत्वं समानच्छन्दस्काश्चैवेकरूप्यन्तासां श्रुतम् । पवमानः
सोमो देवता गायत्रीच्छन्दः एतदेतेनैकरूपस्तवनेन आरण्येभ्यः पशुभ्य
एकरूपेभ्यस्तेषां लामार्थं स्तुवन्ति । तस्मात् स्तोत्रीयाणामैकरूप्यादार-
ण्याः पशवः 'गोमायुर्गोमृगो गवय उष्ट्रः शरभो हस्ती मर्कट' इति सप्त-
संख्यकाः सर्वे एकरूपा एकवर्णा भवन्ति ॥ ८ ॥

अथ स्तोत्रीयाणामनावृत्तिं स्तौति—

पराचीभिः स्तुवन्ति तस्मात् पराञ्चः प्रजायन्ते
पराञ्चो वितिष्ठन्ते ॥ ९ ॥

पराचीभिरनावृत्ताभिः स्तुवन्ति 'तिसृभ्यो हिङ्करोति स पराचीभिः'
रिति हि पूर्वमुक्तम् । तस्मात्पराञ्चोऽधोमुखाः प्रजायन्ते सम्भवन्ति । अधो-
मुखाः पराञ्च एव हि मनुष्या जायन्ते । किञ्च पराञ्चो वितिष्ठन्ते स्वर्गादि-
प्राप्तौ । पराङ्मुखा एव इह लोकात्पतन्तीति निवृत्तमुखा एव प्रयतन्ते ॥ ९ ॥

यद्विष्ण्वमानस्यापवृत्त्यभावं प्रशंसति—

अपरिश्रिते स्तुवन्ति तस्मादपरिश्रुहीता आरण्याः
पशवः ॥ १० ॥

परिश्रयणन्तृणपर्णादिभिरपवरणं तद्वहिते अपरिश्रिते यद्विष्वदिदे-
शे स्तुवन्ति तस्मादारण्याः पशवः अपरिश्रुहीता भवन्ति ॥ १० ॥

अथ वहिष्पवमानमन्तःशंसनद्वारेण प्रशंसति—

वहिः स्तुवन्त्यन्तरनुशं॑सन्ति तस्माद्ग्राममाहूतै-
र्भुञ्जते ॥ ११ ॥

वहिवेदि स्तुवन्त्यन्तर्वेदि स्तुतमनुशंसन्ति होतारः । सामान्यवि-
वक्षया बहुवचनम् । यस्मादेवं तस्माद्ग्रामं प्रत्याहूतैर्यवव्रीह्यादिभिर्म-
नुष्या भुञ्जते ॥ ११ ॥

अथ प्रसङ्गादाज्यस्तोत्राणि विषयीकृत्याह—

ग्राम्येभ्यो वा एतत् पशुभ्यः स्तुवन्ति यदाज्यैर्ज्ञाना
रूपैः स्तुवन्ति तस्मान्नानारूपा ग्राम्याः पशवः ॥ १२ ॥

नानारूपैराज्यस्तोत्रैर्ज्ञानाद्वैद्यैः स्तोत्रैरित्यर्थः । तथाहि अग्रियं हो-
तुराज्यं मैत्रावरुणं मैत्रावरुणस्यैन्द्रं ब्राह्मणाच्छंसिन येन्द्राग्नमच्छावा-
कस्येति नानारूपाणि तस्मादाज्यानां वैरूप्याद् ग्राम्याः पशवो नानारू-
पाः । तथाहि 'पुरुषोऽश्वो गौरविरजोगर्दभोऽश्वतर' इति सप्तापि पशवः
प्रत्येकं नानारूपाः ॥ १२ ॥

अथ आज्यस्तोत्राणामावृत्तिं प्रशंसति—

पुनरभ्यावर्त्तं॑ स्तुवन्ति तस्मात्प्रेत्वर्घ्यः प्रेत्य पुन-
रायन्ति ॥ १३ ॥

पुनः पुनरभ्यावृत्याभ्यावृत्य स्तुवन्ति । अनेन पर्यायेष्टत्वमावृत्तिद्यो-
तकेन विज्ञातम् । शिष्टर्चाभ्यपराक्त्वं पर्यायेषु प्रत्येकं चावर्त्तनत्वमित्यु-
भयमप्युक्तं भवति । तस्मात्पराक्त्वात् प्रेत्यर्घ्यः प्रगमनशीला गावः प्रातः-
काले भवन्ति । तस्मादभ्यावृत्तेः सद्भावाच्च प्रेत्य ग्रामार्धं गत्वा पुनरा-
यन्ति सायंकाले । गोरपेक्षया प्रेत्यर्घ्यं इति स्त्रीलिङ्गता ॥ १३ ॥

अथाज्यस्तोत्राणां परिश्रितप्रदेशसम्बन्धं प्रशंसति—

परिश्रिते स्तुवन्ति तस्मात् परिगृहीता ग्राम्याः
पशवः ॥ १४ ॥

आज्यैः परिश्रिते सदसि स्तुवन्ति इतरत् सुज्ञानम् । अत्र सर्वत्र
तत्तत् स्तुत्या तत्तद्विधयोऽवगन्तव्याः ॥ १४ ॥

अथ वहिष्पवमान एवापक्रम्याह—

अमुष्मै वा एतल्लोकाय स्तुवन्ति यद्वहिष्पवमानं॑

सकृद्विष्णुताभिः पराचीभिः स्तुवन्ति सकृद्धीतो ऽसौ
पराङ्लोकः ॥ १५ ॥

यद्विष्णवमानेन स्तुवन्तीति यत् एतत् अमुष्मै स्वर्गायैव स्तुवन्ति ।
अत आदौ सकृद्विष्णुताभिः पराचीभिः स्तोत्रीयाभिः स्तुवन्ति । इतो
अस्माल्लोकादसौ स्वर्गो लोकः सकृद्वि नद्विर्हि गम्यते । पराङ् परा-
ङ्मुपः खलु दिङ्कारस्य सकृत्वं स्वर्गस्य सकृत्वे प्रयोजकम् । तथा
स्तोत्रीयाणां पराङ्त्वं स्वर्गस्यास्माल्लोकात्पराङ्मुपवे ॥ १५ ॥

अथाज्येपूक्तवैपरीत्यं दर्शयति—

अस्मै वा एतल्लोकाय स्तुवन्ति यदाज्यैः पुनर-
भ्यावर्त्तं स्तुवन्ति तस्मादगँल्लोकः पुनः पुनः प्रजा-
यते ॥ १६ ॥

यत् पुनरभ्यावर्त्तमाज्यैः स्तुवन्ति एतदस्मै भूतल्लोकाय स्तुवन्ति ।
तस्मादभ्यावृत्त्या स्तुतत्वादनं लोकः पुनः पुनः प्रजायते अस्मिन् लोके
प्राणिनः पुनः पुनर्जायन्ते । स्वर्गे यथा सकृदेव जायन्ते न तथात्रेत्यर्थः ।
अस्य कर्मभूमित्वादित्यभिप्रायः । अमुष्मा इति धास्ये स्तुतिप्रा-
धान्याद्विष्णवमानकर्मत्वेन निर्देशः । अथ तु स्तोत्रीयासमुदायस्य
स्तुतिसाधनत्वविषय्या आज्यैरिति करणत्वेन निर्देश इति विवेकः ॥ १६ ॥

यद्विष्णवमानस्य 'अच्छासमुद्रमिन्दव' इत्युत्तमायां 'अगन्तुतस्य
योतिमे'त्यत्र य आकारोऽस्ति तं स्तौति—

पराञ्चो वा एतेषां प्राणा भवन्तीत्याहुष्यं पराची-
भिर्विष्णवमानीभिः स्तुवत इत्यावतीमुत्तमां गाय-
त्प्राणानान्धृत्यै ॥ १७ ॥

यद्विष्णवमानीभिः स्तुवत इत्याहुरिति सम्यग्धः । स्तोत्रीयान्ते आ-
स्तुधारणेनावृत्तिः सूच्यते । अतः प्राणाः पुनर्धृता भवन्ति ॥ १७ ॥

यद्विष्णवमानस्योत्तमायां रथन्तरवर्णां गायेदिति सप्रयोजनमाह—

च्यवन्ते वा एतेऽस्माल्लोकादित्याहुष्यं पराचीभिर्वि-
हिष्णवमानीभिः स्तुवत इति रथन्तरवर्णांमुत्तमाङ्गा-
येदियं चै रथन्तरमस्यामेव प्रतितिष्ठति ॥ १८ ॥

ये पराचीभिर्विष्णवमानीभिः स्तोत्रीयाभिः स्तुवते ते अस्माल्लो-
कात् च्यवन्त एवेत्याहुः । कः परिहार इति ? उच्यते, उत्तमां यद्विष्णवमा-

नस्यान्तिमा स्तोत्रीया रथन्तरवर्णा रथन्तरोपेतवर्णा भकारा उद्गीथो पक्रमेण तद्वदिमा गायेत् । तथा च सूत्रम् 'रथन्तरवर्णाया चत्वार्यक्षरा-
ण्यभिष्टोभेद्भाभा इति शाण्डिल्यो भम इति धानञ्जनय इतीति' एवमपि
कथं प्रच्युत्यभाव इति चेत् ? तत्राह । रथन्तर साम तदिदं वै पृथि-ये
ध । तथा सति तत् वर्णकरणनास्याप्रय पृथिव्या प्रचितिष्ठति ॥ १८ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य अष्टम खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

अथ स्तोत्राणां प्रतिपद् विचार आरभ्यते, तत्र ग्रामकामस्य प्रति
पद् विधत्ते—

‘उपास्मै गायता नर’ इति ग्रामकामाय प्रतिपदं
कुर्यात् ॥ १ ॥

ग्रामार्थिन उपवर्ती प्रतिपद् कुर्यात् । प्रतिपदिति प्रथमतश्चमेव स
एव स्तोत्रीय इति चाच्यते । इयं प्रतिपद् यद्यपि नित्याग्निष्टामप्रकरणे
स्तोत्रीयासु सामाज्ञाता तथापि कामसम्बन्धात् तत्रैव ग्रामार्थापि
भवन्ति । ततो न पृथक्कामभेदेन प्रयोगापश्चास्ति । तथा पय साधनके
नित्याग्निहोत्रप्रयोगे पयसा पशुकामस्य जुहुयादिति पशुफलसाधनत्वं
तद्वादद्वापि । ननु प्रकरणादस्यानित्यत्वावगतिः । काम्यत्वं तु ‘ग्रामका-
माय प्रतिपदमिति’ प्रतिपदमिति वाक्येन । अतः प्रकरणस्य दुबलत्वात्
कथं नित्यं काम्यसिद्धिरिति ? सत्यम् । तथापि नित्यप्रयागार्थप्रति-
पदन्तराभावेन गत्यभावाद्वाक्यादपि प्रकरणमेव प्रबलमिति मन्तव्यम् ।
केचिदिदं तुच काम्यप्रयोग एवेत्याहुः । १ ॥

उक्तप्रतिपादं नर इत्यस्य सद्भावात् ग्रामकामायोचितेत्याह—

नरो वै देवानां ग्रामा ग्राममेवास्मा उपाकः ॥ २ ॥

नरो मनुष्या खलु देवानां ग्रामः । अत्र नर इति यजमाननर ऋत्विज
उच्यन्ते । ग्राम इति निवासाश्रयः । अतो देवानां यागनिष्पादनद्वारा नरा
ग्रामः । तथा सति नरशब्दापेता उपास्मा इत्येता प्रतिपद् युञ्जन् उद्गाता
अस्मै यजमानाय ग्राममेवोपाकः उपायनीयं कृतवान् भवति ॥ २ ॥

उपेति पदस्य परस्परया ग्रामार्थत्वादपि तत्कामस्येयमुचितेत्याह—

उप वा अन्नमन्नमेवास्मा उपाकः ॥ ३ ॥

अनु समीपे नियतमन्नस्यावस्थानात्समीपवाचिनोपशब्देन समी-
पस्यमन्नमुच्यते । तदपि व्रीह्यादिरूपमन्नं ग्रामः समीप एव केदारादौ

जायत इति वा पक्वमन्नं ग्रामावयवमूनेषु गृहेषु वर्त्तन इति वाग्निमिति ग्रामः। तथा च सति तद्युक्तप्रतिपत्प्रयोगेणास्मा अन्नमेव ग्राममेवोपाकः समीपे कृतवान् भवति ॥ ३ ॥

अथ प्रजाकामस्य प्रतिपदमाह—

‘उपोषु जातमप्सुर’मिति प्रजाकामाय प्रतिपदं कुर्यात् ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥

तत्र प्रजालिङ्गं दर्शयति—

उप वै प्रजा तां जातमित्येवाजीजनन् ॥ ५ ॥

लोके जनायिता उप समीपे प्रजानां प्रजां पुत्रादिरूपां जातमित्येव स्वत्वजीजनदुत्पादयति । तस्माज्जातशब्देपेता प्रजाकामस्याचिनेत्यर्थः । ‘उपाम्मै’ इति प्रतिपत्प्रत्ययकाम्योभयार्थमित्युक्तम् । उपोषु जातमप्सुरमित्यादीनां स्पष्टं तत्काम्यप्रयोगार्थत्वम् । यथा च कल्पकारः ‘उपोषु जातमिति प्रतिपत्तृचं प्रकृतिज्योतिष्टोमादन्यास्मिन् प्रजाकामप्रयोगे विदधाति प्रजाकामस्योपोषु जातमप्सुरमिति स्तोत्रीय’ इत्यादना ‘समानमितरज्योतिष्टोमेने’त्यन्तेन । एवमुत्तरासामपि काम्ये प्रतिपदं कल्पोऽवगन्तव्यः ॥ ५ ॥

अथ पश्वदिभेदप्रजाकामप्रयोगे प्रतिपदमाह—

‘सनः पवस्व शङ्खव’ इति प्रतिपदं कुर्यात् ॥ ६ ॥

स्पष्टम् ॥ ६ ॥

अत्र पशुभेदस्याधः पाद उचित इत्याह—

पाथं समां महादेवः पशून् हन्यात्स नः पवस्व शङ्खव’ इति चतुष्पदे भेदप्रजां करोति ॥ ७ ॥

यां समां यस्मिन् संवत्सरे सनः पवस्वेति पादे गवादिप्रजाय भेदप्रजां करोति तस्मिन् हि पादे सोमं सम्बोध्य गवेष पवस्वेति प्रादुर्मानत्यात् ॥ ७ ॥

अथ द्वितीयपादो द्विपदमेकशफानाञ्च भेदप्रयोगे युक्त इत्याह—

शङ्खनायेति द्विपदे शमवर्धन इत्येकशफाय ॥ ८ ॥

द्विपात् मनुष्यो जनः अर्धाश्च एकशफः ताम्बां भेदप्रजां करोतीति ॥ ८ ॥ तृतीयपादोऽपि पशुभेदप्रजायोचित इत्याह—

विधेयं वै ताथं समामोषधयोऽक्ता भवन्ति पाथं समाम्महादेवः पशून् हन्ति यच्छथं राजन्नोपधीभ्य इत्या-

हौषधीरेवास्मै स्वदद्यत्युभयोऽस्मै स्वदिताः पच्यन्ते-
ऽकृष्टपच्याश्च कृष्टपच्याश्च ॥ ९ ॥

यस्मिन् सवत्सरे महादेवः पशून् हन्ति तां समां तस्मिन् सवत्सरे
सर्वा ओषधयो विषेण युक्ता भवन्ति । 'यच्छं राजन्नोषधीभ्य' इत्याहोद्गा
ता तदस्मै यजमानाय ओषधीरेव स्वदयति स्वादुं करोति । उभय उभय-
विधाः अकृष्टपच्याश्च कृष्टपच्याश्च कर्पणादिरहिता नीवारादयः तद्युक्ता
ब्रीह्यादयश्चास्मै यजमानाय स्वदिताः स्वादुमवाः पच्यन्ते स्वयमेव प-
रिणता भवन्ति । तासां लक्षणात् पशवः सर्वे नीरुजा भवन्तीत्यर्थः । शं-
राजन्निति पाठे हे राजन् सोम ओषधीभ्यः शम्पवस्वेति प्रार्थनाप्रती-
तेरोषधीनां निर्विषत्वात् तद्भक्षकाणां पशूनामपि भेषजप्राप्तिरुचितैव ॥ ९ ॥

अथ श्रेष्ठयकामाय प्रयोगे प्रतिपदमाह—

पवस्व व्वाचो अग्रिय इति प्रतिपदं कुर्याद्यं कामये-
त समानानां श्रेष्ठः स्यादिति ॥ १० ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १० ॥

तस्यामग्रियशब्दसद्भावादेवा तस्योचितेत्याह—

पवस्व व्वाचो अग्रिय इत्यग्रमेवैनं परिणयति ॥ ११ ॥

यतः 'पवस्व व्वाचो अग्रिय' इति भागे अग्रिय इत्यस्ति, अतस्तत्प्रयो-
गेन एनं यजमानं अग्रं पुरोभागं परिणयति परिगमयति ॥ ११ ॥

अग्रपरिणयनं श्रियां कः सम्बन्ध इति तत्राह—

श्रीर्ध्वं व्वाचोऽग्रं श्रियमेवास्मिन्दधाति ॥ १२ ॥

वाचः अभिवदनस्य यदग्रं पुरोभागः स श्रीर्ध्वं श्रीरेव खलु । बह-
नाम्मध्ये यस्य वाक्प्रथमं प्रवृत्ता स शोभते । तथा सति एतत् पाठेना-
स्मिन्यजमाने श्रियमेव दधाति ॥ १२ ॥

बह्वर्थप्रयोगे प्रतिपदमाह—

एते असृग्रमिन्द्व इति बहुभ्यः प्रतिपदं कुर्यात् ॥ १३ ॥

बहवो दीक्षिता एकादादीनैर्यजन्ते तत्र 'एते असृग्र'मिति तृचं
प्रतिपदं कुर्यात् ॥ १३ ॥

अथ बह्वर्थप्रयोजनयोग्यतामाह—

एत इति सवर्तानेवैनानृद्धयै भूत्या अभिवदाति ॥ १४ ॥

एत इति बहुवचनान्तेन सवर्तानेवैनान् यजमानानामिवदाति ।
ऋद्धौ तस्य व्याख्याने भूत्या इति । ननु एन इतीन्द्र इत्यस्य विशेषणं

तद्य प्रकृतान् सोमरसान्धाकि । कथं यजमानानभिचदतीति ? उच्यते ।
ब्राह्मणेषु श्रुतिसामान्यमात्रेण सर्वत्र स्तुतिप्रवृत्तेः ॥ १४ ॥

अस्याः, प्रतिपदः प्रजापतेः सृष्टिसाधनत्वेन प्राशस्त्यमाह—

एत इति वै प्रजापतिर्देवानसृजतासृग्रामिति मनु
ष्यानिन्दव इति पितृस्तिरःपवित्र इति ग्रहानाशव इति
स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभि सौमगेत्यन्याः प्रजाः ॥ १५ ॥

एत इत्यनेन पदेन प्रथमेन बुद्धिस्थेन सृष्ट्यादौ प्रजापतिः पूर्वसृ-
ष्ट्यानुकूप्येण देवानसृजत । तथा असृग्रामिति पदेन मनुष्यान् इन्दव
इति पितृन् । एतेषां पदानां देवादिसृष्ट्यनुकूलत्वमुत्तरस्मिन् ब्राह्मणे
घक्ष्यामः । तिरःपवित्रमिति पदेन ग्रहानसृजत । तिरःपवित्रेण शोधितेन
रसेन ग्रहा गृह्यन्त अत एतव । १४ सृष्ट्यनुकूलमाशव इति पदेन स्तो-
त्रमसृजत । अशुचवते व्याप्नुवन्ति स्तुत्या देवांनिति स्तोत्राण्याशवः ।
तथा विश्वानीत्यनेन शस्त्रमसृजत । विशन्ति देवानां हृदयानीति विद्वा
नि शस्त्राणि । अभिसौमगेत्यन्याः प्रजा असृजत । सौमगानि धनानि
अभि उद्दिश्येति देवमनुष्यादीनां भोगभूता अन्या गोऽविलक्षणाः प्रजा
असृजत ॥ १५ ॥

अथैत इति पदस्य सृष्टौ सङ्गतिरित्याह—

यदेत इति तस्माद्यावन्त एवाग्रे देवास्तावन्त
इदानीम् ॥ १६ ॥

ननु एतच्छब्दः सर्वनामवाची सन्निहितपरामर्शकः । देवास्त्वसन्तः
विप्रकृष्टाः । अथ कथमेतच्छब्देन ते परामृश्यन्त इति ? नायं दोषः । न
केवलं पुरोवर्त्तिषस्तुसन्निधिरेव सन्निधिः किन्तु बुद्धिसन्निधिरेवातस्मा-
द्बुद्ध्या सन्निहितत्वादेत इति पदेन परामृष्टव्या एव । अतो यद्यस्मात्प्र-
जापतिना देवाः 'एत' इति पदेनालोचितास्तस्माद्यावन्त एवाग्रे सृष्ट्या-
दौ देवाः स्याद्विक्ताः सृष्टा इत्यर्थः । तावन्त एवेदानीमपि न पुनर्मनु-
ष्या एव तेभ्योऽन्ये सृज्यन्ते ॥ १६ ॥

तर्हि इदानीमपि सृष्ट्यमावे कथन्तेषां वर्त्तमानमाधिकाऽयोः सम्य-
ग्घ इति तत्राह—

सर्वान्यृद्धिमाध्वंस्वितेव ह्येषा व्याहृतिः ॥ १७ ॥

उ शब्दो वैलक्षण्यार्थः । उ किन्तु सर्वान् सर्वकालसम्यग्वि-
श्रद्धिमायुरादिलक्षणमाध्वंस्वित् समृद्धा अभवन् । अतः पूर्वसृष्टा नित्या

वर्त्तन्त इत्यर्थः । उकार्यस्योपपत्तिरुच्यते स्थितेव हीत्यादिना । हि यस्मा-
देषा देवसृष्टिसाधना व्याहृतिरेत इत्युक्तिः स्थितेव वर्त्तते । एत इत्य-
स्यार्थपरामर्शात् सर्वदा सन्निहिता एव हि प्रतीयन्ते ॥ १७ ॥

अयासृग्रमिति पदं मनुष्यसृष्टौ सङ्गतमित्याह—

यदसृग्रमिति तस्मान्मनुष्याः श्वः श्वः सृज्यन्ते ॥ १८ ॥

यद्यस्मादसृग्रमिति पदं सृष्ट्यभिधायकं तस्मान्मनुष्याः श्वः श्वः
परस्मिन्नहनीत्येवं सर्वदा सृज्यन्ते ॥ १८ ॥

इन्द्रव इति पदं पितृसृष्टौ सङ्गतमित्याह—

यादिन्द्रव इतिन्द्रव इव हि पितरः ॥ १९ ॥

इन्द्रव इति पदं स्मृत्वा पितरोऽसृज्यन्त तस्मादिन्द्रव इव हि—
सोमा इव खलु पितरो भवन्ति ॥ १९ ॥

कथं तेषां सोमसाम्यं तत्राह—

मन इव ॥ २० ॥

मनसा हि केवलं सृज्यन्ते न चक्षुर्विषया भवन्ति । अतो मन इवेत्यु-
च्यते । सोमनामाप्यन्नाविशेषरूपत्वाद्दन्नमयं हि सौम्यं मन इति श्रुतेर्म-
नःसम्बन्धः । यद्वा ब्रह्मात्मकस्य सोमस्याधिदैवसोमेन चन्द्रेणाभेदात्
तस्य च मनस उत्पन्नत्वान्मनःसम्बन्धः । तस्मादिन्द्रव इति पदं पितृ-
सृष्टौ सङ्गतमित्यर्थः ॥ २० ॥

उकार्यानुसन्धानपूर्वकञ्चित इत्यस्याः प्रतिपाकरणं समृद्धिसाध-
नामित्याह—

यान्ताः प्रजाः सृष्टा ऋद्धिमाधुर्वन्तामृध्नुवन्ति

येषामेवं विद्वानेतां प्रतिपदं करोति ॥ २१ ॥

ताः प्रजापतिना सृष्टा देवादिरूपाः प्रजा यां ऋद्धिं समृद्धिं आधु-
वन् प्राप्ताः तां समृद्धिं ऋध्नुवन्ति, के प्राप्नुवन्ति इतान् दर्शयति । येषां
यजमानानामेवं विद्वान् उक्तसृष्टिसाधनत्वं जानन् एते असृग्रमित्येतां
प्रतिपदं करोति ॥ २१ ॥

एवं कृत्स्नामृचं प्रशस्याद्ये पादमाख्यायिकामुखेन प्रशंसति—

छन्दाधुंसि वै सोममाहरन्तं गन्धर्वो विवश्वावसुः
पथ्यमुष्णात्तेनापः प्राविशत्तं देवता अन्यैश्छन्तं विष्णु-
रप्सु पथ्यपश्यत् स व्यकाङ्क्षदयन् ३ ना ३ इति तं पदा
प्रास्फुरत्तस्मात्पृथाग्निद्वयोऽसृज्यन्त स देवताभ्योऽभि-

तस्तिष्ठन्तीभ्य एते असुप्रमिन्दव इति प्रात्रवीद्वाहिष्पव-
मानेन वै यज्ञः सृज्यते यदेते असुप्रमिन्दव इति प्रस्तौ-
ति यज्ञमेव तत् सृष्टन्देवताभ्यः प्राह ॥ २१ ॥

पूर्वं गायत्र्यादीनि छन्दांसि शुलोकाः सोममाहरन् तदाह्विमाणं
सोमं गन्धर्वो विद्वावसुः पर्य्यमुष्णात् परिमुपितवान् । तेन परिमुपितेन
सोमेनापः प्राविशत् । तं प्रविष्ट देवताः सर्वा अन्वैच्छन् । अन्वैष्टु तं
विष्णुरप्सु पर्य्यपश्यत् परिदृष्टवान् । स विष्णुर्यकाङ्क्षत् विचिकित्सत् ।
कथमिति ? उच्यते अयन्नु ३ना ३ इति, न्विति वितर्कं अय सोमापदत्ता
मवेष्टोवेति । ततः स तमवगत्य तं पदा स्वेन प्रास्फुरत् प्रावधीत् । पीडि-
तात् गन्धर्वात् पृथक् प्रत्येकमिन्दवोऽसृज्यन्त उद्भूता अववन् । स
विष्णुः सृष्टान् सोमान् अभितस्तिष्ठन्तीभ्यो देवताभ्यः प्रात्रवीत् ।
किमिति ? 'एते असुप्रमिन्दव' इति एते सोमाः सृज्यन्त इति तस्यार्थः ।
ततः किमिति ? तत्राह । यज्ञोऽग्निष्टोमो यद्विष्पवमानेन वै खलु सृज्यते-
स्य प्रायस्याच्छातिरेकेण यज्ञाभावात् । तथा सति यदेते असुप्रमिति पदं
प्रस्तौति प्रस्तावभागत्वेन गायति तत्तेन यज्ञमेव सृष्टं देवताभ्यः प्राहो-
द्वाता । अतोऽवश्यमेव प्रतिपत् कर्त्तव्येत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

अस्य प्रतिपत्तृचस्यान्वयपादे यदिडापदं तत्प्रशंसति—

व्यूढं वा एतदपशव्यं यत्प्रातःसवनमनिडं हि
यदिडामस्मभ्यं संयतमित्याह प्रातःसवनमेव तदिडा-
पत्पशुमत्करोति ॥ २३ ॥

प्रातःसवनमिति यदस्ति एतत् व्यूढं वै असम्यूढं खलु । अपशव्यं
पशुभ्योऽहितं पशुविरोधि । तदपि कुतः ? अनिडं हि । इडा शब्दो निधना-
दिषु प्रातःसवने नास्ति । तथा सति यदिडामस्मभ्यः संयतमप्याहोद्वाता
तेन वचनेन प्रातःसवनमिडावत् एतमेव ततश्च तत् पशुमत्करोति ।
इडेति गो नाम 'इडे रते' इत्युपक्रम्य पठति, गोहामातीति श्रुत-
त्वात् ॥ २३ ॥

अथ समूहार्थप्रतिपदमाह—

दविष्टूनत्या रुचेति ब्राताप प्रतिपदं कुर्यात् ॥ २४ ॥

स्पष्टोऽर्थः । ननु एते असुप्रमिति बहुभ्यः प्रतिपदं कुर्यादिति
विहितेन वा अलं किमर्थं पुनर्विधानमिति ? नैपक्षोपः । बहुभ्य इत्यात्रा-
सखीनां यजमानानां प्रतिपद्विधानात् । अत्र तु ब्रातायेति सखीनामेव

यजमानानां प्रतिपद्धिधानात्, न, हि वातशब्दबहुशब्दैः समानार्थौ । बहुशब्दो यजमानबहुत्वमात्रमपेक्षते वातशब्दस्तु परस्परसन्निभूतयजमानसमुदायमतो न पुनरुक्तिः । तथा च कल्पकारः पूर्वस्मिन् प्रयोगे बहुनामसस्त्रीनां यजमानानाम् 'एने असृग्रम्' इति सस्मार, अत्र तु सस्त्रीनां यजमानानां 'दविद्युतत्या रुचे'ति स्तोत्रीय इति ॥ २४ ॥

उक्तप्रतिपदवातप्रयोगे सङ्गतेत्याह—

दविद्युतत्या रुचेति वै गायत्र्या रूपं परिष्टोभन्त्येति त्रिष्टुभः कृपेत्यनुष्टुभः सोमाः शुक्रा गवाशिर इति जगत्याः सर्वेषां वा एषा छन्दसां रूपं छन्दां सीव खलु वै वातोपदेया प्रतिपद्भवति स्वेनैवैनां स्तद्रूपेण समर्द्धयति ॥ २५ ॥

दविद्युतत्येति पादे दीप्तिवाचिपदद्वयं श्रूयते । दीप्तिश्च तेजश्च 'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं गायत्री' इति श्रुतेरयं पादो गायत्र्या रूपम् । परिष्टोभन्त्येत्यत्र स्तोमशब्दः श्रूयते त्रिष्टुभ्यपि स्तोमशब्दः अतो अयं भागस्तिष्टुमोरूपम् । 'कृपेति वाङ्नाम' 'वागनुष्टुप्' इति श्रुतेरेतत्पादमनुष्टुमोरूपम् । सोमाः शुक्रा इति पादे गोशब्दः श्रूयते जगत्यामपि गच्छतीति जगतीति व्युत्पत्तिरत उभयत्र गमिधातुसाम्यादयं पादो जगत्या रूपम् । एवमेवा प्रतिपत् सर्वेषां हि छन्दसां रूपम् । छन्दांसीव उक्तानि चत्वारि छन्दांस्येवं खलु 'वातशब्दः समुदायवाची' अत्रापि छन्दःसमुदायोऽस्ति । एवं सति यदेया प्रतिपद्भवति एतान् यजमानान् तेनैव स्वेन रूपेण समर्द्धयति । एषा प्रतिपत् स्वस्मिन् गायत्र्यादिछन्दोद्वारैर्हीन्यादिरूपैः समृद्धान् करोतीत्यर्थः ॥ २५ ॥

पुनरेषा समृद्धिसाधनत्वेन वातयोग्येत्याह—

वृद्धा वा एत इन्द्रियेण वीर्येण यदुवात इन्द्रियं वीर्यं छन्दांसीन्द्रियेणैवैनान्वीर्येण समर्द्धयति ॥ २६ ॥

यत् यो वातोऽस्मिन् एने वातावयवभूताः सस्त्रायो यजमाना इन्द्रियवीर्याभ्यां वृद्धा विहीना वै वातात्मकत्वादेव असमर्थाः खलु । लोके परस्परसङ्घातानपेक्षन्ते छन्दांसि तु इन्द्रियवीर्यं तत्समत्वादेवा सर्वछन्दोरूपा प्रतिपदेतान् यजमानान् इन्द्रियेण वीर्येण च समर्द्धयति ॥ २६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे पष्ठाध्यायस्य नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

अथ दीक्षितानां मध्ये यः कश्चिदीक्षितः प्रमीयते एतत्तेषां प्रयोगे प्रतिपदमाह ।

अग्न आयूँषि पवस इति प्रतिपदं कुर्याद्येषां दीक्षितानां प्रमीयते ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

अस्य तद्योग्यतामाह—

अपूता इव वा एते येषां दीक्षितानां प्रमीयते यद्येषाऽग्निपावमानी प्रतिपद्भवत्यग्निरेवैनाग्निष्टपति पवमानः पुनाति ॥ २ ॥

येषां दीक्षितानां मध्ये यः कश्चित्प्रमीयते स एते सर्वेऽप्यपूता इव वै अपूता एव खलु सहाधिकारात् । तथा सति यत् यद्येषाग्निपावमानी आग्निपावमानीदेवताका 'अग्न आयूँषी'त्येषा प्रतिपद्भवति तदग्निरिव एतान् यजमानाग्निष्टपति निःशेषेण सन्तापयत्युद्यापनार्थम् । तान्निष्टान् पवमानो देवः पुनाति शुद्धान् करोति ॥ २ ॥

तत्र आयुःशब्देऽपि तेषामुचित इत्याह—

यदायूँषीत्याह य एव जीवन्तिते प्वायुर्दधाति ॥ ३ ॥

यद्यस्मादायूँषीति प्रत्याहोद्गाता अतो य एव जीवन्ति यजमानास्तेऽपु सर्वेऽपि यजमानेष्वायुः शतसंवरसरलक्षणं दधाति ॥ ३ ॥

तत्पदपाठेन दीर्घरोगिणः प्रयोगे प्रतिपदमाह—

आनो मित्रावरुणेति ज्योगामयाविने प्रतिपदं कुर्यात् ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

अस्यास्तद्योग्यतामाह—

अपक्रान्तौ वा एतस्य प्राणापानौ यस्य ज्योगामयति प्राणापानौ मित्रावरुणौ प्राणापानावेवास्मिन्दधाति ॥ ५ ॥

यस्य यजमानस्य ज्योगामयति दीर्घरोगो भवति एतस्य प्राणापानापक्रान्तौ । प्राणापानयोर्हि साम्ये आरोग्यं भवति । तथा सति यदेवा मित्रावरुणौ प्रतिपद्भवति तेन प्राणापानावेवास्मिन् आमयाविनि

दधाति । मित्रावरुणयोः प्राणापानयोश्च कः सम्यग् इत्युच्यते 'मित्रमह-
र्षाखर्षी रात्रि' रिति श्रुत्यन्तरात्, मित्रावरुणयोर्होरात्ररूपत्वम् । अहरेव
प्राणो रात्रिरपान' इति श्रुत्यन्तरात्तयोः प्राणापानात्मकत्वम् । एवं परम्प-
रया मित्रावरुणौ प्राणापानौ अतस्तद्युक्ता प्रतिपत्तस्योचितेत्यर्थः ॥५॥

अनृताभिः शस्तस्य प्रतिपदमाह—

अपघ्नन्पवते मृधोपसोमो अरावण इत्यनृतमभिः श-
स्तमानाय प्रतिपदं कुर्यात् ॥ ६ ॥

स्पष्टम् ॥ ६ ॥

कथमेनेन स्तोत्रेण यजमानस्याभिः शंसनमपहतं भवतीत्यत्राह—

अरावाणो वा एते येऽनृतमभिः शंस्ते तानेवा-
स्मादपहन्ति ॥ ७ ॥

अनृताभिः शंसका एवारावाणो अरावनः अरावणः 'अपघ्नन्पवते
मृधोपसोम' इति श्रूयमाणप्रतिपत्तिं प्रयुज्जान उद्गाता अस्माद्यजमा-
नात् तानेवारातीनेवापहन्ति ॥ ७ ॥

तृतीयपादोऽपि तस्यानुगुण इत्याह—

गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतमिति पूतमेवैनं यज्ञियमिन्द्र-
स्य निष्कृतं गमयति ॥ ८ ॥

अस्मिन्पादे इन्द्रस्य निष्कृतं संस्कृतस्थानं गच्छन् 'अरावत' इति
श्रूयते । अतोऽभिः शंसनात् पूते यज्ञियं यज्ञार्हं एनं यजमानमेव निष्कृत-
मिन्द्रस्य स्थानं गमयत्युद्गाता ॥ ८ ॥

अथ क्षत्रियस्य प्रयोगे प्रतिपदमाह—

वृषा पवस्व धारयेति राजन्याय प्रतिपदं कुर्याद्वृ-
षा वै राजन्यो वृषाणमेवैनं करोति ॥ ९ ॥

राजन्याय अभिषिक्तक्षत्रियाय यजमानाय । अत्र वृषेति श्रूयते राज-
न्योऽपि अभिमतवर्षणाद्वृषैव । अत एतत्प्रयोगेनैनं वृषाणं करोति ॥९॥

अथ द्वितीयपादस्यानुकूलतामाह—

मरुत्वते च मत्सर इति मरुतो वै देवानां विशो
विशमेवास्मा अनु नियुनक्त्यनपक्रामुकाऽस्माद्विद्-
भवति ॥ १० ॥

अस्मिन् पादे मरुच्छब्दः श्रूयते मरुतश्च देवानां विशस्तथा सति

तत् पाठेन विशमेवास्यै यजमानायानुनियुक्तिः अनुक्रमेण नियोजय-
ति । तेनास्माद्यजमानादिद् जातिरनपक्रामुक्ता अनपक्रमणशीला-
भवति ॥ १० ॥

तृतीयपादस्यानुकूलतामाह—

विश्वेवा दधान ओजसेत्पोजसैवास्मै वीर्येण विशं
पुरस्तात्परिगृह्णात्यनपक्रामुक्तास्माद्विद्भवति ॥ ११ ॥

अत्रोजसेति पदं भवति तद्वीर्यमभिघत्ते । अतस्तत्पाठेनौजसैव वी-
र्येण विशमस्मै यजमानाय पुरस्तात्परिगृह्णाति गतमन्यत् । पूर्वमनप-
क्रमणमभिमुखप्राप्त्यर्थमत्र तु प्राप्ताया विशो परित्यागार्थमित्यनपक्रा-
मयोर्भेदः ॥ ११ ॥

अथ राष्ट्रकामयमानस्य प्रतिपदमाह—

पवस्वेन्दो वृषास्तु न इति प्रतिपदं कुर्याद्यः काम-
येत जने स ऋध्येतेति ॥ १२ ॥

जने जनपदे मे मह्यं ऋध्येत ऋदिः स्यादिति सुज्ञानमन्यत् ॥ १२ ॥

किमत्र लिङ्गन्तदाह—

कृधी नो यशसो जन इति जनतायामेवास्मा ऋ-
ध्यते ॥ १३ ॥

अत्र जने जनसमूहे नो यशसो यशः कृधीति श्रूयते । एतत् समृद्धिः
लिङ्गम् । तथा सति जनतायां जनसमूहे अस्मै यजमानाय ऋध्यते समृ-
द्धिर्भवति ॥ १३ ॥

द्वियजमानके प्रयोगे प्रतिपदमाह—

युवश्च हि स्थः स्वः पती इति द्वाभ्यां प्रतिपदं कु-
र्यात्समावद्भाजावेवैनौ यज्ञस्य करोत्युभौ यज्ञयशसे-
नार्पयति ॥ १४ ॥

अत्रेन्द्रः सोमश्चोभौ श्रूयेते । अत एतत्प्रतिपदकरणेन यज्ञस्य समा-
वद्भाजौ समानफलभागिनौ करोति यजमानाबुद्धाता । किञ्चोभौ यज्ञ-
यशसेन यज्ञोपि श्रूयते तेन यशसा स्वर्गलक्षणेनार्पयति । तत्र स्वर्ग-
तीति श्रुतत्वात् इत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

अथ वृष्टिकामाय प्रतिपदमाह—

प्रास्य घारा अक्षरन्निति वृष्टिकामाय प्रतिपदं कु-
र्यात् ॥ १५ ॥

स्पष्टम् ॥ १५ ॥

अत्र वृष्टिलिङ्गं दर्शयति—

प्रास्य धारा अक्षरमिति दिवो वृष्टिञ्च्यावयति वृ-
ष्णः सुतस्यौजस इत्यन्तरिक्षात् ॥ १६ ॥

प्रास्येति पादे धाराक्षरणलिङ्गात् सुलोकसकाशाद्वृष्टिञ्च्यावय-
त्युद्गाता । द्वितीयपादे वृष्ण इति धर्षणलिङ्गात् सुलोकादागतं वृष्टिमन्त-
रिक्षात् च्यावयति ॥ १६ ॥

तृतीयपादे स्थितिहेतुरित्याह—

देवाँ अनु प्रमूपत इत्यस्मिन् लोके प्रतिष्ठापयति ॥ १७ ॥

अत्र पादे 'देवाँ अनु प्रमूपत इति वा, प्रभवति इति वा, सोमस्य
कीर्त्तनमस्ति । तच्च देवानां पूजनं भूर्लोके एकोचितमिति अस्मिन्ल्लोके
प्रतिष्ठापयति ॥ १७ ॥

अथ पुनरोजस इति पदं वृष्टिलिङ्गमित्याह—

ओजसा वा एतद्वीर्येण प्रदीयते यदप्रत्तं भवति
यद्वृष्णः सुतस्यौजस इत्याहौजसैवास्मै व्वीर्येण दिवो
वृष्टिं प्रयच्छति ॥ १८ ॥

लोके यदप्रत्तं आदायाप्रदत्तं भवति धनं एतदोजसा वीर्येण खलु
प्रदीयते । ओजसेत्यस्य व्याख्यानं वीर्येणेति । तस्माच्च 'वृष्णः सुतस्यौ-
जस' इत्याहोद्गाता तेनौजसैव वीर्येण स्वप्रयोगे सामर्थ्यादस्मै यजमा-
नाय दिवो वृष्टिं प्रयच्छति ॥ १८ ॥

वैरिगोकामस्य प्रयोगे प्रतिपदमाह—

तया पवस्व धारया यया गाव इहागमञ्जन्यास
उप नो गृहमिति प्रतिपदं कुर्याद्यः कामयेतोप मा
जन्या गावो नमेयुर्विन्देत मे जन्या गा राष्ट्रमिति य-
देषा प्रतिपद्वत्पुनैरञ्जन्यागावो नमान्ति विवन्दतेऽस्य
जन्या गा राष्ट्रम् ॥ १९ ॥

उक्तं कृत्स्नमपि फलं कृत्स्नयैवर्द्धं प्रतीयत इत्यभिप्रायेण कृत्स्ना ऋक्
प्रतीकत्वेनोपात्ता । अत्र जनशब्दः शत्रुजनसंवादी । जन्यास्तत्सम्बन्धि
नो गावो मे नमेयुः प्राप्नुयुरिति । उपनम्रत गा मे राष्ट्रं विवन्देतेति च
यो यजमानः कामयेत तस्मै तथा पवस्वेत्येतत्प्रतिपदं कुर्यात् । अत्र हि

जन्या गाव इह नो गृहमागमन्निति श्रूयते । जन्यस्य कृतज्ञमपि राष्ट्रं गृहम् ।
अत उक्तफलसिद्धावेतल्लिङ्गम् । एवं सति यद्यज्ञस्य यजमानस्यैषा प्रति-
पन्नवति उपैतमित्यादिसिद्धप्रायमिति ॥ १९ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।

पुमर्थोऽक्षतुरो देयाद्विद्यातीर्थमद्देश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूषा-
लसाभ्राज्यधुरन्धरेण सायनाचार्येण चिरञ्चिते माधवीये सामवेदा-
र्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे षष्ठाध्यायस्य दशमः खण्डः ।

षष्ठाध्यायः समाप्तिमगमत् ।

सप्तमोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्मममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमद्देश्वरम् ॥

अग्निष्टोमविधिस्तोमस्तुतिप्रसाङ्गिकाः परे ।

उक्ताः प्रतिपदः काम्याः स्युर्वहस्पवमानगाः ॥

अथ यद्विष्पवमानादीनां सामानि स्तुतिप्रकारांश्च विधायन्ते, गा-
यत्र्यां प्रातःसवने स्तोत्राणीति स्थितं तस्य गायत्रिसाक्षः स्तुतिप्रकारं
संस्तुतिकमाह—

इमे वै लोका गायत्रं व्यावृद्धेयन्त्रयो हीमे लोका
यत्प्यावृद्धायत्येभिरेवैनं लोकैः सम्मिमीते ॥ १ ॥

यद्गायत्रं सामास्ति तदिमे लोका वै भूरादित्रयो लोकाः खलु ।
अतस्तथावृद्धेयम् । आवृद्धिति गानक्रियाविशेषणम् । आवृतो गीतिखण्डाः
तिष्ठन् आवृतो यस्मिन् तत्प्यावृद्धयथा भवति तथा गेयम् । तस्य आवृत्त-
प्रकारं पुनःकारमाह । 'यजमानायेन्दावा' २ 'इत्येकाऽवृत्' 'अभिदेवां इया' इत्य-
परा 'क्षात' इत्यपरा इति एतत्प्यावृत्त्यं प्रस्तावद्वयतिरिक्तमागाभिप्राय
म् । गायत्रस्य लोकसामापेक्ष्य त्प्यावृत्त्यं विहितं तेषां कथं त्रैविध्यमिति ?
तदुच्यते त्रयो हीम इत्यादिना । एवं सति यद्यादि व्यावृद्धायति गायत्र-
मेभिस्त्रिभिर्लोकैरेनं यजमानं सम्मिमीते समानं कृतवान् भवति ॥ १ ॥

यथोक्ते सामानि अवनर्दनं विधत्ते—

द्विरवनर्दं हि कुर्यात्तृतीयम् ॥ २ ॥

द्विरवनर्दनं कुर्यात् । हिङ्कुर्यादुत्तमाया आवृत पूर्व तेन तृतीयमेवा-
वनर्दं भवति । अवनर्दनस्वरूप सूत्रकारो बहुधा विकल्पितवान् । तद्यथा-
'पूर्वा वाचनर्दा इति धानञ्जय' इति । अस्यायमर्थः । आघर्गो इति खण्डौ
अवनर्दा अवनर्दनीयौ अवस्वरोदित्यर्थः । पूर्वखण्डयोरन्त्याक्षरमुच्चै-
कृत्वा नीचैरवस्थापयेदित्यर्थः । तथैव हि सावित्र्य सामगीयते । मध्यमा
यामावृति द्वौ स्तोमौ कुर्यात्ताववनर्दाविति गौतमः । अस्यायमर्थः ।
मध्यमे गीतिभागे तदन्यस्वरसदृशौ द्वौ स्तोमौ कुर्यात् तौ च द्विरव-
नर्दनीयाविति गौतम इति । तावेव गानेन दर्शयति 'अभिदेवा इया १२१२'
इति । अत्र द्वावाकारावनत्याक्षरसदृशौ प्रत्येकमवनर्दितावित्यर्थः । 'सर्वत्रौ
कारावित्येके स्तोमधर्मत्वादिति' । सर्वास्वपि ऋभु सावित्रीयोर्नि दृष्ट्वा
त्वोकारावेव मध्यमगीतिखण्डे स्तोमौ कुर्यात् । न पुनस्तदन्त्याक्षर-
सदृशावित्यर्थः । कुत ? स्तोमधर्मत्वात् । योऽभिदष्टे स्तोमोऽन्यत्र प्रव-
र्त्तत' इति स्तोमाना धर्मोऽयं तदेतन्निराकरोति । 'यथर्चमाचार्यास्तथ
कंसदृशदृष्टान्तात्स्तोमानैकान्त्याशेति' । अस्यायमर्थः । मध्यमे गीतिखण्डे
यादृशमन्त्यमार्चिकाक्षरं तत्सदृशौ स्तोमौ कार्यावित्याचार्या । कुतः ?
तत्रैव 'कंश' लिङ्गयोराधिकाक्षररूपयोरेव स्तोमयोर्नौ दर्शनात् । तथाहि
'धियो यो न प्रचोदया' दिति मध्यमे गीतिखण्डे षष्ठे स्वर ॐकारोऽन्त्य
तत्सदृशावोकारावेव तत्र स्तोमौ विवक्षितौ तत्रार्थादोकारत्व सङ्गातम् ।
अतः सर्वत्रान्त्याक्षरसदृशावेव स्तोमौ कुर्यादिति । किञ्च सावित्र्या
मोकारयोर्न स्तोमत्वैकान्त्यमस्ति । एकान्त्येन स्तोमाविति निश्चेतुं
शक्यावित्यर्थः । द्विरवनर्दं हि द्विरक्षरस्यैवावनर्दनविधानोपपत्तेर्न स्तो-
मत्वे किञ्चित् प्रमाणमस्तीति यावत् । तेन स्तोमधर्मत्वादित्यसिद्धौ
हेतुरित्यभिप्रायः ॥ २ ॥

अथोक्तवैलक्षण्येन हिंकाराभावेन मुर्यावनर्दनप्रकरणे दोषमाह—

यत्निरवनर्दयति तद्गायत्रं रेचयति ॥ ३ ॥

यत् यदि हिंकारेण विनैव त्रिरवनर्दं तेन गायत्रमतिरेचयति ।
द्वौ स्तोमौ कुर्यात्ताववनर्दाविति पक्षस्य नूनं ब्राह्मणमनुकूलं दृश्यत
इति बोद्धव्यम् ॥ ३ ॥

गायत्रसाम्नः प्रतिहारो नास्ति हिंकार एव तत् स्थानीय इत्याह—

यो वै गायत्रेणाप्रतिहृतेनोद्गायत्यप्रतिष्ठानो भवति

हिंकारो वै गायत्रस्य प्रतिहारः ॥ ४ ॥

यो वै गायत्रेण प्रतिहाररहितेनोद्गापति सोऽप्रतिष्ठानः प्रतिष्ठार-
हितो भवति ॥ ४ ॥

अतो हिंकारस्तत्स्थानो यो द्रष्टव्यस्तस्य मानसत्वमाह—

स मनसा ध्येयः प्रतिहृतेन गायत्रेणोद्गापति प्रति-
तिष्ठति ॥ ५ ॥

स हिंकारो मनसा ध्येय उच्चारणीयः प्रतिहर्त्ता शेषं स्पष्टम् । अत्र
सूत्रम् “उर्द्धं रेतस्याया द्यक्षरं शिष्टा हिङ्कारं प्रधाद् ‘द्युम् वा २’ इति च ए
रेतस्यायां प्रतिहर्त्ता मनसा ध्यायेन्न परास्त्विति गौतमः परास्वेवेति
धानञ्जयशाण्डिल्याविवर्त्तते” ऊर्द्धं रेतस्याया इत्यादेरयमर्थः । वहिष्प-
वमानस्य प्रथमा रेतस्या तदूर्द्धाभुत्तरास्वेव द्यक्षरं शिष्टा हिङ्कारं द्य-
मात् कुतः? पद्विंशब्राह्मणे रेतस्या हिङ्कारनिषेधादिति अनन्तरं ब्राह्मणं
‘यो वै गायत्रेणाप्रतिहृतेनोद्गापतीत्यादि स मनसा ध्येय’ इत्यन्तं हिङ्का-
रस्य मनसा ध्यानं विधत्ते । रेतस्यायामेव तं हिङ्कारं प्रतिहर्त्ता मनसा
ध्यायेत् न परास्तु इति ‘यो वै गायत्रेणाप्रतिहृतेनोद्गापतीति’ प्रतिहारम-
किलोपो मनसा ध्यानस्य निमित्तत्वेनावगम्यते । तद्भक्तिलोपश्च रेत-
स्यायामेव नाप्यगम्यते । तत्रैव तु ध्यानमिति गौतमो मन्यते । परास्वेवेत्या-
देरयमर्थः । परास्वेव मनसा ध्यानं न रेतस्यायां कुतः? न प्रतिहारलोपो
निमित्तं किं तु प्रतिहर्त्तुः प्रतिहारवचने प्राप्ते तं विहायोद्गातुः प्रतिहार-
वचनं निमित्तम् । तथाहि यो वै उद्गाता गायत्रेण प्रतिहर्त्ता अप्रतिहृतेन
स्वयमेव प्रतिहारं कृत्वा गापति सोऽप्रतिष्ठः स्यादिति ब्राह्मणार्थः ।
ततश्चोद्गातुः प्रतिहारवचनमुत्तरास्वेवेति तत्रैव ध्यानमिति धानञ्जय-
शाण्डिलौ मन्येते इति ॥ ५ ॥

अथ प्रातःसवनस्य मन्द्रस्वरत्वाद्दहिष्पवमानस्य कृत्स्नस्यापि त-
त्प्राप्तौ प्रथममध्यमोत्तमा ऋचः प्रथममध्यमोत्तमस्वराः क्रमेण कर्त्तव्या
इति विधित्सुराह—

यो वा एभ्यो लोकेभ्यो गायत्रं गापति नैभ्यो लोके-
भ्य आवृश्च्यत इम एनं लोका ऊर्जाऽभिसंभवते ॥ ६ ॥

गायत्रस्य लोकप्रयात्मकत्वमुक्तम् । यः सखुद्गाता एभ्यः त्रिभ्यो लोके-
भ्य उपादाय गायत्रं गापति स एव इतो लोकेभ्यो नावृश्च्यते न विच्छि-
यते । किं तु इमे लोका एतन्मूर्जाऽक्षेनाभिसंभवते समाच्छादयन्ति ॥ ६ ॥

कथमेभ्यो लोकेभ्यो गायत्रं गातं भवति तथा दर्शयति—

मन्द्रमिवाग्र आददीताथ तारतरमथ तारतमन्तदे-
भ्यो लोकेभ्यो ऽगासीत् ॥ ७ ॥

संग्रहेण तावच्चतुर्विधः स्वरः । उपांशु मन्द्रो मध्यम उत्तम इति ।
समीपगैः श्रोतुमयोग्या उपांशुमन्द्रादयस्त्रयोऽपि तद्योग्यास्तेऽप्युत्त-
रोत्तरमुच्चभूता भवन्ति । तेष्वग्रे प्रथमम्मन्द्रमिध ईपदुच्चैरिवाददीतो-
पक्रमेण । अथ मध्यभागे तारतरं श्रूयात् । पूर्वस्मादप्यधिकमुच्चैर्द्रूयात् ।
अथ तारतमन्ततोऽप्यन्यभागेऽत्यन्तमुच्चैर्द्रूयात् । तत्तेनैभ्यो लोके-
भ्योऽगासीद्वायति । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः इति वर्त्तमाने लट् ॥ ७ ॥

अथ गायत्रसाम्नो निरुक्तगाने दोषं सङ्कीर्त्याऽनिरुक्तगानं विधत्ते—

अनिरुक्तङ्गेयमेतद्वै गायत्रस्य क्रूरं यन्निरुक्तं यद-
निरुक्तं गायति क्रूरमेवास्य परिवृणक्ति ॥ ८ ॥

अनिरुक्तमव्याकृताक्षरङ्गेयम् । निरुक्तं गानं यदस्त्येतदेव खलु गाय-
त्रस्य क्रूरं गानम् । तस्माद्यद्यनिरुक्तं गायत्यस्य गायत्रस्य क्रूरमेव
परिवृणक्ति परिवर्जयति ॥ ८ ॥

अथास्य मध्ये अनवानव्यतिरेकेण दोषसङ्कीर्त्तनं विधत्ते—

प्राणो गायत्रन्न व्यवान्यात्प्राणस्याविच्छेदाय यदि
व्यवानिति प्रमायुको भवति यदि न व्यवानिति सर्व-
मायुरेति ॥ ९ ॥

गायत्रे सामानि नवस्तोत्रायाः । प्राणाश्च सप्तशीर्षण्या । द्वावर्धाञ्चौ ।
तत्र न व्यवान्याद्वायत्रमध्ये निश्वासन्न कुर्यात् । द्वावेतान्न कुर्यात् ।
सुव्यक्तमन्यत् ॥ ९ ॥

अथ निःश्वासेन विना गानसमापनाशक्तस्याह—

यदि व्यवान्यान्मध्य ऋचो व्यवान्यात्प्राणो वै गाय-
त्रं प्राणः स्वरः प्राणमेव तन्मध्यत आत्मन्दधाति स
सर्वमायुरेति ॥ १० ॥

यद्यनवानं गातुमशक्तः सन् व्यवान्यात्तर्हि ऋङ्मध्ये व्यवान्यात् ।
तत्र मध्ये व्यवानं श्रूयते । गायत्रं प्राणः स्वरोऽपि तन्निष्पाद्यत्वात् प्राण-
पथ । स्वरम्मध्ये कुर्वन्नुद्गाता प्राणमेव यजमानस्यात्मनि दधाति स्था-
पयति । स सर्वमायुरेति ॥ १० ॥

अथ कामभेदे निधनान्याह—

इडां पशुकामाय निधनं कुर्यात्स्वः स्वर्गकामाय यशो
ब्रह्मवर्चसकामायायुरामयाविने हृष्टं सीत्यभिचरते ॥११॥

उत्तमश्वाकारो गायत्रस्य निधनन्तस्य स्थाने यत् कामयते तस्य
प्रयोगे तदानुगुण्येन तत्तन्निधनं कुर्यात् । सर्वत्र चतुर्थीश्रुतेः । यज्ञमा-
नफलान्येतानि निध्ने क्रियमाणानि तत्तत् फलं क्रतुफलव्यतिरेकेण
साधयन्तीति केचित् । पशुकामादियज्ञेष्वपीत्यपरे ॥ ११ ॥

अथैतानि स्तौति—

एते वै गायत्रस्य दोहाः ॥ १ ॥

दुह्यन्त एमिरिति दोहाः । एतदपेक्षया निधनानि । एत इति पुलि-
ङ्गत्वेन निर्दिष्टाः ॥ १२ ॥

वेदितुरप्येतत् फलं भवतीत्याह—

ब्रह्मवर्चसी पशुमान् भवति य एव वेद ॥ १३ ॥

उक्तफलद्वयमितरेषामप्युपलक्षणम् । अत्र श्रुतानि सर्वान्यव्या-
प्नोति ॥१३॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

तदेवमुक्तो पहिष्पेवमानः, अथाज्यस्तोत्राणां देवता विषयु-
त्पादिकामाह—

प्रजापतिर्देवेभ्य आत्मानं यज्ञं कृत्वा प्रायच्छसेज्यो-
न्यस्मा अग्राय नातिष्ठन्त तानब्रवीदाजिमस्मिन्नितेति
त आजिमायन्पदाजिमायधंस्तदाज्यपानामाज्यत्वम् ॥१॥

पूर्वं प्रजापतिर्देवेभ्य इन्द्रादिभ्यो भोगार्थमात्मानं यज्ञमग्निष्टोमं
कृत्वा प्रायच्छत् । ते देवा अन्योन्यस्मादग्राय प्रथमभोगाय नातिष्ठन्त
न समजानन् । तदग्रा प्रजापतिस्तान् देवानेवमब्रवीत् । अस्मिन्नग्राय
पतान् कुर्वन्धितेति । आजि मर्यादामितो गच्छनेति । तदेवाजिमायन्
अगमयन् । यद्यस्मादाजिमायन् तत्तस्मादाज्यानामाज्यत्वम् । आजिमाने-
वाज्यस्तोत्रमरचयदित्यर्थः ॥ १ ॥

इदानीमाज्यस्तोत्राणां देवताकल्पनमाह—

स इन्द्रोऽवेदग्निर्वी हृदमग्र उज्ज्वयतीति सोऽग्निरग्र उदज-
यदथ मित्रावरुणावधेन्द्रोऽथैषैका होत्रानुजितासीत्स इ-
न्द्रोऽग्निमग्रवीच्यत्सहावां चावही यन्नौ तदिति सैषेन्द्रा-
ग्न्यध्यर्द्धमग्ने स्तोत्रमध्यर्द्धमिन्द्रस्य ॥ २ ॥

स इन्द्र अवेत् अजानत् । अग्नेरेवेद धावनमग्र इतरेभ्यः पूर्वमुज्ज-
यतीत्येवं विदित्वा स इन्द्रोऽग्निमग्रवीत् । नावावयोर्मध्ये यतरोऽपी-
दमग्र उज्जयात् पूर्वमुत्कृष्टं जयेत्तत्फलं नावावयोः सह भवत्विति ।
अग्निरपि तथास्त्वित्यङ्गीकृतवानिति शेषः । अथ सोऽग्निरग्र इत-
रेभ्यः पूर्वमाजिमुदजयत् । अथ पश्चाग्निमित्रावरुणावधेन्द्र उज्जयत्कमे-
णैव तेषामाज्यानि भवन्तीत्यभिप्रायः । 'अग्न आयाहि वीतय' इत्याग्नेयं
होतुराज्यम् । 'आनो मित्रावरुणेति' मैत्रावरुणाग्निमित्रावरुणस्य । 'आयाहि
सुपुमाहित' इत्यैन्द्रं ब्राह्मणाच्छंसिनः । एवं चतुर्णामाज्यानां मध्ये त्रीण्युज्जि-
तानि । अथैषाच्छावाकस्यैका होत्रा केनचिदनुजिताऽऽसीत् । मुख्यव्य-
तिरिक्तानामृत्विजामात्विज्यं होत्रेति व्यपदिश्यते । अनुजितविषये स
इन्द्रोऽग्निमग्रवीत् । यद्यस्मात् सह फलं समानमित्यवोचावहि—उक्तव-
न्तावावां तत्तस्मादियं होत्रा नावावयोः स्यादित्यथैवास्त्विति सो-
ऽप्यङ्गीकृतवानिति शेषः । सैषोभयार्था होत्रैन्द्राग्नीन्द्राग्निदेवताका
'इन्द्राग्नी आगतं सुतम्' इत्यच्छावाकस्याज्यम् । तथा सत्यध्यर्द्धमर्द्धाधि-
कमग्नेः स्तोत्रं भवति । एतत्कृत्स्नाभिप्रायम् । प्रथममेकं चतुर्थचर्चमि-
त्यग्नेरध्यर्द्धस्तोत्रम् । तथा इन्द्रस्याप्यध्यर्द्धं ब्रह्मसामैकं चतुर्थं द्वितीय-
मर्द्धमित्यर्द्धम् ॥ २ ॥

उक्तविभागं संगृह्यानुवदति—

चत्वारि सन्ति पङ्कदेवत्यानि ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तानि चत्वारि वाक्यानि पङ्कदेवत्यानि भवन्ति । अग्निर्मित्रा-
वरुणाविन्द्र इति चतस्रो देवताः पुनश्च द्वाविन्द्राग्नी इति पङ्कदेवत्य-
त्वम् । तदिदं स्तौति ॥ ३ ॥

आज्यानां पङ्कदेवतात्वं प्रशंसति—

पङ्कधा विहितो यज्ञो यावान्यज्ञस्तमेवारभते ॥४॥

उक्थ्यपोडशिनोरन्यतमान्तर्भावे पद्मप्रकारो विहितः खलु । अतस्त-

देवत्याज्यस्य प्रातःसवनप्रयोगेण यज्ञो ज्योतिष्टोमो यत् परिमाणो-
ऽस्ति तमेव तं सर्वमपि यज्ञमारभत आच्छेदवान् भवति ॥ ४ ॥

उक्तदेवतानानात्वमाज्यस्य जामित्वसाधनेन स्तौति—

सर्वानि स्वाराण्याज्यानि तज्जामि नानादेवतैः
स्तुवन्त्यजामितायै ॥ ५ ॥

सर्वान्यप्याज्यानि गायत्र्यात् स्वाराणि स्वरैरेव वक्तुं प्राप्तानि ।
अतस्तज्जामि । अतिरेकोऽयं 'जाम्यतिरेकनाम' इति निरुक्तम् । यद्वा त-
न्नीकरणम् । अतो नानादेवतैस्तुचैः स्तुवन्त्युक्तदोषाभावाय ॥ ५ ॥

अथाज्यानामभ्यावृत्तगानं स्तौति—

ग्राम्येभ्यो वा एतत्पशुभ्यः स्तुवन्ति यदाज्यैः पुन-
रभ्यावर्त्तं स्तुवन्ति तस्मात्पराञ्चः प्राज्यन्ते प्रत्यञ्चः
प्रजायन्ते तस्माद् पुनरायन्ति ॥ ६ ॥

यदाज्यैः स्तुवन्त्येतदेतेन सवनेन ग्राम्येभ्य एव पशुभ्यस्तत्ता-
भार्यमेव स्तुवन्ति । तस्मात्पराकस्य प्रत्यकस्य च विद्यमानत्वात्पराञ्चः
प्राज्यन्ते प्रसिच्यन्ते प्रत्यञ्चः प्रतिमुखाः प्रजायन्ते । तस्मादेवाभ्यावर्त्त-
स्तधनादेव पशवः प्रातः सञ्चरन्ति प्रेत्य सायं पुनरायन्ति ॥ ६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ तृतीयः खण्डः ।

प्रातःसवनमुक्ता माध्यन्दिनं सवनं विवर्तुर्माध्यन्दिनपवमानं
स्तौति—

एतावता घाव माध्यन्दिनं सवनं पुषुवे ॥ १ ॥

एतावता वक्ष्यमाणातामाज्यातां परिमाणेन पदार्थैरेव कृत्स्नमपि
माध्यन्दिनं पवमानं पुषुवे पूषते । एतावतेत्यनेन पावकद्रव्यपरिमाण-
न्तद्योग्यं द्रव्यञ्च सामान्येन निर्दिष्टं भवति ॥ १ ॥

एतावतेत्युक्तमेव विशदयति—

त्रिभिश्च च्छन्दोभिः पञ्चभिश्च सामभिः ॥ २ ॥

त्रिभिर्गायत्रीष्विष्टुष्वार्हतैर्वृहतामिश्च । साममिर्गायत्रामदीपवरौ-
श्वयीधाजयौशनसैश्च पञ्चभिश्च ॥ २ ॥

किमेतावता भवतीत्याह ।

यन्माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवन्ति माध्यन्दिनमेव तत्सवनं पावयन्ति ॥ ३ ॥

यन्माध्यन्दिनं पवमानं स्तुवन्ति तत्तेन माध्यन्दिनं सवनं पावयन्ति । पवमानस्तवनेन स्तुवन्तमपि विष्टुवन्तीत्यर्थः । सवनेन पूतं भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

पवमानस्तवनेन सवनं पूतं भवतीत्युक्ततदुभयोः पवमानसवनयोः साम्नात्मवैषम्यमाह—

एतावन्ति याव सव्वीणि सामानि यावन्ति माध्यन्दिने पवमाने ॥ ४ ॥

यावन्ति माध्यन्दिने पवमाने सामानि सन्त्येतावन्त्येव पशु, तत्सवनगतानि सामान्यपि ॥ ४ ॥

येषु पवमानेषु सामसु सवनान्यन्तर्भवन्ति तान्याह—

गायत्रिनिधनवदनिधनमैडम् ॥ ५ ॥

गायत्रं साम प्रसिद्धम् । निधनवदिति वहिर्निधनमृगक्षरतो वहिर्भूतनिधनम् । यथा' आमहीयवमनिधनं वहिर्भूतं निधनरहितम् । यथा यौधाजयौशने । ऐडं इडानिधनं यथा रौरवमिति । एवं मैत्रावरुणपृष्ठं वामदेव्यं गायत्रीच्छन्दस्कत्वात् ॥ ५ ॥

होतुः पृष्ठं रथन्तरं वहिर्निधनं नौघसं ब्रह्मसाम निधनकाले यमैडमच्छावाकपृष्ठीमिति पुनरुपसंहरति—

यन्माध्यन्दिनेन पवमानेन स्तुवन्ति सव्वैरेव तत्सामभिः स्तुवन्ति ॥ ६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ६ ॥

अथ गायत्र्यां गायत्रं साम प्रशंसनद्वारेण विधत्ते—

आत्मा वै यज्ञस्य पवमानो मुखं गायत्री प्राणो गायत्रं यद्गायत्र्यां गायत्रेण स्तुवन्ति मुखत एव तत्प्राणान्दधति ॥ ७ ॥

यज्ञस्याग्निष्टोमस्य पवमान एवात्मा स्वरूपं तत्स्तुतिरूपत्वात् । माध्यन्दिनपवमानोऽप्यात्मा तस्य मुखं गायत्री प्रथमप्रयोज्यत्वात् । तत्राश्रितत्वाद्गायत्रं प्राणः । एवञ्च सति गायत्रेण स्तुवन्तीति यत्तत्तेन मुखत एव तत्प्राणान्दधति ॥ ७ ॥

त्रिभिश्छन्दोभिरित्युक्तन्तच्छन्दस्त्रयं प्रशंसति—

प्राणापाना वा एतानि च्छन्दाऽंति प्राणो गायत्री
व्यानो बृहत्पानस्त्रिष्टुब्पदेतैश्छन्दोभिः स्तुवन्ति प्राणा-
पानानामविच्छेदाय ॥ ८ ॥

तानि त्रीणि च्छन्दांसि प्राणापाना वै । अपानशब्देन व्यानापानाबु-
ध्यते देहान्तर्वासित्वसाम्यात् । तदपेक्षयैव प्राणापाना इति बहुवचनमा-
कः किं छन्दोरूप इति विमर्श्य दर्शयति प्राणइत्यादिना । एक एव मुख्यः
शरीरधारकः प्राणवायुर्वह्निर्वायुस्त्रिष्टुब्पदेतैः प्राण उच्यते स गाय-
त्रीस्थानीयः । व्यानः प्राणापानयोर्विधारकः स बृहत् । अपानो वह्निर्वृ-
त्तरन्तः प्रवेशको निःश्वासात्वास्त्रिष्टुम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

तदेतच्छन्दस्त्रयं प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

इमे वै लोका एतानि च्छन्दाऽंत्ययमेव गायत्र्यप्य-
म्मध्यमो बृहत्पसानुत्तमस्त्रिष्टुब्पदेतैश्छन्दोभिः संहिं-
तैः स्तुवन्त्येषां लोकानामविच्छेदाय ॥ ९ ॥

अथ भूलोक एव गायत्री लोकेषु च्छन्दःस्तु चानयोः प्राथम्यात् । उक्त-
रूपत्वमेवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् । संहितैरिति च्छन्दोऽन्तरान्तर्हितैरि-
त्यर्थः । शिष्टे स्पष्टम् ॥ ९ ॥

संहितैः स्तुवन्तीत्युक्तं तद्व्यतिरेके दोषमाह—

यदन्यच्छन्दोऽन्तरा व्यवेषादिमाल्लोकान्विच्छि-
न्यात् ॥ १० ॥

यद्यन्यस्त्रिभ्य उक्तैरन्योऽन्यच्छन्दोऽन्तरा प्रयाणामुक्तानां छन्द-
सां मध्ये व्यवेषादिवहितं कुर्यात्तन्नेमान् भूरादिलोकान्विच्छि-
न्यात् । परस्परौषकार्यौषकारकभावराहित्यान् कुर्यादित्यर्थः ॥ १० ॥

एवं छन्दः प्रशस्य सामानि प्रशंसति—

गायत्रेण स्तुत्वा निधनवता स्तुवन्तीयं वै गायत्र्य-
स्यामेव तदायतनं क्रियते ॥ ११ ॥

'उच्चात' इत्यादिषु गायत्रीषु गायत्रसाम्ना स्तुत्वा तास्येव
गायत्रीषु निधनवतामहीयवेन साम्ना स्तुयुस्तथा सत्येतास्त्रु-
क्षु या गायत्र्यस्ति सेयं वै भूरेव । तत्तेन गायत्रीषु लापतनरूपप्रि-
धनवदामहीयवगतेनास्यां भूमावेवायतनं क्रियते यजमानाय ॥ ११ ॥

यतदेव व्यतिरेकनिन्दया स्तौति—

यदनिघनेनाग्रे स्तुयुरनायतनो यजमानः स्यात् ॥ १२ ॥

अग्रे बहिष्पवमानस्यादौ यद्यदि गायत्रमन्तरेण निघनवता निघन-
चदामहीयव्यतिरिक्तेन केनचिसाम्ना स्तुयुरनायतनो यजमानः
स्यात् । तस्मान्निघनवदामहीयवेनाग्रे स्तोतव्यम् ॥ १२ ॥

पुनस्तदेव प्रशंसति—

निघनवता स्तुवन्ति वीर्यं वै गायत्री वीर्यनिघनं
वीर्येणैव तद्वीर्यं समर्द्धयति ॥ १२ ॥

गायत्रीषु 'उच्चात' इत्यादिषु निघनवता बहिर्निघनेनामहीयवेन स्तु-
वन्ति । गायत्रीतरच्छन्दोभिरशक्यस्य सोमाहरणस्य कर्त्रीति वीर्यमे-
व निघनमपि वीर्यम् । आयतनवानिह वीर्यं करोति तथा सति तत्तेन
गायत्रीषु निघनवत् प्रयोगेण पूर्वं विद्यमानं वीर्यं वीर्यान्तरेणैव स-
मर्द्धयति । उक्ते गायत्रीषु गायत्रमामहीयव च सामनी ॥ १३ ॥

अथ बृहतीषु 'पुनानः सोम' इत्यादिषु रौरव तावद्विदधाति—

ऐडेन बृहतीमारभन्ते ॥ १४ ॥

ऐडेन इडानिघनेन रौरवेण साम्ना बृहतीच्छन्द आरभन्ते गृह्णन्ति ॥ १४ ॥

अथ तत्प्रशंसति—

पशवो वा इडा पशवो बृहती पशुष्वेव तत्पशुन्द-
धाति ॥ १५ ॥

'इडेरन्ते' इत्यादि गोपूर्यायेष्विडायाः पशुरूपात् । 'इडा वैमानवी
घृतपदी' इडायास्त्वापदे 'इडायास्पदं घृतवत्' इत्यादिषु गोरूपेण स्तुतेरि-
डेति पशवः खलु । बृहत्यपि 'अयम्मध्यमो बृहती' इत्युक्त्वादन्तरिक्षस्था-
नीया । अन्तरिक्षे पशवः सञ्चरन्तीति पशव इत्युच्यते । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १५ ॥

अथ बृहतीष्वेव यौघाजयं विधित्सुस्तां स्तौति—

बृहत्यां भूयिष्ठानि सामानि भवन्ति ॥ १६ ॥

एकाहोनसत्रेषु माघान्दिने पवमाने बृहत्यो हि भूयिष्ठानि सा-
मानि भवन्ति । अतो भूयिष्ठवीर्या बृहती ॥ १६ ॥

इदानीं बृहतीषु यौघाजयं विदधाति—

तत्रापि त्रिणिघनम् (१) ॥ १७ ॥

तेषु भूयिष्ठयोर्वेषु सामस्तु त्रिणिधनं निधनत्रयोपेतं यौधाजयं
ज्योतिष्टोमे द्वितीयं भवतीति तद्विधिरवगन्तव्यः । ननु पूर्वं 'गायत्रं निध-
नवदनिधनम्' इत्यत्र यौधाजयस्यानिधनशब्देन व्यवहारः । इदानीन्तु त्रि-
णिधनमित्युच्यते । अतो व्याहृतमिति ! नैतदस्ति । पूर्वं यौधाजयं वहि-
निधनाभावादननिधनमित्युक्तम् । इह तु 'पासी'त्येकं निधनं । 'दासी'त्यपरं
२ 'प्या या' ३ इत्युत्तममिति निधनत्रयसद्भावात्त्रिणिधनमित्युक्तम् ॥ १७ ॥
अथ तत् प्रशंसति—

अवलिष्ट इव वा अयम्मध्यमो लोकस्तस्यैव तदाय-
तनं क्रियते ॥ १८ ॥

मध्यमोऽन्तरिक्षलोकोऽवलिष्ट इव वै । अन्यन्तनप्रचल इव प्रतिमा-
तीतरलोच्छ्रवचनाश्रयत्वात् । तस्यैवावलिष्टस्यैवान्तरिक्षस्य नच-
दानोपदा यौधाजये त्रिणिधनं प्रयुज्यते तदाऽयतनं क्रियते कृतं भवति ।
कैश्चिद्वरिष्ठ इवेत्याभिधीयते ॥ १८ ॥

तदेव पुनः प्रशंसति—

त्रिणिधनं भवति त्रीणि सवनानां छिद्राणि तानि
तेनापिधीयन्ते ॥ १९ ॥

"कतमानि छिद्राणीति ? पवमानदेवतास्तुतयस्तानि छिद्राणि । अथा-
प्यन्तरेण पवमानमावृत्तीनि च हविर्भिः प्रचरन्ति तानि छिद्राणीति"
अयमर्थः पवमानव्यतिरिक्तानि स्तोत्राणि यजनयिदेवतास्तुतिरूपाणि ।
नैवम् । पवमान इति त्रयः पवमानाः सवनानां छिद्राणि । 'अथाप्यन्तरेण
पवमान'मित्यादिना प्रकारान्तरेण सवनच्छिद्राण्युच्यन्ते । तस्यायमर्थः ।
आवृत्तिस्तोत्राणि निरन्तरा भवन्ति । पवमानेभ्यः परं पुरस्तादावृत्तिस्तो-
त्रेभ्यो हविर्भिः प्रचरन्ति । यया सवनीयैः पुरोडाशैर्हविदेवत्यैर्ग्रहैः सवनी-
यमुखीयैर्ऋतुयाज्ञैरिति प्रातःसवने चरन्ति । दक्षिण्यैर्ऋतुपुरोडाशेन
पुरोडाशैः सवनमुखीयैर्मर्मस्तबद्धहेनेति माध्यन्दिने । पश्चिद्भिः सवन-
मुखीयैः पुरोडाशैः सवनमुखीयैः साविश्रद्भ्येण सौम्यचरुणा पत्नी-
यद्भ्येनेति तृतीयसवन इत्येवमपिसवनच्छिद्राणीति ॥ १९ ॥

प्रकारान्तरेण स्तौति—

त्रिणिधनं भवति त्रय इमे लोका एण्वेव लोकेषु प्र-
तितिष्ठति ॥ २० ॥

स्फोटोऽर्थः ॥ २० ॥

उक्तन्निधिधनं प्रतिष्ठाहेतुरिति तद्यतिरेकेणाप्रतिष्ठितत्वसंकीर्त्तनेन प्रशंसति—

त्रिणिधनं भवत्येतेन वै माध्यान्दिनं सवनं प्रतिष्ठितं यत्त्रिणिधनं यत्त्रिणिधनन्न स्यादप्रतिष्ठितम्माध्यान्दिनं सवनं स्यात् ॥ २१ ॥

त्रिणिधनं प्रतिष्ठाहेतुरिति पूर्वमुक्तम् । शिष्टं सुज्ञानम् ॥ २१ ॥
इदानीं निधनगताक्षरसंख्ययापि स्तौति—

द्व्यक्षराणि निधनानि भवन्ति द्विपाद्यजमानो यजमानमेव यज्ञे पशुषु प्रतिष्ठापयति ॥ २२ ॥

निधनेष्वक्षरद्वयं यजमानोऽपि द्विपात् । उभयोरपि प्रतिष्ठारूपत्वा-
न्निधनप्रयोगेण यजमानमेव यज्ञे पशुषु च प्रतिष्ठापयति ॥ २२ ॥

तदेव सौरवयोधाजये उक्तबौशनसाह—

अनिधनमन्ततो भवति स्वर्गस्य लोकस्यानतिपादाय ॥ २३ ॥

अनिधननिधनहीनमौशनमन्ततो भवति । तच्च स्वर्गस्य लोकस्यानतिपादायानाशाय भवति । न कदाचिद्यजमानं स्वर्गाय युज्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

व्यतिरेके वाचमाह—

यन्निधनवत्स्याद्यजमानं स्वर्गाल्लोकान्निर्हन्त्यात् ॥ २४ ॥

अन्ततो यदि निधनवत्साम भवेत् स्वर्गाल्लोकान्निर्हन्त्यात् । निधनं हि प्रतिष्ठा प्रतिष्ठायामतीव पश्वन्नादिसमृद्धिः । अतः क्रतुफलेन स्वर्गं प्राप्तोऽप्यन्ततो निधनप्रयोगात् प्रतिष्ठा । पश्वन्नाद्यर्थं स्वर्गादिकमेव लोकं यजमानः पुनरागच्छेदित्यभिप्रायः ॥ २४ ॥

अनिधनमन्ततो भवतीत्युक्तमनिधनमौशनमनुवदति स्तुत्यर्थम्—

स्वारं भवति ॥ २५ ॥

अन्यस्वरेण स्वरितेन यत्सामाप्यते तत्स्वारम् । सर्वत्र तावत् चत्वार एव सामान्ताः । स्वारे निधनमिडावागिति । अत्रान्यमक्षरं स्वरयित्वा समापितं 'हार्'कारश्च । द्वयमपि रूढ्या स्वर इति व्यपदिश्यते । अत्र हार्कारप्रसंगादुक्तार्थनिश्चयः ॥ २५ ॥

स्वरं प्रशंसति—

स्वरेण वै देवेभ्योऽन्ततोऽन्नाद्यं प्रदीयते स्वरेणैव त-
देवेभ्योऽन्ततोऽन्नाद्यं प्रयच्छति ॥ २६ ॥

अन्ततो मन्त्राणां स्वाहान्ते स्वरितभूते देवेभ्योऽन्नाद्यं हविः प्रदी-
यते । तत्तस्मात्तेन स्वरप्रयोगेण देवेभ्योऽन्ततः सामान्तेऽन्नाद्यं प्रय-
च्छति दत्तवान् भवति ॥ २६ ॥

माध्यन्दिनपवमानगतानामाद्यन्नसामनी स्तोतुमनुवदति—

गायत्रं पुरस्ताद्भवति स्वारमन्ततः ॥ २७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २७ ॥

अथ स्तौति—

प्राणो वै गायत्रं प्राणः स्वरः प्राणानेव तद्भुभयतौ
दधाति तस्माद्भुभयतः प्राणाः पशवः ॥ २८ ॥

गायत्रस्य प्राणरूपत्वम् । गायत्र्या प्राथम्येन मुखजन्यत्वेन तद्रूपत्वं
पूर्वमेवोक्तम् । स्वरस्यापि प्राणनिरोधमन्तरेणानुपपत्तेः प्राणत्वम् । तत्तेन
प्राणानेवोभयत आद्यन्तयोर्युपर्यधश्च दधाति । तस्मात्पशव उभयतः
प्राणा उपर्युर्ध्वं वृत्तिः प्राणाऽधस्तादधोवृत्तिरपान इत्युभयतः प्राणाः
पशवः ॥ २८ ॥

पुनः प्रशंसति—

यद्गायत्रं पुरस्ताद्भवति स्वारमन्ततः प्राणैरेव प्रै-
त्यपाने प्रतितिष्ठति ॥ २९ ॥

पुरस्ताद्गायत्रस्य करणात्पुरोगमनहेतुना प्राणेन प्रैति प्रगच्छति ।
अन्तःप्रतिष्ठायां स्वरस्य करणात्प्रतिष्ठाहेतुनापानेन प्रतितिष्ठति ॥ २९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तमाध्यायस्य

तृतीयः खण्डः ।

अथ चतुर्थः खण्डः ।

अथास्मिन् खण्डे बृहत्याख्यं मध्यमं छन्दः स्तूयते । आदौ तावत्स्य-
ग्यत्वेन दक्षिणा योज्येति प्रशंसति—

एतद्वै यज्ञस्य स्वर्ग्यं यन्माध्यन्दिनं सवनम्मा-
ध्यन्दिनस्य पवमानः पवमानस्य बृहती यद्बृहत्याः

स्तोत्रे दक्षिणा दीयन्ते स्वर्गस्यैव तल्लोकस्यायतने
दीयन्ते ॥ १ ॥

माध्यन्दिनं सवनं यदस्ति येतद्वै-एतदेव यज्ञस्यावयवेषु मध्ये स्व-
र्ग्यम् । यद्येवं तन्माध्यदिनसवनस्यावयवेषु मध्ये माध्यन्दिनः पवमानः
स्वर्ग्यः । तद्वच्छन्दसां मध्ये बृहती स्वर्ग्या । तथा सति यद्यदि बृहत्याः
स्तोत्रे रौरवयौधाजययोगानसमये दक्षिणा दीयन्ते यजमानैः । सिद्धम-
न्यत् । अनेन माध्यन्दिनपवमानस्य मध्ये दक्षिणा दातव्येत्युक्तम् । तच्चा-
सन्नेषु नाराशंसेषु दक्षिणा दातव्येत्यनेन सह विकल्प्यते । यद्वा बृहत्याः
स्तोत्रे निवृत्ते दक्षिणा देयेति व्याख्येयम् । यद्योक्तेन सह विरोधो न
भवति ॥ १ ॥

अथ प्रकारान्तरेण तां प्रशंसति—

देवा वै च्छन्दांस्थब्रुवन्युप्माभिः स्वर्गं लोकमया-
मेति ते गायत्रीं प्रायुञ्जत तथा न व्याप्नुवन् त्रिष्टुभं प्रा-
युञ्जत तथा न व्याप्नुवन् जगतीं प्रायुञ्जत तथा न व्या-
प्नुवन् अनुष्टुभं प्रायुञ्जत तथाऽल्पकादि न व्याप्नुवन् त-
थाऽसांदिशां रसान्प्रवृह्य चत्वार्यक्षराण्युपादधुः
सा बृहत्यभवत्तायेमँल्लोकान् व्याप्नुवन् ॥ २ ॥

ते देवा गायत्रीं प्रायुञ्जत लोकव्याप्पयर्थं प्रयुक्तवन्तः । तथा न व्या-
प्नुवन् लोकान् । एवं त्रिष्टुभं जगतीं च प्रयुज्य ताभ्यां न व्याप्नुवन् ।
ततोऽनुष्टुभं प्रायुञ्जत तथाऽल्पकादि न देशान् व्याप्नुवन् । ते पञ्चाद-
स्यामेव वीर्यमाधाय व्याप्नुयामेति युक्ता-आसाम्मुख्यदिशां रसान् प्र-
वृह्योद्धृत्य चत्वार्यक्षराणि कृत्वा अनुष्टुभ्युपादधुः । साऽक्षरचतु-
ष्टयोपेताऽनुष्टुबृहत्यभवत् । तथेमान् भूरादिलोकान् व्याप्नुवन् ॥२॥

अथ बृहत्या बृहत्त्वमुक्तव्याप्तिप्रवृत्तिनिमित्तकमित्याह—

बृहती मर्या यथेमँल्लोकान् व्यापामेति तद्बृह-
त्या बृहत्त्वम् ॥ ३ ॥

हे मर्या मर्या बृहत्येषा यथेमान् लोकान् व्यापाम व्याप्ताः स्मे-
ति । तस्माद्बृहत्या बृहत्त्वं महत्त्वम् ॥ ३ ॥

पशुरूपाक्षरचतुष्टयसम्बन्धादपि बृहती स्वस्तोत्रे दक्षिणायोम्येत्याह—

पशून्वा अस्यान्तानुपादधुः पशवो वै बृहती यद्-

वृहत्याः स्तोत्रे दक्षिणा दीयन्ते स्व एव तदायतने दी-
यन्ते ॥ ४ ॥

तान् तानि दिशां सारभूतानि चत्वार्यक्षराणि पशुन् वै पशुरूपा-
ण्येषां वृहत्यां येनाक्षरोपाधानेन वृहती भवति नस्यामुपादधुः ।
तस्माद्वृहती पशव एव । तस्याः स्तोत्रे दक्षिणादानं स्वकीय एवायतने
दत्तं स्यात् ॥ ४ ॥

अथ वृहतीत्वं प्रश्नप्रतिवचनरूपेण प्रशंसति—

यन्निवत्याहुरन्यानि च्छन्दांस्ति वर्षीयांस्ति क-
स्माद्वृहत्युच्यते इत्येषा हीमाल्लोकान् व्याप्नोन्ना-
न्यच्छन्दः किञ्चन यानि सप्त चतुरुत्तराणि च्छन्दांस्ति
तानि वृहतीमभिसम्पद्यन्ते तस्माद्वृहत्युच्यते ॥ ५ ॥

अन्यानि षड्भिर्भूतानि च्छन्दांसि वर्षीयांसि चतुरुत्तराणि ब्रह्म-
राणि तानि परित्यज्य कथमेवा वृहत्युच्यते ? इति यथा ब्रह्मवादिन
आहुस्तत्रेदमुत्तरम् । एषेत्यादि तच्च स्पष्टम् । किञ्चेतानि सप्तचतुरुत्तराणि
गायत्रीदीनि जगत्यन्तानि च्छन्दांसि सन्ति तानि वृहतीमभिसम्पद्य-
न्ते । कथं ? उच्यते । एका गायत्री जगती चैका तयोरक्षराणि मिलित्वा
द्वासप्ततिर्भवन्ति । तानि द्वेषाविभागे सति षड्विंशदक्षरात्मिके द्वे वृह-
त्यौ भवतः । एवमुणिक् त्रिष्टुभौ द्वे वृहत्यौ तथानुष्टुप्पङ्क्तौ द्वे वृहत्यौ
स्वयञ्च वृहतीति । एवं सर्वाण्यपि च्छन्दांसि वृहतीमभिसम्पद्यन्तेऽतो
वृहतीत्युच्यते इति प्रशंसा ॥ ५ ॥

अथ माध्यन्दिने वृहत्यस्तिवविषये ब्रह्मवादिन आक्षेपमवतारयति—

यन्निवत्याहुर्गपत्रं प्रातःसवनं त्रैष्टुभम्माध्यन्दिन-
ं सवनं ज्ञातं तृतीयसवनं कस्माद्वृहत्या मध्यन्दिने
स्तुवन्तीति ॥ ६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ६ ॥

तस्योत्तरमाह—

बहिष्पवमानेन वै देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमह-
रन् स नाध्रियत तं वृहत्या मध्यन्दिने स्तभ्नुवन्तस्माद्वृ-
हत्या मध्यन्दिने स्तुवन्त्यादित्यं ह्येषा मध्यन्दिने
दाधार ॥ ७ ॥

पूर्वं देवा बहिष्पवमानेनादित्यं स्वर्गं लोकमहरन्नगमयन् । स ना-
ध्रियत तेन पवमानेन तत्र धृतो नाभूत् । तन्मध्यन्दिने पवमाने बृहत्याः
स्तोत्रेण स्तम्बवन्नयः प्रच्युतितः स्तम्भितवन्तः । यस्मादेवन्तस्मान्-
न्मध्यन्दिने स्तुवन्ति । हि यस्मादेषा मध्यन्दिने दाधारादित्यमित्येतदु-
त्तरम् । एतावता बृहत्या मध्यन्दिने प्रसङ्गमुक्तम् ॥ ७ ॥

कथं माध्यन्दिनसवनस्य त्रैष्टुभत्वप्राप्तिरिति तत्प्रकारमाह—

यैरु कैश्च च्छन्दोभिर्मध्यन्दिने स्तुवन्ति तानि त्रि-
ष्टुभमभि सम्पद्यन्ते तस्मात्त्रिष्टुभो नयन्ति माध्यन्दिना-
त्सवनात् ॥ ८ ॥

उशब्दोऽप्यर्थः । यैः कैश्चापि च्छन्दोभिर्मध्यन्दिने सवने माध्यन्दिन-
पवमाने पृष्ठेषु चतुर्षु स्तुवन्ति तानि त्रिष्टुभो न गच्छन्ति । समवेतानि
च्छन्दांसि त्रिष्टुभमभि सम्पद्यन्ते । तस्मान्माध्यन्दिनात्सवनात्त्रिष्टुभः
सकाशाभ्यन्ति । त्रिष्टुप्सम्पत्तिप्रकारं छन्दसामित्युन्नेतव्यम् । कथम्मा-
ध्यन्दिने पवमाने 'उच्चात' इति गायत्रे तृचे गायत्रामहीयवे द्वे सामनी
गातव्ये तदर्थं तृचस्य द्विरावृत्त्या पद् गायत्र्यो भवन्ति । तथा मैत्रावरु-
णे पृष्ठे 'कया न' इति गायत्रतृचोत्पन्ने वामदेव्यसप्तदशस्तोमत्वात् सप्त-
दश गायत्र्यस्ताः संयतास्त्रयोविंशतिगायत्र्यो भवन्ति । पुनश्च 'पवमा-
ने पुनान' इति बार्हते तृचे रौरवयौघाजयसामद्वयार्थं द्विरावृत्तेः पद्
बृहत्यो भवन्ति । तथा होतुः पृष्ठे 'अमित्रा शूर' इति प्रगाथे ककुबुत्तराका-
रं गानात्प्रथमे पर्याये प्रथमविष्टावात्तिष्ठो बृहत्यः । इतरयोः पर्याय-
योरेकैकेति मिलित्वा पञ्च बृहत्यः शिष्टा द्वादशककुभः स्युः । यद्वा रथ-
न्तरमकृत्वा 'त्वामिद्धि' इति बृहत्सामपक्षेऽपि पञ्चैव बृहत्यो द्वादश ककु-
भः स्युः । तथा ब्राह्मणाच्छंसिनः पृष्ठेऽपि 'तच्चोदस्मम्' इति प्रगाथे नैध-
सः प्रयोगे सप्तदशस्तोमत्वात् सप्तदश बृहत्यः । एवमच्छावाकपृष्ठ 'त-
रोमिः' इति प्रगाथे कालेये सप्तदशबृहत्य इति द्वयोर्मेलने चतुर्विंशद्भ-
वन्ति पूर्वैकैः पङ्क्तिभिः पञ्चमिश्च मिलित्वा सर्वाः पञ्चचत्वारिंशद्बृह-
त्यः । पूर्वोक्तप्रथमबृहतोरन्यतरस्मिन्प्रयोगेऽवशिष्टा द्वादश ककु-
भस्त्रयोविंशतिषु गायत्रीषु मध्ये चतसृभिर्गायत्रीभिर्गमित्वा द्वादश-
बृहत्यो भवन्ति । तन्मेलनमेवं स्वत एकैकस्याः ककुभोऽष्टाविंशत्यक्षरा-
णि गायत्र्याश्चैकस्मिन्पादे अष्टावक्षराणि तानि मिलित्वा पङ्क्ति-
दशैरेका बृहती सम्पद्यत एवं द्वादश बृहत्योऽपि योजनीयाः । तदेव पञ्च-
चत्वारिंशद्बृहतीभिः सप्तपञ्चाशद्बृहत्यो भवन्ति । एता अवशिष्टैकोनविं-

मन्यूनवाइटणात्ततो वै तस्मै ताः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त ॥२॥

ताः सृष्टाः प्रजा अस्मात् स्रष्टुः सकाशादपाक्रामन्नपागच्छन् । स प्रजापतिस्तासामपगतानां प्राणान् 'दिविसद्' इति पादेनादत्त-आत्त-वान् । ताः स्वीयेषु प्राणेषु चक्षुरादिष्वात्तेषु प्रजापतिना स्वीकृतेषु पुनरेनमुपावर्त्तन्तोपागमन् । ताभ्यः उपावृत्ताभ्यः 'उग्रधंशस्म' इति पादेन पुनः प्राणान् प्रायच्छत् । ता लब्धप्राणा अस्मात्पूर्वं प्राणापहारात्कारणादुदयोधन्नेवोन्मुखा एवायुध्यन्त । केचित् 'अस्मा' इति पठन्ति । अस्मा एनं प्रजापतिमुद्दिष्येत्यस्यार्थः । स प्रजापतिरेषां प्राणापहारजन्यो-मन्युः सञ्जात इति युद्धा 'स्तौप' इति स्तुतिप्रकाशेन निधनेन तासा-मन्यूनवाशृणान्निकृष्य हिंसितवाद् । ततः खलु कारणान्मन्यूपगमा-दस्मै प्रजापतये श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त समजानत ॥ २ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

तिष्ठन्तेऽस्मै समानाः श्रैष्ठ्याय य एवं वेद ॥ ३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ३ ॥

पुनस्तदेव प्रशंसति—

प्रजानाञ्च वा एषा सृष्टिः पापवसीयश्च विधृतिर्य-
दामहीयवम् ॥ ४ ॥

यदेतदामहीयवमिति तदेषां प्रजानाञ्च सृष्टिर्वै सृष्टिकर्तृसृष्टिसा-
धनभूता च । सृष्टेः स्त्रीलिङ्गमपेक्ष्यैवेति साम्नः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः ।
किञ्चामहीयवमेव पापवसीयसञ्च पापस्य पुण्यस्य च विधृति-
विधरणी विवेचनीत्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ विदुषः फलम्—

विधृतिः पापवसीयसो भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

स्पष्टम् ॥ ५ ॥

एवमामहीयवं प्रशस्य रौरवयौवाजयौशनानि प्रशंसितुमाख्यायि-
कामाह—

देवा नै यशस्क्रामाः सन्नमास्तारिन्निरिन्द्रो द्वायुर्म-
खस्तेऽयुवन्यन्नो यशःकच्छात्तान्नः सहासदिति तेषाम्मखं
यश आच्छन्नादादायापाक्रामन्नादस्य प्रासहादित्सन्त तं
पर्ययतन्त स्वधनुः प्रतिष्ठ्यातिष्ठत्तस्य धनुरार्तिरूढा
पतित्वा शिरोऽच्छिनत्स प्रवर्ग्योऽभवद्यज्ञो वै मखो यत्

प्रवर्गं प्रवृञ्जन्ति यज्ञस्यैव तच्छिरः प्रतिदधति ॥ ६ ॥

पूर्वमग्न्यादयश्चत्वारो देवा यशोऽर्थं सत्रमासत तस्मिन् समये ते देवा एवमब्रुवन् । यद्यशो नोऽस्माकमध्ये प्रथमं ऋच्छात् प्राप्नुयात्तद्यशो नोऽस्माक सह साधारणमसद्भवत्विति समयं कृत्वा सत्रमासत । तेषामध्ये मखो देव यश आच्छेत् प्राप्नोत् । स तद्यश आद्यापाक्रामत् । अस्यापगतस्य तद्यशः प्रासहा प्रसहेन बलात्कारेणादित्सन्त तदर्थन्त पर्ययन्त परितोऽयुध्यन् । स धन्वी धनुः प्रतिष्टम्य शिर आततज्वं कृत्वाऽतिष्ठत् । तस्य धनुर्ज्यो बलमीका भूमाद्युत्पतिता अखादन्त । ततो धनुरातिर्धनुषः कोटिरूर्ध्वा पतित्वा तस्य मखस्य शिरोऽच्छिन्नत् । उपदीकानां धनुर्ज्याच्छेदं शाखान्तरतोऽघगन्तव्यः । तथाहि तैत्तिरीयकं 'स धनुः प्रतिष्टम्यातिष्ठत्ता उपदीका अघुवन्धरं वृणीमहा अघ वरमिम रन्धयाम यत्र क च स्वानान्तदपोऽमितृणदामेति तस्मादुपदीका यत्र क च स्वनन्ति तदपोऽमितृन्दन्ति वरे वृते ह्यासां तस्य ज्यागप्यादैस्तस्य धनुर्विप्रमाण शिर उदधर्षयत्' इति । स तच्छिरः प्रवर्गोऽमघत् । यज्ञो वै मख उच्यते यत् प्रवर्ग्यं प्रवृञ्जन्ति यजमानस्य तत्तेन यज्ञस्य च्छिन्न शिरः प्रतिदधति । स तत् कुर्वन्त्येतत् प्रासङ्गिकम् । अयमर्थः सर्वोपध्वर्युर्ब्राह्मणे स्पष्टमाग्नापते 'देवा वै सत्रमासत ऋद्धिपरिमितं यशस्कामास्तेऽयुवन्त्यन्नः प्रथमं यश ऋच्छात् सर्वेषां भस्तत्सहासत्' इत्यादिना ॥ ६ ॥

अथ रौरवं स्तुयते ।

तद्देवा यशो व्यभजन्त तस्याग्नी रौरवं प्राबृहत् ॥ ७ ॥

तद्यशो देवा व्यभजन्त तस्याग्नी रौरवं प्राबृहतेति । तद्यशो देवा व्यभजन्त तस्य विभक्तस्य रौरवं भागं अग्निः पृथक् चकार ॥ ७ ॥

एतावता किं यशो लब्धमित्यत आह—

तद्धै स पशुवीर्यं प्राबृहत् पशवो वै रौरवम् ॥ ८ ॥

तत्तेन रौरवविभागेनैव सोऽग्निः पशुवीर्यं पशुलक्षणं सामर्थ्यमेव प्राबृहत् । तदपि कुत ? इत्याह रौरवं साम पशवः खलु तत्र पशुवाचकेऽग्निधनोपेतत्वादित्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

पशुमान् भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

विदुषः स्तुतिः ॥ ९ ॥

अथ रौरवस्याग्निसम्यन्धं दर्शयति—

आग्निर्वै रुरस्तस्पैतद्रौरवम् ॥ १० ॥

कुरु इति शब्दायमानो ददतीति कुरोऽग्निस्तत्सम्बन्धाद्रौरवं
साम ॥ १० ॥

प्रकारान्तरेण रौरवसंज्ञां विदुषन् स्तोति—

असुरा वै देवान् पर्ययतन्त तत एतावग्नी रुरौ
विष्वञ्चौ स्तोभाषपश्यत्ताभ्यामेनान् प्रत्यौषरो प्रत्युष्य-
माणा अरवन्त यदरवन्त तस्माद्रौरवम् ॥ ११ ॥

एवं हि देवानसुराः पर्ययतन्त परितोऽप्युष्यन्त । ततोऽग्नेरेतौ
कुरौ विष्वञ्चौ सर्वतो ष्यातौ 'ऊङो ३ ऊवाऽप्यया औ ३ ह्रीषा' इति
द्वौ स्तोभाषपश्यत्ताभ्यामेनान्प्रत्यौषददत् । ते प्रत्युष्यमाणा अरवन्त
शब्दमकुर्वन् । यदरवन्त तत्तस्माद्रौरवश्राम सम्पन्नम् । कुरुरवयोर्हमयत्र
रेफसाम्याद्रसम्बन्धाद्रवसम्बन्धाच्च रौरवमिति नाम मयति ॥ ११ ॥

इन्द्रस्य यौधाजयार्ययशःसम्बन्धमाह—

अयेन्द्रो यौधाजयं प्रावृहत् तद्वै स व्वज्रं प्रावृहत्
व्वज्रो वै यौधाजयम् ॥ १२ ॥

अयेत्यानन्तर्यार्थः । इन्द्रो यौधाजयं यौष्यान् अजयत् । वज्रमा-
वकल्पनमेवं वज्रस्यैव परिकुर्वद्भिस्तेन तत्कार्यसिद्धेर्यौधाजयस्य
वज्रकारणत्वमेव वज्रं याक् इत्यनेनोच्यते ॥ १२ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

व्वज्रं भातृव्याय प्रहरति य एवँ व्वेद ॥ १३ ॥
स्पष्टोऽर्थः ॥ १३ ॥

अथ निर्वचनद्वारा तदेव प्रशंसति ।

इन्द्रो वै युधाजित्तस्यैतयौधाजयम् ॥ १४ ॥

युधा युद्धेन शत्रून् जयतीतीन्द्र एव युधाजित् तस्य सम्बन्धि तत्
साम यौधाजयम् ॥ १४ ॥

अथ निर्वचनान्तरप्रदर्शनेन प्रशंसति—

युधा मर्या अजैष्मेति तस्माद्यौधाजयम् ॥ १५ ॥

हे मर्या मर्याः, युधा अजैष्म असुरानितीन्द्रोऽप्रवीदिति शेषः ।
तस्माद्युधाजस्य हेतुत्वात् यौधाजयमिति नाम सम्पन्नमिति स्तुतिः ॥ १५ ॥

अथ वायोरौशनसम्बन्धमाह—

अथ वायुरौशनं प्रावृहत् ॥ १६ ॥

स्पष्टम् ॥ १६ ॥

औशनस्वीकार एव प्राणाख्यवीर्यस्वीकार इत्याह—

तद्वै स प्राणवीर्यं प्रावृहत् प्राणा वा औशनम् ॥ १७ ॥

औशनसामभागपृथक्करण एव प्राणाख्यस्य वीर्यस्य पृथक्कारः । तत्र हेतुः, औशनं साम प्राणाः खलु तस्मिन् स्वरनिधनसद्भावात् स्वरस्य प्राणनिरोधनन्तरेणोद्यारणानुपपत्तेः ॥ १७ ॥

विदुषः स्तुतिः—

सर्वमायुरेति य एवं वेद ॥ १८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १८ ॥

औशनसंज्ञाभिर्वक्ति—

व्वायुर्वा उशनश्चैतदौशनम् ॥ १९ ॥

उशनं वयस्कान्तावित्यस्य कर्मणि रूपम् । काम्यते सर्वैः प्राणरूपवेनेऽयुश्चायुरेव तस्य सम्बन्धित्वादौशनमिति साम्नो नाम सम्पन्नम् ॥ १९ ॥

उशनं सम्बन्धादौशनमित्युक्त्योशनसः सम्बन्धादौशनमाह—

उशना वै काव्योऽसुराणां पुरोहित आसीत्तं देवाः कामदुघामिरुषामन्त्रयन्त तस्मा एतान्यौशनानि प्रापच्छन् कामदुघा वा औशनानि ॥ २० ॥

पूर्वं मुशनानाम कवेः पुत्रोऽसुराणां विरोचनादीनां पुरोहित आसीत्तं देवाः कामदुघामिर्गोभिरुषामन्त्रयन्त । कथन्तामिरनुमन्त्रयन्तश्चाह । अस्मा उशनस एतान्यौशनानि सामानि कामधेनुसदृशानि प्रापच्छन् । तेषां कामदुक्त्वप्रसिद्धिरुच्यते 'कामदुघा' इत्यादिना ॥ २० ॥

अथ विदुषः स्तुतिः—

कामदुघा एनमुपतिष्ठन्ते य एवं वेद ॥ २१ ॥

य एवं जानाति—एनं कामदुघा गाव उपतिष्ठन्ते समीपं प्राप्नुवन्ति दोहनशीलवद्गुणयुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तमाध्यायस्य षष्ठमः खण्डः ।

अथ पृष्ठः खण्डः ।

एवं माध्यन्दिनं पवमानमुक्त्वा बृहद्रथन्तरं विद्यधुः प्रजापतेर्मनसि बृहत् प्रादुर्भावमाह—

प्रजापतिरकामयत् यद्वा स्यां प्रजायेयेति स तूष्णीं

मनसा ध्यायत्तस्य यन्मनस्यासीत्तद्वृहत्समभवत् ॥१॥

बहुमावाय प्रकर्षोत्पत्तिं कामयमानः स प्रजापतिस्तृष्णीन्निर्व्या-
पारम्मनसाऽग्न्येण यदचिन्तयत्तस्य ध्यातुर्मनसि यदासीच्चद्वृह-
त्साम समभवत् सम्भूतं सामत्वेन परिणतमित्यर्थः ॥ १ ॥

अथान्तःस्थितगर्भस्य प्रजननार्थं प्रजापतेर्ध्यानमाह—

स आदधीत गर्भो वै मेऽयमन्तर्हितस्तं ववाचा
प्रजनया इति ॥ २ ॥

स प्रजापतिरादधीत आध्यायत् । ध्यानप्रकार उच्यते मेऽन्त-
र्यं गर्भो निहितस्तं खलु गर्भं वाचा साधनेन प्रजननायोत्पाद-
यामीति ॥ २ ॥

अथ वाक्सृष्टिमाह—

स ववाचं व्यसृजत सा ववाग्रथन्तरमन्वपद्यत ॥ ३ ॥

स ध्यायन् प्रजापतिर्वाचं व्यसृजत सा च सृष्टा वाक् रथन्तरमनु
रथन्तरसामानुसृज्य पश्चादपद्यतागच्छदुत्पन्नाऽऽसीत् ॥ ३ ॥

अथ वाक्सम्बन्धेन रथन्तरशब्दभिर्वक्ति—

रथम्मर्याः क्षेप्लातारीदिति तद्रथन्तरस्य रथन्तरत्वम् ॥४॥

हेमर्या मर्याः, रथन्तरवद्देवानां वाहनभूतां वाचामिदं साम क्षेप्ला
क्षितभावेनातारीदागच्छदितिन्द्रोऽब्रवीत् । तत्तेन रथन्तरस्य रथ-
न्तरत्वमायातम् । इन्द्रस्योक्तप्रकारकवचनमेव तच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्तभू-
तमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथ बृहत उत्पत्तिं सनिर्वचनान्दर्शयति—

ततो बृहदनु प्राजायंत बृहन्मर्या इदं स ज्योग-
न्तरभूदिति तद्बृहतो बृहत्त्वम् ॥ ५ ॥

ततो रथन्तरसृष्टेरनु पश्चाद् बृहत्साम प्राजायत । स इति लिङ्गव्य-
त्ययः । तदिदं बृहत्साम हे मर्या ज्योक् चिरकालं रथन्तरोत्पत्त्यन-
न्तरकालपर्यन्तमतः प्रजापतेर्मनस्यभूत् स्थितमासीदिति यदिन्द्रोऽ-
ब्रवीत् तद्बृहत्साम्नो बृहत्त्वं सम्पन्नम् ॥ ५ ॥

अथ बृहत्प्रजापतेर्ज्येष्ठपुत्रत्वेन प्रशंसति—

यथा वै पुत्रो ज्येष्ठ एवं बृहत्प्रजापतेः ॥ ६ ॥

यथा ज्येष्ठपुत्रो मनुष्याणामेवं बृहत्प्रजापतेर्ज्येष्ठपुत्रस्यानीयं भवति६॥
ननु रथन्तरात्पश्चाद् बृहदुत्पन्नं कथं ज्येष्ठपुत्रत्वमस्येति तत्राह—

ज्येष्ठब्राह्मणं वा एतत् ॥ ७ ॥

ज्येष्ठं प्रथमं ब्राह्मणं यस्य बृहत् एतत् ज्येष्ठब्राह्मणम् । तथाहि रथन्त-
रसृष्टिप्रकाशकारस वाचं व्यसृजत सा वाग्रथन्तरमन्वपद्यत तद्रथन्तर-
मर्या इत्यादिकाद् ब्राह्मणात्प्रथमं बृहत्सामप्रकाशकं तस्य यन्मनस्या-
सीत्तद्बृहत् समभवदिति ब्राह्मणं पूर्वभावित्वाज्ज्येष्ठम् । अतः पश्चादु-
त्पन्नस्यापि बृहतो रथन्तरादपि ज्येष्ठपुत्रत्वं युक्तम् ॥ ७ ॥

अथ विदुषः फलम्—

प्रज्येष्ठयमाप्नोति य एवँ वेदे ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

एव बृहतो ज्येष्ठत्वं सिद्धं कथं रथन्तरस्य पूर्वप्रयोगप्राप्तिरिति
कञ्चिद्ब्रह्मवादिनां प्रश्नमवतारयति—

यान्निवत्पाहुर्वृहत्पूर्वं प्रजापतौ समभवत्कस्माद्रथ-
न्तरं पूर्वं योगमानश इति ॥ ९ ॥

यद्यदि नु-अथ-इति-अथ चक्ष्यमाणप्रकारेणाहुर्ब्रह्मवादिनः । इति
शब्दनिर्दिष्टमर्थं विवृणोति । बृहत्साम पूर्वं प्रजापतौ सम्भूतम् । कस्मात्का-
रणाद्रथन्तरं सामोभयसामसु बहःसु पृष्ठपण्डहादिपुत्रसर्वेषु पृष्ठपे-
षु पूर्वं योगमानश इति प्रयोग प्राप्नोति ॥ ९ ॥

तस्य परिहारमाह—

बृहदेव पूर्वंप्रथमं समभवद्रथन्तरन्तु पूर्वंप्रथमं सृष्ट्या सृ-
जत तस्मात्पूर्वं योगमानशे ॥ १० ॥

यद्यपि बृहदेव पूर्वं प्रजापतेर्मनासि समभवत् । न पितुर्विशेषोऽस्ति
रथन्तरं पूर्वं सृष्ट्या उत्पत्त्या असृजत सृष्टमभूत् । तस्मादिति तस्यैवो-
पसंहारः ॥ १० ॥

अथ ज्योगामयाविनः प्रयोग उमेऽपि कार्यं इति विचक्षुराह—

तयोः समानन्निधनमासीत्तस्मिन्नातिष्ठेतान्त आ-
जिमैतां तयोर्हसिति बृहत्प्राणमुदजयदसिति रथन्तरम-
पानमभिसमवेष्टत ॥ ११ ॥

पूर्वं द्वयोर्बृहद्रथन्तरयोः समानं निधनमासीत् । तस्मिन्नेकस्मिन्नि-
धने नातिष्ठेतां न समजानताम् । ममैवेदम् ममैवेदमिति कलहमकुर्वता-
न्तदर्पन्त आजि संग्रामं समेतां समगच्छतम् । तयोर्मध्ये बृहत्
स्वेन निधनेन 'हस्' इत्यनेन प्राणमुदजयत् जितवत् । रथन्तरन्तु स्वेन-

‘अस्’ इति निधनेनापानमनन्तरमाभिसमवेष्टुं समावृणोत् । अनेनोभय-
त्रानुगतं सकारमेव पूर्वनिधनमुभयोरसीदिति मन्तव्यम् ॥ ११ ॥

ज्योगामयाविने ते उभे विदधाति—

प्राणापानौ वै बृहद्रथन्तरे ज्योगामयाविन उभे कु-
र्यादपक्रान्तौ वा एतस्य प्राणापानौ यस्य ज्योगामयति
प्राणापानावेवास्मिन्दधाति ॥ १२ ॥

‘हस्’ इति निधनस्य प्राणमुदजयद्धेतुत्वात्तन्निधनं बृहत्सामापि प्राण
एव । अपानसंघेष्टनहेतुत्वात् ‘अस्’ इति निधनस्य तद्युक्तं रथन्तरमपानम् ।
नथा सति यस्य ज्योगामयति तस्य प्राणापानावपक्रान्तौ खलु । अत-
स्तस्य प्रयोग उभे बृहद्रथन्तरे कुर्यात् । तेनास्मिन् रोगिणि प्राणापाना-
वेव दधाति पुनः स्थापयति । माध्यन्दिने पवमाने बृहतीषु रथन्तरं का-
र्यं बृहत्सामपृष्ठं कार्यमिति तयोर्ध्वस्था ॥ १२ ॥

अथ बृहद्रथन्तरप्रसङ्गात्तद्विषयं कञ्चित्प्रश्नमुपपन्नमिति—

यान्निवत्पाहुरुभे बृहद्रथन्तरे वहिर्णिधने कस्माद् बृह-
द्बहिर्णिधनानि भजतेऽन्तर्णिधनानि रथन्तरमिति ॥ १३ ॥

हस् अस्’ इति बृहद्रथन्तरयोरभयोर्बहिर्निधनत्वात् कथं ? बार्ह-
तेष्वहःसु इयैतादीनि वहिर्निधनानि प्रयुज्यन्ते रथन्तरेष्वन्तर्निधनानि
प्रयुज्यन्ते ॥ १३ ॥

रथन्तरेष्वन्तर्निधनानि नौघसादीनि यदि विरुद्धमित्याक्षेपेयु-
स्तेषामुत्तरम्—

प्राणो बृहत्तस्माद्बहिर्णिधनानि भजते वहिर्हि प्रा-
णोऽपानो रथन्तरं तस्मादन्तर्णिधनानि भजतेऽन्त-
र्ह्यपानः ॥ १४ ॥

बृहतः प्राणरूपत्वाद्बहिर्निधनमाकृत्व युक्तन्त्र हेत्वभिधानं ‘वहि-
र्हि प्राण’ इति रथन्तरे त्वपान एव तस्मादन्तर्ध्वत्पानरूपत्वादन्तर्निध-
नमाकृत्वम् । तस्मादित्यस्य विवरणमन्तर्ह्यपान इति ॥ १४ ॥

निधनवैषम्ये हेत्वन्तरमाह—

महावृक्षौ वै बृहद्रथन्तरे निधनेन समर्प्ये ॥ १५ ॥

बद्धाश्रयत्वाद्बृहद्रथन्तरे महावृक्षत्वेन निरूप्येते । अतस्ते निधनेन
विषमेण समर्प्ये सङ्गमयितव्ये ॥ १५ ॥

निधनसाम्ये दोषमाह—

यद्वै महावृक्षौ समृच्छेते बहु तत्र विभग्नं प्रभ-
ग्नं शेते ॥ १६ ॥

यद्यत्र खलु महावृक्षौ समृच्छेते । तत्र बहुशाखास्वङ्गादिकं परस्पर-
संघर्षणाद्विभग्नं प्रभग्नं च सङ्गच्छेते भूमौ वैषम्ये तु नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ १६ ॥

अथ बृहद्रथन्तरयोरन्यतरप्रयोगेऽप्यन्तरस्यापि फलसिद्धयैतयो-
र्द्वयोर्माहात्म्यं मनसा ज्ञातव्यमित्याह—

ऐरं वै बृहदैडं रथन्तरम्मनी वै बृहद्रथन्तरं
साम वै बृहद्रथन्तरं प्राणो वै बृहदपानो रथन्तरमसौ
वै लोको बृहदथं रथन्तरमेतानि मनसान्वीक्ष्योद्गाये
त्कलृताभ्यामेवाभ्यामुद्गायति ॥ १७ ॥

यद्बृहत्सामतदैर वै'इरा-अथ तत्सम्यन्धि तत्साधनमित्यर्थः । यद्रथ-
न्तरन्तदैडं वै पशुसाधनं खलु शिष्टं सुष्ठानम् । एतानीरादिरूपाण्येते-
योः सन्वन्धीनि मनसाऽन्वीक्ष्य सम्भाव्य पश्चादेते उद्गायेत् । एवं कुर्वन्नु-
द्गाताऽन्यतरप्रयोगेऽपि कलृताभ्यां प्रयुक्ताभ्यामुभाभ्यामुद्गायति । उ-
भयोरुद्गाने यत् फलन्तदन्यतरेणापि लभत इत्यर्थः । एतेषां मनसान्वी-
क्षणस्यान्यतरप्रयोगेऽपि कसंख्यत्वं सूत्रकारोऽप्याह 'बृहता रथन्तरेण
वा स्तोम्यमाणः प्राक् स्तोमयोगाद्दश ध्याहृतीर्मनसा ध्यायेदैरमैड-
मिती'ति ॥ १७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तमाध्यायस्य

षष्ठः खण्डः ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

बृहद्रथन्तरयोः स्तुतिप्रकारं समुचित्य दर्शयति—

पशवो वै बृहद्रथन्तरे अष्टाक्षरेण प्रथमाया ऋचः
प्रस्तौत्यष्टाशफांस्तत्पशून्वरुन्धे ॥ १ ॥

बृहद्रथन्तरे उभे अपि पशवो वै तयोरनुष्ठानात् सिद्धेः । अत उभयोः
प्रथमाया ऋचः 'अमित्वा'दधामिद्धि' इत्यनयोर्ऋचोरित्यर्थः । अष्टाक्षरे-
णादितोऽष्टाक्षरैः प्रस्तौति प्रस्तावमाणं गायेत् । 'अष्टाक्षरसंख्या ऋगक्षर-
संख्या ऋगक्षरमात्रविषया न स्तोमादिविशिष्टविषया 'अमित्वाशूर-
नोनुमो वा' इति रथन्तरे 'औ हो ई त्वामिद्धि दधामहाइप्' इति बृहती-

ति विभागसंज्ञेनाष्टाक्षरप्रस्तावेनाष्टाशफान् पशून् प्राप्नोति यजमानः॥१॥

अथोत्तरयोर्ऋचोः प्रस्तावभागमाह—

द्व्यक्षरेणोत्तरयोर्ऋचोः प्रस्तौति द्विपाद्यजमानो य-
जमानमेव यज्ञे पशुषु प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

रथन्तरस्योत्तरयोर्ऋचोः 'ईशानमस्य जगतः 'न जातो न जनिष्यते'
इत्यनयोर्ऋचोः 'ईशो वा न जीवे'ति द्व्यक्षरेण प्रस्तावभागं गायेत् । तथा
च बृहति 'औ हाई तु वा३मे औहाई महा३ ए' इति द्व्यक्षरेण प्रस्तौति ।
द्व्यक्षरस्योक्ताष्टाक्षरं मिलित्वा प्रशस्यते । यजमानोऽपि द्विपात्तमेव यज्ञे
यज्ञफलभूतेषु पशुषु प्रतिष्ठापयति प्रस्तौता ॥ २ ॥

अथ प्रस्तावमुक्त्वा रथन्तरस्य प्रतिहारभागनियममाह—

पञ्चाक्षरेण रथन्तरस्य प्रतिहरति पाङ्क्ताष्टस्तत्पशून्-
चरुन्धे ॥ ३ ॥

आ ईशानमा२३ ईन्द्रा३'इति प्रथमायां 'न जातो ना२ ३ जा३' इति
मध्यमायां 'गव्यन्नस्त्वा२ ३हा३'इत्युत्तमायामिति रथन्तरस्य निरुध्वपि
प्रतिहारनियमात्तत्तेन पञ्चाक्षरप्रतिहारेण पाङ्क्तानवयवगनपञ्चसंख्या-
योगेन पाङ्क्तिसम्यन्धान् पशून्चरुन्धे यजमानः । रोमाणि त्वह्नांसास्थि-
मज्जेति पशूनां पञ्चावयवाश्चत्वारः पादा आत्मा चेति वा ॥ ३ ॥

अथ बृहतः प्रतिहारभागमाह—

चतुरक्षरेण बृहतः प्रतिहरति चतुष्पदस्तत्पशून्-
चरुन्धे ॥ ४ ॥

बृहतः प्रथमायां 'त्वां काष्ठा ४ औ होवा'इति । मध्यमायां 'महस्तवा
३४ औहो वा'इति । उत्तमायां 'सत्रावाजा ३४ औहो वा'इति ॥ ४ ॥

अथ बृहद्रथन्तरयोः ककुबुत्तरा गानं विदधाति—

न वै बृहन्न रथन्तरमेकच्छन्दो यच्छत्ततः ककुभा-
बुत्तरे उपादधुस्तस्माद्बृहती प्रथमा ककुभावुत्तरे तस्मा-
द्बृहद्रथन्तरे एकर्चेन कुर्वन्ति न हि ते एकच्छन्दोऽ-
यच्छत् ॥ ५ ॥

वार्हते प्रगाथे बृहद्रथन्तरे गीयेने तत्र पूर्वा बृहत्युत्तरा विष्टा-
रपाङ्क्तिः । एवञ्च सत्युक्तेप्रगाथे एकां बृहतीं द्वे ककुमे च सम्पादयितु-
माह । बृहत्साम रथन्तरं वा एकं छन्दो न खल्वयच्छत्-नियन्तुश्च श-

होत् । ततः कारणादुत्तरे ऋचौ ककुभौ सम्पाद्योपादधुः पूर्वं ऋचः ।
यद्यस्मादेवन्तस्मादिदानीन्तनैरपि बृहती प्रथमा कार्या ककुमादुत्तरे ।
तत्प्रकार एव, बृहती तत एव सिद्धा तस्याश्चतुर्थं पादं पुनरावर्त्य वि-
ष्टारपंक्त्योश्च पादद्वयं मिलित्वा एकाङ्कुमङ्कुय्यात् । तस्या एव द्विती-
यपादं पुनरावर्त्यावशिष्टपादद्वयेनान्याङ्कुममिति । तस्मादेव बृहद्व-
यन्तरे एकैर्धनैकच्छन्दस्केन कुर्वन्ति । तस्मादित्युक्ताविवरणम् ॥ ५ ॥

‘न हि त’ इत्यादि बृहद्धाने कञ्चिद्विशेषमाह—

नव बृहतो रोहान् रोहति नव प्राणाः प्राणानेवा-
वरुन्धे ॥ ६ ॥

बृहतः साम्नो नव रोहानारोहणान्युच्छ्रायानारोहत्यारोहत् प्रा-
णानां नवत्वमसकृदुक्तं सह्यासाभ्यात् । नव प्राणान् यजमान आ-
त्मनि तदधाति ॥ ६ ॥

अथ तृचे तान् विमज्ज्य दर्शयति—

त्रीन् प्रथमायां रोहति भूतं भवद्भविष्यत्तानेवा-
वरुन्धे त्रीन् मध्यमायां रोहत्यात्मानं प्रजां पशुं-
स्तानेवावरुन्धे त्रीनुत्तमायां रोहति अथ इमे लोका
एष्वेव लोकेषु प्रति तिष्ठति ॥ ७ ॥

प्रथमायामृचि त्रीन् रोहति द्वितीयायां तृतीयायाञ्च त्रीनिति नव
रोहाः स्युः । प्रथमायां रोहप्रयेण भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालीना भोगाः
सन्ति तानेव यजमानोऽवरुन्धे । शिष्टं सुज्ञानम् ॥ ७ ॥

उक्तार्थवेदनपूर्वकारोहणफलमाह—

सर्वान् कामानवरुन्धे य एवं विवद्धान् बृहतो रो-
हान् रोहति ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

रथन्तरे उद्गातुप्रस्तोतृपाठयोर्मध्ये यजमानारोहान्तुः कञ्चिद्वि-
षयानं विधत्ते—

ववज्रेण वा एतत्प्रस्तोतोद्गातारमभिप्रवर्त्तयति यद्रथ-
न्तरं प्रस्तौगि समुद्रमन्तर्द्वापोद्गायेद्वागित्यादेयं ववाग्वै-
समुद्रः समुद्रमेवान्तर्द्वात्यहिंसायै ॥ ९ ॥

प्रस्तोता रथन्तरन्तप्रस्तावमानं प्रस्तौतीति यत् ? एतद्वज्रेणैव-

प्रस्तोतोद्गाताश्च प्रवर्त्तयति प्रेरयति । अतस्तत्परिहाराय समुद्रमन्त्र-
ज्ञाय व्यवधायोद्गापेदुद्गाता । समुद्रस्यान्तर्धातुमशङ्क्यत्वाच्चतुपाय
उच्यते धागिति । धामेवेदमित्यादेयं मनस्याधानं कर्त्तव्यं ध्यातव्य-
मित्यर्थः । वाचः समुद्रस्य चक्रः प्रसङ्ग इत्यत्राह यः समुद्रः सवाग्भै ।
समुद्रवत् त्वर्षपदार्थानां स्वान्तर्निधानाद्वाक् समुद्र इत्युच्यते । नया च
वाङ्निधानेन समुद्रमेवान्तर्निहितवान् भवत्यहिंसायै । ९ ॥

अथोक्तदोषपरिहाराय तत्र कञ्चिद्विशेषमाह—

बलवद्भेयं वज्रमेवं प्रवृत्तां प्रत्युद्गृह्णाति ॥ १० ॥

बलवदिति स्पष्टाक्षरमुद्गात्रा गातव्यम् । तथा सत्यस्य दौर्बल्याभावा-
त्प्रस्तावरूपं वज्रमेवोद्गृह्णात्यूर्ध्वमेव स्तम्भाति ॥ १० ॥

तत्रैवोपायान्तरमाह—

बल्वला कुर्वता गेयमभिलोभयतेव वज्रमेवाभि-
लोभयति ॥ ११ ॥

बल्वला कुर्वता गेयं स्तोमवता गेयमभिलोभयता—इवेति । अभि-
लोभनं हिंसनं वज्रमभिलोभयामीति ध्यायता गेयमित्यर्थः । तथा सति
वज्रमेवाभिलोभयति हिनस्ति ॥ ११ ॥

रथन्तरगाने नियमविशेषमाह—

क्षिप्रद्वेयं स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै ॥ १२ ॥

क्षिप्रमविलम्बेन गातव्यम् । तच्च स्वर्गस्याविलम्बेन समष्टयै संप्राप्त्यै
भवति ॥ १२ ॥

अत्रैव नियमविशेषमाह—

देवरथो वै रथन्तरमक्षरेणाक्षरेण प्रतिष्ठापयतोद्वेय-
मरेणारेण हि रथः प्रतितिष्ठति ॥ १३ ॥

रथन्तरं साम देवानां वै रथः । तदक्षरेणाक्षरेण प्रतिष्ठापयतोद्वेयम् ।
हि यस्माद्रथः अरेणारेण रथाङ्गस्य शङ्खो नेम्याधारभूता अराः प्र-
त्यरं हि रथः प्रतितिष्ठति ॥ १३ ॥

अथ तस्य मृस्पर्शगानं विधत्ते—

यो वै देवरथमनन्वालभ्यातिष्ठत्यवास्मात्पद्यत इयं
वै देवरथ इमामालभ्योद्गापेन्नास्मादवपद्यते ॥ १४ ॥

यो हि देवरथं रथन्तरमनन्वालभ्यालभ्यमनं स्पर्शनमकृत्वा अतिष्ठ-
त्यारोहति सोऽस्माद्देवरथादवपद्यतेऽधःपतति । यया लौकिकरथमन-

घलभ्यारोहज्ञवपथते तद्वत् । अतस्तदवलम्बनस्य क उपायः ? इत्यु-
च्यते । इयं पृथिव्येव हि देवरथः । इयं वै लोको रथन्तर'मित्युक्तवाच-
स्मादिमामालभ्योद्वेयम् ॥ १४ ॥

पुनस्तत्रैव कंचिन्नियममाह—

ईश्वरं वै रथन्तरमुद्रातुश्चक्षुः प्रमथितोः प्रस्तूयमाने
सम्मिलितस्वर्दंशं प्रतिवीक्षेत नैनश्चक्षुर्जहाति ॥ १५ ॥

रथन्तरं साम स्तूयमानमुद्रातुश्चक्षुः प्रमथितोः प्रमथितुमीश्वरं वै
समर्थं खलु । अतस्तस्मिन् प्रस्तूयमाने चक्षुः सम्मिलेन्मुकुलितं कु-
र्यात् । पुनः स्वर्दंशं स्वर्दंशमिति पदं गीयमानं प्रतिवीक्षेतावलोकयेत् ।
एवं सायेनमुद्रातारं चक्षुर्न जहाति नान्धो भवति ॥ १५ ॥

रथन्तराश्रयभूतायामृच्यध्ययनप्राप्तं 'तस्थुप' इति पदं निन्दित्वा
प्रकारान्तरेण पठितव्यमित्याह—

प्रजननं वै रथन्तरं यत्तस्थुप इत्याहास्यायुकोद्रातु-
वर्गभवत्यपि प्रजननं हन्त्यस्थुप इति वक्तव्यं सुस्थु-
प इति वा स्यायुकोद्रातुवर्गभवति न प्रजननमपि
हन्ति ॥ १६ ॥

रथन्तरं साम प्रजननस्यापत्याद्युत्पादनस्य हेतुत्वात् स्वयमपि प्र-
जननमेव । तथा च यद्यदि तस्थुप इत्याहोद्राता न हि तस्य चाग्रन्थ-
न्तरात्मिका स्यायुका स्थितिस्वभावा भवति न प्रसृता । अत एव प्रज-
ननमुद्रातुः प्रजाद्युत्पादनसामर्थ्यमपिहन्ति । कथं तस्य परिहारः ? इति
तत्राह । अस्थुप इति वक्तव्यन्तर्धोके वाचामस्यायुकदोषः परिहृतो भ-
वति । अथवा सुस्थुप इति वक्तव्यं तेनास्य रथन्तररूपाया वाचः शो-
भनस्यायुकत्वं भवति प्रजननमपि नपिहन्ति । अथमभिप्रायः अस्थुप
इत्युक्तेऽहोद्रात् रथन्तररूपा वाक् प्रसृता भवति । रथन्तरगानस्य कल-
रूपं प्रजननमपि न हन्ति । सुस्थुप इत्युक्तौ सुशब्दध्वनात् प्रजननक्ष-
यमाघेन सुप्रजननं भवति ॥ १६ ॥

अथ रथन्तरगानात्पूर्वं 'व्यस्ते गोपु' इत्ययं मन्त्रो जप्तव्य इति वि-
धिसुराह—

पृष्ठानि वा असृज्यन्त तैर्देवाः स्वर्गं लोकमायं स्ते-
षां रथन्तरस्माद्भिन्ना नाशक्नोदुत्पतत् ॥ १७ ॥

पूर्वं देवा रथन्तरादीनि पदं पृष्ठानि सृष्ट्वा रथन्तरव्यतिरिक्तै-

रितरैः प्रयुक्तैः सह स्वर्गं लोकमायन् । तेषां मध्ये रथन्तरपृष्ठं महिम्ना प्रवृद्धेन माहात्म्येन निमित्तेन तत्र तत्र विप्रकीर्णत्वेनेत्यर्थः । तेनोत्पतदपि रथन्तरं स्वर्गं गन्तुं नाशक्नोत् ॥ १७ ॥

इदानीं स्वर्गसाधनत्वेन विदधाति—

तस्य व्वशिष्टो महिम्नो विनिघाय तेन स्तुत्वा स्वर्गं लोकमैत्तान् संभृत्योद्गायेत् ॥ ॥ १८ ॥

तस्य रथन्तरस्य महिम्नो माहात्म्यानि विप्रकीर्णानि विनिघाय विशेषेणैकत्र स्थाप्य तेन स्तुत्वा वशिष्टः स्वर्गं लोकमद्गच्छत् । तस्मात्तन्महिम्नः संभृत्योद्देवमितरैरपि ॥ १८ ॥

अथ गातव्यं संभृतमहिमानमन्त्रदर्शयति ।

यस्ते गोष्ठु महिमा यस्ते अप्सु रथे वा ते स्तनयित्नौ य उ ते यस्ते अग्नौ महिमा तेन सम्भव रथन्तरद्रविणवन्न एधि ॥ १९ ॥

अस्यायमर्थः— हे रथन्तर यो यो महिमा ते तव सम्बन्धी गवादिषु आग्न्यन्तेषु विप्रकीर्णो वर्त्तते तेन सर्वेण सम्भव समर्चिचर्तं प्रवृद्धं भव । तथा भूतं सत् द्रविणवत् बहुद्रविणोपेतं सन्नोऽस्मदर्थमेधि भव समागच्छ वा ॥ १९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सप्तमाध्यास्य सप्तमः खण्डः ।

अथाष्टमः खण्डः ।

अथाष्टमनवमयोर्वामदेव्यं स्तूयते तत्रादौ निर्वचनद्वारा तत्प्रशंसति—

अपो वा ऋत्वमार्च्छत्तासां वायुः पृष्ठे व्यवर्त्तत ततो व्वसु व्वामभुंसमभवत्तस्मिन् मित्रावरुणौ पर्यपश्यतां तावदूतां व्वामं मर्या इदं देवेष्वजानीति तस्माद्दामदेव्यम् ॥ १ ॥

ऋत्वमृतुसंवाङ्घ्रिं प्रजननसामर्थ्यमप उदकाति स्रत्वाच्छेदयच्छत् । तासां प्रासर्त्तयानामपां वायुः पृष्ठे देशे व्यवर्त्तत-अनुप्रवृत्तोऽभूत् । ततोद्भूतः सकाशात् व्वामं व्वननीयं व्वसु धनं समभवत् । तस्मिन् धनं मित्रावरुणौ पर्यपश्यतां दृष्टवन्तौ दृष्ट्वा च तावदूताम् । किमिति ?

उच्यते । हे मर्या धाममिदं धनं सामलक्षणं देवेष्वजनि उदभूदिति तस्मादेवं ताभ्यामुक्तत्वाद्द्वामदेव्यमिति तन्नाम सम्पन्नम् ॥ १ ॥

अथोत्पन्नं धामदेव्यं सर्वदेवतासम्यन्धद्वारेण प्रशंसति—

तत्परिगृह्णन्तावभूतामिदमविदावेदन्नौमाभ्यर्त्तिद्व-
मिति तत्प्रजापतिरब्रवीन्मद्वा एतदङ्ग्यजनि मम वा
एतदिति तदग्निरब्रवीन्मा वा एतदन्नमजनि मम वा
एतदिति तदिन्द्रोऽब्रवीच्छ्रेष्ठस्था वा एतदहं वः श्रेष्ठो-
ऽस्मि मम वा एतदिति तद्विश्वे देवा अनुवन्नस्मद्देवत्वं
वा एतदङ्ग्योऽग्नि समभृदस्माकं वा एतदिति तत्प्रजा-
पतिरब्रवीत्सर्वेषां न इदमस्तु सर्व इदमुपजीवामेति त-
त्पृष्ठेषु न्यदधुः सर्वदेवत्वं वै धामदेव्यम् ॥ २ ॥

तद्वसु परिगृह्णन्तौ मित्रावरुणावभूतामिदं च स्वविदाव । आर्वां
लघ्वन्तौ स्व अत इदं नौ—आवाभ्यामेव । अतो हे देवा अभ्यर्त्ति-
द्वं नो अतिवाधध्वमित्यभूताम् । एवमुक्ते तद्वसु प्रजापतिरब्रवीत् । एतद्व-
सु मदीधि मत्तोऽजनि प्रादुरभूत् । अतो ममैव खल्वेतदिति । तदेव धनं
प्रत्यग्निरैवाब्रवीदेतद्वसु मामनु खल्वजनि । 'अग्नेरपि' इति श्रुतेर-
ग्न्यनन्तरमाप उत्पन्नास्ताभ्योऽस्योत्पन्नत्वादित्यमिप्रायः । ममैवैतदिति
तथा तदन्नमिन्द्रोऽब्रवीदेतदन्नं श्रेष्ठस्था वै श्रेष्ठे तिष्ठतीति श्रेष्ठस्थाः ।
तिष्ठतेः 'सर्वधातुभ्योऽसुन्ति' त्यसुन् प्रत्ययो व्यत्येन पुल्लिङ्गा । श्रेष्ठविषयं
ह्येतद्द्वामदेव्यम् । अहञ्च वो युष्माकमग्नये श्रेष्ठोऽस्मि—अतो ममैवैतदिति ।
तदेव धनं विश्वे देवा अपां सर्वदेवत्यत्वात् तत्रोत्पन्नं धनमस्मद्देवत्यम् ।
अतोऽस्माकमेवेत्युक्तवान् । एवं वसुविषयं विवदमानेषु सत्सु प्रजाप-
तिरब्रवीत् । इदं धनन्नः सर्वेषामस्तु । अतः सर्वमिदं धनमुपजीवा-
मेति । एवमुक्ते तद्द्वामदेव्यं धनं पृष्ठेषु रथन्तरादिषु न्यदधुर्देवाः । अत
इदं धामदेव्यं सर्वदेवत्वं वै ॥ २ ॥

एतदेव विमज्य दर्शयितुमादौ प्रजापतेर्भागं दर्शयति ।

यत्कवतीषु तेन प्राजापत्यं को हि प्रजापतिर्यदनि-
रुक्तासु तेन प्राजापत्यमनिरुक्तो हि प्रजापतिः ॥ ३ ॥

यत् कवतीषु कदाचोपेतासु 'कपा न' इत्यादिषु तिष्ठन्ति गायन्ति
तेन तस्मात् प्राजापत्यम् । उक्तस्यैव समर्थनं कोहीति । यः प्रजापतिः स

को हि कशब्दवाच्यः अलु कौऽहं न्यामिति 'को हं वै नाम प्रजापतिरिति तैत्तिरीयकम् । तथाऽनिरुक्तास्वस्वपदेवताविशेषासुक्तास्वेवर्धु गीयते । अतोऽप्येतत्प्रजापत्यं तत् समर्थितम् । अनिरुको हि प्रजापतिरनिरुक्तत्वं सर्वरूपत्वेनावशिष्टविशेषरूपत्वाभिप्रायम् ॥ ३ ॥

अग्नेर्भागं दर्शयति ।

यद्गायत्रीषु तेनाग्नेयं गायत्रच्छन्दा ह्यग्निः ॥ ४ ॥

यत् 'कयान' इत्यादिषु गायत्रीषु गीयते तेन तदाग्नेयं भवति ॥ ४ ॥

यत् पृष्ठेषु न्यदधुस्तेनैन्द्रं सवर्षाणि हि पृष्ठानिन्द्रस्य निष्केवल्यानि ॥ ५ ॥

यद्यस्माद्दामदेव्यं पृष्ठेषु न्यदधुस्तेनैतदैन्द्रं भवति । कुत ? इत्याह सवर्षाणि हि पृष्ठानि चत्वारिन्द्रस्य निष्केवल्यान्यसाधारणानि ॥ ५ ॥

अथास्य मित्रावरुणयोर्भागमाह ।

यन्मैत्रावरुणोऽनुशंसति तेन मैत्रावरुणम् ॥ ६ ॥

यद्यस्मान्मैत्रावरुणदेवत्यशस्त्रे वामदेव्यमनुशंसति तेन मैत्रावरुणमिति 'तेन वामदेव्यमग्नेर्गायत्र्यमवदिति' श्रुतेः ॥ ६ ॥

अयेन्द्रस्य भागं दर्शयत्यथैतस्य वैश्वदेवत्वमाह—

यद्बहुदेवत्यमुत्तमं पदं तेन वैश्वदेवं सर्वेष्वेव रूपेषु प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

यद्यस्मादुत्तमं पदं वामदेव्यतृचस्यान्तिमं 'शतं भवा स्यूतये' इत्येतत्पदं बहुदेवत्यस्तेन तद्वैश्वदेवमित्यमुकरात्या सर्वेष्वेवरूपेषु सर्वदेवतासम्यग्धिषु प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितं भवति ॥ ७ ॥

अथ वामदेव्याद्रथन्तरादिर्द्युष्टिं विवक्षुस्तत्साधनत्वेन वामदेव्ययोनिभूतां गायत्रीमुपदिशति—

प्रजापतिर्वा एतां गायत्रीं योनिमपश्यत्स आदीर्घातास्माद्योनेः पृष्ठानि सृजा इति ॥ ८ ॥

प्रजापतिः खल्वेतां 'कयान' इतीमां गायत्रीं योनिं वामदेव्यस्य योनिभूतामपश्यत् । दृष्ट्वा च स प्रजापतिरादीर्घाताध्यायत् । किमिति ? अस्माद्गायत्रीरूपाद्योनेः पृष्ठानि यदपि सृजै इति सृजानीति ॥ ८ ॥

अथोक्तसाधनाद्रथन्तरादिमाह—

स रथन्तरमसृजत तद्रथस्य घोपोऽन्वसृज्यत ॥ ९ ॥

स प्रजापतिर्गायत्रीभ्य उत्पन्नाद्दामदेव्याद्वा रथन्तरं पृष्ठं प्रथम-
मसृजत । तत् पृष्ठमनु रथस्य घोषोऽन्वसृज्यत । नचानघकोऽयं रथघोषः-
सृष्ट्युपन्यास इति मन्तव्यं सप्रयोजनत्वात् । तथा हि रथन्तरमनुसृ-
त्योत्पन्नत्वात्पृष्ठस्य प्रथमेऽहनि रथन्तरं रथघोषेणोपाकुर्वन्ति । वाम-
देव्ययोने रथन्तरपृष्ठोत्पत्तिप्रकार इत्थं ज्ञातव्यः । रथन्तरस्य बार्हतप्र-
कार इत्थं ज्ञातव्यः । रथन्तरस्य बार्हतप्रगोधो योनिस्तत्र प्रथमायां त्रयो-
गायत्र्याः पादा एकश्च जागतः । द्वितीयायां विष्टारपङ्क्तौ द्वौ गायत्री-
पादौ द्वौ च जागतौ । अतो वामदेव्याधारायामृचि गायत्रीपादसद्भा-
वाद्वायव्यामुत्पन्नमित्युच्यते । साम्नः साम्नोत्पत्तिपक्षेऽपि स्तोत्रियद्वारा
पूर्वोक्त एव सम्यन्धः ॥ ९ ॥

अथ बृहद्वैरूपयोगाव्ययीयोनेः सकाशात् सृष्टिमाह—

स बृहदसृजत तत्स्तनयित्नीर्घोपोऽन्वसृज्यत स
वैरूपमसृजत तद्वा तस्य घोषोऽन्वसृज्यत ॥ १० ॥

बृहद्वैरूपयोरपि बार्हतप्रगायाम्यामेवोत्पत्तेस्तयोः पूर्ववद्वायव्रीपा-
दसद्भावाद्वायव्या एवोत्पत्तिस्तनयित्नुघोषेण बृहतः स्तुत्यशक्यत्वात्त-
त्समानेन दुन्दुमिघोषेणोपाकरणम् । तथा वा तद्व्योपस्य रूपानन्तरं
सृष्ट्यादुपवाजयमाना वैरूपेण स्तुवीरन्नुपवाजयमाना वा ॥ १० ॥

अथोक्तसाधनाद्वैराजसृष्टिमाह—

स वैराजमसृजत तदग्नेर्घोपोऽन्वसृज्यत ॥ ११ ॥

राजगानासम्भवाद्ग्निसम्यनघोप एव तत्र घोषः । वैराजस्य गायत्री-
सम्यन्ध एव वैराजस्य प्रथमापि वा 'सोममिन्द्रमनू उत्व' इति त्रिंशद्-
क्षरा उत्तरे त्रयस्त्रिंशदक्षरे' इति तृचस्य पणवपक्षराणि ताञ्चतस्त्रो-
गायत्र्यः सम्पद्यन्ते । अतस्तस्य तत्र उत्पत्तिः ॥ ११ ॥

अथ ततः शाक्रसृष्टिमाह—

स शक्ररीरसृजत तदपाह्वोपोऽन्वसृज्यत ॥ १२ ॥

शक्ररीरशब्दस्य स्त्रीलिङ्गश्चात्तच्छब्दपरामर्शाय शक्ररीरसाध्यं
पृष्ठं सामिवानु पश्चाद्गवां घोष इति व्याख्येयम् । अपां घोषेण सह शाक्र-
स्योत्पन्नत्वात्तदाश्रयमहानाम्नीगानसाधिका अप उपनिदधुः । ध्वनि-
सम्यन्धस्तु यो यः साम गायति स स उदकघोषमातयतीत्येवं ज्ञात-
व्यः । गायत्र्या अस्योत्पत्त्युपचारः प्रायशो महानाम्नीषु उपसर्गाव्यति-
रिक्तास्तु 'शिक्षाशर्चना'मित्यादिषु गायत्रीपादानां प्रायशः सम्भवा-
दुपपद्यते ॥ १२ ॥

अथ ततो रैवतात्पाप्तिमाह ।

स रेवतीरसृजत तद्गवां घोषोऽन्वसृज्यत ॥ १३ ॥

नन्वत्र रेवतीनामेव सृष्टिराम्नायते । उत्तरं चारवन्तीयमेव चारवन्तीनां स्तोत्रीयास्तु विधास्यति । सूत्रकारेणापि चारवन्तीयस्य स्तोत्रे 'धेनुः सम्वासयेयु' रित्याह । नैष दोषः । अत्र रेवतीचारवन्तीययोर्विकल्पमेके युवते । अन्ये तु रेवतीशब्देन स्तोत्रीया उच्यन्ते इत्याहुः । निदानञ्च 'पृष्ठे हनि रेवतीषु चारवन्तीयं पृष्ठं भवती'ति रेवतीनां गायत्रीत्वात्ततो रैव-
तसृष्टिसम्बन्धः ॥ १३ ॥

उक्तमर्थं संप्रहेण दर्शयति—

एतैर्वा एतानि सह घोषैरसृज्यन्त ॥ १४ ॥

एतैर्वा उक्तैः खलु घोषै रथादिसम्बन्धिमिः सहैतानि रथन्तरा-
दीन्यसृज्यन्तेति घोषाणां सह सृष्टिप्रयोजनं पूर्वमुक्तम् ॥ १४ ॥

उक्तार्थवेदनफलमाह—

मर्वेऽस्मिन् घोषाः सर्व्वाः पुण्या वाचो वदन्ति
य एवं वेद ॥ १५ ॥

अस्मिन् वेदितरि-एनं विषयीकृत्येत्यर्थः । सर्व्वाः पुण्या इत्युक्तस्य
विघरणं पुण्या वाच एतमुच्चरन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

इति ताण्ड्यमहाप्राक्षणे सप्तमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

अथोक्तसम्बन्धमपेक्ष्य पृष्ठानां धामदेव्यत्वेन तदेव प्रशंसति—

पिता वै धामदेव्यं पुत्राः पृष्ठानि ॥ १ ॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥

कुत इति तदुपपादयति—

एतस्माद्वा एतानि योनेरसृज्यन्त ॥ २ ॥

एतस्माद्वा धामदेव्ययोनेः सकाशाद्भवत्येवम् ॥ २ ॥

किं तत इत्याह—

तस्मात् पृष्ठानां स्तोत्रं धामदेव्येनानुष्ठुवन्ति शा-
न्त्यै ॥ ३ ॥

यस्मादेवन्तस्मात् यण्णामपि पृष्ठानां स्तोत्रं धामदेव्येन स्तुवन्ति ।
पृष्ठस्तोत्रवैगुण्यनिबन्धनायाशान्तेरपनयनाय ॥ ३ ॥

एवमपि शान्तिः कथमिति तत्राह—

यद्वि पुत्रोऽशान्तं चरति पिता तच्छमयति ॥ ४ ॥

एवं लोकसिद्धत्वात् स्पष्टम् ॥ ४ ॥

अथ वामदेव्यस्यान्तरिक्षस्थानीयत्वञ्चाह—

अयं वै लोको मध्यमो वामदेव्यमेतस्माद्वा इमौ लो-
कौ विष्वक्श्चावसृज्येतां बृहच्च रथन्तरश्च ॥ ५ ॥

इदं वामदेव्यमयं मध्यमो लोकोऽन्तरिक्षं खल्वेतस्मादन्तरिक्षा-
द्विष्वक्चावमितोऽतो विद्यमानायं च भूलोकोऽसौ एलोकश्चावसृज्येतां
यद्वृहच्च रथन्तरं चास्ति ॥ ५ ॥

अस्त्वेवं त्रयाणां लोकत्रयात्मकायं कथमनेन वामदेव्यस्य स्तुति-
रिति तत्राह—

यद्रथन्तरेण स्तुवन्ति ये रथन्तराः पशवोऽन्तरीक्ष-
न्त उपश्रयन्ति यद्वृहना स्तुवन्ति ये बार्हिताः पशवोऽन्त-
रीक्षन्त उपश्रयन्ति ते वामदेव्यस्य स्तोत्रिणावरुद्धाः ॥ ६ ॥

यदि रथन्तरेण स्तुवन्ति ये रथन्तराः पशवः सन्ति ते सर्वेऽप्य-
न्तरिक्षनुपश्रयन्ति । एवं वृहत् स्तुत्यापि बार्हिताश्च पशवोऽन्तरिक्षमेवो-
पश्रयन्ति । वृहद्रथन्तरयोरपि पशुहेतुत्वात्तदुभयफलभूताः पशवोऽप्यन्त-
रिक्षमेवोपश्रयन्त्येवमेकैकस्तोत्रप्रयोगे । वामदेव्यस्य स्तोत्रप्रयोगे तु
उभयेऽपि पशवोऽवरुद्धाः स्युः । यद्वा यदुभयविषयशूनामन्तरिक्षाश्रयणं
तदन्तरिक्षरूपवामदेव्यस्तुतिप्रसादात्तुभ्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अथ वामदेव्यगाननियममाह—

ध्रुव आसीनो वामदेव्येनोद्गायेत्पशूनामुपवृत्तै ॥ ७ ॥

ध्रुवो निश्चल आसीन उपविष्टः । नियमगानं पशूनां सञ्चरतां पुनरु-
पावर्त्तनाय भवति ॥ ७ ॥

अथ वेदितुः फलमाह—

उपैनं पशव आवर्त्तन्ते यएवं वेद ॥ ८ ॥

सुस्पष्टम् ॥ ८ ॥

अथ ध्रुव आसीनो गायेदित्युक्तमेव नियमं वाक्यद्वयेन प्रपञ्चयति—

अन्तरिक्षं वै वामदेव्यमधून्वतेवोद्ग्रेयमधूतामिवा-
न्तरिक्षं पशवो वै वामदेव्यमर्हिसतेवोद्ग्रेयं पशूना-

महिंसायै ॥ ९ ॥

अधून्वतेव अहान्यकम्पतेव । अहिंसतेव अहान्यपीडतेव । सुज्ञान-
मन्यत् ॥ ६ ॥

अथ वामदेव्यगाने प्रकारविशेषविषयं ब्रह्मवादिनः प्रश्नान्तदुत्तर-
ज्ञावतारयति—

कथमिव व्वामदेव्यं गेयमित्याहुः ॥ १० ॥

वामदेव्यं कथं केन प्रकारेण गेयमित्यस्येत्याहुरित्यभिज्ञानामुत्तरम् ॥ १० ॥

इतिशब्दोक्तेन प्रकारविशेषं दर्शयति—

यथांकुली पुत्रान् सन्दश्यासम्भिन्दती हरति यथा
व्वातोऽप्सु शनैर्व्वाति ॥ ११ ॥

यथा—अंकुली माज्जारी स्वपुत्रान्सन्दश्यासम्भेदं कुर्व्वती हरति
यथा वा वायुः पर्व्वताप्रादिवैलक्षणेनाप्सु शनैर्वात्येवङ्गेयमिति ॥ ११ ॥

अथ नियमान्तरमाह—

स्वधूर्व्वामदेव्यङ्गेयम् ॥ १२ ॥

अत्र धूरिति प्रकार उच्यते । स्वैवानन्यसाधारणी धुर्य्यसृतिः स्व-
धूः । तथा वामदेव्यं गेयम् ॥ १२ ॥

अथोक्तप्रकारेण गानफलमाह—

यो वै स्वधूर्व्वामदेव्यङ्गायति स्वधूर्भवति ॥ १३ ॥

अनन्यार्थातो भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

स्वधूरित्येतद्विवृणोति—

यात्यस्यान्यो नियानेन नान्यस्य नियानेन याति ॥ १४ ॥

अस्योद्गार्तुनियानेन निगमनेन मार्गेणान्य उद्गाता याति नायमन्यस्य
नियानेन मार्गेण याति ॥ १४ ॥

स्वधूर्गेयमित्युक्तं तद्विवृणोति—

न बृहतो न रथन्तरस्यानुरूपङ्गेयं स्वनैवायतनेन
गेयमायतनवान् भवति ॥ १५ ॥

बृहतो रथन्तस्य न यदनुरूपमनुकूलन्तेनैव तन्न गेयम् । किन्तु वाम-
देव्यस्य यत् स्वमायतनं नियता गीतिस्तस्यां गानमेवास्य रूपे स्थि-
तिः । य एवं गायति सोऽयायतनवान् भवति । अथ वामदेव्यं स्वस्तो-
त्रियाणामनिरुक्तत्वस्य पूर्व्वमुक्तत्वात् स्वयमप्यनिरुक्तं भवति ॥ १५ ॥

तद्रूपत्वं स्तोतुकाम आह—

देवा वै पशून् व्यभजन्त ते रुद्रमन्तरायं स्तान्वा-
मदेव्यस्य स्तोत्र उपेक्षते ॥ १६ ॥

पूर्वे देवाः प्रजापतिना सृष्टान् पशून् व्यभजन्त परस्परं विभाग-
मकुर्वन् । ते विभजमाना विभागात् रुद्रमन्तरायन्नन्तरितवन्तः । तान्
वामदेव्यस्य स्तोत्रे क्रियमाणानुपेक्षते-उपेत्य पश्यति । पशून् घातु-
कामो रुद्रः ॥ १६ ॥

उक्तदोषपरिहाराय तस्यानिरुक्तत्वमाह—

अनिरुक्तद्वेषम् ॥ १७ ॥

तस्मादिदानीन्तनैरेष्यानिरुक्तं देवतायाः फलस्य वा कस्य चिन्नि-
र्वचनमकृत्वा वामदेव्य गातव्यम् । अनिरुक्तकवतीव्यतिरिक्तास्येतन्न गा-
तव्यमित्यर्थः ॥ १७ ॥

उक्तवैपरीत्ये दोषमाह—

यन्निराह रुद्राय पशूनपि दधाति रुद्रस्तां समां
पशून् घातुको भवति ॥ १८ ॥

यद्यपि हि निराह निर्गृते तां समान्तास्मिन् सम्यत्सरे रुद्राय पशू-
नपि दधाति स्थापितवान् भवति । स रुद्रस्तां समां पशून् घातुको
भवति । तस्मात् कषतीश्वेव गातव्यमिति तस्य स्तुतिः ॥ १८ ॥

अथ पशुकामस्य निरुक्तमपि स्तोत्रियान्तरं वामदेव्यस्य ग्राह्य-
मित्याह—

रेवतीषु वामदेव्येन पशुकामः स्तुवीत ॥ १९ ॥

'रेवतीर्न' इत्याद्या रेवत्यः ॥ १९ ॥

अथ तासां गोसम्यन्धमाह—

आपो वै रेवत्यः पशवो वामदेव्यमद्भ्य एवास्मै
पशून् प्रजनयति ॥ २० ॥

अद्भ्यो धान्यादिसमृद्धिस्तद्वारा रेपिर्जनं भवतीति रेवत्य आपः ।
वामदेव्यस्यान्तरिक्षरूपत्वात् पशुसम्यन्धः पूर्वमुक्तः । तथा सति
रेवतीषु वामदेव्यगानेनाज्यः समुद्रात् पशून्वास्मै यजमानाय प्रज-
नयति ॥ २० ॥

अथोक्तप्रयोगे किञ्चिदोपमाह—

अनवर्त्तिः पशुतो भवति प्रजा त्वस्य मीलितेव

भवति ॥ २१ ॥

अवर्त्तिर्द्धारिद्यन्तर्द्राहित्यमनवर्त्तिः पशुतः पशुभिरनवर्त्तिरदरिद्रो भवति । यदि तद्याप्यस्य प्रजा पुत्रादिलक्षणा मीलितेव सङ्कुचितेव भवति रेवतीनामुदकरूपत्वात् । बह्वदकप्रदेशे प्रजासमृद्धभावादित्य-
मिन्नायः ॥ २१ ॥

उक्तदोषपरिहाराय कवतीभ्य एव निर्वक्तव्यमित्याह—

कवतीभ्यो ह्येति प्रजापतेः ॥ २२ ॥

हि यस्मात् पूर्वस्मिन् दोषोऽस्ति—अतः कश्चिदवाच्यप्रजापतेः सम्बन्धिनीभ्यः कवतीभ्य एति—एतद्व्यं धामदेव्यम् । यद्वा उक्तदोषपरिहाराय कवतीभ्यो धामदेव्यमिति हीत्यनुवादः ॥ २२ ॥

इति ताण्ड्यमहाप्राज्ञे सप्तमाध्यायस्य

नवमः खण्डः ।

अथ दशमः खण्डः ।

उक्तं सर्वेषु पृष्ठेषु द्वितीयश्रियमेतमैत्रावरुणसामेति । अधुना रथन्त-
रपृष्ठेनौघसं कार्यं बृहत् पृष्ठे श्येतमिति विवक्षुराह—

इमौ वै लोकौ सहास्तान्तौ विवयन्तावब्रूतां विववाहं
विववाहवहै सह नावास्त्विति ॥ १ ॥

पूर्वमिमौ मूर्लोक्त्युलोकौ सहास्तां तौ पश्चाद्वियुज्यमानावित्यब्रूतां किमिति ? विवाहं विवधं पृथग्बहनं विववाहवहै करवावहै । आख्यातगतो विवाहशब्दोऽनुवादः । परस्परौपकार्योपकारकभावं करवावहा इत्यर्थः । तदेवाह सह नावास्त्विति यदेकेन लब्धं तदुभयोर्स्त्वित्युक्त्वा तथा कुरुतामित्यर्थः ॥ १ ॥

अथ विवाहप्रकारं दर्शयति—

तयोरयममुष्मै श्यैतं प्रायच्छन्नौघसमसावस्मै ॥ २ ॥

तयोर्मध्येऽयं मूर्लोकोऽमुष्मै तुलोकाय स्वस्वभूतं श्यैतं साम प्रायच्छत्तयाऽसौ तुलोकोऽस्मै मूर्लोकाय नौघसं प्रायच्छत् ॥ २ ॥

ततः किञ्जातमित्याह—

तत एनयोर्निधने विपर्ययक्रामतां देवविवाहो वै श्यैतनौघसे ॥ ३ ॥

ततः परस्परविवाहोदेतयोः श्वेतनौघस्योर्निघने विपर्ययकामतां
विपरिवृत्त्याधयतां व्यत्यस्ते अभूतामित्यर्थः । श्वेतनौघसे सामनीयं
परस्परं विवाहं कृतवती । असौ देवविवाहो देवेभ्यः कृतो विवाहः खलु ।
अतो नातिक्रमणीय इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथोक्तार्थवेदनफलमाह—

प्रवसीपाशुंसं विवाहमाप्नोति य एवं वेद ॥ ४ ॥

प्राप्नोतीति सन्बन्धः ॥ ४ ॥

अथ रथन्तरवृहत्तोरन्यतरस्यापि प्रयोगे लोकत्रयप्राप्तिकलं वक्तु-
मुमयोः प्रयोगेन क्लृप्तिं दर्शयति ।

इतो वा इमे लोका जह्नुः कल्पमाना पन्त्यमुतो-
ऽर्वाञ्चः कल्पमाना आयन्ति ॥ ५ ॥

रथन्तरं पृष्ठं कुर्वते यजमानाय इतोऽस्माल्लोकादारभ्योर्ध्वाः उप-
स्युं परि वर्त्तमाना भूरादिलोकाः कल्पमानाः स्वं स्वं भोगं प्रपच्छन्तो
यन्ति । तथा वृहत् पृष्ठं कुर्वतोऽमुतः स्वर्गादारभ्य स्वं स्वं भोगं कल्प-
माना अर्वाञ्चोऽवाङ्मुखा आयन्ति त्रयोऽपि लोकाः ॥ ५ ॥

तयोरन्यतरानुष्ठानेऽपि लोकत्रयात् क्लृप्तिं दर्शयति ।

यद्रथन्तरेण स्तुवन्तीमँ लोकं तेन युनक्त्यन्तरिक्षं
व्यामदेव्येन नौघसेनामुं यद् वृहता स्तुवन्त्यमुँ लोकं तेन
युनक्त्यन्तरिक्षं व्यामदेव्येन श्वैतेनेमम् ॥ ६ ॥

यद्रथन्तरेण स्तुवन्त्युद्रातारस्तेनेमं भूलोकं युनक्ति भोगसा-
धनत्वेन यजमानस्तस्य तल्लोकरूपत्वात् । व्यामदेव्येनान्तरिक्षलोकं
युनक्ति तल्लोकभोगं प्राप्नोति तेन यजमानः । 'अयं वै लोको मध्यमो
यद्व्यामदेव्यमि'त्युक्तत्वात् 'नौघसेनामुं लोकं युनक्ति यजमानः' एवं वृहत्
पृष्ठविषयेऽपि व्याख्येयम् ॥ ६ ॥

अथोक्तार्थवेदनफलं दर्शयति—

क्लृप्तानिमाँल्लोकानुपास्ते य एवं वेद ॥ ७ ॥

स्वस्वभोगमरितान् लोकानाप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

पूर्वत्र नौघसेनामुं श्वैतेनेममिति यदुक्तं तत् स्पष्टं दर्शयति ।

वृहद्रथन्तरे वै श्वैतनौघसे यद्रथन्तराय नौघसं
प्रति प्रयुञ्जन्ति वृहदेवास्मै तत्प्रति प्रयुञ्जन्ति वृहद्वये-

तत्परोक्षं यन्नौघसं यद् बृहते इयैतं प्रति प्रयुञ्जन्ति रथ-
न्तरमेवास्मै तत्प्रति प्रयुञ्जन्ति रथन्तरं ॥ ८ ॥

‘अल्पाक्षरम्’ इति बृहतोऽल्पत्वेन पूर्वनिपातनाद्रथन्तरं वै इयैतं बृहद्वै
नौघसमिति क्रमोऽवगन्तव्यः । अथ ‘अग्निर्मूर्द्धा’ ‘भुवो यज्ञस्य’ हविषो
याज्यानुवाक्ये इत्युक्ते ‘अग्निर्मूर्द्धा’ इत्येपानुवाकानुवाक्या ‘भुवो यज्ञस्य’
इत्येपा याज्या तद्वदत्रापि । एवं सत्यनेन रथन्तरबृहतोः इयैतनौघस-
रूपत्वप्रतिपादनेन इयैतनौघसयोर्धुलोकमूलोक्तयोः सम्बन्ध उक्तो
भवति । यद्येनं रथन्तराय नौघसं साम प्रति प्रयुञ्जन्ति प्रतिनिधित्वेन
योजयन्ति तत्तेनास्मै रथन्तराय बृहदेव प्रति प्रयुञ्जन्ति । रथन्तरप्रयो-
गपक्षे बृहद्रूपनौघसप्रयोगेण बृहद्रथन्तरे उभे अपि प्रयुक्ते भवतः ।
उक्तस्य नौघसस्य बृहत्त्वसमर्थनं ‘बृहद्वैतत्’ इत्यादि वा । एवमुक्तवैपरी-
त्येनोत्तरवाक्यं व्याख्येयम् ॥ ८ ॥

उक्तार्थवेदनपूर्वकं प्रयोगं प्रशंसति—

उभाभ्यां बृहद्रथन्तराभ्यां स्तुते य एषं वेद ॥ ९ ॥

य एवं विद्वान् बृहता वा रथन्तरेण स्तुते उभाभ्यामपि स्तुतवान्
भवति ॥ ९ ॥

अथ नित्यमपि नौघमं कामनामेदेन ब्रह्मवर्चसफलार्थमपि विधि-
त्सुराह—

देवा वै ब्रह्म व्यभजन्त तान्नौघाः काक्षीवत आग-
च्छतेऽब्रुवन्ऋषिर्न आगच्छतस्मै ब्रह्म ददामेति तस्मा
एतत् साम प्रायच्छन्न्यन्नौघसे प्रायच्छच्छतस्मान्नौघसं
ब्रह्म वै नौघसम् ॥ १० ॥

पूर्वदेवा ब्रह्म सामलक्षणं वेदभागं व्यभजन्त मह्यमयं मह्यमय-
मिति विमज्ज्य लब्धवन्तः । तान्विमज्ज्यमानान्नौघा ऋषिः काक्षीवतः
काक्षीवत्पुत्र आगच्छत् । ते देवा अब्रुवन् किमिति ? ऋषिर्नोऽस्मान्ना-
गन्नगात्—तस्मै नौघसे ब्रह्म सामभागं किञ्चिद्ददामेति । एवमुक्त्वा तस्मा
एतत् साम प्रायच्छन् । यन्नौघसे प्रायच्छन् तस्मात्तत्सम्बन्धादेतत्साम
नौघसमभवत् । अतोऽस्य ब्रह्मभागरूपत्वादेतत् ब्रह्मसाम खलु ॥ १० ॥

अथ ब्रह्मवर्चसायैतद्विधत्ते—

ब्रह्मवर्चसकाम एतेन स्तुवीत ब्रह्मवर्चसी भवति ॥ ११ ॥

स्पष्टम् ॥ ११ ॥

नौघसमुक्त्वा इयैतं विधास्यामीति प्रतिजानीते—

अथैतच्छयैतम् ॥ १२ ॥

वक्ष्यतीति वाक्यशेषः ॥ १२ ॥

अथ नित्यमपि स्थैतमभिसन्धिभेदेन पशुकामप्रयोगार्थमपि विधि-
स्तुस्तस्य पशुसम्बन्धं दर्शयति—

प्रजापतिः पशूनसृजत तेऽस्मात्सृष्टा अपाक्रामधुंस्ता-
नेतेन साम्नाभिष्याहरत्तेऽस्मा अतिष्ठन्त ते शेत्या अभवन्
पच्छेत्या अभवधुंस्तस्माच्छयैतं पशवो वै इयैतम् ॥ १३ ॥

पूर्वं प्रजापतिना सृष्टाः पशवस्तस्मै भोगायानवकल्प्यमानास्त-
तोऽपाक्रामन् । तानेतेन इयैतेन साम्नाभिष्याहरत् आभिमुख्येनाहुयत् ।
तस्योत्तमे पादे 'हुम्' इति पशुघोषानुकरणस्य विद्यमानत्वात् आहूता
वस्मै प्रजापतये भोगायतिष्ठन्त समजानत । अतस्ते इयैता अभवन् ।
इयेतशब्दश्च इवयतेर्गतिकर्मणोवाप्नातेर्व्याप्तिकर्मण उत्पन्नः । अतः
शेत्याः शेतव्या अभवन्नित्यर्थः । अतस्तद्धेतुत्वेन इयेतत्वं सामान्याक्षर-
यकारमादौ सम्यग्य इयैतमिति प्रयुक्तं ब्राह्मणे । अतः पश्वाहानसाध-
नत्वात् इयैतं पशव एव ॥ १३ ॥

अथ पशुकामाय विधत्ते—

पशुकाम एतेन स्तुवीत पशुमान् भवति ॥ १४ ॥

स्पष्टम् ॥ १४ ॥

अथ इयैतस्यान्यपादे 'हुमा' इत्येतस्य विद्यमानत्वात् प्रजानां वृ-
द्धिसाधनमेतत्सामेति प्रशंसति—

प्रजापतिः प्रजा असृजत ताः सृष्टा अशोचधुंस्ताः
इयैतेन हुमा इत्यभ्यजिघ्रत्ततो वै ताः समैधन्त समेध-
न्ते तां समां प्रजा यत्रैवं विद्वाञ्छयैतेनोद्गायति ॥ १५ ॥

पूर्वं प्रजापतिना सृष्टाः प्रजा अनभिवृद्धा अशोचन् । ताः प्रजाः
इयैतेन तत्र ह्येता 'हुमा' इत्येतेनाभिजिघ्रत् शिरआघ्रातयान् । ततः अलु
ताः समैधन्त सम्यगवर्द्धन्त । अतो यत्रैवमुक्तार्थमिहः स्थैतेनोद्गायति
तां समां तस्मिन् संवत्सरे प्रजाः समेधन्ते सम्यगवर्द्धन्ते ॥ १५ ॥

अथोद्गाता इयैतेनोद्गायति प्रजासम्बर्द्धको भवतीति तद्दर्शयति—

एष वै यजमानस्य प्रजापतिर्यदुद्गाता पच्छयैतेन हि-

कूरोति प्रजापतिरेव भूत्वा प्रजा अभिजिघ्रति ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १६ ॥

तत्रत्यवसुनिधनं प्रशंसति—

वसुनिधनं भवति पशवो वै वसु पशुष्वेव प्रति-
तिष्ठति ॥ १७ ॥

पशूनां निवाससाधनत्वेन धनरूपत्वं प्रसिद्धमतस्तत्प्रयोगेन प-
शुषु प्रतिष्ठितो भवति यजमानः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्द्धं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १७ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीरबुक्कभूपा-
लसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्य्येण विरचिते माघवीये
सामवेदार्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाप्राह्मणे सप्तमाध्यायस्य
दशमः खण्डः ।

सप्तमाध्यायः समाप्तिमगमत् ।

अष्टमोऽध्यायः ।

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

उक्तो माध्यन्दिनस्तस्मिंश्च पवमानश्च सप्तमे वरुणहोत्रादीनाञ्च
पृष्ठानि श्रीण्युक्तानि यथाक्रमं तस्मिन् । ब्रह्मसामानि काम्यानि कालेयतः
आर्मवं यज्ञायज्ञीयमुक्त्यानि प्रवक्ष्यन्तेऽधुनाष्टमे । श्वेतनौघसे उभे अपि
नित्य एवाग्निष्टोमे विकल्पेन प्रयुज्यमाने अभिसन्धिभेदात्काम्ये अपि
भवत इत्युक्तमयामिचारप्रयोगार्थं ब्रह्मसाम विदधाति—

आष्टकारणिधनं काण्वं ववपट्कारणिधनमभिचरणी-
यस्य ब्रह्मसाम कुर्यादभिनिधनम्माध्यन्दिने पवमाने ॥ १ ॥

अभिचरणीयस्याभिचारसम्बन्धिनस्तत्प्रयोजनस्य यागस्य ब्रह्म-
साम ब्राह्मणाच्छ्रुत्वा सितः साम वषट्कारनिधनं कुर्यात् 'अमित्वा
पूर्वपीतये' इत्यत्र ब्रह्मसाम कार्यं तत्र 'उपा'निधनमस्ति तत् स्थाने

‘वापाद्’ इति निधनं कुर्यादित्यर्थः । पवमाने तु माघ्यन्दिने बृहतीषु मध्य-
मायामभिनिधनं कार्यम् ‘औ हो होहा ई आ ई ही ऊ नू साः आ २३४
भी’ इति । अत्र कट्याः ‘अथातो ब्रह्मसामानाधमिचरतः प्रैतस्य प्रतिपत्त-
था आज्यानि च पुनानः सोम धारयेति रौरवमेकस्यामभिनिधनं काण्व-
मेकस्यां वैश्वसमेकस्यामुद्रत्प्राजापत्यं वा यौधाजयन्तिसृषु वषट्कार-
निधनं ब्रह्मसामैष ब्रह्मा य ऋत्विज इति कालेयमभिचरणीया विष्णु-
तयः समानमितरं ज्योतिष्टोमेनेति’ ॥ १ ॥

अथोमे सामनी प्रशंसति—

देवेषुर्वा एषा वषट्कारोऽभीति वा इन्द्रो वृत्राय
वज्रं प्राहरदभीत्येवास्मै वज्रं प्रहृत्य देवेष्वावषट्कारेण
विविधयति ॥ २ ॥

वषट्कार इति यत् एषा देवेषुर्वै देवसम्बन्धी याण पव । इषुशब्दा-
पेक्षयैवेति स्त्रीलिङ्गता । तथा अभीत्युक्त्वा खलु वृत्राय तद्वधार्थं वज्र-
मिन्द्रः प्राहरत् । अभीत्यस्याभिमुख्यमित्यर्थः । तेन शत्रोरभिमुखं गच्छ-
तीत्यर्थः सूच्यते । अतस्तदुभयोः प्रयोगेन भीत्येवास्मै स्वविरोधिने वज्रं
प्रहृत्य देववाणरूपेण विविधयति । तं विरोधिनां केवलनिधनयोरप्रयोगात्
दाधारयोः साम्नोरेव प्रयोग इति मन्तव्यम् ॥ २ ॥

अथ पशुकामप्रयोगे ब्रह्मसामार्थं त्रैककुमं विदधाति—

त्रैककुमं पशुकामाय ब्रह्मसाम कुर्यात् त्वमङ्गप्र-
शंसिष इत्येतासु ॥ ३ ॥

‘त्वमङ्ग’ इत्येतासुपपन्नं त्रैककुमार्यं साम पश्वर्धिप्रयोगे ब्राह्मणाच्छ-
ंसिसाम कार्यम् ॥ ३ ॥

इन्द्रो यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तेषां अथ उद-
शिष्यन्त रापो वाजो बृहद्गिरिः पृथुरश्मिस्तेऽमुवन्
को नः पुत्रान् भरिष्यतीत्यहमितिन्द्रोऽब्रवीत्तांस्त्रिक-
कुयधिनिधायाचरत्स एतत्सामापश्यत्तत्त्रिककुयप-
श्यत्तस्मात्त्रैककुभम् ॥ ४ ॥

पूर्वमिन्द्रो यतीन् वेदविरुद्धनियमोपेतान् यतीन् तान् शालावृके-
भ्योऽरण्यदृश्यः प्रायच्छत् वधार्थं तेषां मध्ये रापोवाजप्रभृतयश्च य
उदशिष्यन्त तेष्यः उद्रताः शिष्टा अभवन् । ते चामतिका एवममुवन् ।
को महान्नोऽस्मान् पुत्रान् पुत्रवद्रक्षणीयान् कृत्वा भरिष्यतीति । तदि-

न्द्रोऽहं रक्षिष्यामीत्यवर्षात् । तानवशिष्टांस्त्रिककुप् द्युच्छ्रितप्रदेश आसीत् । त्रिककुप्सु व्यधिनिधायाचरत् । स तदेतत्सामापश्यत् । यत्रिककुप् सन्नपश्यत्तस्मादेतत् संशकमभवत् अस्यास्यत् ॥ ४ ॥

कथं तेषां जीवनकल्पनमिति तत्राह—

स आत्मानमेव पुनरुपाधावत्त्वमङ्ग प्रशङ्गुंसिपो देवः शविष्ठमर्त्यन्नत्वदन्योमवघ्नस्ति च मर्दितेन्द्र ब्रवीमि ते व्वच इति स एतेन च प्रगाथेनैतेन साम्ना सहस्रं पशून्सृजत तानेभ्यः प्रायच्छत्ते प्रत्यतिष्ठन् ॥ ५ ॥

स इन्द्रः स्वव्यतिरिक्तस्य—एतेषां प्रतिष्ठानात् बहिः कस्यचिदप्यभावादात्मानमेव पुनरुपाधावत् 'त्वमङ्ग' इति प्रगाथेन । अयमुत्तरग्रन्थ एवास्माभिर्व्याख्यातः । स एवमात्मानमेव प्रशस्य एतेनोक्तेन प्रगाथेन एतेन त्रैककुमेन साम्ना च पशुसहस्रमसृजत तान् सृष्टानिन्द्रेण लब्ध्वा ते प्रतिष्ठिता अमवन् ॥ ५ ॥

एवमस्य साम्नः पशुरूपप्रतिष्ठासाधनत्वं सामर्थ्योक्तकामनायोग्यत्वाभिधानद्वारेणोपसंहरति—

यः पशुकामः स्याद्यः प्रतिष्ठाकाम एतस्मिन् प्रगाथ एतेन साम्ना स्तुवीत प्रसहस्रं पशूनामोति प्रतिष्ठति ॥ ५ ॥

ननु केवलमुपक्रमे पशुकामनैव चोदिता, उपसंहारे तु प्रतिष्ठापि चोद्यतेऽतः कथन्तयोरविरोधो निर्णयस्योपक्रमोपसंहारैकवाक्यतार्थान्तत्वादिति ? नायं विरोधः । तैर्वाक्यादौ मरणस्यैव प्रार्थ्यमानत्वात् पशूनादिद्वारमन्तरेण केवलप्रतिष्ठाया अभावात् पशुरूपप्रतिष्ठैकैवोक्तेति बोद्धव्या । निगदव्याख्यानमेतत् ॥ ६ ॥

तदेव पुनः प्रशंसति—

त्रिवीर्यं वा एतत्साम त्रीन्द्रियमैन्द्रिय ऋच ऐन्द्रं सामैन्द्रेति निधनमिन्द्रिय एव वीर्यं प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

एतत्रैककुम्भं साम त्रिवीर्यं वै वीर्यप्रयोपेतं स्रजु तदेव विविच्य दर्शयति । ऋचोऽप्यैन्द्रः सामाप्यैन्द्रं निधनमप्यैन्द्रमिति । अतस्त्रीन्द्रियं य एतेन स्तुयात् स इन्द्रिय एव तस्य विवरणं वीर्यं इति तत्र प्रतिष्ठितो भवति ॥ ७ ॥

अयं दीर्घरोगिणः प्रयोगे ब्रह्मसाम विदधाति—

त्रैशोकं ज्योगामयाविने ब्रह्मसाम कुर्यात् ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

अथ शब्दनिर्वचनद्वारेण तत्प्रशंसति—

इमे वै लोकाः सहासधुंस्तेऽशोचधुंस्तेषामिन्द्र ए-
तेन साम्ना शुचमपाहन्यत्रपाणांशोचतामपाहधुंस्तस्मा-
त्त्रैशोकम् ॥ ९ ॥

पूर्वमिमे मूरादिलोकाः सदैकस्मिन्नवस्थाने अतिष्ठन् । ते इति हवि-
र्लाभवृष्टिप्रदानादिपरस्पररोपकारादिभावेनाशोचन् । तेषां शुचं दुःखमे-
तेन त्रैशोकेन साम्ना अपाहन् । यद्यस्माच्छोचतां त्रपाणां शोकमपाहन्
तस्मात् शोकत्रयापनोदेन त्रैशोकसङ्ग्रामलभत ॥ ९ ॥

अथापगतानां शुचामन्यत्र प्राप्तिं दर्शयति—

यामस्मादपाहन् सा पुंश्चल्लीं प्राविशद्यामन्तरि-
क्षात्सा क्लीयं याममुष्मात्सैनस्विनम् ॥ १० ॥

यां शुचमिन्द्रोस्मादुमूलोकादपाहन् सा पुंश्चलीमन्यान् पुत्रान्
प्रति चलन्तीं व्यभिचारिणीमित्यर्थः । एवमुत्तरप्रापि योज्यम् । क्लीबः
पण्डः । एतस्वी महापातकदोषप्रस्तः ॥ १० ॥

अथैतेषु घनादीच्छामन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रसङ्गाश्लिन्दति—

तस्मात्तेषाम्नाशैतव्या य एषामाशामेति तस्मा एव
शुचोऽपभजते ॥ ११ ॥

तस्मात्प्राप्तशोकत्वात्तेषामाशा पुंश्चल्यादीनां सम्यन्धिनी घनाद्री-
च्छा नैतव्या न प्राप्तव्या । यस्तु मोहादाशां प्राप्नोति तस्मा एव शुचः
तामेव शुचमपभजते कष्टं प्राप्नोति ॥ ११ ॥

अथ प्रकृतेऽसङ्गत्वं दर्शयन्नुपसंहरति—

शुचा वा एष विद्वो यस्य ज्योगामयति यत्त्रैशोकं
ब्रह्मसाम भवति शुचमेवास्मादपहन्ति ॥ १२ ॥

यस्य यजमानस्य चिरकालो रोगः प्राप्नोति एष शुचा विद्वोऽप-
हृतः खलु । अनेन विध्यर्थवादगतज्योगामयशोकवोर्वैयधिकरण्यं परिहृतं
भवति । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १२ ॥

तत्रत्यनिधनमप्युक्तविषयेऽनुकूलमित्याह—

दिवेति निधनमुपयन्ति व्युष्टिर्वै दिवा व्येषास्मै वा-
सपति ॥ १३ ॥

यत्र सासि दिवेति निधनमुपयन्तीह गातारः सा दिवा व्युष्टिर्वै
'उच्छीविवासे' विवासस्तमोऽवज्जनं प्रकाश इत्यर्थः । अतस्तत्प्रयोगेना
स्मै ज्योगामयाधिने आमयाख्यं तमो विवासयति परिहरत्येव ॥ १३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे अष्टमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

अथ प्रतिष्ठार्थिनः प्रयोगे ब्रह्मसाम विधत्ते—

आप्कारणिधनं काण्वं प्रतिष्ठाकामाय ब्रह्मसाम कुर्यात् ॥ १ ॥

'आप्' इतिकरणमुच्चारणमाप्कारः तन्निधनोपेतं काण्वं काण्वेन दृष्टं
ब्रह्मसाम 'तद्योदस्ममृतीष्वह'मित्यादिषु कुर्यात् ॥ १ ॥

अथ निधनद्वारैतत्प्रशंसति—

कण्वो वा एतत्सामर्त्तं निधनमपश्यत् स न प्रत्य-
तिष्ठत्स वृषदंशस्यापिति क्षुवत उपाशृणोत्स तदेव नि-
धनमपश्यत्ततो वै स प्रत्यतिष्ठद्यदेतत्साम भवति प्रति-
ष्ठित्यै ॥ २ ॥

कण्वः पूर्वमेव तत्साम निधनरहितं केवलमपश्यत् । स निधनस्य
प्रतिष्ठारूपत्वात्तदमावेनाप्रतिष्ठितोऽभूत् । स किन्निधनं प्रतिष्ठासाधन-
त्वेन कर्त्तव्योति चिन्तयन् तदा वृषदंशस्य मार्जारस्य 'आप्' इति क्षुव-
तः शब्दमुपाशृणोत् । स एतदेवोपश्रवणनिधनं मविध्यतीत्यवगत्य तदेव
प्रयुक्तवान् । ततश्च प्रतिष्ठितोऽभूत् । अतो यत्साम एतन्निधनकं मवेत्
तच्च प्रतिष्ठित्यै भवति ॥ २ ॥

अप्रजार्थिनः प्रयोगे ब्रह्मसाम विदधाति—

वसिष्ठस्य जनित्रं प्रजाकामाय ब्रह्मसाम कुर्यात् ॥ ३ ॥

तद्योदस्ममित्यादि वसिष्ठस्य जनित्रम् ॥ ३ ॥

अस्य प्रजासम्बन्धमाह—

वसिष्ठो वा एतत्पुत्रहतः सामापश्यत्स प्रजया प-
शुभिः प्राजायत यदेतत्साम भवति प्रजात्यै ॥ ४ ॥

पूर्वं हतपुत्रो वसिष्ठः प्रजात्यर्थमेतत्सामापश्यत्तदेव प्रयुज्य प्रजाप-
शुसमृद्धोऽभूत् अतः प्रजार्थिमीरेतत्कर्त्तव्यम् ॥ ४ ॥

स्वर्गार्थिनः प्रयोगे ब्रह्मसामाह—

आथर्वणं लोककामाय ब्रह्म साम कुर्यात् ॥ ५ ॥

अत्र यद्यपि लोकसामान्यं श्रूयते तथाप्यर्थवादे 'अमर्त्यं लोकम्' इति विशेषश्रुतेरत्रापि स एवेति निश्चयः । अत्र कल्पा लोककामस्य नौ-
धसस्य स्थाने आथर्वणं ब्रह्मसामोद्यत्योर्विन्दुतयः । समानमिनरत्ज्यो-
तिष्टोमेनेति ॥ ५ ॥

एतत्साम प्रशंसति—

अथर्व्वाणो वा एतल्लोककामाः सामापश्यन्स्तेना-
मर्त्यं लोकमपश्यन् यदेतत्साम भवति स्वर्गस्य लोकस्य
प्रजात्यै ॥ ६ ॥

एतत्सामापश्यन्निति सम्यग्व्यः । अमर्त्यं दिव्यं लोकं स्वर्गमित्यर्थः ।
यदेतदित्यादिरुपसंहारः ॥ ६ ॥

भ्रातृव्यवतो यजमानस्य तदपमानार्थप्रयोगे ब्रह्मसाम विद्धाति—

अभीवर्त्तं भ्रातृव्यवते ब्रह्मसाम कुर्यात् ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ॥ ७ ॥

अथैतन्निर्वचनद्वारा प्रशंसति—

अभीवर्त्तेन वै देवा असुरानभ्यवर्त्तन्त यदभीवर्त्तो
ब्रह्मसाम भवन्ति भ्रातृव्यस्याभिवृत्तयै ॥ ८ ॥

देवानामसुरवधार्थं अभिमुखावर्त्तनसाधनत्वादेतत्सामाभीवर्त्तम-
भवत् । सुज्ञानमितरत् ॥ ८ ॥

यज्ञविभ्रष्टाय ब्रह्मसाम विधत्ते—

आयन्तीयं यज्ञविभ्रष्टाय ब्रह्मसाम कुर्यात् ॥ ९ ॥

औद्गात्रावच्छेदसोमापहृतवित्तसामातिपवनादिक्लृप्तुविलोपनिमित्तं
यस्य जायते स यज्ञविभ्रष्टस्तप्रापीक्षत्तम् ॥ ९ ॥

श्रीणातेः पाकार्यात् आयन्तोयमित्यर्थाभिर्वचनमिति विधक्षुराह—

प्रजापतिरुपममध्यैत्स्वां दुहितरं तस्य रेतः पराप-
तत्तदस्यान्यपिच्यत तदश्रीणादिदं मे माऽदुपदिति तत्स-
दकरोत्पशूनेव ॥ १० ॥

पूर्वं प्रजापतिः स्वदुहितरमेधोपसमध्यैदध्यगच्छत् । तस्य रेतः परा-
पतत् । तदस्यां पृथिव्याग्निपिच्य च तदश्रीणात् अपचत् । केनोमिप्रावेण

मादुषदिति दुष्टमामूदिति । तत्पक्षं रेतः सदकरोत् तदेव विवृणोति
पशूनकरोदिति । एतत् श्रायन्तीयममवदिति शेषः ॥ १० ॥

एवं प्रशस्य प्रकृतमुपसंहरति—

यच्छ्रायन्तीयं ब्रह्मसाम भवति श्रीणाति चैवेन
सच्च करोति ॥ ११ ॥

यद्यस्य प्रयोगे एतद्ब्रह्मसाम भवति तत एनं यज्ञविघ्नं श्रीणानि
पधति शुद्धं करोति ततः सच्च यज्ञसाधकञ्च करोति ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे अष्टमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ।

अथ तृतीयः खण्डः ।

उक्ता कामनामेदेन ब्रह्मसामविशेषा अयास्मिन् खण्डे कालेय
स्तूयते तत्र तावत्कालेयन्नामनिर्वचनेन प्रशंसति—

देवाश्च वा असुराश्चैषु लोकेष्वस्पृजन्त ते देवाः प्र-
जापतिमुपाधावधेभ्य एतत्साम प्रायच्छदेतेनैनान्
कालयिष्यद्वमिति तेनैनानेभ्यो लोकेभ्योऽकालयन्त य-
दकालयन्त तस्मात्कालेयम् ॥ १ ॥

पूर्वं देवाश्चासुराश्चैतेषां लोकानामाधिपत्यायास्पृजन्त । अ-
स्माकमेव भूयासुरस्माकमेवेति तेषु मध्ये देवाः स्वपितरं प्रजापतिम-
नुप्राप्ताः । तेभ्य एयामाधिपत्यायैतत्साम प्रायच्छत् किमिति ? एतेन
साम्नैनानसुरान् कालयिष्यद्वमपनययेति सुज्ञानमन्यत् ॥ १ ॥

विदुषः फलमाह ।

एभ्यो वै लोकेभ्यो भ्रातृव्यं कालयते य एवं वेद ॥ २ ॥

य एवमवगच्छति सोऽपि स्ववैरिण लोकत्रयाणि सारयति ॥ २ ॥

अथास्य स्तोत्रियगततरोमिरिति पादद्वारेणैतत्साम प्रशंसति—

स्तोमो वै देवेषु तरो नामासीद्यज्ञोऽसुरेषु विदद्वसु-
स्ते देवास्तरोभिर्व्यो विदद्वसुमिति स्तोमेन यज्ञमसुरा-
णामावृज्जन ॥ ३ ॥

पूर्वं देवेषु तरो नामा सोम आसीत् । असुरेषु विदद्वसुरिति नामा
यज्ञ आसीत् । एवं सति 'तरोभिर्व्यो विदद्वसु'मिति पादेन देवाः स्तोम-

साधनमसुराणां यज्ञमवृद्धत अवर्जयन् अच्छिन्दन्नित्यर्थः । यद्यप्यन्या-
थावेतौ तथापि श्रुतिसामान्यमात्रेण च स्तुतिर्दृष्टव्या ॥ ३ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

स्तोमेन यज्ञं भ्रातृव्यस्य वृद्धक्ते य एवं वेद ॥ ४ ॥
स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

एतत्साम तृतीयसवनस्य सन्ततिरूपमिति प्रशंसति—

साध्या वै नाम देवा आसन्स्तेऽवच्छिद्य तृतीयस-
वनम्माध्यन्दिनेन सवनेन सह स्वर्गं लोकमायन्स्ते-
देवाः कालेयेन समतन्वन्पत्कालेयं भवति तृतीयसव-
नस्य सन्तत्यै ॥ ५ ॥

पूर्वं साध्या नाम देवा आसन् ते तृतीयसवनमवच्छिद्याननुष्ठाय
माध्यन्दिनेन सवनेन सह तदनुष्ठानात् ते स्वर्गमायन् अगच्छंस्ते
देवाः । अतः साध्यास्तृतीयसवनस्य विच्छेदमवगत्य कालेयेन साम्ना
समतन्वन् तत्सवनमविच्छिन्नमकुर्वन् । अतस्तृतीयसवनाविच्छेदायै-
तद्भवतीति स्तुतिः ॥ ५ ॥

अथ तृतीयसवनकालेययोः कः सम्यन्ध इति तं दर्शयति—

विवदद्वसु वै तृतीयसवनं यत्तरोभिर्वो विवदद्वसुमि-
ति प्रस्तौति तृतीयसवनमेव तदभ्यति यदति ॥ ६ ॥

तृतीयसवनं विवदद्वसु वै लब्धधनं खलु तस्मिन् हि सम्पूर्णे क्रतु-
समाप्तेर्ब्रह्मादिलक्षणफललामात् । अतः कालेये यत् 'तरोभिर्वो विवदद्वसु-
म्' इति पठत्युद्गाता तच्चेन तृतीयसवनमेवाभिलष्याति यदति अतीति
घातवर्णानुवादः ॥ ६ ॥

अथैतत्साम सर्वपृष्ठस्वरूपत्वेन प्रशंसति—

सर्वाणि वै रूपाणि कालेयं यत्पदप्रस्तावन्तेन रा-
थन्तरं यद्वृहतो रोहान् रोहति तेन बार्हतं यत् स्तोभ-
वान् प्रतिहारस्तेन बार्हतं यद्रवादिहन्तेन राथन्तरं स-
र्वेष्वेव रूपेषु प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

यत्कालेयमस्ति तद्रथन्तरवृहतोरुमयोरपि पाणिपादप्रस्ताबादिल-
क्षणानि रूपाणि सन्ति । तान्येव खलु तेषां तस्मिन्विद्यमानत्वात् । तथा
हि यत्पदप्रस्तावं भवति पादान्ते प्रस्तावभागपरिसमाप्तिर्भवति तेन

रायन्तरं रूपम् । रायन्तरस्य पादप्रस्तावः पूर्वमुक्तस्तथा यद्वृद्धतस्त्रिन्विंश-
 न्रोहति तेन बार्हतमपि रूपम् । तत्रापि वृद्धत्पृष्ठेऽपि रोहप्रयस्योक्तत्वात् ।
 यत्कालेयस्य प्रतिहारस्तोभवान् तेन बार्हत रूपम् । तथाहि कालेये 'हु वा
 ई भ रौ वा ३ ४ ३ औ ३ ४ वा' इति प्रतिहारस्तोभवान् । वृद्धत्यपि 'त्वां
 काष्ठा ३ ४ औ हो वा' इति तत्र स्तोमो विद्यते अतस्तद्रूपत्वं युक्तं तथा
 'हो ५ ईडा' इति कालेयं द्रवदिडं कालेयं भवत्यतो रायन्तरं रूपम् ।
 तथा हि निदानं द्रवदिडारयन्तरपृष्ठेति ऊर्द्धेडा वृद्धत्पृष्ठ इति धैरूप-
 शाकरयो रयन्तरकार्यत्वात् धैराजरैवतयोश्च वृद्धत्कार्यत्वात् कारण-
 भूतोभयरूपत्वप्रतिपादनमत इदं कालेयं सर्वेष्वेव पण्णां पृष्ठानां रूपेषु
 प्रतितिष्ठति ॥ ७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे अष्टमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ।

अथ चतुर्थः खण्डः ।

उक्तमाध्यन्दिनं सवनमथ तृतीयसवनस्यादौ गायत्रीसम्बन्धं
 विधधुराख्यायिकामाह—

साध्या वै नाम देवा आस०स्ते सर्व्वेण यज्ञेन सह
 स्वर्गल्लोकमाय०स्ते देवाश्छन्दा०स्यब्रुवन्सोममाहर-
 तेति ते जगतीं प्राहिण्वन्सा त्रीण्यक्षराणि हित्वैकाक्ष-
 रा भूत्वागच्छत्रिष्टुभं प्राहिण्वन् सैकमक्षर०हित्वा
 ज्यक्षरा भूत्वागच्छद्वायत्रीं प्राहिण्व०श्चतुरक्षराणि वै
 तर्हि च्छन्दा०स्यासन् सा तानि चाक्षराणि हरन्त्याग-
 च्छदष्टाक्षरा भूत्वा त्रीणि च सवनानि हस्ताभ्यां द्वे
 सवने दन्तैर्द०ष्ट्वा तृतीयसवनं तस्माद्वे अ०शुमती स-
 वने धीतं तृतीयसवनं दन्तैर्हि तद्द०ष्ट्वा धयन्त्यहरत्त-
 स्य ये हियमाणस्या०शवः परापत०स्ते पृतीका अभ-
 वन् यानि पुष्पाण्यवाशीयन्त तान्यर्जुनानि यत्प्राप्रो-
 यस्ते प्रप्रोथास्तस्मात्तृतीयसवन आशिरमवनयन्ति य-
 मेव तं गावः सोममदन्ति तस्य त० रसमवनयन्ति स-
 सोमत्वाय ॥ १ ॥

पूर्वं साध्याख्या देवा आसन् । ते सर्वेण यज्ञेन सोपकरणेन सोमादि-
साधनमादायैव स्वर्गं लोकमायन्नगमन् । ते प्रसिद्धा वस्वादयो देवा
आदौ स्वर्गसाधनयज्ञार्थसोमाहरणाय च्छदांसि गायत्र्यादीनि यूयं सोमं
ध्रुलोकात् आहरतेत्युक्तवान् । तान्यापि तथैवाङ्गीचक्रुरिति शेषः । तथोक्ता-
स्ते जगतीं प्राहिण्वन्नप्रेरयन् । सा तत्रत्यैः सोमपालैः सह युद्धा व्रीण्वक्ष-
राणि हित्वेकाक्षरा भूत्वा पुनर्देवानागच्छत् । चतुरुत्तराणि वै तर्हि
च्छन्दांसि वक्ष्यात तदभिप्रायकमिदम् । पुनस्ते त्रिष्टुमप्राहिण्वन् । सापि
पूर्ववत् सोमपालेष्वेकमक्षरं हित्वा द्व्यक्षरा भूत्वा पुनरागच्छत् । ते पु-
नर्गायत्रीं प्राहिण्वन् । छन्दांसि सर्वाणि चतुरुत्तराण्यासन् । अतः सा
गायत्री ध्रुलोके सोमरक्षकैः कृष्णप्रभृतिभिर्जितानि जगतीत्रिष्टुमोश्च-
तुरक्षराणि हरन्ती अष्टाक्षरा भूत्वा आगच्छत् । पुनः किं कुर्वत्यागच्छ-
दित्युच्यते त्रीणि च सवनानि सवनप्रयपर्याप्तानि सोमद्रव्याण्यादा-
येति । तद्विविच्योच्यते हस्ताभ्यां द्वे सवने धृत्वा दन्तैस्तृतीयसवनं
दंष्ट्राऽऽगच्छत् । यस्मादेवं तस्माद्वस्ताभ्यां धृते द्वे सवने प्रातर्मध्यन्दिन-
सवनयोग्ये सोमद्रव्ये पीडामावात् अंशुमती अभूताम् । तृतीयसवनं धीतं
पीतसारभूतं तत्र हेतुमाह दन्तैर्हि तद्द्रव्यं दंष्ट्रा घयन्ती पिबन्ती अह-
रत् । ह्रियमाणस्य सोमस्य पतिताः अंशवः पूतीका अभवन् । तस्य सो-
मस्य यानि पुष्पाण्यवाशीयन्त अवशादितानि प्रमथ्यान्यासन् । शदेः
पात्रेत्यादिना शीयादेशः । तान्यज्जुनानि हरितवर्णान्यमघन् । यत्
प्रामोथत् अधनुताङ्गानि प्रमोथाख्या ओषधय आसन् । तस्मात्सोमामावे
पूतीकादीनां प्रतिनाशत्वेन स्वीकर्त्तव्यतामभिधातुं प्रासङ्गिकानामेषां
उपन्यासः । तस्माद्धृतत्वात्तृतीयसवन आशिरं दधिपयोद्रव्यमवनय-
न्ति । यमेव तं सोममोषधीनां सारं गावोऽदन्ति भक्षयन्ति तस्य सोम-
स्य तं रसमवनयन्ति । आशिरावनयने हेतुः ससोमत्याय सरसत्वाय ॥१॥

एवं गायत्रीं प्रशस्येदानीं सवनसम्बन्धमाह—

ते त्रिष्टुजगत्यौ गायत्रीमब्रूतामुप त्वायावेति साऽ-
ब्रवीत् किं मे ततः स्यादिति यत्कामयम इत्यब्रूतां
साब्रवीन्मम सर्व्वं प्रातः सवनमहमुत्तरे सवने प्रणपा-
नीति तस्माद्गायत्रं प्रातःसवनं गायत्र्युत्तरे सवने प्र-
णयति ॥ १ ॥

ते गायत्र्यपहृताक्षरचतुष्टये त्रिष्टुजगत्यौ गायत्रीमब्रूताम् किमिति ?
यथा त्वां उपायांवेति उपगच्छावेति । सा पुनरब्रवीत् । मे मह्यं ततो युष्म-

दुपगमनार्त्तिकं फलं स्यादिति ? ते पुनरब्रूतां, तर्हि यत् फलं कामयस
इति । सा ते प्रत्यब्रवीत् किमिति ? उच्यते । मम तावत् प्रथमं प्रातःसवन
महमुत्तरेऽपि सवने प्रणयानि प्रापयानीति ते तथाऽस्त्वित्यङ्गीचकतु-
रिति शेषः । यस्मादेवन्तस्मात् पूर्वं गायत्रं प्रातःसवनमुत्तरेऽपि स-
वने गायत्री प्रणयति । अयमर्थस्तैत्तिरीयके 'कद्रुश्च वै सुपर्णा च' इत्यनु-
वाके प्रतिपादितः ॥ २ ॥

अथ तयोर्गायत्रीप्राप्तिप्रकारं दर्शयति—

तान्त्रिष्टुप् त्रिभिरक्षरैरुपैत्सैकादशाक्षरा भूत्वा
प्राजायत ताज्जगत्येकेनाक्षरेणोपैत्सा द्वा- ^{परा प्रा} भूत्वा
प्राजायत ॥ ३ ॥

तां गायत्रीं त्रिष्टुबशिशैस्त्रिभिरक्षरैरुपै- ^{पूर्वनिर्णयनेत्या} ततो
गायत्र्या अष्टाक्षरेण सह एकादशाक्षरा- ^{द्वौ भवत इत्यर्थः}
तथैकाक्षरा जगत्पि गायत्रीसंयुक्ता द्वाद- ^{अष्टाभूत्}
शस्यति ॥ ३ ॥

अथ गायत्र्याः सर्वच्छन्दोव्याप्तिरुक्तार्थनिर्दिष्ट- <sup>अथ व्यव-
हृ-</sup>

तस्मादाहुर्गायत्री वाच सर्वाणि छन्दांसि गाय-
त्री ह्येतान् पोषान् पुष्यन्त्येदिति ॥ ४ ॥

तस्मात्त्रिष्टुब्जगत्योः स्वरूपप्रदानादसाधारणसोमापहरणाच्च गा-
यत्री वाच गायत्र्यैव सर्वाणि छन्दांसि । गायत्री ह्येतान् प्रागुक्तैकाद-
शाक्षरद्वादशाक्षररूपात्मनः पोषान् पुष्यन्ती प्राप्नुवन्त्येतद्यज्ञमग-
च्छत् । तद्देव तृतीयसवने गायत्रं कर्त्तव्यमिति प्रतिपादितम् ॥ ४ ॥

अथार्थवपवमानगतानि गायत्रसंहितादिसामानि विद्यास्यन्नादौ
'स्वादिष्टया' इति त्वं गायत्रसंहिताया आधारभूतं सस्तुतिकं विदधाति-

इन्द्रस्तृतीयसवनाद्रीभत्समान उदकामत्तदेवाः स्वा-
दिष्टयेत्यस्वदयन्मदिष्टयेति मद्दकुर्वन् पवस्व सोम धा-
रयेत्यपावयन्निन्द्राय पातवे सुत इति ततो वै तदिन्द्र
उपावर्त्तत यत् स्वादिष्टया मदिष्टयेति प्रस्तौति तृतीय-
सवनस्य सेन्द्रत्वाय ॥ ५ ॥

पूर्वमिन्द्रस्तृतीयसवनात् पीतत्वेन गतसाराद्रीभत्समानोऽयोग्य-
त्वेनापेक्ष्यमाण उदकामदुर्द्वेषान् । तत्सवनं देवाः 'स्वादिष्टया' इति स्वादु-
तमवाचिना पदेनास्वदयन्स्वादुमकुर्वन् 'मदिष्टया' इति द्वितीयपदेन मह-

सुष्टिमदकुर्वन् 'पवस्व सोमधारया' इति द्वितीयपादेनापावयन् पृतमकुर्वन् । एवं सवनं तद्योग्यं सम्पाद्य 'इन्द्राय पातवे सुतः' इति पादेनैन्द्रसुपावर्त्तयन्निति शेषः । तत्र पादे तत् इन्द्राय पातवे पातुमिति इन्द्रस्य पानार्थं भवणात्स्वाह्वतामवगत्येन्द्रस्तत्सवनमुपावर्त्तत-अभिमुखमगच्छत् । शिष्टं सुमानम् ॥ ५ ॥

अथासुरपशुविनाशकत्वद्वारेणैतत्प्रशंसति—

स्वादिष्टा वै देवेषु पशव आसन् मदिष्टा असुरेषु ते देवाः स्वादिष्टया मदिष्टयेति पशून्सुराणामवृज्जत ॥ ६ ॥

पूर्वं स्वादिष्टाः पशवो देवेष्व्वासन् मदिष्टा असुरेषु तत्तद्भागस्यैव तैस्तैः प्रयुक्तत्वात् । तदा देवा विदिष्टाऽसुराणां प्रत्युपाय 'स्वादिष्टया मदिष्टय' इति पशून्सुराणां स्वतानपि स्वयमलमन्त । अतस्तेषां पशून्वृज्जतेत्युच्यते । विदुषा च्यते ।

विदुषः फलमाह ।

पशून् देवेषु पीडां वृद्धं च एवं वेद ॥ ७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

अथोक्ते च तृत्वे संहितमपि विधत्ते—

तासु संहितम् ॥ ८ ॥

गोयमिति शेषः ॥ ८ ॥

अथैतदन्वर्थनामत्वेन प्रशंसति—

साधया वै नाम देवा आसंहस्तेऽवच्छिद्य तृतीयसवनम्माध्यन्दिनेन सवनेन सह स्वर्गं लोकमायंस्तदेवाः संहितेन समदधुर्यत्समदधुस्तस्मात्संहितम् ॥ ९ ॥

सन्धानदेतुत्वात्संहितमिति नामामूत्, शिष्टं कालेयार्थवद्योज्यम् ॥ ९ ॥

अथैतन्माध्यन्दिनसवनान्तेन कालेयेन सह स्तौति—

कालेयं पुरस्ताद्भवति संहितमुपरिष्टादेताभ्यां हि तृतीयसवनं सन्तायते ॥ १० ॥

कालेयस्य पूर्वं तृतीयसवनं सन्तत्यर्धमुक्तमस्यापि तदर्थत्वमिदानीमुच्यतेऽत उभयोर्मिलित्वा माध्यन्दिनतृतीयसवनयोः सन्तानसाधकत्वम् ॥ १० ॥

अथ कालेयवदस्यापि सर्वपृष्ठत्वमिति स्तौति—

सर्वाणि वै रूपाणि संहितं यत्पदप्रस्तावन्तेन

रायन्तरं यद्वृहतो रोहान्रोहति तेन बार्हतं यत्पदनिध-
नन्तेन रायन्तरं सर्वेष्वेव रूपेषु प्रतितिष्ठति ॥ ११ ॥

उक्तमिदं पूर्वम् ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽष्टमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ।

अथ पञ्चमः खण्डः ।

अथ सप्त-यौक्कले विधातुं तयोदुन्दसी विदधाति—

उष्णिक्कुकुभावेते भवतः ॥ १ ॥

अत्रापि 'अभ्यर्हितम्' इत्युष्णिक्शब्दस्य पूर्वनिपातः । अतः 'पवस्व
मधुमत्तम्' 'इन्द्रमथ सुता' इत्येते ककुयुष्णिहौ भवत इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथैतत् स्तौति—

उष्णिक्कुकुभ्यां वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत्कुकु-
भि पराक्रमतोष्णिहा प्राहरत्तस्मात् ककुमो मध्यमं पदं
भूयिष्ठाक्षरं पराक्रमणं हि तदभि समौहत्तस्मादुष्णि-
ह उत्तमं पदं भूयिष्ठाक्षरं पुरो गुरुरिव हि वज्रः ॥ २ ॥

उष्णिक्कुकुभ्यां खलु पूर्वमिन्द्रो वृत्रवधार्थं वज्रं प्राक्षिपत् । त-
द्विमज्य दर्शयति ककुमि पराक्रमत शत्रोरभिमुखं लङ्घितवान् । तत्
उष्णिहा उदुन्दसा प्राहरद्वज्रं यस्मादेवं कृतवांस्तस्मात् ककुमदुदु-
न्दसो मध्यमं पदं पादौ भूयिष्ठाक्षरं प्रकृतद्वादशाक्षरौ भवति 'मध्य-
माश्च ककुप्' इति हि ककुमो लक्षणमापराक्रमणसाधने 'पवस्व मधुमत्तम्'
इति ककुमि मध्यमपादे द्वादशाक्षराणि सन्ति तदक्षराधिक्यमेव खलु
पराक्रमणमभित उमे प्राक्ष्व समौहद्दष्टाक्षरौ पादौ सम्यगवहत् ।
तद्वा तत् ककुप्छन्द इन्द्रस्य पराक्रमणं खल्वभिसमौहत् अभिसमव-
हत् । अतो मध्यमपादाधिक्यं युक्तमेव तस्मादेव वज्रप्रहरणसाधनत्वा-
देवोष्णिहमुत्तमं पदं भूयिष्ठाक्षरमष्टाक्षरपादद्वयापेक्षयाऽधिकाक्षरम्
'उष्णिक् त्रिपदान्तो द्वादशः' इति हि लक्षणम् । वज्रोऽपि पुरो गुरु-
रिवाप्रमाणे स्थूल इव खलु वज्रः ॥ २ ॥

उक्तार्थस्य फलकथनम्—

वज्रं भ्रातृव्याघ्रं प्रहरति य एवं वेद ॥ ३ ॥

स्पष्टम् ॥ ३ ॥

पुनस्ते प्रशंसति—

नासिके वा एते यज्ञस्य षट्पिणक्कुभौ तस्मात्
समानं छन्दः सती नाना यज्ञं ब्रूवतस्तस्मात् समानाया
नासिकायाः सत्या नाना प्राणानुचरतः ॥ ४ ॥

यस्मादेते छन्दसी यज्ञस्य नासिके तस्मात्समानमेकं छन्दः सती
सत्यौ नाना पृथक्भूते एव ते यज्ञं ब्रूवतः । यस्मादेवमभूत् तस्मादिदा-
नीमपि लोके समानाया एकस्या एव नासिकायाः सत्याः सकाशा-
द्विसमेदेन प्राणानुच्छासौ नाना पृथगेवोचरत उद्गच्छतः ॥ ४ ॥

अथ प्रासङ्गिकमनयोर्नियमविशेषमाह—

प्राणा वा षट्पिणक्कुभौ तस्मात्ताभ्यान्न वषट्कुर्व-
न्ति यद्वषट्कुर्व्युः प्राणानग्नौ प्रदध्युः ॥ ५ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

पूर्वज्ञानयोः प्राणोद्गमनसाधननासिकात्वेनोक्तमिदानीं सामद्वयं
विधत्ते—

तासु सप्तं विष्मिव वै तृतीयसवनं तृतीयसवन-
स्य सप्तत्वायायैतत्पौष्कलमेतेन वै प्रजापतिः पुष्कलान्
पशूनसृजत तेषु रूपमदधाद्यदेतत्साम भवति पशुष्वेव
रूपन्दधाति ॥ ६ ॥

पौष्कलं कुर्वन्नेतेन वै पुष्कलान् समग्रान् पशूनसृजत । तेष्वेव
सृष्टेषु पुनरेतेनैव रूपेणापत्योत्पादनलक्षणां पुष्टिमदधात् स्यापि-
तधान् । एवं पशुपौष्कल्यहेतुत्वात् पुष्कलमिति निर्वचनद्वारा स्तुतिः ॥ ६ ॥

अथ श्यावाश्यान्धीगवे उमे अपि सामनो विधित्सुस्तयोरुभयोः
समानं स्तोत्रियं प्रशंसति—

पुरोजिती वो अन्वस इति पद्या चाक्षर्या च वि-
राजौ भवतः पद्या वै देवाः स्वर्गे लोकमापन्नक्षर्या
ऋषयो नु प्राजानन्पदेते पद्या चाक्षर्या च विराजौ भ-
वतः स्वर्गस्य लोकस्य प्रज्ञात्यै ॥ ७ ॥

अस्मिंस्तुचे प्रथमानुष्टुबुचरे गायत्र्यौ । एवं सति पद्या पादैः स-
म्पन्नाऽक्षर्या चाक्षरपरिगणनया सम्पन्ना च द्वे विराजौ भवतः 'द-

शाक्षरा विवराद्' इति श्रुते विराजि दशसंख्यासद्भावाद्वापि मिलित्वा दशपादानां सम्भवात् । तृचस्य मिलित्वाऽशीत्यक्षराणि तानि विराट् संख्यया विभक्तानि समान्येव भवन्ति इति 'पद्याक्षर्या च विराजौ भवतः' इत्युक्तं यद्वा प्रथमायामृचि दशपदानि सन्ति ततः पद्या विराट् 'ऋवाक्षर्या विवराद्' इति विज्ञेयम् । अस्त्वेवं किं ततः स्यादिति चेदतो भवतीत्याह । पूर्वं पद्याया हि विराजा देवाः स्वर्गं लोकमायन् पदस्याक्रम-
णसाधनत्वादेतदुचितम् । अक्षर्यया तु विराजा च ऋपयोऽनुक्रमेण स्वर्गं प्राजानन् । अक्षरविवाट् प्रयोगेण यज्ञन्तद्वारा नत्फलभूतं स्वर्गं चेति क्रमः । अत इदानीन्तनैरपि पद्या चाक्षर्या च विराजौ कर्त्तव्ये भवतः किमर्थं ? स्वर्गस्य प्रज्ञात्यै परिज्ञानाय ॥ ७ ॥

अथास्मिस्तुचे प्रथमं श्यावाश्वं विधत्ते—

तासु श्यावाश्वम् ॥ ८ ॥

स्पष्टम् ॥ ८ ॥

तासु 'पुरोजितीव' इत्याद्यासु तिसृषु ऋक्षे तत्प्रशंसति—

श्यावाश्वमार्ध्वनानसः सत्रमासीनं धन्वोदवहन्
स एतत्सामापश्यत्तेन वृष्टिमसृजत ततो वै स प्रत्यति-
ष्ठत्ततो गातुमविन्दत गातुविद्वा एतत्साम ॥ ९ ॥

आर्ध्वनानसमर्ध्वनानसः पुत्रं श्यावाश्वमूर्ध्वं सत्रमासीनमितरे सत्रिणः क्रोधाद्धन्व निहृदकप्रदेशमुदवहन्नुदगमयन् । स तृपार्त्तः सञ्चेतत्सामापश्यत् । स वृष्टिमसृजत ततः अलु वृष्ट्यां सत्यां सस्यो-
त्पत्तौ पृथिव्यां प्रत्यतिष्ठत् । ततो गातुं यज्ञानुष्ठानमार्गमविन्दत । इत्थं गातुविन्मार्गलम्भनं सत्वेतत्साम मार्गलिप्सुना श्यावाश्वेन दृष्टत्वा-
दपि श्यावाश्वमभूदिति ज्ञातव्यम् ॥ ९ ॥

अथ विदुषः फलमाह—

विन्दते गातुं प्रति तिष्ठत्येतेन तुष्टुवानः ॥ १० ॥

एतेन साम्ना तुष्टुवानोऽपि यजमानो गातुं लौकिकवैदिकविधेयं मार्गं विन्दते प्रतितिष्ठति ॥ १० ॥

अथैतत्सामगतं स्तोमद्वयं प्रशंसति—

इन्द्रस्तृतीयसवनाद्भीमत्समान उदक्रामत्तन्देवाः
श्यावाश्वेनैहापि एहिषेत्प्रन्वाहपन् स उपावर्त्तत
यदेतत्साम भवति तृतीयसवनस्य सेन्द्रत्वाय ॥ ११ ॥

ऋजीपदोपदुष्टत्वेनापगतमिन्द्रं देवाः पूर्वं श्यावाश्वेन साम्ना 'ए-
हायि पहिया' इत्याहुयन्। एहात्यस्य विकारः 'एहार इ' एवमाहुतः स-
घनं प्रत्युपागच्छत्। इतरत्सुज्ञानम् ॥ ११ ॥

अथान्धीगवं विधत्ते—

अथैतदान्धीगवमन्धीगुर्वा एतत्पशुकामः सामा-
पश्यत्तेन सहस्रं पशून्सृजत यदेतत्साम भवति पशूनां
पुष्ट्यै मध्ये निधनमैडन्नभवत्येतेन चै तृतीयसवनं प्रति-
ष्ठितं यन्मध्ये निधनमैडन्न स्यादप्रतिष्ठितं तृतीयसवनं
स्यात् ॥ १२ ॥

अथ श्यावाश्वेष्वेवं प्रतिष्ठितं यन्मध्ये निधनमैडमिति—येडं इडासम्ब-
न्धि मध्ये निधनमेतत्साम कर्त्तव्यम्। किं ततस्तत्राह, एतेन खलु मध्ये
निधनेन तृतीयसवनं हि प्रतिष्ठितं निधनं हि प्रतिष्ठा तन्मध्ये भवति
तेन प्रतिष्ठासाद्विः। तद्येह मध्येन हि प्रतिपुरुषा इडाः सन्तः प्रविति-
ष्ठन्ति भूमौ। इडाशब्दः पशुवाचो पशवश्च प्रतिष्ठाहेतुरिति। इडानिधन-
त्वादपि तृतीयसवनं प्रतिष्ठितमत एवास्य साम्नः पशुपोपहेतुत्वम्। उ-
क्तमर्थं व्यतिरेकेण इडयति यन्मध्ये निधनमैडन्न स्यादिति स्पष्टम्॥१२॥

अथ मध्ये निधनमेव पुनः प्रशंसति—

दशाक्षरं मध्यतो निधनमुपयन्ति दशाक्षरा विरा-
ड्विविराज्येव प्रतितिष्ठति ॥ १३ ॥

'अथः दवानं शनयिष्टना २३४५' इति दशाक्षरनिधनं साम मध्यतः
उपयन्ति स्तोताः। विराडपि दशाक्षरा तेन विराज्येव यजमानः प्र-
तितिष्ठति ॥ १३ ॥

अथ कावं साम विदधाति—

अभिप्रियाणि पवत इति कावं प्राजापत्यर्थं साम॥१४॥

'अभिप्रियाणि' इति कृत्वे गीयमानं कावं कविना मार्गवेन दृष्टं प्राजा-
पत्यं साम भवत्यनिरुक्तानु-ऋद्भु गीयमानत्वात्। इदं प्राजापत्यं य-
था वामदेव्यं 'कयान' इत्यनुक्तानु गीयमानन्तद्वत् ॥ १४ ॥

अथैतत् स्तौति—

प्रजा चै प्रियाणि पशवः प्रियाणि प्रजायामेव पशुषु
प्रतितिष्ठति ॥ १५ ॥

लोके प्रजाः पशवः प्रियाणि । अत्रापि प्रियाणीति श्रुतत्वाच्च तत्प्रयो-
गेन प्रजायां पशुषु च प्रतिष्ठितो भवति यज्ञमानः ॥ १५ ॥

अदौशनकावे सह स्तौति—

रश्मी वा एतौ यज्ञस्य यदौशनकावे देवकोशो वा
एष यज्ञमभिसमुब्जितो यदेते अन्ततो भवतो यज्ञ-
स्पारिष्टयै ॥ १६ ॥

यदौशनकावे एतौ यज्ञस्य रश्मी वै बन्धनरज्जु । रश्मिशब्दापेक्षया
'एतौ' इति पुंलिङ्गनिर्देशः । यदेते उक्ते सामनी अन्ततो भवत एष यज्ञ-
मभिसमुब्जितः । यज्ञमुद्दिश्य देवकोशो देवानां निधानागारं खलु समु-
ब्जितः । तच्च यज्ञस्पारिष्टयै अर्हितायै भवति ॥ १६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽष्टमाध्यायस्य षष्ठमः खण्डः ।

अथ षष्ठः खण्डः ।

देवा वै ब्रह्म व्यभजन्त तस्य यो रसोऽत्यरिच्यत
तद्यज्ञायज्ञीयमभवत् ॥ १ ॥

पूर्वं देवा ब्रह्म वेदराशिं व्यभजन्त ममायं भागो ममायं भाग इति
विभागमकुर्वन् । तस्य विभज्यमानस्य ब्रह्मणो रसोऽत्यरिच्यत तद्यज्ञा-
यज्ञीयं सामाभवत् ॥ १ ॥

अथैतद्विधत्ते—

ब्रह्मणो वा एष रसो यद्यज्ञायज्ञीयं यद्यज्ञायज्ञीयेन
स्तुवन्ति ब्रह्मण एव रसे यज्ञं प्रतिष्ठापयन्ति ॥ २ ॥

अत एतद्यज्ञायज्ञीयं ब्रह्मणो रसः खलु शिष्टं स्पष्टम् । यद्यपि य-
च्छब्दयोगादनुवादत्वं तथाप्यपूर्वत्वाद्विधिरेवाभ्युपगन्तव्यः ॥ २ ॥

अथैतन्निर्वचनद्वारा प्रशंसति—

योनिर्वै यज्ञायज्ञीयमेतस्माद्वै योनेः प्रजापतिर्यज्ञ-
मसृजत तस्माद्यज्ञायज्ञीयम् ॥ ३ ॥

एतद्यज्ञायज्ञीयं साम योनिर्वै-उत्पत्तिहेतुः । तदेव साधयति एत-
स्मात् खलु यज्ञायज्ञीयाद्योनेः प्रजापतिर्यज्ञमसृजत । यज्ञमिति जात्यामि-

प्रायेणैकवचनम् । यद्यस्मादेतस्मात् साम्नो यज्ञं यज्ञं वीप्सया सर्वोऽपि यज्ञः परिगृह्यते हस्तेन यज्ञज्ञातमवृजत । तस्माद्यज्ञयज्ञसम्बन्धाद्यज्ञायज्ञी-
यमिति नामास्य सम्पन्नम् ॥ ३ ॥

अथैतत्सामप्रयुक्तं प्रशंसति—

तस्माद्वा एतेन पुरा ब्राह्मणा वहिष्पवमानमस्तोपत योनेर्यज्ञं प्रतनवामहा इति यज्ञन्ततः स्तुवन्ति योनौ यज्ञं प्रतिष्ठापयन्ति ॥ ४ ॥

तस्मादेव कारणात् पुरा ब्राह्मणा अनुष्ठातारो यज्ञस्यादिभूतं वहिष्पवमानमस्तोपत स्तोत्रमकृषत । कया बुद्ध्या योने रेतस्य साम्नः सकाशाद्यज्ञं प्रतनवामहा इति बुद्ध्या । अतोऽप्यस्य योनित्वं सिद्धमतो ऽप्याप्यन्ततः स्तुवन्ति योनावेव यज्ञं समापयन्तीति ॥ ४ ॥

अथैतत्सर्वयज्ञात्मकत्वेन प्रशंसति—

असुरेषु वै सर्वो यज्ञ आसीत्ते देवा यज्ञायज्ञीयमप-
त्रयधुंस्तेषां यज्ञायज्ञा वो अग्नय इत्याग्निहोत्रमवृजत गिरागिरा च दक्षस इति दर्शपूर्णमासौ प्रम वयममृत-
ज्ञातवेदसामिति चातुर्मास्यानि म्रियम्निब्रह्मशंभिसिप-
मिति सौम्यमध्वरम् ॥ ५ ॥

पूर्वमसुरेष्वेव सर्वो यज्ञ अग्निहोत्रादिचतुर्मेदमिन्नः सर्वो यज्ञ आसीन्न देवेषु । ते देवाः स्वार्थानकरणोपायत्वेन यज्ञायज्ञीयमपश्यन् । दृष्ट्वा च तेषां सम्बन्ध्यग्निहोत्रमवृजत 'यज्ञायज्ञाव' इति पादेन । अत्राग्नय इति श्रूयमाणत्वात् अग्निहोत्रवर्जनस्यायमुचितः । अग्निहोत्रं तेभ्यः सकाशाद्वियुज्य स्वयमलभतेत्यर्थः । यद्वा क्रमोऽत्र सम्बन्धहेतुः, अग्नि-
होत्रदर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि सौम्योऽध्वर इति क्रमः । अतस्तत्राग्नि-
होत्रप्राथम्यात् स्तोत्रीयायामपि 'यज्ञायज्ञा' इत्यस्य प्रथमपादत्वात्तेन तद्वर्जनमुचितम् । एवमुत्तरप्रापि तत्तत्सादृश्यानुक्रमाद्वा सम्बन्धेणाव गन्तव्यः । द्वितीयपादे 'दक्षस' इति दकारः श्रूयतेऽतो दर्शपूर्णमासौ प्रावृजत । तृतीयपादे प्रकर्षवाची प्रशब्दः श्रूयतेऽतस्तेनाक्षपसुकृत-
फलानि चातुर्मास्यान्यवृजत चातुर्मास्यानामक्षपसुकृतसाधनावं 'अक्ष-
प्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं मपति' इति श्रुतेः । 'म्रियम्निब्रह्म' इति चतुर्थपादे म्रियशब्दः श्रूयते सोमयागश्च देवानामतिशयेन म्रियः । अतस्तेन पादेन सौम्याध्वरमवृजत ॥ ५ ॥

अथैतत् स्वस्तोत्रीयगतपदवीप्साद्वारेण प्रशंसति—

यज्ञा वो अग्नये गिरा च दक्षसे प्र वयममृतज्ञातवेद-
साम्प्रियस्मिन्नन्नशृंसिषामिति वै तर्हि च्छन्दाशृंस्यास-
शृंस्ते देवा अभ्यारम्भमभिनिवर्त्य च्छन्दोभिर्घृज्जमसुरा-
णामवृज्जत ॥ ६ ॥

पूर्वमसुराणां यज्ञे विनापि वीप्सया 'यज्ञावो अग्नये गिरा च दक्षसे
प्रवयम्' इति श्रुत्वा च्छन्दाशृंसि च्छन्दोऽवयवमृताः पादा अक्षराणि वा
आसन् । ते देवा एतदवगत्याभ्यारम्भमभ्यस्य पदं ते देवा हमभिनिव-
र्त्याग्निभ्यः सकाशाद्यज्ञं च्छन्दोभिः प्रावृज्जत ॥ ६ ॥

अथ वेदितुः फलमाह—

च्छन्दोभिर्घृजं भ्रातृव्यस्य वृद्धक्ते य एवं वेद ॥ ७ ॥

स्पष्टम् ॥ ७ ॥

अत्र गिरागिरेति पादे गकारमकृत्वा इरा इरेति पठितव्यमिति
विवक्षुराह ।

एतद्वस्म वा आह कूशाम्यः स्वायवो ब्रह्मा लात-
व्यः कशृंस्विदद्याशिशुमारी यज्ञपथेऽप्यस्ता गरिष्यति ॥ ८ ॥

एतद्वस्माह वक्ष्यमाणमिदमुवाच सत्त्व । आदित्यस्य भूतकालसम्ब-
न्धज्ञापनार्थं स्मेति प्रयोगः । क आह? कूशाम्य एतन्नामा आचार्य्यः स्वा
यवः स्वायोः पुत्रः ब्रह्मा श्रुतादिना परिवृद्धो लातव्य एतद्बोधसम्बन्ध
कथनमेतदिति । उक्तमर्थं विवृणोति, अद्यास्मिन् दिने कं स्वित् कं वा
शिशुं शिशुमारी यज्ञपथेऽप्यस्ता प्रक्षिप्ता सती गरिष्यतीति ॥ ८ ॥

का शिशुमारी कथं गरिष्यतीति तदुभयं दर्शयति—

एषा वै शिशुमारी यज्ञपथेऽप्यस्ता यज्ञायज्ञीयं
याज्ञिरागिरेत्याहात्मानं तदुद्गाता गिरति ॥ ९ ॥

यज्ञायज्ञीयं सामेति यत् एषैव शिशुमारी शिशुवत्प्रयोगानामि-
श्रानां घातिनी यज्ञपथे यज्ञस्य मार्गं औद्गात्ररूपेऽप्यस्ता अमिप्रास्ता
तथा सति यत् गिरा गिरेति श्रूयादुद्गाता नेनात्मानमेव गिरति ॥ ९ ॥

कः परिहार इति तमाह—

ऐरङ्कृत्वोद्गेयमिरायां यज्ञं प्रतिष्ठापयत्यप्रमायुक
उद्गाता भवति ॥ १० ॥

पेरमिरासम्बन्धं कृत्वा गेयं 'गिरा गिरा' इत्यर्थात्तमपि 'इरा इरा' इति कृत्वा गातव्यमित्यर्थः । तेन यज्ञमिरायां भूमावेव प्रतिष्ठापयतीति । अत उद्गातुरपि मरणदोषो नास्ति । इदमेव वाक्यं विषयीकृत्य नव-
मस्य प्रथमपादेऽध्ययनगतो गिराशब्दो ब्राह्मणविहित इराशब्दश्च विकल्पेन प्रयोगे प्रयोक्तव्यावुत इराशब्द एवेति ? न विकल्प इराश-
ब्द एव प्रयोक्तव्य इति सिद्धान्तितम् । सोऽपि इराशब्दो न गातव्यो
गातव्यो चेति विचार्य गातव्य एवेति सिद्धान्तितम् । तद्विचारद्वयम-
त्रार्थनिर्णाय प्रदर्श्यते तत्र प्रथमन्दर्शयति ।

इरा गिरा विकल्पः स्यादुतेरैवाविशेषतः ।

वाचे मैवं बाधपूर्वमिरायाविहितत्वतः ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते यज्ञायज्ञीयेन स्तुवीतेति 'यज्ञायज्ञा' इत्यनेन
शब्देनयुक्तायामृग्युपश्रं साम यज्ञाङ्गीयन्तस्यामृचि गिराशब्दः पठ्यते
'यज्ञायज्ञा घो अग्नेये गिरागिरा च दक्षसे' इति तत्र सामगा योनिगानम-
धीयानाः सदैव गकारेण गायन्ति गा इरा गिरा इति । ब्राह्मणे तु
गकारलोपपूर्वकमाकार्यकारादिकं गानं विधीयते 'पेरं कृत्वोद्ग्रेयमिति'
गिराशब्दे गकारलोपादि भवति । इरायाः सम्बन्धि गानमैरं तादृशं
कृत्वा प्रयोगकाल उद्गानं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तत्र योनिगानब्राह्मणयोः
समानवलत्वेनाविशेषाभावाद्विकल्पेन प्रयोक्तव्यमिति प्राप्ते घूमः
'न गिरागिरेति भूपाद्यद्विरागिरेति भूपादात्मानमेव तदुद्गाता गिरे-
दिति' गकारसहितगाने याद्यमुक्त्वा गकाररहितं 'इरा' पदं गेयत्वेन
विधीयते । तत्तदादेरिकारस्य गानार्थमाकारो यकार इकारश्चेति त्रीन्
वर्णान् प्रयुज्य तत्र वा 'इरा इरा' इत्येव मन्तव्यम् । अथ द्वितीयं
दर्शयति,

इरा पदन्न गेयं स्याद्गेयं वा गीत्यनुक्तिः ।

न गेयं गीयमानस्य स्थाने जाते प्रगीयते ॥

ब्राह्मणेन विहित इराशब्दो न गातव्यः कुतः ? पेरमिति शब्देन
गीतेरनुकृत्वात् । पाणिनीयेन 'विमुक्तादिभ्योऽण्' इति सूत्रेणैराशब्दा-
दण् प्रत्ययो मत्वर्थीयो विहितः । तथा सति 'इरा' पदोपेतं कृत्वे-
त्येतावानेवार्थो भवति यदि प्रगीतेरापदसम्बन्धस्तद्धितेन विव-
क्ष्यते तदानीमाकारो यकार इकारो रेफ आकारश्चेत्येतैः पञ्चभिर्वर्णैः
निष्पन्नमा ईरारूपं गीयमानेराशब्दप्रातिपदिकं भवति । तादृशात् प्रा-
तिपदिकात् पाणिनीयेन 'बृह्दाब्ठः' इति सूत्रेण प्रत्ययान्तरेण प्रत्यया-
न्तरे सति 'आ' ईरीतं कृत्वेति ब्राह्मणपाठो भवेत् । तस्मात्प्र गेयमिति

प्राप्ते धूमः, गीयमानस्य गिरापदस्थान इरापदं विधीयत इति पदमा-
श्रस्य बाधो गानं तु न बाध्यते । किञ्च विमुक्तादिसूत्रेणाण् प्रत्ययेऽपि
पूर्व्वस्मात् 'मतौ स्यः सूक्तसाम्नोः' इति सूत्रात्सामानुवृत्तेरैरं सामेत्यर्थो
भवति । सामत्वञ्च गीतिसाध्यं तदा तु 'तस्य विकारः' इत्यस्मिन्नर्थेऽण्
प्रत्ययः । तदानीं गिराया विकार इति विग्रहे यथोक्तं गानं लक्ष्यते
तस्माद्गातव्यम् ॥ १० ॥

अथैतस्य स्तोत्रीयातृतीयपादे प्रप्रवयमित्येतस्मिन् प्रमेत्येवं नि-
न्दित्वा प्रप्नो वयमिति पठितव्यमित्याह—

वैश्वानरे वा एतदुद्गातात्मानं प्रदधाति यत्प्रप्र वय-
मित्याह प्रप्नो वयमिति वक्तव्यं वैश्वानरमेव परि-
क्रामति ॥ ११ ॥

अस्याग्नेयत्वादेतदेतेनोद्गाताऽऽत्मानं वैश्वानरैऽग्नौ प्रदधाति प्रक्षि-
पति यद्येतत् प्रप्रवयमित्याह ध्यात् । अत्राग्नौ प्रक्षेपवाचिनः प्रशब्दस्य
सद्भावात्तत्परिहार उच्यते । प्रप्नो वयमिति वक्तव्यन्तत्र परीत्यक्षरद्वयस-
द्भावाद्द्वैश्वानरमेव परि अतीत्य क्रामतीति । अतो नोक्तदोष इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रियस्मिन्ननेति चतुर्थपादेन शब्दं परित्यज्य प्रकारान्तरद्वयेन
पठितव्य इत्याह—

यो वै निहनुवानं च्छन्द उपैति पापीयानुज्जगिवान्
भवत्येतद्वै निहनुवानं च्छन्दो पन्न शंसिपमिति नु शं-
सिपमिति वक्तव्यं सुशंसिपमिति वा न निहनुवानं
छन्द उपैति वसीयानुज्जगिवान् भवति ॥ १२ ॥

य उद्गाता निहनुवानं क्रियमाणं कर्म निहनुवानं छन्दो निहनु-
ववाचिपादोपेतत्वाच्छन्दोऽपि निहनुवानन्तदुपैति प्राप्नोति स उद्गमि-
ष्यन्नुद्गाता पापीयान् भवति । किं तन्निहनुवानं छन्द इति ? तद्दर्शयति
'न शंसिपम्' इति यत्तदेव निहनुवानं छन्दः शंसन् स्तुवन्नप्युद्गाता
नुशंसिपमिति व्रते । अतोऽस्य निहनुवरूपत्वमतोऽनुशंसिपमिति वक्त-
व्यम् । नु इत्येतस्येदानीन्तनकालवाचित्वान्नापह्नवदोषः । यद्वा सुशंसि-
पमिति वक्तव्यम् । तथा सति नोक्तदोषवच्छन्दः प्राप्तिः । अत उज्जगि-
वानुद्गाता वसीयान् प्रशस्यो भवति ॥ १२ ॥

अथ वाक्प्रकारनिधनं यज्ञायज्ञीयं तच्च न स्वरूपेण प्रयोज्यात्

किन्तु प्रथमाक्षरं प्रयोक्तव्यमित्याह—

यस्य वै यज्ञा व्वागन्ता भवन्ति व्वाचश्छिद्रेण स्रव-
न्त्येते वै यज्ञा व्वागन्ता ये यज्ञायज्ञीयान्ता एतद्वाच-
श्छिद्रं यदनृतं यदग्निष्टोमयाज्यनृतमाह तदन्वस्य यज्ञः
स्रवत्यक्षरेणान्ततः प्रतिष्ठाप्यमक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रम-
पि दधाति ॥ १३ ॥

यस्य यजमानस्य यज्ञा वागन्ता वागिति निधनान्ता भवन्ति ते
वाचश्छिद्रेण व्यवधानेन स्रवन्ति निष्फला भवन्ति । वागन्तानन्यान्
दर्शयति, एते खलु यज्ञा वागन्ता ये यज्ञा यज्ञायज्ञीयस्तोत्रान्ताः स्युः ।
कथमस्य वाचश्छिद्रत्वसम्भव इति ? तदुपपादयति यदनृतमेतदेव
वाचश्छिद्रन्तदपि कथमत्र सम्भवतीति ? तदत्र सम्भावयति, यद्यपि
अग्निष्टोमयाज्यनृतमाह ब्रूते तदनृतच्छिद्रमन्वस्य यजमानस्य यज्ञः
स्रवति गलितो भवति तस्य परिहार उच्यते । अन्ततो अग्निष्टोमसामान्ते
ऽक्षरेण 'वाक्' इत्याक्षरद्वयेन 'वा' इत्याद्याक्षरेणैव प्रतिष्ठाप्यं समापनोप-
मेतत्साम तथा सत्येकेनैवाक्षरेणैव यज्ञस्य छिद्रमनृतवदनमनृतवदनुरु-
पमपिदधात्युद्गाता ॥ १३ ॥

उक्तैकाक्षरस्तुत्यन्तरमाह—

विवराजो वा एतद्रूपं यदक्षरं विवराज्येवान्ततः प्र-
तितिष्ठति ॥ १४ ॥

यदक्षरमस्त्येतद्विराजो ऽत्रस्य रूपं खलु । अश्रोतोत्यक्षरं 'विवराडि-
त्यघनाम' विराज इति व्युत्पत्त्या 'अश्रो विराडिति' ध्रुतिश्च । तस्याश्रस्य
रूपं स्वयशसा लोके व्याप्तं भवति । ततोऽक्षरं विराजो रूपमित्युच्यते ।
अतोऽक्षरमन्ते सम्पादनेन स यज्ञोऽन्ततो विवराज्येव प्रतिष्ठितो भवति ॥ १४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽष्टमाध्यायस्य पष्ठः खण्डः ।

अथ सप्तमः खण्डः ।

अथास्य प्रथमस्तोत्रायां सवनानि त्रीण्यापि च्छन्दांस्यवरोहेण
सम्पाद्य प्रशंसति—

इतो वै प्रातरुद्धानि च्छन्दाँसि युज्यन्तेऽमुतोऽवा-
श्चि यज्ञायज्ञीयस्य स्तोत्रे युज्यन्ते यज्ञा वो अग्नये गिरा च

दक्षस इति द्वादशाक्षरं प्रथमममृतं जातवेदसमित्येकाद-
शाक्षरं प्रियम्भिन्नं शंसिषमित्यष्टाक्षरम् ॥ १ ॥

प्रातः सवन इतो गायत्रमारभ्योर्क्षानि च्छन्दांसि त्रिष्टुवादीनि
युज्यन्ते प्रयुज्यन्ते । तृतीयसवेनान्ते यज्ञायज्ञीयस्तोत्रे त्वमुतो जागता-
दर्वाञ्ज्यवरोहकमाणि च्छन्दांसि युज्यन्ते तत्कथमिति ? स्वयमेव प्रद-
र्शयति । आदितः पादद्वयेनावृत्तान्यक्षराणि विद्वाम् द्वादशाक्षराणि
तज्जागतं छन्दः । एवमुत्तरयोरपि द्रष्टव्यम् ॥ १ ॥

अथोक्तच्छन्दस्त्रयमेकहित्पानुष्टुमं सम्पाद्य प्रशंसति—

अनुष्टुभमुत्तमां सम्पादयतीयं वा अनुष्टुबस्या-
मेव प्रतितिष्ठति ॥ २ ॥

उक्तप्रकारेण पादचतुष्टयक्षरपरिमाणतायामेकत्रिंशदक्षराणि भव-
न्ति । 'न वा एकेनाक्षराणि च्छन्दांसि विधन्ति' इति शास्त्रादनुष्टुप्छन्दो
भवति । ततश्च कथं प्राशस्त्यमिति तद्दर्शयति । एषानुष्टुबर्धय वै भूरेव
खलु । अनुष्टुमः समसंख्यारूपपादचतुष्टयसङ्गात्प्रतिष्ठात्मिका भूमि-
रपि सर्वेषां प्रतिष्ठा । अतस्तद्रूपत्वेन स्तुतिः । अतोऽनया स्तुवन्
यजमानोऽस्यामेव भूमौ प्रतिष्ठितो भवति ॥ २ ॥

अथ सम्पादितमेवानुष्टुमं द्वेधा प्रशंसति—

अनुष्टुब्बाच्चेव प्रतितिष्ठति उपैष्ठ्यं वा
अनुष्टुब्जैष्ठ्य एव प्रतितिष्ठति ॥ ३ ॥

उक्तप्रकारेणैव सर्ववागात्मिकानां जगतीत्रिष्टुब्गायत्रीणामनुष्टु-
बन्तः पातिस्वादनुष्टुब्बागित्युच्यते । अत एव हेतोरनुष्टुभो ज्येष्ठत्व-
मपि । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ३ ॥

अथ यज्ञायज्ञीयस्य गानं प्रश्नोत्तराभ्यां दर्शयति—

कथमिव यज्ञायज्ञीयर्क्षेयमित्याहुर्ग्रथान् इवान् प्र-
स्त्रावयमाण इत्थमिव चेत्थमिव चेति ॥ ४ ॥

कथमिव यज्ञायज्ञीयं सामगेयमिति गानप्रकाराविषयं प्रश्नं कुर्वन्ति
ब्रह्मवादिनस्तत्रेदमुत्तरमाभिज्ञा आहुः कथं ? यथाऽनङ्गान् प्रस्त्रावयमाणो
सूत्रघारां सततं वक्ता भूमौ पातयमान इत्थमिव पृथक् पृथक् प्रकार-
मनुजु कुर्वन्नेति तद्वत् गेयमित्याहुः । इतिशब्द अभिज्ञोत्तरसमाप्तियो-
त्तनार्थः ॥ ४ ॥

इत्थमिव चेत्यभिधेयुक्तं विवृणोति—

वैश्वानरं वा एतदुद्गाताऽनु प्रसीदन्नेतीत्याहुर्व्य-
ज्ञायज्ञीयस्य चर्चं संप्रत्याहेति परिक्रामते वोद्वेपं वैश्वान-
नरमेव परिक्रामति ॥ ५ ॥

यद्यपि यज्ञायज्ञीयस्य स्तोत्रीयामृचं सम्प्रतीदानीमाद्वाधीतेनैव
पाठेन ऋजुनैवाहोद्रातैतदेतेन वैश्वानरमेवानु—आनुकूल्येन प्रसीदन्
प्रकर्षेण सन्निधिं गच्छन्नेवैतीत्याहुः । तच्च गमनन्दाहाय भवति । अत-
स्तत्परिहाराय परिक्रामते च । अध्ययनपाठमतिक्रम्य ब्राह्मणोक्तप्रकारे-
णेतरेभ्यो विलक्षणमितस्ततः क्रामतेवोद्वेपम् । तेन वैश्वानरमेव परि-
क्रामति—अग्निसन्निकर्षमप्राप्यैव लभ्यति ॥ ५ ॥

अथैतच्छिरः प्रावृत्य गातव्यमिति सार्थवादं विदधाति—

वैश्वानरे वा एतदध्वर्युः सदस्यानभिसृजति यद्य-
ज्ञायज्ञीयस्य स्तोत्रमुपावर्त्तयति प्रावृतेनोद्वेपं वैश्वानरे-
णानभिदाहाय ॥ ६ ॥

यज्ञायज्ञीयस्य स्तोत्रमुद्गातृनुपावर्त्तयति प्रेरयति । 'अस्युर्जमुर्जिवा-
ससर्ज' इत्यादिनोपावर्त्तध्वमिति ह्यद्वर्युः स्तोत्रमुपाकरोति । एतदेतेन स्तो-
त्रोपाकरणरूपेण वैश्वानरेणैव खल्वध्वर्युः सदस्यानभिसृजत्यभि-
संयोजयति । अतस्तत्परिहाराय प्रावृतेन वेष्टितेन घलेणोद्गातव्यम् ।
तच्च प्राघरणमग्न्यनभिदाहाय भवति ॥ ६ ॥

प्राघरणे किञ्चिद्विशेषमाह—

न ह तु वै पितरः प्रावृतज्ञानान्ति यज्ञायज्ञीयस्य वै
स्तोत्रे पितरो यथायथं जिज्ञासन्त आकर्णार्णभ्यां प्रावृत्य-
न्तदेव प्रावृतन्तदप्रावृतज्ञानान्ति पितरो न वैश्वानरो-
हिमस्ति ॥ ७ ॥

तुशब्दो वैलक्षण्यार्थः । पितरो यज्ञान्विताः स्वस्वसम्बन्धिन आ-
न्विजो जिज्ञासमानाः प्रावृतं प्रकर्षेणापिहितशिरसं न ह जानन्ति
नैवाधिगच्छन्ति । तेषां यज्ञसम्बन्धिऋत्विजाश्च जिज्ञासा यज्ञायज्ञीय-
स्येत्यादीनोच्यते । यथायथं स्वस्ववंशमननिक्रम्येत्यर्थः । अतः पितॄणां
ज्ञानार्थमग्नेरदाहार्थञ्चाकर्णार्णभ्यां कर्णपर्यन्तं प्रावृत्यं प्राघरणं कर्त्त-
व्यम् । अत्राभिविधावाकारो मर्त्यादायामित्येके । तथाचापस्तम्भः 'स-

कर्णप्रावृता अकर्णप्रावृता वा स्तुवते इति' एवङ्कृते तदेव प्रावृतमप्रा-
वृतञ्च भवति । अतः पितरोऽपि जानन्ति वैश्वानरो न हिनस्ति ॥ ७ ॥

अथ पत्नीकर्तृकमपामुपसर्जनमपि वैश्वानरात्मकं यज्ञायज्ञीय-
शान्त्यर्थमिति स्तौति—

अपः पश्चात् पत्नय उपसृजन्ति वैश्वानरमेव त-
च्छमयन्त्यापो हि शान्तिः ॥ ८ ॥

पक्षयः पश्चाद्गार्हपत्यायतनमप उपसृजन्ति तेन वैश्वानरमेव श-
मयन्ति । अपां शान्तिरूपत्वं प्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

न केवलमनेन शान्तिः क्रियते किन्तु प्रजननहेतुरप्येवमिति स्तौति—

अथो रेत एव तत्तिसृञ्चन्त्यापो हि रेतः ॥ ९ ॥

अपां रेतस्त्वत्वं 'अद्विरभिपिञ्चन्ति रेतो वै आपः' इति तैत्तिरीया-
यादिषु प्रसिद्धम् ॥ ९ ॥

अत्रैव विशेषमाह—

दक्षिणानूरुनभिपिञ्चन्ति दक्षिणतो हि रेतः सिच्यते ॥ १० ॥

अर्थस्तु स्पष्ट एव । एतदेव दक्षिणतो रेतः सेकस्य मूलमिति
ज्ञातव्यम् ॥ १० ॥

अथोरुसेवनार्थमंशुकसङ्कोचमाह—

महदिष प्रत्यूह्यन्मन एवास्य तज्जनयन्ति ॥ ११ ॥

महदिवात्यन्तं प्रत्यूह्यं संवृतस्य विवरणं कार्यं वस्त्रस्यापोहनं
कार्यमित्यर्थः । तथाच तैत्तिरीयकं 'नग्नं कृत्वोरुमुपप्रवर्त्तयन्तीति' त-
त्तेन निर्लज्जमत्यन्तं वस्त्रप्रत्यूहनेनास्योरुमध्यस्थापितोदकस्य रेतः से-
कस्थानीयस्य तत्स्थानीयमुदयन्तमित्यर्थः । मन एव जनयन्ति मन-
स्विनं पुत्रमुत्पादयन्तीत्यर्थः । जनयन्तीति प्रयोगबहुत्वापेक्षया बहु-
वचनम् ॥ ११ ॥

अथाध्वर्युभिः कारयितव्यमपात्कर्तृकं पत्नीसंख्यापनं विधत्ते—

उद्गात्रा पत्नीः संख्यापयन्ति रेतोधेयाय ॥ १२ ॥

प्रजापतिर्वाद्गात्रा' इत्युक्तम् । अतोऽध्वर्युभिः क्रियमाणमुद्गात्रा सं-
ख्यापनं रेतोधेयाय पत्नीषु रेतोधारणाय भवति । अपः पश्चात्पक्षय उप-
सृजन्तीत्याख्यायुद्गात्रा पत्नीः संख्यापयन्ति । रेतोधेयायेत्यन्तस्यार्थस्तै-
त्तिरीयके वाक्यव्यत्यासेनेष्टा पत्नीमुद्गात्रा संख्यापयति 'प्रजापतिर्वा
एव उद्गात्रा प्रजानां प्रजननायोपप्रवर्त्तयति रेत एव तत्तिसृञ्चत् पूर-

णोपप्रवर्त्तयत्पूरणा हि रेतः सिच्यते' इत्यादिना प्रतिपादितः अत्रतु-
द्गातुर्द्विकारसमये पक्षशवलोकनार्थमध्वर्युः प्रैषं करोति ॥ १२ ॥

अत्र पक्षीसंख्यापनमाह—

हिङ्गारं प्रति संख्यापयन्ति हिङ्कृताद्वि रेतोऽधीयत ॥ १३ ॥

यज्ञायज्ञीयस्य तिसृणामपि स्तोत्रीयाणामादौ यदोद्गातारो हिङ्कु-
र्वन्ति तस्मिन् काले प्रतिसंख्यापयन्तीत्यर्थः । हिङ्कृतरेतोधानस्यैतदेव
ज्ञापकम् । अत्रापस्तम्बः 'हिङ्कृत्य व्याग्यतः स्त्रियमुपेयाद्याहरेद्वेति' ॥ १३ ॥
संख्यापनस्य त्रिवारं विधत्ते—

आतृतीयायाः संख्यापयन्ति त्रिवाद्वि रेतः ॥ १४ ॥

तृतीयास्तोत्रीयापर्यन्तं हिङ्गारं प्रत्युद्गात्रा संख्यापयन्त्यध्वर्यवः
शरीरोन्द्रियान्तःकरणरूपेण तत्रिवृद्धि रेत इत्युक्तम् ॥ १४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणेऽष्टमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ।

अथाष्टमः खण्डः ।

उक्तोऽग्निष्टोमः, अथ तस्यैव संस्थामेदेऽस्योक्थस्य स्तोत्राणि
विधातुमाख्यायिकामाह—

देवा वा अग्निष्टोममभिच्छिन्नलोक्यानि नाशक्नुवन्-
भिजेतुन्तेऽग्निमब्रुधुं त्वया मुखेनेदञ्जयामेति सोऽब्रवीत्
किम्मे ततः स्यादिति यत्कामयस इत्यब्रुवन् सोऽब्रवी-
न्महेवत्यासूक्यानि प्रणयानिति ॥ १ ॥

देवा वा अग्निष्टोममभिजित्योक्थानि नाशक्नुवन् । अशक्तास्ते-
ऽग्निं त्वया मुखेन पुरोगन्त्रेदमुत्कवा स्तोत्रजपविषयमसुरसंग्रामं
जयामेत्यब्रुवन् । एवमुक्तोऽग्निस्ततो जपान्मे किं फलं स्यादित्यब्रवीत् ।
ते च देवास्तर्हि यत् फलं कामयस इत्यब्रुवन् । सोऽग्निर्महेवत्या-
सु स्तोत्रीयासूक्यानि स्तोत्राणि प्रणयान् प्रणयेयुरित्यब्रवीत् । तथा-
ङ्गीचकुरिति शेषः ॥ १ ॥

इदानीमुक्थस्तोत्रीयास्वाग्नेयत्वं विधत्ते—

तस्मादाग्नेयीपूवयानि प्रणयन्ति ॥ २ ॥

तस्मादग्निना वृतत्वात् । अत्रापूवार्थत्वात् प्रणयेयुरिति विधिरव-

गन्तव्यः ॥ २ ॥

अथ तत्स्तोत्रीयाणां गायत्रीच्छन्दस्त्वं विधत्ते—

तस्माद्गु गायत्रीषु गायत्रच्छन्दा ह्यग्निः ॥ ३ ॥

तस्माद्गु—अग्निना वृत्त्वादेव तर्ह्यस्त्वग्नेर्यापूकयानां स्तवनं गाय-
त्रत्वस्य कः सम्यन्ध इति? उच्यते। गायत्रच्छन्दा ह्यग्निरिति प्रजापते-
र्मुखात् सहोत्पन्नत्वाद्देर्गायत्र्यमवदित्युक्तत्वाच्चाग्निर्गायत्रच्छन्दोऽभि-
मानी । आग्नेयस्य वृत्त्वादाग्नेयच्छन्दसोऽपि सम्बन्ध इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथोक्तानि साकमश्वेन विधित्सुस्तस्मात् निर्धचनद्वाराप्रशंसति-

तेग्निम्मुखं कृत्वा साकमश्वेनाभ्यक्रामन् यत्साकम-

श्वेनाभ्यक्रामंस्तस्मात् साकमश्वम् ॥ ४ ॥

ते देवा अग्निमेव मुखं पुरोगामिनं कृत्वाऽश्वेणाश्वरूपेणाग्निना
साकं सार्द्धमभ्यक्रामन् शत्रून्त्यक्रामयन् । यस्माद्देवमकुर्वन्तस्मा-
त्साकमश्वमिति तत् साम्नानाम् सम्पन्नम् ॥ ४ ॥

इदानीं तस्मात् विधत्ते—

तस्मात्साकमश्वेनोक्तानि प्रणयन्त्येतेन हि तान्य-

ग्नेऽभ्यजयन् ॥ ५ ॥

तस्मादित्यादि स्पष्टम् । तान्यक्षरसम्बन्धीन्युक्त्याभ्येतेन साम्नाऽभ्यज-
य प्रित्येतत्तस्मादित्यस्य विवरणम् । एतद्धि 'साकमश्वमेष्टुषु ब्रुवाणि ते'
इत्यादिष्वोक्त्यापु गायत्रीषु क्रियते । सर्वेषु स्तोत्रेषु स्वसमानदेवत्यानि-
शस्त्राणि भवन्ति ॥ ५ ॥

उक्त्येषु तु स्तोत्रीयानुरूपेभ्योऽनन्तरमन्या अन्या देवताः कथं
शस्यन्त इति? तत्समाधत्ते तत्रैन्द्रावरुणलक्षण देवतावैलक्षण्यं परिहरति-

स इन्द्रोऽब्रवीत्कश्चाहश्चेदमन्ववैष्वाव इत्यहश्चेति

वरुणस्तं वरुणोऽन्वतिष्ठदिन्द्र आहरत्तस्मादैन्द्रावारुण-
मनुशस्यते ॥ ६ ॥

देवानां मध्ये स इन्द्र एवमब्रवीत् । किमित्युच्यते? कश्च को देवः अहं
चेन्द्र इदं संग्राममुख्यजपार्थमनुक्रमेणावैष्वावोऽब्रगमिष्वाव इति ।
अहं च त्वं चान्ववैष्वाव इति वरुणोऽब्रवीत् । तमिन्द्रं वरुणोऽनु पश्चात्
सहायत्वेनातिष्ठत् । इन्द्रस्तु स्वयमेवाहरदानयदुक्त्यानि । यस्माद्देवं
तस्मादैन्द्रावारुणमिन्द्रवरुणदेवतार्कं सूक्तमुख्यस्तुतमनुशस्यते । अतो
वैलक्षण्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

एवमैन्द्राघार्हस्पत्यैन्द्रावैष्णवयोरप्युक्त्यस्तोत्रस्यावैलक्षण्यमिन्द्रेण प्रार्थितत्वादेवेत्याह—

स एवाब्रवीत्कश्चाहं चेदमन्ववैष्णवाव इत्यहश्चेति घृ-
हस्पतिस्तं घृहस्पतिरन्वतिष्ठदिन्द्र आहरत्तस्मादैन्द्रा-
घार्हस्पत्यमनुशस्यते स एवाब्रवीत्कश्चाहं चेदमन्ववै-
ष्णवाव इत्यहश्चेति विष्णुस्तं विष्णुरन्वतिष्ठदिन्द्र आहर-
त्तस्मादैन्द्रावैष्णवमनुशस्यते ॥ ७ ॥

पूर्ववद्योज्यम् । अयमर्थस्तैत्तिरीयके समाज्जायते 'ते देवा असुरा मे-
घावरुणस्योऽकथमश्रयन्त सोऽब्रवीदिन्द्रः कश्चाहं चेमानि तेऽसुरानन्ववै-
ष्णवाव इत्यहं चेत्यब्रवीद्वरुणः' इत्यादिना ॥ ७ ॥

अथ नित्यानामेधोऽधानामभिप्रायभेदात् पशुकामनार्थत्वमप्यस्तीत्याह—

पशून् वा एभ्यस्तानाहरत्पशवो वा उक्थानि पशु-
काम उक्थेन स्तुवीत पशुमान् भवति ॥ ८ ॥

एभ्योऽसुरेभ्यः सकाशाद्यान्युक्थान्याहरत् । एतान् पशून्नेव स-
त्त्वाहरत् । कथमुक्थान्येव पशव इति ? तदुच्यते 'पशवो वा' इति ।
अतः पशुकाम उक्थेन स्तुवीत स्तौति चेत् पशुमान् भवत्येव तेषामु-
क्थरूपेण स्थितत्वादित्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

एवं साकमश्वमुक्थमुक्त्वा सौमरं द्वितीयमुक्थं विधित्सुराह—

घृहता वा इन्द्रो बृध्नाथ व्वज्रं प्राहरत्तस्य तेजः परा-
पतत्तसौभरमभवत् ॥ ९ ॥

पूर्वमिन्द्रो बृध्रवधार्थं घृहता साम्ना वज्रं प्राहरत् । तस्य पतितं
तेजः सौमरं सामाभवत् ॥ ९ ॥

अथ सौमरप्रसङ्गादतिरात्रेऽपि ब्राह्मणाच्छेसिन उक्थं सौमरमेव
कार्यमिति विवक्ष् रथन्तरपृष्ठे तावदतिरात्रस्य स्तुतिमाह—

जामि वा एतद्यज्ञे क्रियत इत्याहुर्पयन्तरं पृष्ठं
रथन्तरं सन्धिर्ज्ञान्तरा बृहता स्तुवन्तीति यत् सौभ-
रेण स्तुवन्ति बृहतैव तदन्तरा स्तुवन्ति बृहती ह्यतेत्ते-
जो यत्सौभरम् ॥ १० ॥

पृष्ठसन्धिस्तोत्रे च रथन्तरस्य करणादन्तरा मध्ये बृहतैव स्तु-

घन्ति तज्जामित्यदोषपरिहाराय भवति 'कथं बृहता स्तुतं भवति सौम-
रादिति ? तदुच्यते 'बृहतो ह्येतदित्यादिना ॥ १० ॥

यद्येवमजामितायै सौभरं कियते सध्वंश्च रथन्तरपृष्ठे स्यादबृहत्
पृष्ठे त्वतिरात्रे किं मध्यममुक्तं स्यादित्याशङ्क्य ? तत्रापि सौभर
मेवेत्याह—

यदि बृहत्सामातिरात्रः स्यात्सौभरमुक्त्यानां ब्रह्म
साम कार्यं बृहदेव तत्तेजसा समर्द्धयति ॥ ११ ॥

यत्तिरात्रे बृहत्साम स्यात्तस्मिन् पक्ष उक्त्यानां मध्ये ब्रह्मसाम
ब्रह्मणाच्छंसिन उक्तं सौभरं कार्यम् । तथा कृते बृहदेव साम स्वतेजो
रूपं सौभरमेव स्वकीयेन तेजसा समर्द्धयति ॥ ११ ॥

एवं बृहत्सामपक्षे सौभरं ब्रह्मसामास्तु रथन्तरपक्षे किं ब्रह्मसाम
भवेदित्याकाङ्क्षायां ? तत्रापीदमेव सौभरं कर्त्तव्यमित्युक्तवन्तीति यत्
सौभरेण स्तुयन्ति बृहता स्तुवन्ति बृहतो ह्येतच्चेजो यत् सौभरमित्याह—

यदि रथन्तरसाम्ना सौभरं कुर्यादजामितायै ॥ १२ ॥

जामि वा इत्यादिनैवोक्तमित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथ नित्यप्रयोगार्थमपि सौभरं तद्वतिरेकेण स्वर्गप्रतिष्ठार्थयोः
प्रयोगयोरपि भवतीत्याह—

देवानां वै स्वर्गं^७ ल्लोकं यन्तां दिशोऽल्लयिन्त ताः
सौभरेणो इत्युदस्तम्भुवधुंस्ततो वै ता अदधुं हन्त ततः
प्रत्यतिष्ठधुंस्ततः स्वर्गं^८ ल्लोकं प्राजानन्यः स्वर्गकामः स्या-
द्यः प्रतिष्ठाकामः सौभरेण स्तुवीत प्र स्वर्गं^९ ल्लोकं जाना-
ति प्रतितिष्ठति ॥ १३ ॥

पूर्वं स्वर्गं गच्छन्तां देवानां 'सप्तम्यर्थे पृष्ठी' देवेषु स्वर्गं यत्सु सत्सु
दिशोऽल्लयिन्त शिथिला आसन् । ता दिशो देवाः सौभरेण सौभरसम्ब-
न्धिना 'ऊ' इति निधनेन उत् स्तम्भुवन् उपरि स्तम्भितवन्तः । ततः
स्तम्भनात्स्वयमपि प्रतिष्ठिता आसन् । तत एव स्वर्गं लोकं प्राजानन
स्वाधीनं चक्रुः । अत उभयकामः सौभरेण स्तुवीत स्पष्टमन्यत् । अस्य
फलार्थविधानेनैव नित्यप्रयोगेऽप्येताद्विहितं भवतीत्यभ्युपगन्तव्यम् ॥ १३ ॥

तस्य 'ऊ' इति निधनभेदेन यथा स्वर्गार्थत्वमुक्तं तथा 'ऊर्ण' इति
निधनभेदेनास्यान्नार्थत्वमपि विवक्षुराह—

प्रजापतिः प्रजा असृजत ताः सृष्टा आशनायधुं

स्ताभ्यः सौभरेणोर्गित्यन्नं प्रायच्छत्ततो वै ताः समैधन्त॥१४॥

पूर्वं प्रजापतिना सृष्टाः प्रजा यदाशनायन्नशनमैच्छन् । ताभ्यः सौम-
रेण साम्ना 'ऊर्णं' इत्यन्नं प्रायच्छन् । ततः खलु ताः समृद्धा अभवन्॥१४॥
इदानीं विधत्ते—

समैधन्ते तां० समां प्रजा यत्रैवं विद्वान् सौभरे-
णोद्गायति ॥ १५ ॥

यद्यस्मिन् सम्बत्सरे यस्य यजमानस्य प्रयोग एवमुर्गिति नि-
धनमन्नद्वारा समृद्धिसाधनमिति विद्वान् सौमरेणोद्गर्गित्यन्नेनोद्गायति
तां समां तस्मिन् सम्बत्सरे तस्य यजमानस्य प्रजा अन्नेन समैधन्ते॥१५॥

अथैतत्सामनिर्वचनद्वारा प्रशंसति—

ना अमुवन्समृतन्नोऽभार्पीरिति तस्मात्सौभरम् ॥१६॥

ता अन्नेन समृद्धाः प्रजाः प्रजापतिं यस्मात्तोऽस्मान् समृतममा-
पीत् भृतवानित्यं स्तुवीत तस्मात् सौभरमिति नाम सन्पन्नम् ॥ १६ ॥
प्रजापतिर्यदन्नं ताभ्यः प्रायच्छत्तद्वृष्टिद्वारेत्याह—

वृष्टिं वा अभ्यस्तां प्रायच्छदन्नमेव ॥ १७ ॥

यदन्नमेव प्रायच्छत् प्रजापतिस्तां वृष्टिमेव प्रायच्छद्वृष्टिशब्दापेक्षया
तच्छब्दस्य स्त्रीलिङ्गता ॥ १७ ॥

एवमेतत् पृथक् पृथक् फलसाधनत्वेन विहितं समुचित्याह—

यो वृष्टिकामः स्वाद्योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः
सौभरेण स्तुवीत ॥ १८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १८ ॥

अथ 'वृष्टिं वा अभ्यस्तां प्रायच्छत्' इत्यनेन सूचितस्य वृष्टयर्थप्रयो-
गस्य निधनं पूर्वविहितस्वर्गान्नसाधननिधनेनापि निर्दिश्य तस्मिन्नेव
सामानि कामनामेदेन व्यवस्थापयति—

हीपिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्याद्गर्गित्यन्नाद्यका-
मायो इति स्वर्गकामाय ॥ १९ ॥

हीपित्येतद्दृष्ट्यनुसरणरूपत्वात्तत्कामायोचितम् । ऊर्गित्येतत्साक्षा-
दन्ननाम 'ऊ' इत्येतद्भुजगमनस्य सादृश्यात्स्वर्गायोचितम् ॥ १९ ॥

एवमस्य बहुफलसाधनत्वमुचितं कोऽस्य विशेषस्तं दर्शयति—

सर्वे वै कामाः सौभरं० सर्वेष्वेव कामेषु प्रातिष्ठति॥२०॥

सर्वे कामा हि सर्वकामसाधनं सौमरमित्यर्थः । तत्र 'त्वामिच्छावि-
तारं ववृमहे' इति श्रूयते । सर्वैः कामै रक्षितारमिन्द्रं ववृमहे प्रार्थयाम
इति तस्यार्थः । अतोऽस्य सर्वकामार्थत्वं यो वृष्टिकामः स्याद्योऽन्नाद्य-
काम इत्यादिवाक्यद्वयं विपर्ययितुं पूर्वतन्त्रे द्वितीयस्य द्वितीयान्ते
किं सौमरफलान्तरप्रतिपादकानि 'हीप्' इत्यादीनि वाक्यानि? उत सौम-
रफलानामेव व्यवस्थापकानीति विचार्य सौमरफलस्यैव व्यवस्था-
पकानीति सिद्धान्तितन्त्रन्यायोऽत्र संगृह्य प्रदर्श्यते,

वृष्ट्यन्नस्वर्गकामानां सौमरस्तोत्रमीरेतम् ।

निधनान्यपि हीपूगूं इति वृष्ट्यादिकामिनाम् ॥

फलान्तरं किं वृष्ट्यादि हीपादीनामुतोदिते ।

सौमरे फलसंभिन्ने निधने विनियम्यते ॥

फलान्तरं चतुर्थ्योक्तं वृष्टिकामाय हीपिति ।

सौमरस्य फलं हीपित्युक्त्वा वृष्टिर्विवर्द्धते ॥

नोस्व वृष्ट्यन्नकामानामन्यत्वं प्रत्यभिज्ञया ।

नियमेऽपि चतुर्थ्येवा तादर्थ्यादुपपद्यते ।

यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः सौमरेण स्तुवीत सर्वं
सौमरमिति समाम्नायः पुनःसमाज्ञातं 'हीप्' इति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्
त्'ऊर्ग' इत्यन्नाद्यकामाय 'ऊ' इति स्वर्गकामायेति। सौमरं नाम सामविशेषः
निधनं नाम पञ्चमिः सप्तभिर्मागैरुपेतस्य साम्नोऽन्त्योभागः । तस्मिन्नि-
धने हीपादयो विशेषाः। सौमरसामसाध्यस्तोत्रफलेभ्यो वृष्ट्यादिभ्योऽ-
न्यानि वृष्ट्यादिफलान्यानयितुं विधीयन्ते कुतः ? हीपादिविधिवाक्ये
वृष्टिकामायेत्यादिना चतुर्थ्याश्रवणात् । चतुर्थीति तादर्थ्यं युवन्तीति
हीपादीनां वृष्ट्यादिकामपुरुषशेषत्वं गमयति । तच्छेषत्वं च पुरुषामिल-
पितफलसाधनत्वे सत्युपपद्यते ततः सौमरस्य हीपिति निधनविशेष-
णस्य च फलभूते हे वृष्टी भवतः । तदुभयमेलनान्महती वृष्टिश्चेति प्राप्ते
ब्रूमः । सौमरविधौ यो वृष्ट्यादिकामः स एव हीपादिविधौ प्रत्यभिधौ
प्रत्यभिज्ञायताततः सौमरस्य फलभूता ये वृष्ट्यादयस्त एव हीपादिवा-
क्येष्वनूद्यन्त इति न फलान्तरम् । अथोच्यते नूतनफलामावाद्धीपादीनां
वचनानां शास्त्राध्ययनादेव सौमरप्राप्तत्वादनर्थकोऽयं विधिरिति? तत्र
फलत्रयकामानां त्रयाणामनियमेन हीपादिमध्ये तस्य कस्य चिन्निधन-
स्य प्राप्तौ विधिनियमार्थत्वात्तदर्थन्तु फलान्तरामावेऽपीति सौमर
हीपादीनां नियम्यमानत्वादुपपद्यते । तस्मादयं निधनविशेषनियमो न
विधिः ॥ २० ॥

एवं द्वितीयमुक्त्यमभिधाय च तृतीयं विदधाति—

अथैतन्नाम्नैधम् ॥ २१ ॥

अथ सौमरानन्तरमेतद्विधीयमानं नाम्नैधं साम कार्यमिति शेषः ॥ २१ ॥

अस्य प्रवृत्तिनिमित्तं प्रदर्शयन् प्रतिष्ठासाधनत्वमाह—

नृमेधसमाङ्गिरसं सत्रमासीनं श्वभिरभ्याह्वयन्
सोऽग्निमुपाधावत्पाहि नो अग्न एकमेति तं वैश्वानरः
पर्युदतिष्ठत्ततो वै स प्रत्यतिष्ठत्ततो गातुमविन्दन ॥ २२ ॥

अङ्गिरसः पुत्र नृमेधानामानं सत्रानुष्ठायितमित्रे सत्रमासीना
ऋग्विजः श्वभिर्हन्तुमभ्याह्वयन् । सोऽग्निं 'पाहि नो' इत्युच्चा प्रगाधेन वो-
पाधावत् । पूर्वमनृषिभिः सत्र यदृष्टेन मन्त्रेणोपाधावत् प्रार्थयत् । तं
रक्षितुं मन्त्रदेवताग्निः पर्युदतिष्ठत् प्रादुरभूत् । सोऽग्निरनेन साम्नेन्द्र-
मुपाधावेति प्राद्ववीदिति शेषः । ततः स नृमेधा एतेन साम्ना प्रत्याति-
ष्ठत् । ततो गातुं सत्रारय धेयोमार्गमविन्दत ॥ २२ ॥

तत इदानीन्तनैरपि प्रतिष्ठार्थिमिरेतत्कर्त्तव्यमित्याह—

गातुविद्वा एतत्साम विन्दते गातुं प्रतितिष्ठत्येतेन
तुष्टुवानः ॥ २३ ॥

एतत्साम नृमेधसः प्रतिष्ठामार्गसाधनत्वाद्गातुविद्वै मार्गलम्भकं
खलु । अत एतेन तुष्टुवानोऽपि गातुं मार्गं विदन्ते प्रतितिष्ठति च ॥ २३ ॥

अथास्येतरैर्विलक्षण्येन नानाछन्दस्त्वमाह—

विच्छन्दस ऋचो भवन्त्यहोरात्रयो रूपम् ॥ २४ ॥

तस्मिन्नाम्नैधे विच्छन्दसो नानाछन्दोयुक्ता ऋचो भवन्ति कार्याः ।
इत्यर्थमेतद्विच्छन्दसस्तदहोरात्रयो रूपमपि विलक्षणम् । अतस्तद्रूप-
सादृश्यम् ॥ २४ ॥

कुतोऽहोरात्रयोरुपकल्प्तिस्तत्राह—

नैव द्योतदहो रूपं न रात्रेर्यदुक्त्यानाम् ॥ २५ ॥

यदुक्त्यानां रूपमस्त्येतन्नाहोऽपि रूपं न रात्रेरपि कुतः ? तृतीयस-
वनस्याग्निष्टोमेनैव समाप्तेः पर्यायाणाञ्च रात्रे रूपत्वादन्तराले स्थिता-
नामुक्त्यानामन्यतरस्मिन्नप्यननुप्रवेशात् ॥ २५ ॥

उक्तं विच्छन्दस्त्वं दर्शयति ।

ककुप्प्रथमाधोष्णिगथ पुरजष्णिगनुष्टुप्तेनानुष्टुभो
नयन्त्यच्छावाकसाम्नः ॥ २६ ॥

‘अधीहान्द्रगिर्वण’ इत्येषा ककुम्भमध्यमपादस्य द्वादशाक्षरत्वात् ‘मध्यम
 श्वेतककुप्’ इति तल्लक्षणमाअधोष्णिक् ‘त्रिपदान्त्यो द्वादशक्’ इति तल्लक्षणम् ।
 अथ पुरउष्णिगनुष्टुप् प्रायुञ्जन्ति ‘हरी इपरस्य’ इत्येषा प्रथमपादस्य द्वा
 दशाक्षरत्वात् ‘माद्यश्चत् पुरउष्णिक्’ इति तल्लक्षणम् । ननु पुरउष्णिगष्टा
 विंशत्यक्षरा अनुष्टुप् द्वात्रिंशदक्षरा कथमनयो सामानाधिकरण्यमि
 ति ? निदानकार एव तत्समाधत्ते । पुरउष्णिक् तृतीया दाशतयान्ता
 बहुचा अधीयन्ते ‘युञ्जन्ति हरी इपरस्य गाथ पौरोरथउरुपुग इन्द्रवा
 हावचा युञ्जन्ति । तत्र वय चत्वार्यक्षराण्युपाहराम. ‘सुवर्षिदा’ इति सा
 अनुष्टुप् वृहता ‘उपरिष्ठात् ज्योति’ इति तेनानुष्टुप् सम्पादनेनाच्छावाक
 साम्न सम्बन्धिन्या अनुष्टुमो न यन्ति नोपगच्छन्ति । आनुष्टुभो ह्यच्छा
 वाक सर्वे गायत्रे प्रातः सवनेऽच्छावाक ‘एनायो अग्निमव सा’ इत्य
 नुष्टुभानुवचनं प्रतिपद्यते । उन्नीयमानं सूक्तं च तस्यानुष्टुभप्रत्यस्मै पि
 षीयत इति । अच्छावाकस्यानुष्टुप् सम्बन्ध एतदयके ध्रूयते । ‘अथास्य
 यच्छन्द आसीदनुष्टुप्तो मुदतमभ्युदौहदच्छावाकीयाभीति’ ॥ २६ ॥

इति ताण्डमहाब्राह्मणेऽष्टमाध्यायस्याष्टमः खण्डः ।

अथ नवमः खण्डः ।

साकमद्व सौभर नाम्मैधमिति त्रीण्युक्त्यानि उद्दशीयाष्टादंष्ट्रयो
 रन्यतरद्वा अच्छावाकसाम करिष्यते हारिवर्णन्तु बह्वसाम्न सौभ
 रेण विकल्पः । अत्र कल्पकार. ‘अथात उक्त्यानि तस्यैव सत आष्टाद
 द्वाच्छावाकसाम्न इत्युपक्रम्य साकमश्व हारिवर्णमाष्टादंष्ट्रम्’ इत्युक्तवान्
 तत्र बह्वसामाह—

हारिवर्णं भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मसामेति शेषः ॥ १ ॥

एतत्प्रशंसति—

असुरा वा एषु लोकेष्वासंस्तान्देवा हरिश्चिय-
 मित्यस्माल्लोकात्प्राणुदन्त विराजसीत्यन्तरिक्षादिवेदि-
 च इत्यमुष्मात् ॥ २ ॥

‘त ते मदम्’ इत्यैष्णिहे त्वे हारिवर्णाश्रयभूते तिष्ठणामष्टर्धामन्ते
 क्रमेण ‘हरिश्चिय विराजसि दिवे दिवे’ इति श्रूयते तैत्तिरिभिरशौ. पूर्व

देवा भूरादिलोकत्रयेषु स्वामित्वेन वर्त्तमानानसुरानंशक्रमेणाप्राण-
दन्त । स्पष्टमन्यत् ॥ २ ॥

अथोक्तार्थवेदनफलमाह—

तद्य एवं ब्रह्मैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यं प्रणुद्येमां सलो-
कानभ्यारोहति ॥ ३ ॥

एवं स्तोत्रोयैस्त्रिभिः पदैर्लोकत्रयाद्देवकर्तृकमसुरापनोदनञ्जानाति
सोऽप्येभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यं स्वशत्रुं प्रणुद्यापसार्येमान् क्षित्यन्त-
रिक्षद्युलोकानाभिमुत्त्येनारोहति ॥ ३ ॥

अथ प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

हरिवर्णो वा एतत्पशुकामः सामापश्यत्तेन सहस्रं
पशून्सृजत यदेतत्साम भवति पशूनां पुष्टै ॥ ४ ॥

निगदव्याख्यानमेतत् । अनेन हरिवर्णेन दृष्टत्वाद्हरिवर्णमित्यस्य
प्रवृत्तिनिमित्तत्वमित्युक्तं भवति ॥ ४ ॥

पश्वभिवृद्जनतत्प्रशस्य रक्षोऽपहतिसाधनत्वेनापि प्रशंसति—

अङ्गिरसः स्वर्गं लोकं यतो रक्षांस्त्वन्वसचन्त ता-
न्येतेन हरिवर्णोऽपाहन्त यदेतत्साम भवति रक्षसा-
मपहत्यै ॥ ५ ॥

पूर्वं स्वर्गं लोकं यतो गच्छन्तोऽङ्गिरसोरक्षांस्त्वन्वसचन्तान्वग-
च्छन्त तानि यक्षांसि हरिवर्ण एतेन साम्नाऽपाहन्त विनाशितवान् ।
अत इदानीन्तनैरप्येतद्रक्षसामपहत्यै भवति ॥ ५ ॥

अथोद्देशीयमच्छावाकसाम्नः साम विधित्सुस्तदुत्पत्तिं दर्शयति—

पृष्ठानि वा असृजयन्त तेषां यत्तेजो रसोऽत्परिच्यत
तद्देवाः समभरन्तुस्तद्वृद्धं शीयमभवत् ॥ ६ ॥

पूर्वं प्रजापतिना पृष्ठानि रयन्तरादितैवतान्तानि सृष्टान्यमवैस्तपेन
सृज्यमानानां यत्तेजः सामर्थ्यद्वयोः ? यो रसः सारोऽशोत्परिच्यता-
तिरिक्तोऽभूत् । तदतिरिक्तं सर्वपृष्ठमम्बन्धितजः समभरन्नेकोचक्रुः ।
तदेकीभूतन्तेज उद्धृष्टं शीयशामभवत् ॥ ६ ॥

अथास्य सर्वपृष्ठतेजोरूपत्वेन प्रशस्तत्वं तत्पूर्वतनैः स्तोत्रमिहो-
तिप्रयोगाविषयत्वेन समर्थयते—

सर्वेषां वा एतत् पृष्ठानां तेजो यद्वृद्धं शीयन्तस्मा-

द्वा एतत्पुरा सजाताय नाक्रन् पापवसीपसो विधृत्यै॥७॥

उद्वंशीयमिति यदस्त्येतदुक्तरीत्या सर्वेषां पृष्ठानां तेजः खलु तस्मादेव कारणादेनत्साम पुरा सजाताय ज्ञाताय यजमानाय नाक्रन् नाकुर्युः । किमर्थः ? पापपुण्ययोरसाङ्कर्याय यस्मादुद्वंशीयं करोति स वसीयान् भवत्येव । अतस्तथा ज्ञातीनां भवेदिति वृद्धेरभिप्रायः ॥ ७ ॥

अथ सजाताप्रयोगनिमित्तं प्राशस्त्यमस्य दर्शयति—

एष ह्येव पृष्ठैस्तुष्टुवानो य उद्वंशीयिनस्तुवते ॥ ८ ॥

उद्वंशीयस्तुतैः सर्वैः पृष्ठै रथन्तरादिभिरपि स्तुतवान् भवतीत्यर्थः । अतोऽस्य प्राशस्त्यम् ॥ ८ ॥

अस्य सर्वपृष्ठतेजोरूपत्वं प्रतिज्ञातम्, तत् कथमित्याशङ्क्य तेषां रूपाण्यत्र सन्तीत्याह—

सर्वाणि वै रूपाण्युद्वंशीयम् ॥ ९ ॥

यानि रथन्तरादीनां रूपाणि सन्ति सर्वाण्येवोद्वंशीयं तेषां समुदायात्मकमेतदित्यर्थः ॥ ९ ॥

रथन्तररूपं तावद्विशयति—

गायन्ति त्वा गायत्रिण एति रथन्तरस्य रूपमेनि हि रथन्तरम् ॥ १० ॥

‘गायन्ति त्वा गायत्रिणः’ इत्याकारान्तोऽत्र प्रस्तावभाग एतद्रथन्तरस्य रूपम् । तथा हि ‘आ’ इति हि रथन्तरं रथन्तरस्य योनौ ‘अमि त्वा शूर’ इत्यत्र ‘आमि त्वा’ इति हि गायन्ति । अत उभयोराकारसादृश्यात्तद्रूपत्वम् ॥ १० ॥

बृहतो रूपमत्र दर्शयति—

आदिवृहत ऊर्ध्वमिव हि बृहत् ॥ ११ ॥

आदि रुद्वंशीयस्याऽद्याक्षरमुकारस्तद्बृहतो रूपम् । तथा हि-यद्बृहत् सामाऽस्ति तदूर्ध्वमिव उपरि वर्त्तते । ‘असौ वै लोको बृह’ इति पूर्वमुक्तत्वात् ॥ ११ ॥

अथ वैरूपस्य रूपं दर्शयति—

परिष्टोभो ववैरूपस्य परिष्टुभं हि ववैरूपम् ॥ १२ ॥

परिष्टोभः स्तोमानां प्रसारो बहुस्तोमत्वं स्तोत्रमुद्वंशीये दृश्यते । स वैरूपस्य वैरूपमपि बहुस्तोमत्वमतस्तद्रूपम् ॥ १२ ॥

वैराजस्य रूपं दर्शयति—

अनुतोदो व्वैराजस्यानुतुन्नं हि व्वैराजम् ॥ १३ ॥

अनुतोदोऽभ्यासः स चोद्वंशीये दृश्यते । तथा हि 'उद्वंशमिव येमिरे' इत्ययं पादो द्विरभ्यस्तः । स च वैराजस्य रूपं वैराजमप्यनुतुन्नं भवति । तथा हि वैराजं 'पिवा सोममिन्द्र' 'इत्येत'दुदनुत्वादनुत्वा इत्यनुतोदयुक्तं भवति ॥ १३ ॥

अथ शाक्करैवतयोः स्वरूपमत्र दर्शयति—

अर्द्धेडा शाक्करीणामतिस्वारो रेवतीनाम् ॥ १४ ॥

उच्' इति याऽर्द्धेडा दृश्यते । अर्ध्यर्द्धेडा शक्करीषु विद्यते तथाऽत्र विद्यमानोऽतिस्वारो रेवतीनां रूपम् ॥ १४ ॥

अथार्द्धेडातिस्वारौ स्तौति—

अर्द्धेडया वै देवा असुरानवहत्याऽतिस्वारेण स्वर्गं लोकमारोहन् ॥ १५ ॥

पूर्वमर्द्धेडया खल्वसुरान् स्वर्गगमनविरोधिनोऽवहत्याऽतिस्वारेण स्वर्गं लोकमारोहन् । अर्द्धेडया असुरहननहेतुत्वं शास्त्रगम्यमेव । अतिस्वारस्य तु ऊर्ध्वारोहात्मकत्वात् स्वर्गारोहणहेतुत्वम् ॥ १५ ॥

उक्तार्थं प्रशंसति—

तथ एव व्वेदार्द्धेडयैव भ्रातृव्यमवहत्यातिस्वारेण स्वर्गं लोकमारोहति ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १६ ॥

प्रकारान्तरेण प्रशंसति—

अर्द्धेडया वै पूर्वं यज्ञं संस्थापयन्त्यतिस्वारिणोत्तरमारभन्ते ॥ १७ ॥

'उच्' इत्यस्याऽर्द्धेडायाः अतिस्वारात् पूर्वमाविष्ठात् प्रयोक्तारः पूर्ववृत्तमुक्थसंस्थं यज्ञं संस्थापयन्ति समापयन्ति । उत्तरेणातिस्वारप्रयोगेण ऊर्ध्वारोहात्मकनोत्तरमुपरितनं यज्ञं षोडशिनमारभन्ते आरम्भवन्तो भवन्ति । 'ननु उचित्यधीयते अर्द्धेडया' इति ब्राह्मणे स्तूयते कथमविरोध इति ? न विरोधः । अध्ययने 'उच्' उपा' इति तत्र तत्राऽधीयन्ते तत्तत्स्थाने ब्राह्मणे क्रमेण अर्द्धेडा इडा अर्ध्यर्द्धेडिति व्यवहारदर्शनात् । तथैव प्रयोगकाले उचित्यस्य स्थाने इडेति, उपेत्यस्य स्थाने इडेति, उपा इत्यस्य स्थाने इद् इडेति प्रयुज्यते ॥ १७ ॥

उक्तार्थवेदिने प्रशंसति—

उपैनमुत्तरो यज्ञो नमति य एवं वेद ॥ १८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १८ ॥

अथैतत्साम पशुसाधनत्वेन प्रशंसति—

पाङ्क्तं वा एतत्साम पाङ्क्तो यज्ञः पाङ्क्ताः पशवो
यज्ञ एव पशुषु प्रतितिष्ठति ॥ १९ ॥

‘उद्वंशमिवे’त्यस्य चतुर्थपादस्य द्विरभ्यस्तत्वेन पादपञ्चकोपेनत्वा-
देतत्साम पाङ्क्तम् । अस्तु पाङ्क्तं किं तन ? इति, अत आह—पाङ्क्तो यज्ञः अग्निहो-
त्रदर्शपूर्णमासचातुर्मास्यपशुसोमभेदेन पञ्चविधत्वाद्यज्ञोऽपि पाङ्क्तः ।
वाहिष्पङ्क्त्याद्यक्षरपङ्क्त्यादिकामे तैत्तिरीयब्राह्मणोदाहरणेन पूर्वत्र
प्रदर्शितम् । ततश्च किमिति ? तत्राह पाङ्क्ताः पशवः पशूनां पाङ्क्तत्वं
लोमत्वङ्मांसास्थिमज्जारयैः पञ्चावयवैरुपेतत्वात् । एवं सति पाङ्क्तो-
द्वंशीयसाम पाङ्क्ते यज्ञे पशुषु च प्रतितिष्ठितो भवति ॥ १९ ॥

अथ समृद्धिं कामयमानस्य आप्टादधुंष्ट्रयोरन्यतरदिच्छावाकसाम
कर्त्तव्यमाह—

आष्टादधुंष्ट्रं ऋद्धिकामाय कुर्यात् ॥ २० ॥

ऋद्धिर्मे स्यादिति कामयित्रे अनयोरन्यतरदिच्छया कुर्यात् ॥ २० ॥

अथैते प्रशंसति—

अष्टादधुंष्ट्रो ववैरूपोऽपुत्रोऽप्रजा अजीर्यसत् इमाँ
ल्लोकान्विच्छिदिवाँ अमन्यत, स एते जरसि सामनी
अपश्यत्तयोरप्रयोगादविभेत्, सोऽब्रवीदधनवद्योभेसाम-
भ्याधुं स्तवाता इति ॥ २१ ॥

वैरूपो विरूपस्य पुत्रोऽष्टादष्टो नाम ऋषिः अपुत्रः, कोऽर्थः ? अप्रजाः
प्रजा सन्ततिस्तद्रहितः सन् अजीर्यत् जीर्णोऽमृत् । स इमान् लोकान्
सन्तत्यभावेन विच्छिदिवान् ‘लिटः क्वसौ रूपम्’ विच्छिन्नवान् अम-
न्यत स ऋषिलोकाविच्छेदाय जरसि जरत्स्वस्यायामेते सामनी अपश्य-
त्साम्यां प्राजायतेति शेषः । स ऋषिः परमनयोः साम्नोरप्रयोगाज्जीर्णे इमे
ते सामनी अपश्यत् । यत अनयोर्वर्त्तनायाभ्याननुष्ठानान् प्रयोजयितुं न
शक्नोमि । अतोऽनयोरितः परमप्रयोगो भविष्यतीत्यादिभेत् भीतवान् ।
एवं भीतः स सर्वेषामनयोः प्रवृत्त्यर्थमेवमब्रवीत् । यः कोऽपि मे साम-
भ्यां मत्संयन्धिभ्यां स्तवातै स्तुयात् स ऋधनवत् ऋधुयादिति । ऋद्धि-
फलसंकीर्त्तने सति तदर्थिनः प्रवर्त्तिष्यन्त इत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

अतः समृद्धयर्थिभिरेते प्रयोक्तव्ये इत्युपसंहरति—

ऋषेर्वा एतत्प्राशोद्भूतं यदाष्टादंष्ट्रे भवत
ऋध्या एव ॥ २२ ॥

ऋषेराष्टादंष्ट्रस्य प्राशोद्भूतं प्राशया पुत्रादिलक्षणया प्रकर्षेच्छयो-
द्भूतमेतत्सामह्वयम् । अतो यत् यदि आष्टादंष्ट्रे भवतस्तर्हि ते समृद्ध्या
एव भवतः ॥ २२ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे ऽष्टमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

दशमः खण्डः ॥

अथ वृद्धिकामनाप्रसङ्गादस्मिन् खण्डे कामनाभेदेनोक्तयानि वि-
धास्यति । तत्र प्रथमं ब्रह्मवर्चसकामायाऽऽह—

गायत्रीषु ब्रह्मवर्चसकामापोक्तयानि प्रणयेयुर्गा-
यत्र्यां ब्रह्मसामाऽनुष्टुभ्यच्छावाकसाम सैषा गायत्री
सम्पद्यते ॥ १ ॥

गायत्रीषु ऋक्षकथानि प्रणयेयुरुपाक्रमेरन् ब्रह्मवर्चसकामाय नि-
त्यार्था एव 'एह्यस्वे'त्याद्यास्तिस्रो गायत्र्यः सौमराध्वभूताः काम्यार्था
अभिभवेयुः । तथा गायत्र्यां गायत्रीच्छन्दसि गायत्रीष्वित्यर्थः । तास्वे-
व 'इह्यसि वीरसुः' इत्यादिषु सौमरब्रह्मसामकार्यम् । तथा अनुष्टुच्छ-
न्दस्कासु 'इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्' इत्याद्यासु नामैधमच्छावाकसाम
कार्यम् । सैषानुष्टुप् गायत्री सम्पद्यते । तत्सम्पत्तिप्रकार इत्थं द्रष्टव्यः-
उक्तयान्येकीविंशस्तोत्रानि । तत्र तिसृष्विति तिसृभिरनुष्टुभिश्चनस्रो
गायत्र्यो भवन्ति । एकीविंशत्यनुष्टुभिरेष्टाविंशतिर्गायत्र्यः सम्पद्यन्ते ।
शिष्टास्तु स्वत एव गायत्र्यः ॥ १ ॥

अश्वेधं, किं तत ? इति, तथाऽऽह—

तेजो ब्रह्मवर्चसं गायत्री तेज एव ब्रह्मवर्चसमव-
रुन्धे ॥ २ ॥

ब्रह्मवर्चसं नाम तेजोविशेषः । गायत्र्याश्चाग्नेयत्वात् गायत्र्येव ब्रह्म-
वर्चसं तेजः । अथवा गायत्रीजपाद्ब्रह्मवर्चसामिवृद्धिः श्रुतिस्मृतिपु-
राणादिषु प्रसिद्धा । अतस्तत्प्रयोक्ता ब्रह्मवर्चसलक्षणं तेजोऽवरुन्धे ॥ २ ॥

अथ पशुकामस्याऽऽह—

गायत्रीषु पशुकामायोक्तानि प्रणयेयुरुष्णिहि ब्रह्म-
सामाऽनुष्टुभ्यच्छावाकसाम सैषोष्णिक्सम्पद्यते ॥ ३ ॥

गायत्रीषु नित्यास्वेवोक्तानि प्रणयेयुरुष्णिहि उष्णिक्छन्दस्कास्तु-
ष्टु 'तं ते मद गृणीमसि' इत्यादिषु सौमर ब्रह्मसाम कर्त्तव्यम् । अनुष्टुभ्य-
च्छावाकसाम । पूर्ववदेव सैषा गायत्र्यनुष्टुप्सम्पत्योष्णिग्भवति ।
सप्त गायत्र्याः पटुष्णिहो भवन्त्येव । एकविंशतिस्तोमत्वादेकविंशतिगा-
यत्रीभिराद्योक्त्यागमिरष्टादशोष्णिहः सम्पद्यन्ते । अच्छावाकसामिन् तु
सप्त सप्तानुष्टुभोऽष्टावष्टावुष्णिहो भवन्तीत्येकविंशत्यनुष्टुभिश्चतुर्विं-
शतिरुष्णिहः सम्पद्यन्त इत्युष्णिक् सम्पत्तिः ॥ ३ ॥

उष्णिक् सम्पत्तेः प्रयोजनमाह—

पशवो वा उष्णिक् पशूनेषावरुन्धे ॥ ४ ॥

भूषिष्ठपञ्चाङ्गागा हि पशवो भवन्ति । उष्णिगपि पञ्चाङ्गागस्यान्त्य-
पादद्वादशाक्षरोपेतत्वात्तादृशी । अत उष्णिक् पशव इत्युच्यते । स्पष्ट-
मन्यत् ॥ ४ ॥

अथ पुरुषकामायाऽऽह—

गायत्रीषु पुरुषकामायोक्तानि प्रणयेयुः ककुभि ब्र-
ह्मसामाऽनुष्टुभ्यच्छावाकसाम सैषा ककुप् सम्पद्यते ॥ ५ ॥

नित्यास्वेव गायत्रीषु छन्दः प्रणयनं ककुप्स्तु नित्यास्वेव 'वयमु-
त्वामपूर्व्य' इत्यादिषु ब्रह्मसामसौमरमनुष्टुभ्यच्छावाकसाम पूर्ववदेव ।
सैषोष्णिगेव मध्यपादद्वादशाक्षरा चेत्ककुबुच्यते । अत उष्णिक्
ककुमौ स्तोत्रीयागताक्षरसंख्यावैषम्यामावाहुष्णिक्सम्पत्तिरेव ककु-
प्सम्पत्तिः ॥ ५ ॥

तत्फलमाह—

पुरुषो वै ककुप् पुरुषानेषावरुन्धे ॥ ६ ॥

पुरुषस्य मध्यभागस्थौल्यात् ककुमश्चोक्तप्रकारेण मध्यमागाधिक्यात्
तत्साम्येन पुरुषः ककुबुच्यते । अतस्तत्प्रयोगेण पुरुषानेषाऽवरुन्धे ॥ ६ ॥

अथाऽन्नाद्यकामायाऽऽह—

विराट्स्वन्नाद्यकामायोक्तानि प्रणयेयुरुष्णिहि ब्रह्म-
सामाऽनुष्टुभ्यच्छावाकसाम सैषा विवराद् सम्पद्यते ॥ ७ ॥

विराट्सु 'आपः पुरन्नार्मिणीमदीदेद्' इत्यादिषु विप्रात्सु साकमश्वे-

दक्षराणि शिष्यन्ते । तानि पूर्वशिष्टैस्त्रिंशदक्षरैः सहैकानुष्टुप् कृत्वा-
विंशतिं शिष्यन्ते । तथा सौमरस्य ब्रह्मसाम्न उक्थस्यैकविंशस्तोमत्वा-
देकविंशत्युणिहो भवन्ति । तासु मध्ये षोडशोणिदश्चतुर्दशाऽनुष्टुभः
स्युः । शिष्टासु पञ्चसूणिक् । चत्वारिंशदधिकशताक्षराणि चतस्रोऽनु-
ष्टुमो भूत्वा द्वादश शिष्यन्ते । तान्यक्षरपंकथवशिष्टैर्विंशत्यक्षरैः
सहैकानुष्टुप् सम्पद्यते । इत्येवं पञ्चयुणिहोरनुष्टुप्त्वसम्पत्तिः ॥ ९ ॥
अनुष्टुप्सम्पत्तेः फलमाह—

उपैष्ठयं वा अनुष्टुप् उपैष्ठयमेवाऽवरुन्धे ॥१०॥

उपैष्ठ्यस्य प्रजापतेश्छन्दस्त्वादनुष्टुमो ज्यैष्ठ्यत्वम् । यद्वा सहि-
ङ्काराया गायत्र्यास्त्रिष्टुब्जगत्योः स्वस्वपादाक्षरसंख्याद्वारेणानुष्टुभ्यन्तः-
प्रवेशादनुष्टुमो ज्यैष्ठ्यत्वम् । अयमर्थ 'अष्टाक्षरा गायत्री हिङ्कारो नवमः'
इत्युपक्रम्य च्छन्दोमिरोवानुष्टुममाप्नोतीत्येवमेवोक्तः
वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्द निवारयन् ।
पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १० ॥

इति श्रीगद्राजाधिराजपरमेश्वर्यैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीर्यु-
क्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्य्येण विरचिते ॥
माधवीये सामवेदार्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे
अष्टमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

अष्टमाध्यायः समाप्तिमगमत् ।

नवमोऽध्यायः ।

प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

ब्राह्मणाच्छंसिनः काम्यसामाद्युक्त्यान्तमष्टमे ।

वर्णितं नवमे ह्यस्मिन्नतिरात्रादिरुच्यते ॥

तत्र प्रथमखण्डे सप्तसन्धिसामानस्त्रयो रात्रिपर्यायाः संप्रहेण प्रद-

दर्शन्ते । द्वितीये त एव विप्रियन्ते । तत्रादौ रात्रिपर्यायान् विधित्सुराह-

देवा वा उक्थान्यभिजित्य रात्रिन्नाशक्नुवन्नभि-
जेतुं, तेऽसुरात्रात्रितमः प्रविष्टान्नाऽनुपश्यन् पश्यन् एत-
मनुष्टुप्शिरसं प्रगाथमपश्यन् विवराजं ज्योतिः, तान्
विवराजा ज्योतिषाऽनुपश्यन्तोऽनुष्टुभा वज्रेण रात्रे-
निराघ्नन् ॥ १ ॥

देवाः पूर्वमसुरेभ्यः सकाशादुक्थान्यभिजित्य रात्रिं रात्रिपर्याया-
नभिजेतुन्नाशक्नुवन् । ते देवास्तमस्तमोरूपां रात्रिं प्रविष्टानसुरात्रानुप-
पश्यन् अनुगम्य विविच्य द्रष्टुन्नाऽशक्नुवन् । ते देवा असुरदर्शनोपायत्वे-
नाऽनुष्टुप्शिरसमनुष्टुपक्रमगायत्रीद्वयात्मकं 'पान्तमा' इति प्रगाथम-
पश्यन् सतो वार्हताः प्रगाथा इति प्रसिद्धम् । कथं ? गायत्र्याः प्रगाथत्वमिति
नैवेनियमः । अत्र ह्युत्तरभूते गायत्र्यौ 'पुत्रहतम्' इत्यादिकेऽनुष्टुप्प्रकार-
स्तूयेते । अथ प्रग्रथनसम्भवादयमपि गायत्रत्वचोऽनुष्टुप्सम्पत्तेः प्रगा-
थ इत्युच्यते । तथा च निदानं "अनुष्टुमा अपि प्रगाथा भवन्तीत्येके । अ-
नुष्टुप् प्रथमा गायत्र्या उत्तरे यथा 'पुरोजितो वो अग्नस, आत्वा रथं
यथोतथे, विशो वो अतिथिं पान्तमावो अग्नस इतीति" तथा अयं प्रगाथ-
एव विराडाख्यं ज्योतिः । अतः प्रगाथदर्शनमेव विराड् रूपज्योतिर्दर्शनम् ।
यद्यप्यसौ न विरादुच्छन्दस्कस्तथापि 'पुरोजितो वो अग्नस' इत्यत्र 'पद्या-
चाक्षर्या च विराजौ भवत' इति पूर्वं प्रतिपादितत्वात् । तद्वत् एकस्या
अनुष्टुभो द्वयोरेव गायत्र्योः पादानां पारिगणने दशसंख्यासङ्गावाच-
या विराडित्युच्यतेऽत एव तमःप्रविष्टानामसुराणां विराजनसाधनत्वात्
ज्योतिष्मुपचर्य 'विवराजं ज्योतिरपश्यत्' इत्युक्तम् । तानसुरान् विराजा-
ज्योतिषा अनुक्रमेण दृष्ट्वा अनुष्टुभा वज्रेण रात्रेः सकाशाद्विराघ्नन् नि-
रगमयन् 'नामि व्यावज्ज' इति श्रुत्यन्तराद्वयो वज्ररूपत्वं 'वागनुष्टुप्'
इति श्रुतेश्चानुष्टुभो वाप्रूपत्वमित्यनुष्टुभो वज्रत्वव्यपदेशः ॥ १ ॥

अत इदानीन्तनैरप्ययं प्रगाथः कर्त्तव्य इति विदधाति—

यदेषोऽनुष्टुप्शिराः प्रगाथो भवति विवराडेव ज्यो-
तिषाऽनुपश्यन्ननुष्टुभा वज्रेण रात्रेभ्रान्तृष्यं निर्हन्ति ॥२॥

व्याख्यातप्रायमेतत् ॥ २ ॥

रात्रेभिराघ्निति सामान्येनोक्तं विवृण्वन् पर्यायशब्दं निर्वाक्य—

तान् समन्तं पर्यायं प्राणुदन्त यत् पर्यायं प्राणु-

दन्त तत्पर्यायाणां पर्यायत्वम् ॥ ३ ॥

यद्यस्मात् समन्तं रात्रेः सर्वतः पर्यायं यत्र यत्राऽसुराः पराभूता-
स्तिष्ठन्ति तं तं देशं परीत्य परीत्य प्राणुदन्त प्रणोदनमकुर्वन् । तत्प-
र्यायाणां पर्यायत्वं सम्पन्नम् ॥ ३ ॥

प्रगाथमपश्यन्नित्युक्तम्, तस्य प्रथमपर्यायगतस्य प्रप्रथमप्रकारमाह—

प्रथमानि पदानि पुनरादीनि भवन्ति प्रथमस्य
पर्यायस्य ॥ ४ ॥

प्रथमपर्यायस्य प्रथमानि पदानि गायत्र्योत्तरयोर्ऋचो प्रथमपा-
दगतानि पदानि पुनरादीनि पुनरादीयन्तेऽभ्यस्यन्त इति । पुनरादीनि
तादृशानि भवन्ति । पुनरहतं पुरुषुतमिति द्विरावर्त्तयेदित्यर्थः ॥ ४ ॥

उक्तनियमविधिसिद्ध्यर्थं देवैः पूर्वमनुष्ठितमिति दर्शयति—

प्रथमैर्हि पदैः पुनरादाय प्रथमरात्रात्प्राणुदन्त ॥ ५ ॥

यतो देवाः पूर्वमसुरान् प्रणोदनं प्रगाथगतप्रथमपदानि पुनरादाय
प्रथमरात्रादकुर्वन् । अत इदानीन्तनैरप्येवं कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

अथाऽस्य प्रस्तावमागमाह—

पान्तमावो अन्धस इति प्रस्तौति ॥ ६ ॥

स्पष्टम् ॥ ६ ॥

एतत्प्रशंसति—

अहर्वं पान्तमन्धो रात्रिरह्वैष तद्रात्रिभारभन्ते ॥ ७ ॥

अतस्तु सामान्येन स्तुतिः क्रियते । पाति रक्षन्त्यालोकेनेति पान्त-
महः । अन्धीकरणादन्धो रात्रिः । एवं सति पान्तमिति क्रमेण युज्यन्ति
तत्तेनाह्वैव रात्रिभारमन्त उपक्रमन्ते ॥ ७ ॥

प्रगाथं विधाय तत्र साम विधत्ते—

तासु व्वैतहव्यम् ॥ ८ ॥

कर्त्तव्यमिति शेषः ॥ ८ ॥

अथैतस्य प्रवृत्तिनिमित्तं दर्शयन्नवगतिप्रतिष्ठयोर्द्वैतुत्वेन प्रशंसति—

व्वैतहव्यः आयसो ज्योग्निरुद्ध एतत्सामाऽपश्य-
त्सोऽवगच्छत्प्रत्यतिष्ठदवगच्छति प्रतितितिष्ठत्येतन-
तुष्टुवानः ॥ ९ ॥

आयसः श्रेयसः पुत्रो व्वैतहव्यो नाम ऋषिः 'देविकाशिशपादित्य-
वाहार्थसन्नश्रेयसामादिति' श्रेयःशब्दस्यादेराकारः । ज्योक् चिरकालं

निरुद्धः शत्रुभिर्निरोधं प्रापितस्तत्रिर्गमनायैतत्साम दृष्टवान् । स चाने-
नाऽवगच्छदधगतोऽभूत् । अन्यत् स्पष्टम् ॥ ९ ॥

अस्य सास्त्रो यदोको इति निधनं तत् प्रशंसति—

तम इव वा एते प्रविशन्ति ये रात्रिमुपयन्ति यदो-
को निधनं रात्रेर्मुखे भवति प्रज्ञात्यै ॥ १० ॥

ये रात्रि रात्रिपर्यायान् उपयन्ति प्रजुञ्जत उद्गातारः, एते तम इव
प्रविशन्ति खलु रात्रौ तमःसज्जायात् । अतो रात्रेः प्रथमे पर्याये ओ-
कोनिधनप्रयोगः प्रज्ञात्यै अनुष्ठेयपदार्थज्ञानाय भवति ॥ १० ॥

कथमस्य प्रज्ञातिहेतुत्वमित्याशङ्क्य तल्लोकप्रसिद्धित्वेन समर्थयति—

यदा वै पुरुषः स्वमोक आगच्छति सर्वं तर्हि प्रजा-
नाति सर्वमस्मै दिवा भवति ॥ ११ ॥

यदा कश्चित् पुरुषो दूरमध्वनि गत्वा स्वमोकः स्वकीयं सन्न पुनरा-
गच्छति प्राप्नोति स्वचित्तं सर्वं धनादिकं तर्हि तदा प्रजानाति । तदेवो-
च्यतेऽस्मै सर्वं दिवा भवति प्रकाशितं भवतीत्यर्थः ॥ ११ ॥

एवं सङ्ग्रहेण प्रथमपर्यायं विधायांऽथ मध्यमं पर्यायं विधातुमाह—

ते मध्यमं पर्यायमश्रयन्त तेषामौर्ध्वसन्ननेन वा-
चमवृञ्जत ॥ १२ ॥

ते प्रथमेन पर्यायेण पूर्वरात्रात् प्रजुञ्जा असुरा मध्यमं पर्यायमश्र-
यन्त आश्रयन् । तेषां वाचमौर्ध्वसन्ननेन सास्त्रा अवृञ्जत अवर्जयन् ॥ १२ ॥
उक्तार्थस्य फलमाह—

व्वाचं भ्रातृव्यस्य वृङ्क्ते य एवँ व्वेद ॥ १३ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १३ ॥

अथ त्रिणिधनं विधत्ते—

त्रिणिधनं भवति ॥ १४ ॥

‘सुवृक्तिभिः, नृमादनं, मरेषु वा’ इति निधनत्रयम् ॥ १४ ॥

उक्तं निधनत्रयं माध्यन्दिनसवनसाम्येन प्रशंसति—

यथा वा अहो माध्यन्दिनं सवनं त्रिणिधनायतन-
मेवमेव रात्रेर्मध्यमः पर्यायस्त्रिणिधनायतनः सलो-
मत्वाय ॥ १५ ॥

अह्ण एकाहसाध्यस्य ज्योतिष्टोमस्य माध्यन्दिनं सवनं यथा त्रिणि-

घनायतनं निघनत्रयसद्भावेनाऽयतनत्रयोपेतम् । माध्यन्दिनसवने यौधाजये
'पुनान' इत्यत्र 'सास' इत्येकं 'दास' इति द्वितीयं 'ण्याया' इति तृतीयमि-
ति हि निघनत्रयं तत्र प्रदर्शितम् । एवमेव रात्रेर्मध्यमः पर्यायस्त्रिणिघ-
नायतनः । तत्र प्रथमं त्रिणिघनत्वं सलोमत्वायाऽऽनुलोम्याय ॥ १५ ॥

अथ साम्नां स्तोत्रीयासु 'अयं त' इत्यादिपूत्तरयोरनुष्टुप्त्वाय मध्यम-
पादावृत्तिपूर्वं देवैस्तथा कृतत्वात् कर्त्तव्येति विधित्सुराह—

मध्यमानि पदानि पुनरादीनि भवन्ति मध्यमस्य
पर्यायस्य मध्यमैर्हि पदैः पुनरादायम्मध्यमरात्रात्प्राणु-
दन्त ॥ १६ ॥

इदं वाक्यद्वयं प्रथमपर्यायवाक्यद्वयेनैवोक्तप्रायम् ॥ १६ ॥

अथोत्तमं पर्यायमाह—

त उत्तमं पर्यायमश्रयन्त तेषां घृतश्च्युत्त्रिघनेन
पशूनवृज्जन पशवो वै घृतश्च्युतः ॥ १७ ॥

घृतं पयः क्षरन्तीति पशव एव घृतश्च्युतः । अत एतन्निघनेनासु-
राणां पशुवर्जनं युक्तम् ॥ १७ ॥

उक्तार्थवेदितुः प्रशंसा—

पशून् भातृव्यस्य घृङ्क्ते य एवँ ब्वेद ॥ १८ ॥

इदं ह्यन्वित्यत्र माधुच्छन्दसं सामोत्तरस्मिन्विधास्यते ॥ १८ ॥

ततः स्तोत्रीयासूत्तरयोरनुष्टुप्त्वायान्त्यपादावृत्तिं देवैः कृतत्वात्क-
र्त्तव्यत्वेन विधत्ते—

उत्तमानि पदानि पुनरादीनि भवन्त्युत्तमस्य पर्या-
यस्योत्तमैर्हि पदैः पुनरादायमुत्तमरात्रात्प्राणुदन्त ॥ १९ ॥

स्पष्टम् । अत्र त्रिष्वपि रात्रिपर्यायेषु होतुः सामान्येवोक्तानि । मैत्राव-
रुणादीनि सामान्युत्तरस्मिन् खण्डे निर्देशक्रमादेवाऽवगन्तव्यानि ॥ १९ ॥

एवं पर्यायत्रयमुक्त्वा सन्धिस्तोत्रस्य विधिमुन्नयति—

तान् सन्धिनाऽभिपलायन्त ॥ २० ॥

तान् त्रिभ्यो रात्रिभागेभ्योऽपगत्याऽहोरात्रयोरर्थः सन्धिरस्ति तमा-
धितान् सन्धिना सन्धिस्तोत्रेणाऽभिपलायन्त 'अन्तर्णीतण्यर्थोऽयं' अभि-
अनुसृत्य पलायनमकारयन्त । अतो यद्विधातिनां सन्धेरपगमाय सन्धि-
सामेदानीन्तनैरपि कर्त्तव्यमिति विधिर्दृष्टव्यः ॥ २० ॥

अथाऽसुराणामसंघातायाऽऽश्विनमाह—

तानाश्विनेनाऽसंघातयमगमयन् ॥ २१ ॥

तान् सर्वतः पलायितानसुरानाश्विनेन शस्त्रेणासंघातयं संहर्तुमयो-
ग्यमगमयन् । यथा मिथो न सहच्छेद्युस्तथा कुर्वन्नित्यर्थः ॥ २१ ॥

उक्तार्थवेदितुः फलमाह—

असंघातयं भ्रातृव्यं गमयति य एवं ज्ञेद ॥ २२ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २२ ॥

अथ रात्रिपर्यायमग्निष्टोमसामसम्पादनेन प्रशंसति—

एषा वा अग्निष्टोमस्य सम्मा यद्वात्रिः ॥ २३ ॥

समा समिति साम्यमिति साम्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

साम्यं दर्शयति—

द्वादश स्तोत्राण्यग्निष्टोमो द्वादश स्तोत्राणि रात्रिः ॥ २४ ॥

चत्वार्याज्यानि चत्वारि पृष्ठस्तोत्राणि मिलित्वाऽष्टौ । त्रीण्येकादश-
(पथमान) स्तोत्राण्येकं यज्ञायज्जीयमिति मिलित्वा द्वादशाग्निष्टोमस्य
स्तोत्राणि । रात्रिपर्यायेष्वपि सन्धिष्वतिरेकेण पर्यायं होत्रादीनि
चत्वारि चत्वारि स्तोत्राणीत्येवं साम्यम् ॥ २४ ॥

अत्राप्युक्तसाम्येन सन्धिं प्रशंसति—

एषा वा उक्तस्य सम्मा यद्वात्रिः ॥ २५ ॥

अत्र रात्रिशब्देन तदनन्तरभावि सन्धिस्तोत्रं लक्ष्यते ॥ २५ ॥

अनयोः साम्यं दर्शयति—

त्रीण्युक्त्यानि त्रिदेवत्यः सन्धिः ॥ २६ ॥

उक्तस्तोत्राण्यपि त्रीणि सन्धिस्तोत्राण्यपि 'अग्निरुषा अश्विनौ'
इति त्रिदेवत्यं मेवमुभयत्र त्रित्वात्साम्यम् ॥ २६ ॥

समावसम्पादनेन उक्तस्याग्निष्टोमसमनन्तरभावि नवरात्रिसमनन्तर-
भावि सन्धिसाम प्रशंसति—

यथा वा अह उक्तान्येवमेव रात्रेः सन्धिर्नानारूपा-
पयह उक्तानि नानारूपा एते तृचा भवन्ति ॥ २७ ॥

अहो ज्योतिष्टोमसमनन्तरमवाग्न्युक्त्यानि यथा यादृशानि एवं
रात्रेः सन्धिरपि उक्तानां छन्दोमेदात्रानारूपत्वम् । सन्धेस्तु नानामेदात्
देवता नानारूपा इत्युक्तम् ॥ २७ ॥

अथ कामनाभेदेन सन्धिस्तोत्रं विवक्षुरादौ प्रतिष्ठाकामायाऽऽह—

रथन्तरं प्रतिष्ठाकामाय सन्धिं कुर्यात् ॥ २८ ॥

(१) 'एतो वो अग्निम्', (२) 'प्रत्युबदर्शि' (३) 'इमा उ वाम्' इति प्रगाथेषु कर्त्तव्ये नित्य एव रथन्तरेऽभिसन्धिभेदात्प्रतिष्ठासाधनत्वमपि ॥ २८ ॥
एतत्प्रशंसति—

इयं वै रथन्तरमस्यामेव प्रतितिष्ठति ॥ २९ ॥

स्पष्टम् ॥ २९ ॥

अथ बृहत्स्वर्गायाऽऽह—

बृहत् स्वर्गकामाय सन्धिं कुर्यात् ॥ ३० ॥

स्पष्टम् ॥ ३० ॥

बृहत्स्वर्गयोः साम्यमाह—

स्वर्गो लोको बृहत्स्वर्ग एव लोके प्रतितिष्ठति ॥ ३१ ॥

द्यावापृथिव्योः मध्ये स्वर्गो द्वितीयः । रथन्तरबृहतोर्मध्ये बृहत् द्वितीयमिति तस्य तत्स्थानीयत्वम् ॥ ३१ ॥

पशुकामाय वैकल्पिकसन्धिसामानि दर्शयति—

ववारवन्तीयं वा व्वामदेव्यं वा शुद्धं चैतेषामेकं पशुकामाय सन्धिं कुर्यात् ॥ ३२ ॥

विकल्पवाचिनो वाशब्देनैव विकल्पे सिद्धेऽपि पुनरेतेषामेकमिति वचनं विस्पष्टार्थम् ॥ ३२ ॥

एतानि प्रशंसति—

पशवो वा एतानि सामानि पशुष्वेव प्रतितिष्ठति ॥ ३३ ॥

एतेषां प्रयोगे पशवो लभ्यन्त इत्येतान्येष पशव उच्यन्ते । अत्रार्पण-
कल्पः प्रतिष्ठाकामाय यत् क्लृप्तं रथन्तरसन्धिसामवत् स्वर्गकामस्य
बृहत्सन्धिसाम । तेष्वेव प्रगाथेषु वारवन्तीयं वा व्वामदेव्यं वा शुद्धं वै
तेषामेकं पशुकामस्य सन्धिं कुर्यादितेष्वेव प्रगाथेष्विति ॥ ३३ ॥

अथोक्तस्य सन्धिसाम्नोऽनुवचनरूपं होतुर्विधत्तं—

आदिवनः होताऽनुशंसति ॥ ३४ ॥

आदिवनाख्यं सन्धिस्तुतं सन्धिस्तोत्रमनु होता शंसेत् । यद्यप्यस्य

विधानं बहुचब्राह्मण एवोचितम्, तथाऽप्यस्य वक्ष्यमाणरूपप्रशंसया प-
चमानदेवत्यत्वेन स्तोत्रस्य प्रशंसा भवतीति तदर्थमत्रापि विधानम्। उत्त-
रत्र सर्वाः खलु देवताः शस्यन्ते(३७.) इति वक्ष्यति । अनोऽस्य वैश्वदे-
वत्वं युक्तम् ॥ ३४ ॥

कथमाश्विनमुच्यते इति तद्विवक्षुराह—

प्रजापतिर्वर्वा एतत्सहस्रमसृजत तद्देवेभ्यः प्रायच्छत्त-
स्मिन्न समराधयधुंस्ते सूर्य्यं काष्ठां कृत्वाऽऽजिमधावन् ॥ ३५ ॥

पूर्वं प्रजापतिरेतत्सहस्रं सहस्रसंवासरमसृजतात्सृष्टं देवेभ्यः प्राय-
च्छदिदं स्वीकुरुतेति । तस्मिन् शस्त्रे न समराधयन् विभागं कृत्वा संसि-
द्धा अभवन् । ते क उपायः ? इति सञ्ज्ञित्य सूर्य्यं काष्ठामधधि कृत्वा
ऽऽजिमधाधनगच्छन् ॥ ३५ ॥

उदानीमाश्विनसम्बन्धं दर्शयति—

तेषामश्विनौ प्रथमावधावतां तावन्ववदन् सह नोऽ-
स्त्विति तावन्नूतां किं ततः स्यादिति यत्कामयेथे इत्य-
ब्रुवधुंस्तावन्नूतामस्मद्देवत्यमिदमुक्थमुच्यता इति तस्मा-
दाश्विनमुच्यते ॥ ३६ ॥

तेषां देवानां मध्ये अश्विनौ प्रथमौ सन्नावधावतामाजिम् । तौ प्रथम-
गामिनावनुगत्य देवा अवदन् । किमिति ? तच्छस्त्रं नोऽस्माकमपि सहा-
स्त्विति । एवं देवैरुक्तौ भागप्रदानेनास्माकं किं फलमिति देवानुकथन्तौ ।
किमपेक्षितमिति तैः प्रत्युक्तादिदमुक्थमस्मद्देवत्यमिति देवानवाचताम् ।
यस्मादेवं तस्मादिदं शस्त्रमाश्विनमुच्यते ॥ ३६ ॥

सह नोऽस्त्वित्युक्तं शस्त्रसम्बन्धं दर्शयति—

सर्व्याः खलु देवताः शस्यन्ते ॥ ३७ ॥

यस्माद्देवैः प्रार्थितं तस्मादाश्विनशस्त्रे सर्वा देवताः शस्यन्ते ।
तथा हि अग्नि, उषा, अश्विनौ, सूर्य्य, इन्द्रो, मित्रावरुणौ, द्यावापृथि-
व्यो, निर्ऋति, वृहस्पतिः, इत्येतेऽत्र शस्यन्ते ॥ ३७ ॥

अथाऽस्य शंसने किञ्चिद्विषयमद्वयमाह—

क्षिप्रं शस्यमाजिमिच ह्येते धावन्त्यासूर्य्यस्योदेतोः
शधुंसेत्सूर्य्यं हि काष्ठामकुर्व्वत ॥ ३८ ॥

लोक आर्जि धावन्तः क्षिप्रमेव धावन्ति । एत ऋत्विज आर्जि धा-

धन्वीव यशं समापयन्ति । अत एतच्चैः क्षिप्रमविलम्बेन शंसनीयम् ।
तच्च शंसनमासूर्यस्योदेतोः सूर्योदयकालपर्यन्तं कर्त्तव्यम् । शिष्ट
स्पष्टम् ॥ ३८ ॥

इति ताण्ड्यमहाप्राज्ञेन नवमाध्यास्य प्रथमः खण्डः ॥ ९-१. ॥

द्वितीयः खण्डः ॥

उक्तास्संग्रहेण रात्रिपर्यायाः पूर्वस्मिन् खण्डे । अत्र तानेष सप्रप
ञ्चमाह, - यद्यप्यनुष्टुप्शिरसं प्रगायमपश्यन् (९. १. १.) 'तास्तु वैतह-
व्य, (९. १. ८.) मित्यादिना स्तोत्रीयसामनी अपि विहिते तथापि
मैत्रावरुणादीनां पर्यायसम्बन्धीनि सामानि न विहितानि, अतस्तदर्थं
पुनर्विहितमपि होतृसामाऽनूद्य प्रशंसति—

(१) 'पान्तमा वो अन्धस' इति वैतहव्यमन्यक्षेत्रं वा
एते प्रयन्ति ये रात्रिमुपयन्ति यदोकोनिघनं^१ रात्रेर्मुखे
भवत्योक्तसोऽप्रचपावाय ॥ १ ॥

वैतहव्येन तिरोधपरिहारार्थं दृष्टत्वादस्य वैतहव्यत्वं पूर्वं (९. १. ९.)
मुक्तम् । य इतिवजो रात्रिं रात्रिपर्यायानुपयन्ति एते अन्यक्षेत्रमुपगताः
अन्तु । प्रयोक्तृणामग्निष्टोमे दिवैव प्रयुज्यमानत्वात् प्रकृतित्वाच्च क्षेत्रम् ।
सतिराशस्तु तद्विलक्षणत्वादन्यक्षेत्रमेव । यद्वा देवैरुक्थवद्रात्रावसु-
रैर्यो जितत्वादन्यक्षेत्रत्वं, तत्र स्वक्षेत्रवदाश्रयामावात् । अतो रात्रे-
र्मुखे पर्याये य 'दोक' इत्येतन्निघनं भवति, ओक इति निवासनाम,
तस्याऽप्रच्युत्यै भवति ॥ १ ॥

अथ मैत्रावरुणसाम विधत्ते—

(२) 'प्र व इन्द्राय मादन'मिति गौरीवितम् ॥ २ ॥

'प्र व' इति स्तोत्रीयाश्रयस्य प्रतीकोपादानम् । एवमुत्तरत्र प्रतीकं द्रष्टव्यम् ॥ २ ॥
एतत्प्रशंसति—

ब्रह्म यदेवा व्यकुर्वत ततो यदत्परिच्यत तद्गौरी-
वितमभवत् ॥ ३ ॥

पूर्वं देवा यद्ब्रह्मसाम व्यकुर्वत व्यभजन् । अतो विमाणाव परो
योऽशोऽपरिच्यत तद्गौरीवितमभवत् ॥ ३ ॥

एवमतिरिक्ततां सम्पाद्य रात्रिपर्याये योग्यतामाह—

अतिरिक्तं गौरीवितमतिरिक्तमेतत् स्तोत्रं यद्रात्रि-
रतिरिक्त एवाऽतिरिक्तं दधाति ॥ ४ ॥

अस्य सास्रोऽतिरिक्तत्वमुक्तम् । रात्रौ कर्त्तव्यं पर्यायगतं मैत्रावरुण-
स्तोत्रमपि सवनत्रयमतीत्य वत्सेमानत्वादतिरिक्तम् । शिष्टं सुष्ठानम् ॥४॥

अथ ब्राह्मणाच्छंसिनः साम विधत्ते—

(१) 'वयमु त्वा तदिदधा' इति काण्वम् ॥५॥

स्पष्टम् ॥ ५ ॥

प्रतत्प्रशंसति—

एनेन वै कण्व इन्द्रस्य सांविद्यमगच्छदिन्द्रस्यैवैतेन
सांविद्यं गच्छति ॥ ६ ॥

सांविद्यं समानाविद्यत्वं सखित्वमित्यर्थः । तत् स्तोत्रेण 'इन्द्र त्वा यन्तः
सखायः' इति हि स्तूयते । अतस्तत्प्रयोक्ताऽपिन्द्रस्य सांविद्यं प्रो-
प्रीति ॥ ६ ॥

अच्छावाकसाम विधाय प्रशंसति—

(२) 'इन्द्राय मद्धने सुत'मिति श्रौतकक्षं क्षत्रसाम प्र
क्षत्रमेवैतेन भवति ॥ ७ ॥

धृतकक्षेण क्षत्रियेण दृष्टं श्रौतकक्षम् । अतः क्षत्रसामैतत् । तत्प्रयोगे-
ण क्षत्रं प्रबलं भवति ॥ ७ ॥

अथ मध्यमे पर्याये होतुः साम विदधाति—

(३) 'अयं त इन्द्र सोम' इति दैवोदासम् ॥ ८ ॥

दैवोदासं दिवोदासेन दृष्टं साम ॥ ८ ॥

एतन्निघनद्वारा प्रशंसति—

अग्निष्टोमेन वै देवा इमं ल्लोकमभ्यजयन्नन्तारिक्षमु-
क्थेनाऽतिरात्रेणाऽमुं, त इमं ल्लोकं पुनरभ्यकामयन्त त इ-
हेत्यास्मिँल्लोके प्रत्यातिष्ठन् पदेतत्साम भवति प्र-
तिष्ठित्यै ॥ ९ ॥

पूर्व देवा अग्निष्टोमोक्त्यात्रिरात्रैः क्रमेण भूरादिलोकत्रयं जित्वा

त एव पुनरिमं लोकमभ्यकामयन्त । ते कामयित्वा 'इह' इति निधनप्रयोगसामर्थ्येन भूलोके एव प्रतिष्ठिता भवन् । स्पष्टमन्यत् ॥ ९ ॥

होतुरेव वैकल्पिकं स्तोत्रमाह—

ऊर्ध्वसङ्गनमपि शर्वरीषु प्रोहन्ति ॥ १० ॥

अपि 'शर्वरीष्वपि गतासु प्राप्तासु, शर्वरीष्वतिरात्रेषु पर्यायेष्वित्यर्थः । प्रयोगबहुत्वापेक्षया बहुवचनम् । तच्चोर्ध्वसङ्गनं साम प्रोहन्ति कुर्युः । अत्र प्रतीकान्तरस्याऽश्रवणात् 'अयं त इन्द्र' इत्याद्या एवास्य स्तोत्रीया इति बोद्धव्यम् ॥ १० ॥

एतत्प्रशंसति—

असुरा वा एषु लोकेष्वासंस्तान्देवा उर्ध्वसङ्गनेभ्यो लोकेभ्यः प्राणुदन्त ॥ ११ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ११ ॥

उक्तार्थवेदनं प्रशंसति—

तद्य एवं वेदैभ्यो लोकेभ्यो भ्रातृव्यं प्रणुद्य स्व आयतने सत्रमास्ते ॥ १२ ॥

अत्र 'यो वेद' 'मास्त' इत्युभयप्राप्येकवचनमविवक्षितम् । ये जानन्त्येवं ते सर्वे सत्रानुष्ठापिनो भवन्तीत्यर्थः । अत्र दैवोदासौर्ध्वसङ्गनयोः साम्नोः प्रयोगविषये निदानकार आह (१) 'मध्यमस्य रात्रिपर्यायस्य होतृपामणी विचारयन्ति—दैवोदासं वा स्यादौर्ध्वसङ्गनं वेति विकल्पो वा स्यादपि वा दैवोदासमहीने कुर्यात् पूर्वाध्यायं पूर्वं यज्ञस्थाने और्ध्वसङ्गनं सत्रेपूत्राध्यायमुत्तरे यज्ञस्थानेऽथाप्यस्मिन् सत्रवादरूपो भवत्यौर्ध्वसङ्गनमपि शर्वरीषु प्रोहन्ती'ति । अस्याऽयमर्थः—मध्यमस्य रात्रिपर्यायस्य सम्बन्धिनी विहिते होतृपामणी विचारयन्ति । विचारप्रकार उच्यते—दैवोदासं वा स्यादौर्ध्वसङ्गनं वेति विकल्पो वा स्यादिति । व्यवस्थया कल्पो विकल्पः । येन यज्ञमानेन यत् पूर्वं दैवोदासमहीन इति सत्रापेक्षया यत् पूर्वं यज्ञस्थाने अहीने स्थादिति । एतेनोत्तराध्यायमित्याद्यपि व्याख्यातम् । अथाप्यस्मिन्नित्यादेरयमर्थः—अस्मिन्नौर्ध्वसङ्गनविषये सत्रवादरूपो भवति । प्रोहन्तीति बहुवचनेनाऽभिधानमेव । अथ वा प्रतीकोपादानमिदम् । सत्रवादस्तु स्व आयतने सत्रमास्त इत्ययमपि ॥ १२ ॥

अथ मैत्रावरुणसाम विधत्ते—

(१) 'आ नून इन्द्र धुमन्त'मित्याकूपारम् ॥ १३ ॥

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

तत् प्रशंसति—

अकूपाराऽऽङ्गिरस्यासीत्तस्या यथा गोघायास्त्वगेवं
त्वगामीत्तामेतेन त्रिःसाम्नेन्द्रः पूत्वा सूर्यत्वचसमक-
रोत्तदाव सा तर्ह्यकामयत यत्कामा एतेन साम्ना स्तु-
वते स एभ्यः कामः समृध्यते ॥ १४ ॥

अकूपारानामाऽऽङ्गिरस्यासीत् । तस्या यथा गोघायास्त्वक् तथा त्व-
गासीत् । सा गोधेव दुष्टत्वचा सतीन्द्रमस्तौपीत् । स तुष्ट इन्द्रः एनामेतेन
साम्ना त्रिवारं रथच्छिद्रादिना पावयित्वा सूर्यत्वचसमकरोत् । तथाच
मन्त्रवर्णः '(२) खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतकतो । अपालामि-
न्द्र त्रिः पूत्वाऽऽङ्गोः सूर्यत्वचमिति' । एवमपगतत्वग्दोषा सात हि
तदानीं तदेवाऽकामयतेन्द्रम् । किमिति ? तद्दर्शयति यत्कामाः—याह-
ककामोपेता एतत्साम्ना स्तुवन्ति स काम एभ्यः स्तावृभ्यः स मृष्यते
समृद्धो भवति ॥ १४ ॥

अथ ब्राह्मणाच्छांसिसाम विधाय प्रशंसति—

(३) 'अभि त्वा वृषभा सुतं' इत्यर्पिभं क्षत्रसाम क्षत्र-
मेवैतेन भवति ॥ १५ ॥

विश्वामित्रस्य पुत्र ऋषभः । एतस्योत्पादनकाले स क्षत्रिय एव ।
अतस्तेन दृष्ट्यादेतदपि क्षत्रसाम । स्पष्टमन्यत् ॥ १५ ॥

अथाऽच्छावाकसाम विधाय प्रशंसति—

(४) 'इदं व्वसो सुतमन्ध' इति गारमेतेन वै गर
इन्द्रमप्रीणात्प्रीत एवाऽस्यैतेनेन्द्रो भवति ॥ १६ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १६ ॥

अथ तृतीये पर्याये होतृसाम विधाय प्रशंसति—

(५) 'इदं धृष्ट्यान्वोजसे'ति माधुच्छन्दसं प्रजापतेर्वा
एषा तनूरयातयाम्नी प्रयुज्यते ॥ १७ ॥

मधुच्छन्दसा दृष्टं माधुच्छन्दसम् । एषैतत् साम प्रजापतेः शरीरं
खलु । अस्य तृचे आद्ये द्वे अनिरुक्ते । अतः प्रजापतेस्तनुत्वम् । अथ एव
देवतान्तराश्रवणादेवाऽयातयाम्यगतसारा प्रयुज्यते ॥ १७ ॥

अथ मैत्रावरुणसाम विधत्ते—

(१) 'आ त्वेता निपीदते'ति दैवातिथम् ॥ १८ ॥

स्पष्टम् ॥ १८ ॥

तद् प्रशंसति—

देवातिथिः सपुत्रोऽशनायथंश्चरन्नरण्य उर्वारूण्य-
विन्दत्तान्येतेन साम्नोपासीदत्ता अस्मै गावः पृश्नयो
भृत्वोदतिष्ठन् यदेतत्साम भवति पशूनां पुष्ट्यै ॥ १९ ॥

पूर्व दुर्भिक्षे सञ्जाते देवातिथिर्नाम ऋषिः सपुत्रोऽशनेच्छुः सञ्च-
रन्नरण्ये उर्वारूणि कर्कटीफलान्यविन्दत् । तानि फलानि देवातिथिः
साम्नोपासीददुपसत्रोऽभूत् । तास्तानि फलानि पृश्नयो मानावर्णा
गावो भूत्वा अस्मा उदतिष्ठन् प्रादुरभवन् । तस्मा एतत्पश्वातुगुण्याय
भवति । न चैतदसङ्गनमिति मन्तव्यम् । सामर्थ्यात्तथा भवत्येव । अथ
वा विहितसाम्नः स्तुत्यर्थत्वादविरोधः ॥ १९ ॥

अथ ब्राह्मणाच्छंसिसाम विधाय प्रशंसति—

(२) 'योगे योगे तवस्तर'मिति सौमेधं रात्रिषाम
रात्रेरेव समृध्यै ॥ २० ॥

सौमेधं सुमेधसा दृष्टं रात्रिषामेति तस्य नाम ॥ २० ॥

अथाऽच्छावाकसाम विधत्ते—

(३) 'इन्द्र सुतेषु सोमेष्व'ति कौत्सम् ॥ २१ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २१ ॥

एतत्प्रशंसति—

कुत्सश्च लुशश्चेन्द्रं व्यह्वयेताथं स इन्द्रः कुत्समु-
पावर्त्तत तथंशतेन वादुर्ध्वाभिराण्डयोरवघ्नात्तं लुशोऽ-
भ्यवदत् प्रमुच्यस्व परि कुत्सादिहागहि किमु त्वावा-
नाण्डयोर्वद्ध आसाता इति तास्संच्छिद्य प्राद्रवत्स
एतत्कुत्सः सामाऽपश्यत्तेनैनमन्ववदत्स उपावर्त्तत ॥ २२ ॥

कुत्सश्च लुशश्चोभावृषी पूर्वं यज्ञे समकालमेवेन्द्रं व्यह्वयेत् पृथक् पृथक्
 घ्नाहूतवन्तौ । तयोर्मध्ये स इन्द्रः कुत्से प्रत्येवाऽपागच्छत् । न पुनर्लुशम् ।
 यज्ञगमनशङ्कया शतसङ्ख्याभिर्वाद्भिर्धर्ममयीभिरिज्जुभिराण्डयोर
 यध्नात् । तमिन्द्रं लुश आगन्धैवमवादीत्—‘हे इन्द्र प्रमुच्यस्वाऽऽत्मानं कुतः
 स्सकाशात् ! तदुच्यते—कुत्सात्परि परीति पञ्चम्यर्थानुवादी । कुत्ससकाशा-
 न्मुक्तस्त्वमिहास्मिन्यज्ञ आगह्यागच्छ । किमु त्वावान् त्वत्सदृशः आण्ड
 योर्मुक्तयोर्वदः सन् आसातै आसीत् । अतो महानुभावस्य तव मुक्तव-
 न्धनमनुचितम् । अतो मुच्यस्वेत्यर्थः । अस्य पूर्वार्द्धे ‘अवृजं हित्व’ इत्या-
 दिकोऽप्रयोजनत्वाद्भ न पठितः । एवमुक्त इन्द्रस्ता वार्धोः सान्द्रिच
 प्राद्वत् प्रकर्षेण शीघ्रं लुशमगच्छत् । स तु कुत्स एतत्सामापश्यत् । तेन
 साम्नेनमिन्द्रमन्ववदत् स्तुतवानित्यर्थः । स स्तुतः कुत्समुपावर्त्तत ।
 अत एतदिन्द्रस्य प्रियतममिति स्तुतिः ॥ २२ ॥

अस्त्वेवम्, किं ततः ? इत्याह—

यदेतत्साम भवति सेन्द्रत्वाय ॥ २३ ॥

स्पष्टम् ॥ २३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे नवमाध्यायस्य

द्वितीयः खण्डः ॥ २-२ ॥

तृतीयः खण्डः ॥

एवमुक्तो ज्योतिष्टोमः सर्वप्रकृतिभूतः । स च यद्यपि चतुःसंख्यः
 तथापि (१) न वै षोडशी नाम यज्ञोऽस्तीत्यादि श्रुतिः षोडश्यष्टयक्त्वादत्र
 ब्राह्मणेऽग्निष्टोमादिसंख्याप्रयात्मक एवोक्तः । अथाऽवशिष्टेनाऽध्यायशेषे-
 ण सोमविषयं प्रायश्चित्तमुच्यते । तत्रादौ साम्युत्थाने प्रायश्चित्तमाह—

यदि सत्राय दीक्षेरन्नथ साम्युत्तिष्ठेत्सोममपभज्य
 (२) न्विदशजिताऽतिरात्रेण गजेत सर्व्ववेदसेन सर्व्वस्मा
 एव दीक्षते सर्व्वमाप्नोति ॥ १ ॥

यदि सत्राय तदनुष्ठातारो बहवो यजमानाः सह दीक्षेरन्, तेषु
 कश्चित् साम्यर्धमनुष्ठायोत्तिष्ठेदसमाप्यैव केन विद्याध्यादिना निमि

तेन, स सोमं कीतं स्वांशमपभज्य विभानं कृत्वा तेन सोमेन विश्व-
जिताऽतिरात्रसंख्येन सर्वपृष्ठेन सर्ववेदेतेन, 'वेद' इति धननाम । सर्व-
स्वदक्षिणात्मकेन यजेत । सत्रादुत्थानेऽन्यं य कञ्चित् कतुमननुष्ठाय
कथं सर्ववेदसोऽतिरात्रः क्रियत ? इति । तत्राह-सर्वस्मा एव सर्वमे
फलाय सर्वाणि च पृष्ठानि सर्वाश्च स्तोमान् प्रयोक्तुं खलु सत्राय दी-
क्षन्ते । अतोऽयमुचित इत्यर्थः । अनेनाऽतिरात्रेण सर्वसत्रफलं प्राप्नोति ॥१॥

अत्रत्यं सर्वस्वदक्षिणं सत्राददक्षिणकादप्यधिकमेवेत्याह—

या इदक्षिणा ददाति तामिरानि प्रयुङ्क्ते ॥ २ ॥

या इत् या एव दक्षिणा ददाति विश्वजितिं कर्तौ तामिः सत्रम-
नीत्य प्रयुक्तवान् भवति । एतेनापि सत्रादधिकं फलमेतेन लभ्यत इत्युक्तं
भवति । अत्र सोममपभज्येति श्रवणात्सोमक्रयानन्तरमुपसत्सु वा
सोत्थेषु वाऽहस्तु स्थितस्य विवक्षितं स्यात् न दीक्षासु स्थितस्येति श-
ङ्कनीयम् । एतदुपग्रन्थे विचार्य निर्णयितम्—पथा खलु विश्वजिह्वाक्षाम्य
उत्तिष्ठनः स्यादित्येकं । सोमपभागेन जानीमः कीनो हि दीक्षासु सोमो
भवतीति । अत्र साम्युत्तिष्ठेदित्येकवचनमविवक्षितम् । अनेकेषामप्युत्ति-
ष्ठतामेतस्य साम्युत्थानस्य निमित्तत्वात् ॥ २ ॥

एव साम्युत्थानप्रायाश्चित्तमुक्तम् । रात्रेरुपरिमाणे रात्रिपर्यायाः क-
र्त्तव्याः । तदनन्तरं सन्ध्याम । ततो व्युष्टेरर्वामेवाश्विनशस्त्रं समापनी-
यम् । एवं सति प्रमादात् विलम्बेन पर्याया व्युष्टेः पूर्वं न समाप्नुयुरिति
शङ्क्येत तस्योपायमाह—

यदि पर्यायैरस्तुतमभिव्युच्छेत्पञ्चदशभिर्होत्रे स्तु-
युः पञ्चाभिः पञ्चभिरितरेभ्यः ॥ ३ ॥

यदि पर्यायैस्त्रिभिः सोममस्तुतमभिव्युच्छेत् प्रमातृकालो भवेदिति
शङ्क्येत तदा होत्रे होतृपञ्चदशमिर्क्रान्तिः स्तुयुः । इतरेभ्यो मैत्राव-
पादिभ्यस्त्रिभ्यः पञ्चमिर्क्रान्तिः स्तुयुः । होतृभ्यः पञ्चदशस्तो-
मकं कार्यमितराणि पञ्चस्तोमकानि कुर्युरित्यर्थः । अत्राऽपस्तम्बो यद्यपि
पर्यायत्रयस्य पर्यायद्वयस्यैकपर्यायस्य च स्तोत्राय कालाविलम्बामावे
पृथक्पृथगेव शीघ्रप्रयोगमुक्तवान्, तथापि रात्रिपर्यायस्य त्रयस्याप्ये-
तत्साधारणमिति मन्तव्यम् । तथाचोपग्रन्थे पठ्यते—'यदि पर्यायैरस्तु-
तमभिव्युच्छेदिति सर्वान् पर्यायानधिकृत्य भवति कत्वर्थसामान्याद-
यैकास्मिन् पर्याये प्रतीकेऽपि द्वयोरिति'ति ॥ ३ ॥

अथ सन्धिस्तोत्रायाह—

(१) 'अग्ने विषस्वदुपस' इति सन्धिना स्तुयुः प्राणा
वै त्रिवृत् स्तोमानां प्रतिष्ठा रथन्तरं^१ साम्नां प्राणा-
ं^२श्चैवोपयन्ति प्रतिष्ठाश्च ॥ ४ ॥

नवस्तोत्रीयात्मकसन्धिस्तोत्रेण स्तोतुं मध्ये व्युष्टिः स्यादिति शङ्का
यद्युदियात् तदा 'अग्ने विषस्वदुपस' इति प्रगाथे अग्निदेवत्ये सन्धिना
स्तोत्रेण त्रिवृत्स्तोमेन स्तुयुः । अत्र त्रिवृदिति (२) त्रिक एवोच्यते । स्तो-
मानां मध्ये त्रिवृत्स्तोमः प्राणाः खलु त्रिवृत् । त्रिवृति त्रिविधसंख्याऽस्ति ।
प्राणा अपि प्राणोऽपानो व्यान इति त्रिधा । यद्वा नासिकाच्छिद्रयोर्मुखे च
सञ्चारमेवेन त्रिरूपः । अतः सङ्ख्यासाम्यात्त्रिवृदेव प्राणः । तथा साम्नां
मध्ये रथन्तरसाम्नः प्रतिष्ठात्वम् । एवं सति यद्रथन्तरं सन्धिपाम
त्रिकस्तोमं भवति तेन प्राणांश्च प्रतिष्ठाञ्जोमयमपि प्राप्नुवन्ति ॥ ४ ॥

उक्तसन्धिस्तोत्रेतिहासः । अथाश्विनशस्त्रस्य ऋक्संह्यात्मकस्य
कालविलम्बाभावे संख्यां विदधाति—

पष्टिञ्च त्रीणि च शतानि होता शं^३सति ॥ ५ ॥

पष्ट्युत्तरशतत्रयसङ्ख्याका होता ऋचोऽनुशंसव ॥ ५ ॥

तत्संख्यां स्तौति—

तावत्पः सम्बत्सरस्य रात्रयः सम्बत्सरसम्मिताभि-
रेव तदृग्भिराश्विनमाप्नोति ॥ ६ ॥

उक्तसङ्ख्या एव हि सम्बत्सररात्रयः स्युः । अस्त्वेवं किं ततः ? इत्याह—
उक्तसङ्ख्याया सम्बत्सरसम्मानात् सस्मिताभिरेवाऽद्वयसंख्याकाभिर्ऋग्भि
र्ऋक्संह्यसम्पाद्यं मुख्यमाश्विनशस्त्रमाप्नोति । अयमभिप्रायः—'सम्ब-
त्सरो वै प्रजापति' इति श्रुतेरुक्तसंख्याया सम्बत्सरद्वारा प्राजापत्या-
स्तः स एव सर्वमिति तावदेव ऋक्संह्यशस्त्रावाप्तेरिति ॥ ६ ॥

एवं विधासशङ्कायां कर्त्तव्यमुक्तत्वेदानीं यथाविहितस्तोत्राणां न्यूना-
तिरेके प्रायश्चित्तं यदतुं सम्बत्स्तुवन्तीति स्तुतानां स्वरूपं दर्शयति—

पदर्वाक् स्तुवन्ति तदस्तुतं यत्सम्प्रति स्तुवन्ति तत्
स्तुतं यदातिष्ठुवन्ति तत्सुष्टुतम् ॥ ७ ॥

यद्यदि विहितत्रिवृदादिस्तोत्रादर्वाक् स्तोत्राण्यन्यूनत्वेन स्तु-
वन्ति तदस्तुतमेवाऽस्तुतप्रायमेव ऋतुपैकत्वेनाऽपूर्वोत्पादनाशक्तत्वात् ।

यत् सम्प्रति यथावत् स्तुवन्ति तत् स्तुवं यदतिष्ठुवन्ति विहितस्तोम-
मतिक्रम्याऽधिकेन स्तुवन्ति तत् सुष्ठुतम् । तदत्र सुशब्दो निन्दार्थः ।
अधिकस्य न्यूनवद्दुष्टत्वात् । तेन क्रतुवैकल्यं भवत्येव, अविहितत्वा-
विशेषात् ॥ ७ ॥

विहितन्यूनसस्तवे प्रायश्चित्तमाह—

यद्यर्वाक् स्तुयुर्वावतीभिर्न स्तुयुस्तावतीभिर्वाऽति-
ष्ठुयुर्भूयोऽक्षराभिर्वा ॥ ८ ॥

यदि विहितस्तुतिर्तोऽर्वाक् स्तोत्रीया न्यूनत्वेन स्तुयुस्तदा
यावतीभिः स्तोत्रीयाभिर्न स्तुयुस्ताः परिगणय्य उत्तरे स्तोत्रे अधिकत्वे
न तावतीभिरधिसंख्याकेन वा विहितस्तोत्रेण स्तुयुः । यद्वा भूयोऽक्षरा-
भिः स्तुयुः । यद्देवत्यं परस्तोत्रे तद्देवत्यास्वेव स्वस्तोत्रीयाभ्योऽधिका-
क्षरास्तु स्तुयुः ॥ ८ ॥

अथाऽतिष्ठुतौ प्रायश्चित्तमाह—

यद्यतिष्ठुयुर्वावतीभिरतिष्ठुयुस्तावतीभिर्वा न स्तु-
युः कनीयोऽक्षराभिर्वा ॥ ९ ॥

उक्तवैपरीत्येन व्याख्यातव्यम् । पूर्वस्मिन् स्तोत्रे यावत्योऽधिका उ-
त्तरस्मिस्तावत्यो न्यूनाः स्युरित्येकः कल्पः । कनीयोऽक्षराभिर्वा स्तुयु-
रित्यपरः । एवमतिस्तुतेस्तु द्वौ कल्पावुक्तौ ॥ ९ ॥

अथाऽस्तुतावन्यं कल्पमाह—

यद्यर्वाक् स्तुयुस्त्रीङ्मग्निष्टोमसाम कार्यं निधनमे-
केडा ये द्वे ताम्यामेव तत्समं क्रियते ॥ १० ॥

यद्यर्वाक् स्तुयुस्तदा तत्परिहाराय त्रीङ् महावैश्वामित्रमग्निष्टोम
साम कार्यम् । यज्ञायज्ञियस्य कथमस्तुतस्य त्रीङ् परिहारः ? इति तत्राह-
तास्तु तिसृष्विडास्तु मध्ये एकेडा स्तोत्रीयस्य निधनं भवति । इडाद्वय तु
न्यूनस्तोत्रं सम्पूर्णं करोति ॥ १० ॥

अथाऽतिष्ठुतौ सामान्तरं सार्थवादमाह—

यद्यतिष्ठुयुः स्वारमग्निष्टोमसाम कार्यं मूनमिव
वा एतत्साम्नां यत् स्वरस्तेनैव तत्समं क्रियते ॥ ११ ॥

अतिस्तवने यज्ञायज्ञियस्तोत्रीयास्वेव स्वारं दीर्घश्रवसमाग्निष्टोमसा-
म कार्यम् । कथं तेनाऽधिकस्य समतेति ? ऊनमिवेत्यादिनोच्यते । यस्त्व-
रनिधनं सामाऽस्ति एतत् सामाऽन्यस्मादिडादिनिधनवतः सकाशाद्गू-

मिव वै, अन्यस्वरव्यतिरेकेण वहिर्निधनाभावात् । अतस्तेनैव तदाधि-
क्यं समं क्रियते । अत्रार्वाक्स्तवातिष्टवयोस्त्रयस्त्रयः कल्पा उक्ताः । ते-
षामेवं व्यवस्था—अग्निष्टोमसाम्नोऽपुस्ताच्चदेर्वाक्स्तवोऽतिष्ठा स्यात्
तत्र त्रीडस्वराभ्यामेवाग्निष्टोमसामभ्यां न्यूनाधिकदोषापगमः । अर्द्ध-
चेदग्निष्टोमसाम्नोऽर्वाक्स्तवातिष्टवौ स्यातां तदा स्तोत्रीयाभिरक्षरैर्वा
सम्पाद्यमिति । उक्तन्यूनाधिक्यप्रायश्चित्तव्यवस्था आप्येयकल्पप्र-
भ्ये स्पष्टं प्रतिपादिता सा तत्र द्रष्टव्या ॥ ५१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे नवमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥ २-३ ॥

चतुर्थः खण्डः ॥

अथ संस्तवनिमित्तकं प्रतिपदादिकं विधास्यन् प्रसह्लादध्वर्युक
तृकस्य प्रातरनुवाकोपाकरणस्य कालविशेषं विधत्ते—

(१) यदि सोमौ संसुतौ स्यातां महति रात्रेः प्रा-
तरनुवाकमुपाकुर्यात् ॥ १ ॥

पृथक् प्रयोजनयोर्यजमानयोः परस्परं विद्विष्यमाणयोर्वा युगपदे-
कस्मिन् देशे सोमौ संसुतौ सहाऽभिष्टुतौ यदि स्यातां तदा रात्रेमहति
काले महारात्रे प्रबुध्य प्रातरनुवाकं होत्राऽनुवक्तव्यमुपाकुर्यात्, 'प्रातर्या-
वभ्यो देवेभ्योऽनुग्रही'ति सम्प्रेषेणाऽध्वर्युः प्रारम्भयेत् । प्रकृतौ हि (२) व-
यसां प्रवदनात्पूर्वं प्रातरनुवाकोपाकरणं तदेव संसुतसोमे मध्यरात्रेः क-
र्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥

एवं सति को लाभः ? तं दर्शयति—

पूर्वो ऽवाचं पूर्वश्छन्दांश्च पूर्वो देवता वृद्धते ॥२॥

युगपदेकत्र बहुयज्ञेषु प्रवर्त्तमानेषु पौर्वापर्याभावात् गायत्रादि-
छन्दसामग्न्यादीनां देवतानाञ्च यद्यपि देव सन्निधानं स्यात्, नान्यत्रेति
संसवे दोषः । एवं सति मध्यरात्रे एव प्रातरनुवाकस्योपक्रमात् पूर्वो
यजमानान्तरात् प्रथमभावी सन् वाचं मन्त्ररूपां वृद्धे यजमानान्तराद्वर्ज-
यति स्वयमेव पूर्वं परिगृह्णातीत्यर्थः । तथा छन्दांसि गायत्र्यादीनि च
पूर्वो यजमानान्तरात् वृद्धे वर्जयति । प्रातरनुवाके हि गायत्र्यादीनि

१. अत्र तैत्तिरीयसाहित्याः सप्तमकाण्डस्य सप्तमप्रपाठकस्य पद्यमोऽनुवाकः, तत्रत्य
सायणीयं भाष्यं वाऽवलोकनीयम् ॥ २. प्रातः पक्षिणामुद्यानात्पूर्वमित्यर्थः ।

चतुरक्षराणि सप्त छन्दान्स्पन्दयन्ते । अतस्तान्यपि यजमानान्तरात् पूर्व स्वयमेव परिगृह्णाति । तथा तस्मिन् प्रातरनुयाकेऽग्निरुषा अश्विनौ चेति तिस्रो देवता आग्नेयोपस्यादिवनैस्त्रिभिः काण्डैः स्तुताः । ता अपि वृद्धे पूर्वा यजमानान्तराद्वर्जयति स्वकीयत्वेन परिगृह्णाति ॥ २ ॥

अथोद्गातुर्यदहिष्यमाने काञ्चित्प्रतिपदं विदधान इन्द्रस्यापि यजमानान्तराद्वर्जनं दर्शयति—

(१) वृषण्वतीं प्रतिपदं कुर्यादिन्द्रो वै वृषा प्रातःसवनादेवैषामिन्द्रं वृद्धे ॥ ३ ॥

वृषशब्दोपेतां 'पवस्वेन्द्रो वृषा सुत' इत्यादिकां वृषण्वतीं 'वृषशब्दात् मतुपि पदसज्ञायां नलोपे(२)'अतो नुद्' इति नुद् । प्रतिपद्यते प्रारभ्यते इयमिति(३)प्रतिपत् । तां वृषण्वतीं यदहिष्यमानस्य प्रतिपदं कुर्यात् । इन्द्रो वै इन्द्र एव वृषा वर्षणशीलत्वात्तच्छब्दाभिधेयः । पवमनेन वृषण्वत्यां प्रयोगेणैषामन्येषां यजमानातां प्रातःसवनादेवेन्द्रं वृद्धे वर्जयति स्वकीये यज्ञ आगमयति ॥ ३ ॥

अथ पक्षान्तरं दर्शयति—

अथो खल्वाहुः सवनमुखे सवनमुखे कार्या सवनमुखात् सवनमुखादेवैषामिन्द्रं वृद्धे ॥ ४ ॥

अथो खद्विषति पक्षान्तरपरिग्रहे, सवनमुखे सवनमुखे सवनादौ सवनादौ त्रिष्वपि पवमानेष्वेषा वृषण्वती प्रतिपत्कार्या । इति शब्दोऽध्याहर्तव्यः । इति ब्रह्मवादिन आहुः । तेषामर्थ भावः—यदि वृषण्वती यदहिष्यमान एव स्यात्तेन सिध्यति प्रातःसवनपरिग्रहः । उत्तरयोः सवनयोर्वृषण्वत्या अप्रयोगादिन्द्रोऽपरिगृहीतो भवेदिति पूर्वस्मिन् पक्षे दोषः । अस्मिन्स्तु पक्षे त्रिष्वपि पवमानेषु वृषण्वत्याः प्रयोगात् सवनमुखात् सवनमुखादेव त्रिभ्योऽपि सवनमुखेभ्य एवैषामिन्द्रं वर्जयति । त्रिष्वपि सवनमुखेष्विन्द्रः प्रथमतो यष्टव्यः । तथा कृते बहुषु यज्ञेषु युगपदनुष्ठीयमानेषु यस्मिन् यज्ञेऽस्य धावकं वृषेति शब्द शृणोति तत्रैव गच्छति वाऽन्यत्रेति ॥ ५ ॥

सर्वासामपि देवतानां परिग्रहं दर्शयति—

सुसमिद्धे होतव्यमग्निर्वै सर्वा देवताः सर्वा एव देवताः पश्यञ्जुहोति ॥ ६ ॥

सुसमिद्धेऽतिशयेन दीप्ते होतव्यम् । ततः किम् ? अग्निः खलु सर्वा
देवताः सर्वदेवतात्मकः । (१) “देवासुराः संयत्ता आसन् । ते देवा विभ्यः
तोऽस्ति प्राविशन् । तस्मादाहुरग्निस्सर्वा देवताः” इति श्रुत्यन्तरादग्नेः
सर्वदेवतात्मकत्वम् । दीप्तस्याग्नेः सम्यग् दर्शनात्तत्र प्रवर्त्तमानाः सर्वा
एव देवताः पश्यन् हविः प्रनियोगित्वेन साक्षात् कुर्वन् जुहोति ॥ ५ ॥

अथाऽस्मिन् संसृतसोमे प्रवृत्तहोमानन्तरं ‘संवेशाय’ इत्यादिभिर्मन्त्रैः
क्रमेणाद्रातव्यमिति विधत्ते—

(२) संवेशायोपवेशाय गायत्र्यै च्छन्दसेऽभिभूतये स्वाहा
संवेशायोपवेशाय त्रिष्टुभे च्छन्दसेऽभिभूतये स्वाहा सं-
वेशायोपवेशाय जगत्यै च्छन्दसेऽभिभूतये स्वाहेति
जुहोति ॥ ६ ॥

अत्र च सूत्रकारेण (३) ‘संसृतसोमे त्वधिकामुद्राता जुहुयात् संवेशा-
योपवेशायेति यथासवने छन्दांस्यादिशन्’ इत्यादिना (पदुक्तं) तद्विधानुस-
न्धेयम् । प्रथमेन मन्त्रेण प्रातःसवने होमो द्वितीयेन माध्यन्दिने तृतीयेन
तृतीयसवने। तेषामपमर्थः—संवेशाय संविशति सम्यगस्मच्छं विशतीति
संवेशः संप्रविश्य चोपविशति तत्रैव नियोदति यद्वा न्तरं न गच्छती-
त्युपवेशः । ईदृशाय च्छन्दसे गायत्र्यै गायत्र्यात्मकायाऽभिभूतये शब्-
णामभिभवित्रे । यद्वा सोमाहरणसमये सोमरक्षकान् स्वानम्राजादीन्-
भिभूय हि गायत्री सोममाहृतवती, तदभिप्रायेणेदं विशेषणम् । तस्मै गा-
यत्र्यै च्छन्दसे, स्वाहेदं हविस्त्यजामि । एवमुत्तरप्रापि योज्यम् । त्रिष्टुभे
च्छन्दसे जगत्यै च्छन्दसे इति विशेषः ॥ ६ ॥

अस्तु होमः किमतो भवति ? तदाह—

च्छन्दां॑सि वा अभिभूतयस्तैरेवैनानभिभवत्यु-
भे वृहद्रथन्तरे कार्ये ॥ ७ ॥

गायत्र्यादीनीमानि च्छन्दांसि खल्वभिभूतयः पूर्वोक्तप्रकारेणाभि-
भवितारस्तैरेवैनानग्यान् विद्विष्टान्यजमानानभिभवति । ये वृहद्र-
थन्तरे वृष्टस्तोत्रनिर्वचनकार्यैक्याद् ग्रीहियववत् प्रकृतौ विकल्प्येते
नयोः संसृतसोमे समुद्ययासम्मन्त्रेण विकल्प इति । सत्यम्, अत्र ताव-
दुभे वृहद्रथन्तरे इति पुनर्विधानात् समुच्चयारम्भः प्रतीयते तत्र कथं

१. ते. सं. १. २. २. ६. २. अस्यमन्त्रस्य स्वरूपान्तरं व्याहृतानि विशिष्य
तत्सिरीयसहितानि (१. १. ७. १.) तत्सिरीयब्राह्मणे (१. ४. ६.) च दृश्यम्,

३. लाट्या, धौ. १. ११. १०.

प्रयोगप्रकारः ? इत्याकाङ्क्षायां (१) यन्वित्पाहुवृहत्पूर्व प्रजापतौ सममवे-
दित्यादिना 'तस्मात् पूर्व योगमानशे' इत्यन्तेन ग्राह्यणेन बृहद्रथन्तरयो-
स्संक्षिपाते रथन्तरं पूर्व प्रयोक्तव्यं पश्चाद्बृहदिति व्यवस्थितत्वात् मा-
ध्यन्दिनपवमाने (२) पुनानः सोमेति' ग्राह्यते प्रगाथे रथन्तरं कर्त्तव्यम् ,
पृष्ठस्तोत्रे बृहदित्युभयोः समुच्चयः ॥ ७ ॥

तदेतत्प्रशंसति—

यत्र वा इन्द्रस्य हरी तदिन्द्रः, इन्द्रस्य वै हरी बृहद्र-
थन्तरे, यदुभे बृहद्रथन्तरे भवतः पूर्व एवेन्द्रस्य हरी आ-
रभन्ते ॥ ८ ॥

यस्मिन् देशे खलिन्द्रस्य हरी रथावद्वौ भवतस्तत्रेन्द्रस्तिष्ठति
बृहद्रथन्तरे सामनी इन्द्रस्य हरी । अतो बृहद्रथन्तरे उभे अपि भवत
इति पूर्व एवाऽन्येभ्यो यजमानेभ्यः प्रथमभाविन एव त इन्द्रस्य हरी
आरभन्ते परिगृह्णन्ति ॥ ८ ॥

अन्यदपि सामद्वयं विधत्ते—

तौरश्रवसे कार्य्ये ॥ ९ ॥

तुरश्रवा नाम कश्चिदपिस्तेन दृष्टे सामनी तौरश्रवसे । ते च (३) 'यदि-
न्द्र शासो अत्रतम्' इत्यस्यामुत्पन्ने 'प्रत्नं सधस्यमासदापृच्छं धरुणं वाज्य-
र्पासि, सन्नायो दीर्घजिह्वम् (?) । (३) ये धारया पावकया' इत्येतयोरेकस्य-
योरुद्देशेन गीयते ते चात्र लिङ्गादार्मवे पवमाने कार्य्यं संसृतसोमे ॥ ९ ॥

अनयोः प्रयोगानुगुण्यमाख्यातप्रदर्शनेनाह—

तुरश्रवसश्च वै पारावतानाञ्च सोमौ संसृतावा-
स्तां, तत एते तुरश्रवाः सामनी अपश्यत्ताभ्यामस्मा इ-
न्द्रः शल्मलिनां यमुनाया हव्यं निरावहत् यत्तौरश्रवसे
भवतो हव्यमेवैषां वृद्धते ॥ १० ॥

परवा नाम कश्चित्तरसम्बन्धितः पारावताः । तेषां दीक्षितानां तुर-
श्रवसश्च ऋषेः सोमौ संसृता सह सुतावास्तां संसवो याग इत्यर्थः ।
ततोऽनन्तरं तुरश्रवा ऋषिरेते सामनी अपश्यत् दृष्टवान् । दृष्ट्वा च ता-
भ्यां स्तुतवानिति शेषः । तत्स्तुत्या प्रीति इन्द्रोऽस्मै तुरश्रवसे यमुना
याः सम्बन्धि यमुनातटे वर्त्तमानं तेषां हव्यं हविश्ररुपुरोडाशादिकं

शत्रुमलिना स्वकीयेताऽऽयुधविशेषेण निरावहत् निहृष्याऽभिप्राणत् । पा-
राघतानां हविरपहत्य तुरश्रवसे दत्तवानित्यर्थः । एवं सति तौरध्रवसे
भवन्तो यत् तेनैषां यजमानानां विद्विषां हव्यं वृद्धके वर्जयति ॥१०॥

अथ प्रसङ्गादध्वर्युकर्तृकमभिषवमप्यन्यदीयाभिषवात् पूर्वमेव
कुर्युरिति विधत्ते—

पूर्व्वेऽभिपुण्युः ॥ ११ ॥

(१)प्रतिप्रस्थात्रादयश्चत्वारो ऽध्वर्यवः पूर्व्वे अन्यदीयसामाभिषवात्
प्रथमभाविन एतत्सोममभिपुण्युः ॥ ११ ॥

किं तत इति, आह—

या वै पूर्व्वीः प्रस्नान्ति ताः पूर्व्वीस्तीर्थं जयन्ति पूर्व्व
एवेन्द्रमारभन्ते ॥ १२ ॥

याः खलु लोके प्रजाः पूर्वाः प्रथमभाविन्यः सत्यः प्रस्नान्ति नदी-
तडागादिषु स्नानं कुर्व्वन्ति पूर्वास्ता एव तीर्थं तरन्त्यवतरन्त्यनेनेति
अवतरणप्रदेशस्तीर्थं तज्जयन्ति लभन्ते । पश्चाद्भाविन्यस्तु प्रजा न
लभन्ते । एवमत्रापि पुर्व्व एवाभिष्टोतार इन्द्रमारभन्ते नाऽन्ये ॥ १२ ॥

अथाऽस्मिन् संसृतसोमे होतुः कृत्यं विधत्ते—

विहव्यं शस्यम् ॥१३॥

विहवो नाम कश्चिदपिस्तेन दृष्टं (२)‘ममाग्ने’ इत्यादिकं सूक्तं विहव्यम् ।
तच्छस्यं होत्रा वैदवदेवसूक्तापुरस्ताच्छंसनीयम् । तदुक्तं भगवताऽऽश्व-
लायनेन (३)‘ममाग्ने इति वैश्वदेवसूक्तस्यापुरस्तादिति हि तत्र वर्त्तते ॥१३॥

एतच्छंसनमपि स्वकीययज्ञ इन्द्रस्य वर्त्तते, कारणमित्याख्यानं
प्रदर्शयन्नाह—

जमदग्नेश्च वा ऋषीणाञ्च सोमौ संपुसुतावास्तां
तत एतज्जमदग्निर्विहव्यमपश्यत्तमिन्द्र उपावर्त्तत य-
द्विहव्यं होता शऽसतीन्द्रमेवैषां वृद्धक्ते ॥१४॥

पुरा जमदग्नेरन्येषामृषीणाञ्च सोमौ संसृतां सहाऽभिपुतावास्तां
भवेताम् । ततोऽनन्तरं जमदग्निरेतद्विहव्यं सूक्तमपश्यत् । तं जमदग्नि-
मिन्द्र उपावर्त्ततोपागच्छत्, नान्यान् । तत इदानीन्तनोऽपि होता संसृ-

१. अध्वर्युः, प्रतिप्रस्थाता, नेत्रा, उग्रता, इति चत्वारः ।

२. ममाग्ने बर्चो विहवेषस्तु इत्यादयः (ऋ. सं. १०. १०. १६) तवचं:

३. आश्व. श्रौ. ६. ६. १६, पुरस्तादिति प्रपूर्वसूत्रादनुवर्तत इत्यर्थः ।

तसोमे विद्वयं शंसतीति यत् तेनेन्द्रमेवैषां वृद्धके वज्रयति ॥ १४ ॥

अथास्य संसृतसोमस्य संस्थामेदं पुर्व्वपक्षत्वेन दर्शयति—

यदीतरोऽग्निष्टोमः स्यादुक्थः कार्प्यो यदुक्थोऽति-
रात्रो यो वै भूयान्यज्ञक्रतुः स इन्द्रस्य प्रियो भूयसैवैषां
यज्ञक्रतुनेन्द्रं वृद्धके ॥ १५ ॥

यदीतरो यजमानान्तरेण क्रियमाणः सोमयागोऽग्निष्टोमः स्यात्,
अग्निष्टोमसाम्ना संस्थितो भवेत्तत्तदोक्थ उक्थसंस्थः स्वकीयो
यज्ञः कार्प्यः । यदि परकीय उक्थसंस्थः स्यात्, तदानीमतिरात्रः कार्-
प्यः । एवमधिकसंस्थाकरणे को लामः ? उच्यते—यो हि भूयान् यहु-
तरो यहुस्तुतशस्त्रसाध्यो यज्ञक्रतुः स एवेन्द्रस्य प्रिय इष्टो भवति ।
अतो भूयसा यहुतरेणैव यज्ञक्रतुनैषामिन्द्रं वृद्धके ॥ १५ ॥

तमिमं पक्षं दूषयित्वा स्वाभिमतं पक्षमाह—

अथो खल्वाल्लुङ्गप्राप इव वै परः पन्था यमेवाऽग्रे
यज्ञक्रतुमारभेत तस्मान्नेयादिति ॥ १६ ॥

अथो खल्विति पक्षान्तरपरिग्रहद्योतनार्थः । अथो खल्वभिज्ञा ब्रह्म-
वादिन आहुः किमिति ? दुष्प्राप इव 'वै' इत्यवधारणे प्राप्तुमशक्य एव
हि परो दीर्घः पन्थाः । महापथेन हि गच्छन् चिरकालात् फलं प्राप्नोत्य-
स्त्वेन तु सद्यः प्राप्नोति । अतः परः पन्था उत्तरोत्तरः संस्थात्मको यज्ञ-
मार्गो दुष्प्राप इत्युक्तं भवति । यस्मादेवं तस्मादग्रे आदौ सङ्कल्पसमये
यमेव यज्ञक्रतुमारभेत तस्मान्नेयादिति ॥ १६ ॥

अथ होतुः सूक्तद्वयं शस्यं विधत्ते—

सजनीयं शस्यमगस्त्यस्य कयाशुभीयं शस्यम् ॥ १७ ॥

'सजनास इन्द्र' इति शब्दयुक्तं (१) 'यो जात एव' इति सूक्तं सजनी-
म् । तद्विष्केवत्यशस्त्रे निविद्वानस्य सूक्तस्य पुरस्ताच्छंसनीयम् । तथा
(२) कयाशुमा सवयस' इति सूक्तमगस्त्येन दृष्टत्वादगस्त्यस्य कयाशुभीयं
तन्महत्त्वतीये शस्त्रे शंसनीयम् । तथा च सुप्रवृत्ताऽऽश्चल्यपेनोक्तः (३)
'कया शुमेति च महत्त्वतीये पुरस्तात् सूक्तस्य शंसेद्योजात एवेति नि-
ष्केवत्ये' इति ॥ १७ ॥

तदेतदुभयं शंसति—

अस्या अमुष्या अथश्वान्मिथुनादहोरात्राभ्यामे-

वैनाग्निर्भजति ॥ १८ ॥

शस्यमानयोः सुक्तयोर्विंस्रयायोगादस्याः पृथिव्या अमुष्या दि-
वश्च द्वाभ्यां लोकाभ्यामेवैतान् द्वेष्टून् यजमानाग्निर्भजति निर्म-
कान् करोति; वियोजयतीति यावत् । तथा अद्येति वर्तमानः कालः ।
श्व इति भविष्यः कालः उभयस्मादपि कालादेताग्निर्भजति । यद्वा 'उभे
बृहद्रथन्तरे कार्ये', इति विधिः पूर्वमुक्तस्तच्छ्लेषतया ऽयमर्थवादो
योज्यः । तथैव हि तैत्तिरीयके समाप्तातम्-(१)'उभे बृहद्रथन्तरे भवत
इयं वाव रथन्तरमसौ बृहदाभ्यामेवैनमन्तरेत्यद्य वाव रथन्तरं श्वो बृ-
हदथाश्वदेवैनमन्तरेति भूतं वाव रथन्तरं भविष्यद् बृहद् भूताश्वेवैनं
भविष्यतश्चान्तरेती'ति ॥ १८ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे नवमाध्यायस्य
चतुर्थः खण्डः ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

उक्तं संसृतसोमे प्रायश्चित्तम् । अथ सोमापहरणे प्रायश्चित्तमुच्यते—

यदि सोममक्रीतमपहरेयुरन्यः क्रेतव्यः ॥ १ ॥

दोक्षाग्रे सोमः क्रीयते । यदि ततः पूर्वमक्रीतं सोममपहरेयुरन्ये
शश्रवस्तदानीं 'यद्यविज्ञाता सर्वव्यापद्ये'तेति सामान्येन विहितं
सर्वप्रायश्चित्तं कृत्वाऽन्यः सोमः क्रेतव्यः । गवादिद्रव्यकेन समन्त्र-
कक्रयेण प्राप्तव्यः ॥ १ ॥

यदि क्रयोत्तरकालं सोमोऽपहृतः स्यात्तत्राह—

यदि क्रीतं योऽन्योऽभ्याशं स्यात् स आहृत्यः सोम-
विक्रयिणे तु किञ्चिद्दद्यात् ॥ २ ॥

यदि क्रीतं क्रयमाप्तं सोममपहरेयुस्तदा योऽन्यः सोमोऽभ्याश-
मन्तिके स्यात् स आहृत्याऽभियोतव्यः पुनः क्रयो न भवति । यः सोम-
माहृत्य विक्रीणाति तस्मै सोमविक्रयिणे यत्किञ्चिद्रूपं धनं दद्यात् । न
शास्त्रीयं गवादिकं क्रयणद्रव्यं देयमित्यर्थः ॥ २ ॥

अथ सोमप्रतिनिर्घाताह—

यदि सोमं न विन्देयुः पूतीकानभिपुण्ययुर्यदि न पूतीकानर्जुनानि ॥ ३ ॥

सोमं शास्त्रोक्तलक्षणं यदि न विन्देयुर्न लभेरस्तदा पूतीकान् लताविशेषान् पूतीकसंज्ञकानभिपुण्ययुः । यदि पूतीकानपि न विन्देयुः तदानीमर्जुनानि इषामलानि तृणान्याहृत्याऽभिपुण्ययुः ॥ ३ ॥

अथ पूतीकानां सोमप्रभवत्वेन सोमकार्ये शक्तिमाख्यानेन प्रदर्शयन्नाह—

गायत्री सोममाहरत्तस्या अनु विसृज्य सोमराक्षिः पर्णमच्छिनत्तस्य योऽंशुः परापतत्स पूतीकोऽभवत्तस्मिन् देवा ऊतिमविन्दन्पूतीको वा एव यत्पूतीकानभिपुण्यवन्त्यूतिमेवास्मै विन्दन्ति ॥ ४ ॥

अस्य पूतीकस्योक्तिं कृतिमेव विन्दन्ति लभन्ते देवा इति शेषः ॥४॥

अथाऽस्मिन् पूतीकाभिषवयज्ञे गव्यादिसाहित्यं विधत्ते—

प्रतिधुक् च प्रातः पूतीकाश्च, शृतश्च मध्यन्दिने पूतीकाश्च, दधि चाऽपरार्द्धे पूतीकाश्च ॥ ५ ॥

प्रातःसवने प्रतिधुक् सहोदुग्धं पयश्चामिपुताः पूतीकाश्च सह सोमकार्यं कुर्वन्ति । तथा मध्यन्दिने माध्यन्दिने सवने शृतं पक्वं क्षीरञ्च पूतीकाश्च सह सोमकार्यं शक्ताः । अपरार्द्धे तृतीयसवने दधि च पूतीकाश्च सह सोमकार्यं कर्तुं शक्नुवन्ति ॥ ५ ॥

प्रतिधुगादेः पूतीकानाञ्च संहृत्य सोमप्रतिनिधित्वमुपपादयति—

सोमपीथो वा एतस्मादपकामतीत्याहुयस्य सोममपहरन्तीति स ओषधीश्च पशूँश्च प्रविशति तमोषधिभ्यश्च पशुभ्यश्चावऽरुन्धे ॥ ६ ॥

ओषधिवनस्पतिभ्यः सकाशात् प्रतिधुगादिविशिष्टपूतीकाभिषवणसोमपानं यजमानोऽवरुन्धे प्राप्नोति ॥ ६ ॥

अथ यत् पूर्वमुक्तं पूतीकाभावेऽर्जुनानि तृणान्यभिषोतव्यानीति तेषामपि सोमसम्बन्धं दर्शयन् सोमकार्यज्ञमतामाह—

इन्द्रो बभृन्नमहंस्तस्य यो नस्तः सोमः समधावत्तानि बभ्रुतूलान्यर्जुनानि, यो वपाया उतिवन्नायास्तानि

लोहिततूलानि, यानि वध्रुतूलान्यर्जुनानि तान्वभिषुणु-
यादेतद्वै ब्रह्मणो रूपं साक्षादेव सोममभिषुणोति ॥ ७ ॥

पुरा खलु वृश्मावरकं कृतसोमपानमसुरमिन्द्रो हतवान्। तस्य नस्तो-
नासिकाप्रदेशायः सोमः समधावत् बहिः प्रावर्त्तत भूमौ प्रसृतोऽमृन् ।
तानीति विधेयापेक्षया मनुंसकलिङ्गं बहुवचनञ्च । यो वपाया उत्खिन्ना-
यास्तानि लोहिततूलानि । यानि वध्रुतूलान्यर्जुनानि तूलसमवध्रुवर्ण-
मञ्जरीयुकान्यर्जुनानि श्यामलानि तृणान्यभवन् । यश्च वपाया उ-
त्खिन्नायाः सोमः समधावत्तानि लोहिततूलान्यभवन् । उभयेषां
मध्ये यानि वध्रुतूलान्यर्जुनानि तानि पृतीकाभावेऽभिषुणुयात् । एतदेव
हि साक्षाद्ब्रह्मणो रूपं यद्वस्तुवर्णत्वम् । एवं सति साक्षात्प्रत्यक्षमेव
सोममभिषुणात्यभिषुतवान् भवति ॥ ७ ॥

तस्मिन्नपहृतसोमप्रयोगे सामानि विधित्सुर्ब्राह्मणाच्छंसिनः पृष्ठ-
स्तोत्रनिवर्त्तकमेकं साम विधत्ते—

श्रापन्तीयं ब्रह्मसाम कार्यं सदेवैनं करोति ॥ ८ ॥

(१) 'श्रापन्त इव सूर्यम्' इत्यस्यानुत्पन्नं सामश्रापन्तीयम् । तद्ब्रह्मसाम
कर्त्तव्यम् । कृतेन च तेनैनं यज्ञं सदेव प्रशस्तमेव करोति ॥ ८ ॥

अथान्यत्सामद्वयं विधत्ते—

यज्ञायज्ञीयमनुष्टुभि प्रोहेद्वाचैवैनं समर्द्धयति ववार-
चन्तीयमग्निष्टोमसाम कार्यमिन्द्रियस्य वीर्यस्य परि-
गृहीत्यै ॥ ९ ॥

आर्भवपवमाने(२) 'पुरोजिती घो अन्धस' इति योऽयमानुष्टुमस्तुच
स्तस्मिन्ननुष्टुभ्यानुष्टुमे तृचे यज्ञायज्ञीयं साम प्रोहेत् । यद्यपि वेदगाने
यज्ञायज्ञीयं (३) 'यज्ञायज्ञा वो अग्रय' इत्यत्रैवाऽऽम्नातम् । तथाप्यनुष्टुभ्युद्देत
कर्त्तव्यमित्यर्थः । तस्य हि यज्ञायज्ञीयस्य 'वाग्नि'ति निधनं भवति तथा
सत्येनं यज्ञं वाचैव समर्द्धयति समृद्धं करोति।(४) 'अश्वं नत्वा वारयन्तम्'
इत्यस्यानुत्पन्नं साम वारचन्तीयम् । तदेतद्गनिष्टोमसामत्वेन 'यज्ञायज्ञा व'
इति प्रगाथे कार्यम् । तस्य च साम्नो वारणहेतुत्वादपि वारचन्तीय-
मिति संज्ञा । एवं सति सामेन्द्रियस्य बलस्य वीर्यस्य च परिगृहीत्यै

स्वीकरणाय भवति ॥ ९ ॥

अथ दक्षिणां विधत्ते—

पञ्च दक्षिणा देयाः ॥ १० ॥

दक्षिणाशब्देन गौरुच्यते । पञ्च गावो दक्षिणात्वेन ऋत्विग्भ्यो देया इति ॥ १० ॥

तदेतत्प्रशंसति—

पाङ्क्तो यज्ञो यावान्यज्ञस्तमेवाऽऽरभते ॥ ११ ॥

यज्ञस्तावत्पाङ्क्तः—त्रीणि सवनानि, अवभृथो, ऽनूयन्त्या चेति । यद्वा धानाः करम्मः परिवापः पुरोडाशः पयस्येति पञ्च सवनीयहवीणि तद्यु-
क्तत्वात् पाङ्क्तः । दक्षिणाऽपि पञ्चसंख्यावती । अतो यावान् यापरिमाण-
को यज्ञस्तं तत्परिमाणकमेव यज्ञमारभते । अनेन पञ्चदक्षिणाविधानेन
सङ्कल्पावसरे कल्पाणां दक्षिणानां बाध उक्तो भवति ॥ ११ ॥

अथैतं सोमयागं समाप्य प्रायश्चित्तार्थं पुनः सोमेन साह्रमनुष्ठेय-
मिति विधत्ते—

अवभृथादुदेत्य पुनर्दीक्षेत ॥ १२ ॥

अवभृथादवभृथं कृत्वा तदनन्तरमुदेत्योदयनीयाद्युदवसानीयान्तं
कृत्वा पुनस्तस्मा एव कनवे दीक्षते । दीक्षणीयाद्युदवसानीयान्तं सर्वं
कर्त्तव्यम् ॥ १२ ॥

तत्र तद्दद्याद्यद्दास्यं स्यात् ॥ १३ ॥

तत्र तस्मिन् यज्ञे दक्षिणाद्रव्यं दद्यात् पूर्वस्मिन् प्रयोगे यद्दक्षिणा-
द्रव्यं दास्यन् स्याद्भवेत् । पूर्वस्मिन् यज्ञे या सप्तैकविंशत्यादिका द-
क्षिणा सङ्कल्पिता तामस्मिन् द्वितीये प्रयोगे दद्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे नवमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥ ५ ॥

अथ पष्ठः खण्डः ॥

अथ द्रोणकलशस्य भेदने प्रायश्चित्तं विधत्ते—

पादि कलशो दीर्येत चषदकारणिघनं ब्रह्मसाम कुर्यात् ॥ १ ॥

अत्र कलशशब्देन नागैकदेशेन द्रोणकलश एवोच्यते । यथा भीम-
सेनो भीमः, सत्यभामा भामेति । स यदि दीर्येत मिथेत तदानीं 'अभि

त्वा पूर्वपीतये' इत्यस्यामुत्पन्नं (१) वषट्कारणिधनाख्यं साम वक्ष्यमाणा-
स्वृक्षु ब्रह्मसामत्वेन कुर्यात् ॥ १ ॥

किमतो भवति ? तदाह—

अवषट्कृतो वा एतस्य सोमः परा सिच्यते यस्य
कलशो दीर्यते यद्वषट्कारिणधनं ब्रह्मसाम भवति वषट्-
कृत एवाऽस्य सोमो भवति ॥ २ ॥

यस्य यजमानस्य कलशो दीर्यते मिद्यते एतस्य सोमोऽवषट्-
कृतो वषट्काररहित एव परासिच्यते भूमौ प्रस्कन्धते । कलशे दीर्णे
तत्रस्थः सोमः सर्वो भूमावेव सूचति । तदानीं वषट्कारो न प्रयुज्यत
इत्यवषट्कृतत्वम् । तथा सति वषट्कारणिधनं ब्रह्मसाम भवतीति यत्
तेनाऽस्य यजमानस्य स्कन्नः सोमो वषट्कृतो वषट्कारेण चोदिताधारे
प्रक्षिप्त एव भवति ॥ २ ॥

तथाऽस्य साम्न आधारभूता ऋचो विधत्ते—

(२) 'विंधुं दद्राणं समने बहूना' मित्येतास्तु कार्यम् ॥ ३ ॥

एतदाद्यास्तृक्षुहेन कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

कलशविदारणेऽयं वृचः प्रयोगार्ह इत्याह—

एव हि बहूनां समने दीर्यते यत्कलशः ॥ ४ ॥

यत् यः कलशो द्रोणकलश एव सलु बहूनामृत्विजां सङ्गमने दी-
र्यते मिद्यते । तस्मात् 'दद्राणं समने बहूनाम्' इत्युक्तार्थप्रतिपादकेन
शब्देन योगादेता ऋचो दीर्णे कलशे प्रयोगार्हा इत्यर्थः ॥ ४ ॥

तमिमं पक्षं दूषयति—

तदाहुर्न वा आर्त्याऽऽर्त्तिरनूयाऽऽर्त्या वा एव आर्त्ति-
मनुवदति यः कलशे दीर्णे दद्राणवतीषु करोतीति ॥ ५ ॥

तत्र विषये ब्रह्मवादिन आहुः, कथमिति ? तदुच्यते । न सत्वात्तौ
सत्यामार्त्तेनैव वचनेनानुवदितव्यम् । एवं सत्युद्गीता कलशे दीर्णे
दन्द्राणवतीषु विदारणप्रतिपादकदद्राणशब्दवतीषु वषट्कारणिधनं
करोति । एव आर्त्या वै आर्त्तिप्रतिपादिकयैव वाचा ऽऽर्त्तिं कलशविदा-
रणशमनुवदति । अत एतन्न युक्तमिति ॥ ५ ॥

किं तर्हि कलशे दीर्णे कर्त्तव्यम् ? तदाह—

आपन्तीपमेव कार्यम् ॥ ६ ॥

आयन्तीयमेव ब्रह्मसामत्वेन कर्त्तव्यं न वषट्कारणिधनम् ॥ ६ ॥

अस्यैव साम्नः पूर्वोक्तदोषनिवर्त्तकत्वे सामर्थ्यं दर्शयति—

प्रजापतिः प्रजा असृजत स दुग्धो रिरिचानोऽमन्यत स एतच्छ्रायन्तीयमपश्यत्तेनात्मानं समश्रीणात्प्रजया पशुभिरिन्द्रियेण ॥ ७ ॥

पुरा सर्वकारणभूतः प्रजापतिः सर्वाः प्रजा असृजत स्वात्मनि सूक्ष्मरूपेणऽवस्थितानि सर्वाणि कार्यजातानि स्थूलरूपेण बहिः सृष्ट्वा नित्यर्थः । अतोऽन्तर्गतस्य कार्यस्याऽभावात् स प्रजापतिर्दुग्धो रिरिचानोऽमन्यत । यथा दुग्धो गौः अन्तरावस्थितपयसो विसर्जनादिका भवति तथा प्रजापतिरपि सर्वं सृष्ट्वाऽऽत्मनाऽनिरिक्ततयाऽऽसीत् । सर्वरिक्तापरिहारायैतच्छ्रायन्तीयमपश्यत् । तेन च दृष्टेन साम्ना साधनेन प्रपया पुत्रपौत्रादिरूपया पशुभिर्गवादिभिरिन्द्रियेण चक्षुरादिना वीर्येण वाचाऽऽत्मना समश्रीणात् समयोजयत् । अतएव श्रयणसाधनत्वादस्य च श्रायन्तीयमिति संज्ञा ॥ ७ ॥

दुग्ध इव एष रिरिचानो यस्य कलशो दीर्घते यच्छ्रायन्तीयं ब्रह्मसाम भवति पुनरेवाऽऽत्मानं समश्रीणाति प्रजया पशुभिरिन्द्रियेण ॥ ९ ॥

तथा सति यस्य कलशो दीर्घत एष दुग्ध इव रिरिचानो रिक्तो भवति, यागस्य विकलत्वेन फलप्राप्त्यभावात् । अर्जितस्य धर्मस्य च प्रहणाञ्च । यच्छ्रायन्तीयमस्य यज्ञे ब्रह्मसाम भवति तेनैव आत्मानं प्रजादिभिः फलैः पुनरेव संश्रीणाति संयोजयति ॥ ८ ॥

अस्मिन् पक्षे वषट्कारणिधनस्याऽप्रयुक्तत्वाद् भिन्नात् कलशात् पुनः सोमोऽवपट्टतः स्यात्तत्राह—

यदि आपन्तीयं ब्रह्मसाम स्याद्वैष्णवीष्वनुष्टुप्सु वषट्कारणिधनं कुर्यात् ॥ ९ ॥

यदि आपन्तीयं ब्रह्मसाम भवेत्तदा वैष्णवीषु विष्णुसम्बन्धिनीष्वनुष्टुप्छन्दस्कास्वृक्षु(१)पवस्व वाजसातये' इत्यादिकासु वषट्कारणिधनं कुर्यादिति । उत्तरत्र हि वैष्णव्योऽनुष्टुमो भवन्तीति 'पवस्व वाजसातये' इत्यादीनां विधिर्दृश्यते । अतोऽत्रापि वैष्णव्योऽनुष्टुमस्ता

१. सा, स, उ. ३. १५. १. ता रिहन्ति धतिय', त्वं यां च महिषव, इत्यग्निमे ऋचौ ।

एवेत्यवसीयते । अत्र यदि श्रायन्तीयं ब्रह्मसामस्यादिति यदि शब्दं प्रयु-
ज्जान एव पक्षो वैकल्पिक इति सूचयति । अतोऽनयोः पक्षयोरन्यतरः
कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

वैष्णवीभ्यनुष्टुप्सु तस्य साम्नः करणं प्रशंसति—

यद्वै यज्ञस्य स्रवति व्वाचं प्रतिस्त्रवति व्वागनुष्टुप्
यज्ञो विष्णुव्वाचैव यज्ञस्य च्छिद्रमपिदधाति ॥ १० ॥

यज्ञस्य सम्बन्धि पदं स्रवति गच्छत्यनुष्टुभेव सा वाक् । 'अनु-
ष्टुप् च वै सतदश समभवताम्' इत्यादिना सर्वेषां गायत्र्यादीनां च्छन्दसा
मनुष्टुभः सकाशात् सृष्टेर्वैष्णवाणत्वादनुष्टुभो वाक्त्वम् । विष्णुश्च
यज्ञ एव भवति । अनुष्टुभो विष्णोश्चास्मिंस्तुचे दर्शनाद्यज्ञस्य च्छिद्रं
द्रोणकलशविदारणात्मकं सुषिरं व्वाचवाऽपिदधात्याच्छादयति । वप-
ट्कारणिधनेन च भूमौ प्रस्कन्नः सोमो वपद्भुतो भवतीत्यभिप्रायः ॥ १० ॥

सामान्तरं विधत्ते—

यद्वै यज्ञस्य स्रवत्यन्ततः स्रवति चारवन्तीयमग्निष्टो-
मसाम कार्यं यज्ञस्यैव च्छिद्रं वारयते ॥ ११ ॥

यत् खलु यज्ञसम्बन्धि स्रवति अन्ततोऽन्ने चारवन्तीयं चारणसा-
धनमेतत्संभ्रं सामाग्निष्टोमसामतया कार्यम् । तेन यज्ञस्यैव च्छिद्रं चार-
यते निवर्त्तयति समीकरोति 'यद्धारयंस्तद्धारवन्तीयस्य चारवन्तीय-
त्वम्' इति द्वि तन्निर्वचनं दृष्टम् ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे नवमाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

अथ सोमातिरेकप्रायश्चित्तमुच्यते । तत्र प्रथमं प्रातः सवनं दर्शयति—

यदि प्रातःसवनात्सोमोऽतिरिच्येत 'अस्ति सोमो
अयं सुत, इति मरुत्वतीषु रात्र्यन्ते स्तुयुः ॥ १ ॥

प्रातःसवने सन्ति चत्वार्याज्यस्तोत्राणि तत्र होतुः स्तोत्रे सोमपूर्णा-
श्चमसा होतव्याः । तत्राऽन्त्यचमसगणो द्रोणकलशाधयनीयपूतभृत्सु
विद्यमानः सकलसोमरस आसेचनीयः । तत्र यद्यन्यस्य चमसगण-
स्य होमात्प्राक् सोमोऽतिरिक्तो दृश्यते तं चमसगणं पुनरानीय होतव्य-

म् । यद्यन्यचमसगणस्य होमादूर्ध्वं दृश्येत तदिदं प्रायश्चित्तम् । अयमर्थः
प्रातःसवनसमाप्तेरूर्ध्वं यदि सोमोऽतिरिच्येतऽतिरिक्तोऽधिको दृ-
श्येत तदाऽर्घ्यवस्तं सोमं होतृचमसमुख्येषु चमसेष्वानीय स्तोत्र-
मुपाकुरुवन्ति । तदोद्गातारः(१) 'अग्निं सोमो अयं सुत' इति मरुत्वतीषु
मरुच्छब्दयुतासु गायत्रीष्वृक्षु गायत्रेण 'तत्सवितुर्वरेण्यम्' इत्यस्या-
मुत्पन्नेन गायत्रिसाम्ना स्तुयुः स्तुवीरन् ॥ १ ॥

अथाऽस्यामृचि मरुच्छब्दवत्त्वं गायत्रत्वञ्चाऽतिरिक्तसामानुगु-
णमिति स्तौति—

माध्यन्दिनं वा एष सवनं निकामयमानोऽभ्यति-
रिच्यते यः प्रातस्सवनादतिरिच्यते तस्मान्मरुत्वतीषु
स्तुवन्ति मरुत्वद्वि माध्यन्दिनं सवनं तस्माद् गाय-
त्रीषु गायत्रं हि प्रातस्सवनम् ॥ २ ॥

यः सोमः प्रातस्सवनादतिरिच्यतेऽतिरिक्तो भवति । एष सोमो
माध्यन्दिनं सवनं निकामयमानो नितरामभिलषतिरिच्यते । यस्मादेवं
तस्मान्मरुत्वतीषु मरुच्छब्दयुतासु स्तुवन्ति । कथमेतावता माध्यन्दि-
नसवनप्राप्तिः? तत्रोच्यते—मरुत्वतीषु मरुद्भिर्युक्तं हि माध्यन्दिनं सवनम् ।
तत्र मरुत्वतीषुप्रदणस्य मरुत्वतीषुशस्त्रस्य च विद्यमानत्वात् । अतो
मरुत्वतीषु सवनेनाऽतिरिक्तस्य सोमस्य माध्यन्दिनसवनप्राप्तिः । य-
स्मादेवसोमः प्रातस्सवनसम्बद्धस्तस्मादेव गायत्रीषु स्तुवन्ति । गायत्रं
गायत्रीच्छब्दस्कं हि प्रातस्सवनम् ॥ २ ॥

अस्य चाऽतिरिक्तस्तोमकलृप्तिमाह—

यस्मात् स्तोमादतिरिच्यते स एव स्तोमः कार्यः
सलोमत्वाय ॥ ३ ॥

यस्मात्प्रातस्सवनान्तिमात् स्तोमात्त्रिवृत्पञ्चदशदेरतिरिच्यते सो-
मोऽतिरिक्तो भवेत् तन्निमित्तकस्य स्तोत्रस्य सवनान्तिमस्तोत्र-
स्तोमः कार्यः । तस्यैव कारणं सलोमत्वाय सारूप्याय भवति ॥ ३ ॥

अथ प्रसङ्गादोतुरनुशंसनविशेषं विधत्ते—

ऐन्द्रावैष्णवं होताऽनुशंसति ॥ ४ ॥

१. सा. सं. उ. १. १. ८. १.

* एतत्त्वष्टीयो विधिस्सर्वोऽपि तैत्तिरीयब्राह्मणे प्रथमाष्टके चतुर्थपपाठके पञ्चमानुवा-
केऽपि दृश्यः ।

इन्द्रश्च विष्णुश्चन्द्राविष्णू तद्देवताकं शस्त्रं होताऽनुशंसति । ऐन्द्री-
भिर्वैष्णवीभिश्च स्तोत्रानुशंसनं कार्यमित्यर्थः । तथाचोक्तं सूत्रकृताऽऽ-
श्वलायनेन (१) "प्रातस्सवने (२) 'इस्ति सोमो अयं सुतः' (३) 'गौर्द्वयति मरु-
ता' मिति स्तोत्रीयानुरूपौ । (४) 'महां इन्द्रो य ओजसा' (५) 'अतो देवा
अवन्तु न' इत्यैन्द्रीभिर्वैष्णवीभिश्च स्तोममतिशस्ये"ति ॥ ४ ॥

उक्तमुभयदेवतत्वं प्रशंसति—

वीर्यं वा इन्द्रो यज्ञो विष्णुर्वीर्यं एव यज्ञे प्रतितिष्ठति ॥ ५ ॥

वीर्यं वै वीर्यरूप एवेन्द्रः, प्रजापतेः सकाशाद्वीर्यवतो बाहोरि-
न्द्रस्योत्पन्नत्वात् । विष्णुश्च यज्ञः । एवमुभयदेवतासु शंसनेन वीर्यं वीर्य-
युक्त एव यज्ञे यजमानः प्रतितिष्ठतीति ॥ ५ ॥

अथ माध्यन्दिने सोमातिरिक्ते प्रायश्चित्तं विधत्ते—

यदि माध्यन्दिनात्सवनादतिरिच्येत (६) 'वणमहाँ अ-
सि सूर्ये'त्यादित्यवतीषु गौरीवितेन स्तुयुः ॥ ६ ॥

यदि माध्यन्दिनात् सवनात् यदि माध्यन्दिनसवनसमाप्तेरूर्ध्वं
सोमोऽतिरिच्यते माध्यन्दिनस्याऽन्त्यचमसगणे हुते सोमोऽधिको
दृश्यते चेत्तदा तं सोममध्वर्य्ययज्ञमसेषूश्रयि स्तोत्रमुपाकुर्वन्ति । तत्रो-
द्गातारः 'वणमहाँ असि सूर्ये' इत्यादित्यवतीष्व्यादित्यशब्दयुक्तास्त्वृक्षु
गौरीवितेन गौरीवितिना ऋषिणा दृष्टं गौरीवितं (७) 'अग्निं प्र सोपातिं
गिरा' इत्यस्यानुत्पन्नं साम गौरीवितं तेन साम्ना स्तुयुः । तत्साम
एतासूहेन कर्त्तव्यमित्यर्थः ॥ ६ ॥

अस्याऽतिरिक्तसोमस्य सवनद्वयान्तरालवर्त्तित्वेनोभयरूपस्याऽऽ-
दित्यवतीषु बृहतीषु स्तुयमानं गौरीवितमनुगुणमित्याह—

तृतीयसवनं वा एव निकामयमानोऽध्वयतिरिच्यते यो
माध्यन्दिनात्सवनादतिरिच्यते तस्मादादित्यवतीषु स्तु-
वन्त्यादित्यं हि तृतीयसवनं तस्माद् बृहतीषु यार्हतं हि
माध्यन्दिनं सवनम् ॥ ७ ॥

यो माध्यन्दिनात् सवनात्सोमोऽतिरिच्यते अथ तृतीयसवनमेव

निकामयमानो नितरामिच्छतिरिच्यते । यस्मादेवं तस्मादादित्यष-
तीषु 'वण्महँ असि' इत्यादित्यशब्दयुक्तास्तु वन्ति । आदित्यदेवता हि
तृतीयसवनमादित्यग्रहेण हि तृतीयसवनं प्रारम्भ्यते । यस्मादेव मा-
ष्यन्दिनात् सवनादतिरिक्तं तस्मादु तस्मादेव बृहतीषु स्तुवन्ति
माष्यन्दिनं सवनं यार्हतम् हि(१) 'पुनानः सोम धारया(२) 'अभि त्वा
शूर' इत्यादीनां बृहतीनां तत्र विनियुज्यमानत्वात् ॥ ७ ॥

प्रातस्सवनवदस्य स्तोमकल्लप्तिं होतुरनुशंसनञ्च सार्धं वादं विधत्ते—

यस्मात् स्तोमादतिरिच्येत स एव स्तोमः कार्यः
सलोमत्वायैन्द्रावैष्णवं होताऽनुशंसति वीर्यं वा इन्द्रो
यज्ञो विष्णुर्वीर्य एव यज्ञे प्रतितिष्ठति ॥ ८ ॥

पूर्वषष्ठाख्येयम् । एतावांस्तु विशेषः—अथैन्द्रावैष्णवमिति । (३) 'महँ
इन्द्रो नृवत्'(४) 'विष्णोर्नुकम्' इत्येतदाविक्रमेवैन्द्रावैष्णवं शंसनयिम् ।
तथा चाऽऽश्वलायनसूत्रम्-(५) 'माष्यन्दिने वण्महँ असि सूर्य-
(६) 'उदुत्यद्दर्शतं वपु'रिति प्रगाथौ स्तोत्रीयानुरूपौ । 'महँ इन्द्रो नृवत्'
'विष्णोर्नुक'मिति ॥८॥

अथ तृतीयसवने सोमातिरिक्ते प्रायश्चित्तं विधत्ते—

यदि तृतीयसवनादतिरिच्येत विष्णोः शिपिविष्ट-
वतीषु गौरीवितेन स्तुयुः ॥ ९ ॥

यदि तृतीयसवनात्सोमादतिरिच्यते विष्णोः शिपिविष्टवतीषु
स्तुवन्ति ॥ ९ ॥

कोऽतिशयः सामान्तरं परित्यज्य गौरीवितेन स्तुतौ ! किं वा
प्रयोजनमिति ? तदुभयं दर्शयति—

यज्ञो वै विष्णुश्शिपिविष्टो यज्ञ एव विष्णौ
प्रतितिष्ठत्यतिरिक्तं गौरीवितमतिरिक्त एवाऽतिरिक्तं
दधाति ॥ १० ॥

शिपयोरन्मयस्तैराविष्टः शिपिविष्टः । तथा च यास्कः(७) 'शिपयोऽत्र

१. सा. घ. पू. ६. १. ३. १. २. सा. घं. पू. ३. १. ५. १.

३. ऋ. स. ४. ६. ७.

४. ऋ. घ. २. २. २४.

५ अश्व.श्रौ.पू.अ. ६.ख.७ सू. ६. ६. ऋ. स. ५. ५. १०. ७. निरु. पू. २.८.

रम्भय उच्यन्ते, तैराविष्टो भवतीति' यद्वा शिष्यः पशवस्त्रैराविष्टः शि-
पिविष्टः(१) 'यज्ञो वै विष्णुः पशवः शिपिः' इति श्रुत्यन्तराचार्यशो वि-
ष्णुर्यज्ञो वै यज्ञ रूप एव। अत एतदेवत्यासु स्तुतेन यज्ञात्मक एव विष्णौ
प्रतितिष्ठति यदेतद्वैरीषिताख्यं साम तदतिरिक्तं विभज्यमानाया घेदा-
त्मिकाया वाचोऽधिकं(२) 'देवा वै वाचं व्यभजन्त तस्या यो रसोऽत्य-
रिच्यत तद्वैरीषितमभवत्' इति श्रुतेः॥ तथा सत्यतिरिक्ते सवनादधिक
एव सोमे तदतिरिक्तं साम दधाति तिदधाति । तेन साम्नाऽतिरिक्त-
'दोषं शमयतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अथ तृतीयसवने सोमातिरेके पक्षान्तरमाह—

एतदन्यत् कुर्युरुक्थानि प्रणयेयुरुक्थानि वा एष
निकामयमानोऽभ्यतिरिच्यते योऽग्निष्टोमादातिरिच्यते
यद्युक्थ्येभ्योऽतिरिच्येताऽतिरात्रः कार्यो रात्रि वा एष
निकामयमानोऽभ्यतिरिच्यते य उक्थ्येभ्योऽतिरिच्यते
यदि रात्रेरतिरिच्येत विष्णोः शिपिविष्टवतीषु बृहता
स्तुपुरेप तु वा अतिरिच्यत इत्याहुयो रात्रेरतिरिच्यत
इति ॥ ११ ॥

अत्र पक्षान्तरद्योतको यदि शब्देऽध्याहर्तव्यः, एतत्प्रवृत्तकर्मणोऽ-
न्यत् संस्थान्तरं यदि कुर्युः, तदा तृतीयसवनादतिरिक्तेन सोमेनाग्नि-
ष्टोमादन्यत् संस्थान्तरं कार्यम् । अतस्तमतिरिक्तं सोममुक्थस्तो-
त्राणि प्रणयेयुः । यः सोमोऽग्निष्टोमादतिरिच्यते एष उक्थस्तोत्राणि
निकामयमानो नितरामभिलषन्नभ्यतिरिच्यतेऽभिप्रातयेऽतिरिक्तो
भवति । यद्युक्थ्येभ्योऽतिरिक्तः स्यात्तदाऽतिरात्रः कार्यः । यः सोम
उक्थ्येभ्योऽतिरिच्यते रात्रावनुष्ठीयमानास्त्रयः पर्वायाः प्रत्येकं चतुष्टय-
स्तुतश्चास्त इमे रात्रिशब्देनोच्यन्ते । उक्थ्येभ्योऽतिरिक्त एव सोमो
रात्रिमेष निकामयमानोऽभ्यतिरिच्यते । अतोऽतिरात्रः कार्य इत्यर्थः ।
यदि रात्रेः रात्रौ कर्त्तव्यात् पर्यायत्रयात् सन्धिस्तोत्राश्च सोमोऽतिरि-
च्येत तदा पूर्वोक्तान् विष्णोः शिपिविष्टवतीषु बृहत्साम्ना स्तुयुः । यः
सोमो रात्रेरतिरिच्यते एष तु वै एष एवातिरिच्यत इत्याभिप्रायः ब्रह्मवा-
दिन आहुः । यस्तु अग्निष्टोमादिकादतिरिच्यते सोऽतिरिक्तो न भवति,

उत्तरोत्तरसंस्थाया विद्यमानत्वात् । तत्र च तस्य सोमस्योपयोगसम्भ-
वात् । अतिरात्रादूर्ध्वमन्यत् संस्थान्तर नास्तीत्यतिरिक्तः सोम उपयो-
गमावाप्तिरर्थको भवेत् । अतोऽत्रैव प्रायश्चित्तमिति विशेषद्योतनाय
तुच्छम् ॥ ११ ॥

ननु पूर्वं तृतीयसवनात् सोमातिरेके गौरीवितं साम विहितम् ।
तत्परित्यज्य कुतो बृहतो विधानमित्यत आह—

अमुं वा एष लोकं निकामयमानोऽभ्यतिरिच्यते यो
रात्रेरतिरिच्यते बृहता स्तुवन्ति बृहदमुं लोकमाप्नुमर्ह-
ति तमेवाऽऽप्नोति ॥ १२ ॥

यः सोमो रात्रेरतिरात्रसंस्थाया अतिरिच्यते । अमुं स्वर्गाख्यमेव
लोकमेव निकामयमानोऽभ्यतिरिच्यते । अतिरात्रादधिकस्य संस्थान्त-
रस्याऽभावात् साक्षां मध्ये बृहत्सामैवाऽमुं स्वर्गं लोकमाप्नुमर्हति
नान्यत्(१) 'इयं वाव रयन्तरमसौ वै लौको बृहत्' इति श्रुतेः । अतः
स्वर्गं निकामयमानमतिरिक्तमेवाऽसौ बृहता प्राप्नोति ॥ १२ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे वेदार्थप्रकाशसहिते नवमाध्यायस्य
सप्तमः खण्डः ॥

अथाऽष्टमः खण्डः ॥

अत्र सत्रमध्ये दीक्षितानां मरणे कर्त्तव्यं विधत्ते—

यदि दीक्षितानां प्रमीयेत दग्ध्वाऽस्थीन्युपनह्य यो
नेदिष्ठी स्यात्तं दीक्षयित्वा सह यजेरन् ॥ १ ॥

सत्रार्थे दीक्षितानां दीक्षणीयेष्ट्या संस्कृतानां मध्ये यदि कश्चित्प्र-
मीयेत प्रियेत तदा तन्निर्मन्येन विधिवद्दग्ध्वा कृष्णाजिनेऽस्थीन्यु-
पनह्य प्रार्क्षीयेऽतिदग्ध्वात् । ततोऽस्य मृतस्य यो नेदिष्ठी स्यादन्ति-
कतमः पुत्रादिः स्यात्तं दीक्षयित्वा मृतप्रतिनिधित्वेन तं नेदिष्ठिनं
दीक्षासंस्कृतेन तेन सह यजेरन् प्रक्रान्तं सत्रमनुतिष्ठेरन् ॥ १ ॥

१. ते सं. ३ १. ७.

२. वाक्यमिदमधिकृत्य विचारः पूर्वमीमांसायां दशमद्वितीयाष्टादशे (१०.२.१८).

अथ यस्मिन् सुत्येऽहनि यजमानो मृतः स्यात् तत्रोद्गातृकृत्यं विधत्ते—

एतदन्यत् कुर्युरभिषुत्याऽन्यत्सोममगृहीत्वा ग्रहान् याऽसौ दक्षिणा सूक्तिस्तद्वा स्तुयुर्मार्जालीये वा ॥ २ ॥

सुत्यामध्ये यजमाने मृते सत्यभिषुतं सोमं परित्यज्याऽन्यत्, लिङ्गव्यत्ययः, अन्यं सोमं विधिवदभिषुत्य ग्रहानैन्द्रवायवादीनगृहीत्वाऽध्वर्यवो विरमेयुः । तस्मिन् काले याऽसौ वेदेदक्षिणा अक्तिः कोणो दक्षिणपूर्वा दिक् तत्तत्र वा मार्जालीयधिष्ये वोद्गातारः स्तुयुः स्तुवीरन् ॥ २ ॥

किं तत इत्याह—

अपि वा एतस्य यज्ञे यो दीक्षितः प्रमीयते तमेतेन निरवदयन्ते ॥ ३ ॥

अपि वेति वाक्यालङ्कारद्योतकौ निपातौ । अपि अत्र एतस्य, सतः स्वर्थे षष्ठी । एतस्मिन् यज्ञे यो दीक्षितः प्रमीयते म्रियते तमेतेन स्तोत्रेण निरवदयन्ते निर्गमयन्ति तर्पयन्ति । 'दय' दानगतिरक्षणहिंसादानेषु । यद्वा एतस्यैवेति गृहपतिः कथ्यते । एतस्य वर्त्तमानस्य गृहपतेर्यज्ञ इत्यर्थः ॥ ३ ॥

स्तुतिमात्रं विहितम्, तत्केन साधनेनेत्याकाङ्क्षायामाह—

(१) यामेन स्तुवन्ति यमलोकमेवैनं गमयन्ति ॥ ४ ॥

यामेन साम्ना विहितं स्तोत्रमुद्गातारः कुर्युः । तेन स्तोत्रेणैतं मृतं यमलोकं पितृलोकमेव गमयन्ति ॥ ४ ॥

तस्य साम्न आचारभूतानामृचां संख्यां विधत्ते—

तिसृभिः स्तुवन्ति तृतीये हि लोके पितरः ॥ ५ ॥

तिसृभिः स्तोत्राभ्यामिः स्तोत्रं कार्यम् । तस्माद्भूर्लोकदारम्य तृतीये हि लोके स्वर्गादये पितरो वर्त्तन्ते । अतस्त्रिसंख्यया तत्रत्यान् पितृनेवैनं प्रापयन्ति ॥ ५ ॥

स्तोत्रान्तरे स्तोत्राद्यस्य तुल्यस्य स्तोमसम्पत्त्यर्थमावृत्तिर्दृष्टा । तद्वद्वाऽप्यावृत्तिमाशङ्क्याऽह—

पराचीभिः स्तुवन्ति पराङ्हीतोऽसौ लोकः ॥ ६ ॥

पराचीभिः स्तुवन्ति पराङ्मुखाभिरनावृत्ताभिः स्तुवन्ति । तत्कस्य हेतोः ? इतोऽस्माद्भूर्लोकदारम्याऽसौ स्वर्गो लोकः पराङ् हि परा-

ह्यमुच्यते परावृत्त ऊर्ध्वप्रदेशावस्थितो हि । अतस्तत्प्राप्तये पराचीमिरेव
स्तवनं युक्तमित्यर्थः ॥ ६ ॥

तिसृभिरित्यूचां संख्या विहिता । अथ काः पुनस्ता ऋच इति? तत्राह—

(१) सर्पराज्ञ्या ऋग्भिः स्तुवन्ति ॥ ७ ॥

सर्पराज्ञी नाम ब्रह्मवादिनी तस्या ऋग्भिस्तया दृष्टामिः (१) 'आयज्ञौः
पृश्निरक्रमीत्' इत्यादिभिरङ्गभिः स्तुवन्ति । एतास्तु यामं साम कार्य-
मित्यर्थः ॥ ७ ॥

मृतस्याऽपनयन एता ऋचोऽनुकूला इति दर्शयति—

अर्बुदः सर्प एताभिर्मृतां त्वचमपाहत मृतामेवै-
ताभिस्त्वचमपघ्नते ॥ ८ ॥

अर्बुदः सर्परूपोऽर्बुदः कपिरेताभिः सर्पराज्ञ्या दृष्टामिर्ऋग्भिर्मृतां
जीर्णामात्मोयां त्वचमपाहत अपागमयत् । अत एताभिस्तुवाना अपि
मृतं यजमानमपगतमयन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथैतस्मिन् स्तोत्रे समाप्त एतासामुचामनुवचनं विधत्ते—

ता ऋचोऽनुवृवन्तस्त्रिर्माजालीयं परित्यजन्ति सव्या-
नूरुनाघनानाः ॥ ९ ॥

अथैतानुप्रभृतय ऋत्विजस्ताः पूर्वोक्ता ऋचो यमदेवत्यास्ताप-
राज्ञीमिष्ट्याऽनुवृवन्तोऽनुवचनधर्मोच्चारयन्त आत्मीयान् सव्यान्
याममागस्थानुरूपप्रदेशानाश्रानाः सव्यैः पाणिभिस्ताडयन्तो
माजालीयं घिष्ण्यं त्रिस्त्रिवारं परित्यजन्ति परितो गच्छन्ति ॥ ९ ॥

अथैतासामनुशसनं विधाय प्रशंसति—

स्तुतमनुशंसन्त्यमुष्मिन्नेवैनं लोके निधुवन्ति ॥ १० ॥

स्तुतं स्तोत्रं होतृप्रभृतयोऽनुशंसन्ति स्तोत्रीयास्ता ऋचोऽनुशंसन्त्यु-
तेनानुशंसनेनाऽमुष्मिन् स्वर्गे लोकं एवैनं मृतं यजमानं निधुव-
न्ति प्रीणयन्ति । 'धू विधूतने' अत्रोपसर्गवशात् प्रीणने वृत्तं । एतावत्
कृत्वा ब्रह्मा ब्रह्मीतव्याः ॥ १० ॥

तेषामेवैन्द्रवायवाप्रत्वं कर्त्तव्यमिति दर्शयति—

यन्ति वा एते पथ इत्याहुर्ग्रे मृताय कुर्वन्तीत्यैन्द्र-
वायवाग्रान् ब्रह्मान् गृह्णते पुनः पन्थानमपियन्ति ॥ ११ ॥

य ऋत्विजो मृताय यजमानायोक्तं क्रियाकलापं कुर्वन्ति । एते पथो मार्गान् घर्त्तमानयश्चलक्षणान् यन्त्यपिगच्छन्तीति ब्रह्मवादिन आहुः । तस्य चेदं समाधानम्—ऐन्द्रवायवाग्रान्, ऐन्द्रवायवो ग्रहोऽग्रे प्रथमतो येषां ते तथोक्ताः, तथाविधान् ग्रहान् गृहते गृह्योयुः । तदप्रत्वं हि प्राकृतं विकल्पितम्—‘यदि रघन्तरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्योयात् । यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान् यदि जगत्सामा आप्रयणा-
ग्रा’निति । अतोऽत्र निष्कार्यं पुनर्विधानम् । तथा च यस्मात्पथो यद्-
मार्गात् पूर्वं प्रच्युतास्तमेव पथानं पुनरपियन्त्यपिगच्छन्ति ॥ ११ ॥

अथाऽस्मिन् यज्ञे वहिष्पवमानस्याऽऽग्निपावमानी प्रतिपद् कार्येति विधत्ते—

‘अग्न आयूंषि पवसे’ इति प्रतिपत्कार्यं य एव जीवन्ति तेष्वायुर्दधाति ॥ १२ ॥

‘अग्न आयूंषि पवसे’ इति वहिष्पवमानस्य प्रतिपत् कार्यं । यद्यप्यत्र ऋद्धमात्रं प्रतीयते तथापि (१) तृचसूकानामादिग्रहणेन विधिरनादेशे’ इति सूत्रकारेण परिभाषितत्वात् एतदादिकः (२) तृच एव ग्राह्यः ‘अग्न आयूंषि पवसे’ इत्यायुर्लिङ्गाच्च एव दीक्षिता जीवन्ति तेष्वायुर्दधाति स्थापयति ॥ १२ ॥

इत्थं प्रवृत्तं सत्रं समाप्य पुनः संवत्सरान्ते कर्त्तव्यमिति दर्शयति—

संवत्सरेऽस्थीनि याजयेयुः संवत्सरो वै सर्वस्य शान्तिर्यत्पुरा संवत्सराद्याजयेयुर्वाचमरुक्कृतां क्रूरा-
मृच्छेयुः ॥ १३ ॥

यागानन्तरं संवत्सरे पूर्णे मृतस्य दीक्षितस्याऽऽस्थीनि याजयेयुः । अपूर्णे संवत्सरे याजयेयुश्चेत् वाचमरुक्कृतां क्रूरामृच्छेयुः प्राप्नुयुः ॥ १३ ॥
तस्मिन्नास्थिकर्त्तृकयज्ञे स्तोत्रपरिमाणमात्रं स्तोमपरिमाणञ्चाऽऽह—

असम्मितं स्तोत्रं स्यादसम्मितो ह्यसौ लोकस्त्रि-
वृतः पवमानाः स्युः सप्तदशमितरत्सर्वम् ॥ १४ ॥

तस्मिन्नास्थिकर्त्तृक यज्ञे स्तोत्रमसम्मितमपरिमितं स्याद्भवेत् । स्तो-
त्रपरिमाणं नापश्यमित्यर्थः । तत्कुतो हेतोः ? हि यस्मादसौ स्वर्गो लोको
ऽसम्मितोऽपरिमितस्तस्मात् तत्प्राप्तये अपरिमितं स्तोत्रं स्यादित्यर्थः ।

एवमेव स्तोमस्याऽप्यपरिमितत्वे प्रसक्तमिदमुच्यते । एवमात्रास्त्रिषु स-
वनेषु धर्त्तमानाः बहिष्पवमानाद्यास्त्रिवृतस्त्रिवृतस्तोमयुक्ताः कार्याः ।
इतरत् एवमानस्यतिरिक्तं सर्वं स्तोत्रं सप्तदशं सप्तदशस्तोमकं कार्यम् ॥१४॥
नदेतदुभयं प्रशंसति—

यत्त्रिवृतः पवमाना भवन्ति प्राणा वै त्रिवृतप्राणाने-
वोपयन्ति यत्सप्तदशमितरत् सर्वं प्रजापतिर्वै सप्तदशः
प्रजापतिमेवोपयन्ति ॥ १५ ॥

स्पष्टमेतत् ॥ १५ ॥

अथाऽस्मिन्नस्थिकर्तृकप्रयोगे प्रातिस्विकं ग्रहाप्रत्वं विधत्ते—

प्राणापानैर्वा एते व्यृध्यन्त इत्याहुर्वै मृताय कुर्वन्तीति मैत्रावरुणाग्रान् ग्रहान् गृह्णते प्राणापानौ मित्रा-
वरुणौ प्राणापानैरेव समृध्यन्ते ॥ १६ ॥

एत श्रुत्विजः प्राणापानैः प्राणवायुमिरपानवायुमिश्रं विप्रयुज्य-
न्त इत्याहुर्ग्रहवादिनः । ये मृताय यजमानायाऽऽर्तिव्रज्यं कुर्वन्तीति । अ-
र्च्यं परिहारः—प्रातःसवने विद्यमानान् ग्रहान् मैत्रावरुणाग्रान् मित्राव-
रुणौ देवते यस्य मैत्रावरुणोऽग्रे प्रमुखे येषां ते तयोक्तास्तथाविधान्
ग्रहान् गृह्णते गृह्णीयुः । मित्रश्च वरुणश्चेति यौ देवौ तावैव प्राणापानाव-
तस्तद्देवत्यग्रहाप्रत्वेन प्राणापानैरेवैते समृध्यन्ते समृद्धा भवन्ति
चिरजीविनो भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे वेदार्थप्रकाशसहिते

नवमाध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

अथ द्रोणकलशस्यस्य सोमस्य क्षये प्रायश्चित्तं विधित्सुस्तस्य
दोषमाह—

यस्य कलश उपदस्यति कलशमेवाऽस्योपदस्यन्तं
प्राणोऽनूपदस्यति प्राणो हि सोमः ॥ १ ॥

यस्य यजमानस्य कलशो द्रोणकलशस्यसोम उपदस्यति क्षयं
प्राप्नोति, दसु उपक्षये, अस्य यजमानस्योपदस्यन्तं क्षीयमाणं कलश-

मनु पश्चात् प्राण उपदश्यति यजमानस्य प्राणोऽपि क्षयं प्राप्नोति । हि यस्मात् सोमः प्राणः प्राणहेतुः तस्मात् सोमस्योपदासे प्राणोपदासो युक्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

अत एव सति प्रायश्चित्तमपेक्षितम् तत्र शास्त्रान्तरीयं मतं तावदर्शयति—

तदाहुः पयोऽवनयेदिति ॥ २ ॥

तत्तत्र कलशे उपदासविषय आहुः केचिच्छाखिनः । किमिति ? पयोऽवनयेदिति द्रोणकलशस्ये सोम उपक्षीणे नत्र दुग्धं पयोऽवनीय तेन सोमकार्याणि कर्त्तव्यानीति ॥ २ ॥

अथ स्वमतं दर्शयति—

अथो खल्वाहुरन्तर्हितामिव वा एतद्यत्पयो हिरण्य-
मेवाऽपोऽभ्यवनयेद्विरण्यमभ्युन्नयेदिति ॥ ३ ॥

अथो खल्विति पक्षान्तरपरिमहे । अमिहा ब्रह्मवादिन आहुः कथ-
यन्ति । किमिति ? यत् एतदन्तर्हितमिव वै अन्तर्हितमसन्निकृष्टमप्रत्यक्ष-
मेव दोहनात्प्राक् गवामुधसि घत्तमानस्याऽप्रत्यक्षत्वात् । अतः सोमस्या-
न्तर्क्षान्ते अन्तर्हितस्य पयसोऽवनयनमयुक्तम् । किं तर्हि ? द्रोणकलशेऽव-
नेयम् । तदुच्यते—द्रोणकलशे हिरण्यं निधाय अपोऽभ्यवनयेदमिपूरयेदि-
त्याहुः । (१) 'सोमस्य वा अमिष्यमाणस्य प्रिया तनूदकामत् । तत्सुवर्णं
हिरण्यमभवदिति' श्रुत्यन्तरात् सुवर्णं सोमस्य प्रियशरीरम् । अमि रूप-
र्यर्थः । सुवर्णस्योपरि घसतीवव्याख्या हैयङ्गवीनमिश्रिता अपोऽवनये-
दासिञ्चेत् । चमसानामुन्नयनकाले तेषु च हिरण्यं निधायाऽभ्युन्नयेद-
मिपूरयेदित्याहुर्ब्रह्मवादिनो ब्रूयुः ॥ ३ ॥

अस्मिन् पक्षे प्रागुक्तस्य प्राणोपदासस्य परिहारो यथा भवति
तथा दर्शयति—

प्राणा वा आपोऽमृतं हिरण्यममृत एवाऽस्य प्राणान्
दधाति स सर्वमायुरेति ॥ ४ ॥

आपः प्राणा वै प्राणरूपा एव तद्धेतुत्वात् (२) 'अन्नमपं हि सौम्यं मन
आपोमयः प्राण' इति हि ध्यमधोमहे । हिरण्यञ्चाऽमृतं मरणरहितं त-
स्य तैजसत्वेनाऽत्यन्ताभिसंयोगेऽपि विनाशाभावात् । अत्र चाऽपां हिर-
ण्यस्य च समुच्चयविधानादस्य यजमानस्य प्राणानमृते मरणाभावा
एव दधाति निदधाति स्थापयति । अतः स यजमानः सर्वं सम्पूर्णं प्रा-

क्षणकृतं शतवर्षलक्षणं आयुरेति प्राप्नोति ॥ ४ ॥

अथ नाराशंसस्योपशोपणे प्रायश्चित्तं विधित्सुः पूर्ववत्तस्य शो-
पणमनर्थहेतुरिति दर्शयति—

यस्य नाराशंस उपवायति नाराशंसमेवास्योपवी-
यन्तं प्राणोऽनुपदस्यति प्राणो हि सोमः ॥ ५ ॥

सवनमुखेष्वग्नौ समुदघृताः पुनर्भक्षिताः पुनर्वसतीवरीमिः 'आध्या-
यस्व' इति मन्त्रेण पुरिताश्चमसा नाराशंसाः । सामान्याभिप्रायमेकवच-
नम् । यस्य यजमानस्य नाराशंस उपवायति उपशुष्यति 'ओवै शोपणे
भौवादिकः । उपवायन्तमुपशुष्यन्तं नाराशंसमनु पश्चादस्य यजमानस्य
प्राण उपदस्यत्युपशुष्यति क्षयमुपगच्छति । नाराशंसात्मकः (१) शुष्य-
माणः सोमो हि यस्मात् प्राणसंस्कृतः तस्मादित्यर्थः ॥ ५ ॥

तत्र कर्त्तव्यमाह—

यमध्वर्युरन्ततो ग्रहं गृहीयात्तस्याऽऽप्नुमवनेत् ॥ ६ ॥

यमध्वर्युरन्ततः समीपे नाराशंसशोपणसमीपकाले गृहीयात् त-
स्यैकदेशमग्नौ हुत्वा प्राणसंस्कृतं नाराशंसमाप्तुं प्राप्त्यर्थं हुतशेषं च
— A. यथाऽऽसिञ्चेत् । तथा चाध्वर्युसूत्रम् (२) 'यदि नाराशंस उपदस्येद्य-
मध्वर्युः पूर्वं ग्रहं गृहीयात्तं षपद्कृतानुवपद्कृते हुत्वा चमसाध्वर्यवे
प्रयच्छेत्तेनैनं स आप्याययतीति' ॥ ६ ॥

तदेतद्गृहावनयनं प्रशंसति—

प्रायश्चित्त्यै वै ग्रहो गृह्यते प्रायश्चित्तेवाऽस्मै प्रायश्चि-
त्तिं करोति ॥ ७ ॥

नाराशंसोपशोपणसमये ग्रहो गृह्यते स न केवलं होमार्थं तथैव
गृह्यते । अपि तु सन्निधानात् प्रायश्चित्त्यै प्रायश्चित्तार्थमपि । अतः प्रा-
यश्चित्तार्थं गृहीतेन ग्रहेणैवाऽस्मै यजमानाय प्रायश्चित्तिं प्रायो वि-
नाशस्तस्य समाधानं ज्ञानं चित्तिर्नाराशंसोपशोपणजनितदोषस्यो-
पशमनं करोति ॥ ७ ॥

(३) यदि पीतापीतौ सोमौ सङ्गच्छेयातामन्तः परिध्य-

१. शुष्यमाण इत्यपठः । २. आप. श्रौ. १४. २८. १.

३. इदमेव वाच्यमापस्तम्बश्रौतसूत्रे हुताहुतसर्गप्रत्यक्षिततया हुताहुतपदघटितमा-
ज्जात (आप. श्रौ. १४. ३०. २.) तत्र द्रष्टव्यम् ।

ङ्गारान्निर्वर्त्य जुहुयात् 'हुतस्य चाऽहुतस्य चाऽहुतस्य हुत-
स्य च । पीतापीतस्य सोमस्येन्द्राग्नी पिबतं सुतं स्वाहे'
ति सैव तस्य प्रायश्चित्तिः ॥ ८ ॥

प्रहचमसादिर्यं सोमं प्रथममग्नौ हुत्वा पश्चात् सदसि मक्षयन्ति
अध्यर्च्युर्वषट्कर्तारो होत्रादयोऽन्ये चमसिनश्च । तत्र यदि पीतापीतौ
सौमौ सङ्गच्छेयातां पीतशेषः सोमोऽपीतेनाऽभक्षितेन सोमेन होमा-
र्यमासादितेन वा यदि संसृष्टो भवेत्तदाऽन्तःपरिधि परिधीनाम-
न्तमध्येऽङ्गारान्निर्वर्त्य पृथक्कृत्य 'हुतस्य च' इति संसृष्टं सोममङ्गारेषु
जुहुयात् । सैषाऽऽहुतिरेव तस्य संसर्गशेषस्य प्रायश्चित्तिः । मन्त्रार्थस्तु-
मन्त्रेण विलक्षणस्याग्नी हुतस्य अहुतस्य चानेन क्रमेण संसृष्टस्य पीता-
पीतस्य होमानन्तरं पीतेन पीतावशेषितेन संसृष्टस्याऽपीतस्य सोमस्यैक-
देशमेतदेव विपर्यस्योच्यते-अहुतस्य हुतस्य चेति । एवमुभयाविष्यं
पीतापीतस्य हुतशेषसोमः पीतः । अहुतः सोमोऽपीतः । तदुभयात्मक
स्यैकदेशं सुतमभिपुतं रसं हे इन्द्राग्नी पिबतं तदर्थं स्वाहाऽहं तं सोम-
मग्नौ प्रक्षिपामीति ॥ ८ ॥

यदि भक्षणायाऽऽनीतो हुतशिष्टः सोमः केशकीटादिमिर्जुष्टः
स्यात् तदा कर्त्तव्यमाह—

प्रजापतये स्वाहेत्यभक्षणीयस्य जुहुयादुत्तरार्धपूर्-
वार्द्ध्यं उपरवः ॥ ९ ॥

प्रजापतये स्वाहा' इति मन्त्रेणाऽभक्षणीयस्य भक्षणानर्हस्य केशादि-
मिर्जुष्टस्य सोमस्य । कर्मणि षष्ठी ॥ अनक्षणीयं सोमं जुहुयात् प्रक्षिपेत् ।
कुत्र होमः ? इत्यपेक्षायामाह—उत्तरार्धपूर्वार्द्ध्यं उपरव इति । उपरवा
नाम दक्षिणहविर्धानस्याऽधस्तात् परोक्षं स्नाताश्चत्वारो गर्त्ताः । तत्रोत्तरार्धं
मयौ द्वौ गर्त्तादुत्तरार्धौ । पूर्वार्द्धं पूर्वदिकृष्टैश्चान्यां दिशि चसमान
उपरवेऽभक्षणीयः प्रक्षेप्यः । अत्र यज्जुहोति तदाहवनीये इति जुहोति-
चोदनाया आहवनीय एव होमाधारत्वेन प्राप्यते यद्यपि तथापि (१) 'पदे
जुहोती'त्यत्र यथा आहवनीयस्य वाच एवमत्रापि द्रष्टव्यः ॥ ९ ॥

अभिषुष्टस्य सोमस्य भक्षणमन्त्रं विधत्ते—

'इन्दुरिन्दुमवागा'दित्यवष्टुष्टस्य भक्षयेत् ॥ १० ॥

इन्दुरित्यादिना मन्त्रेणाऽववृष्टस्य चर्पणेन दूषितस्य सोमस्य क्रियाग्रहणं कर्त्तव्यमिति कर्मणः सम्प्रदानत्वा(१) “चतुर्थ्यर्थे बहुल”मिति पृष्ठा । तं सोमं भक्षयेत् ॥ १० ॥

अस्य च मन्त्रस्य शेषं दर्शयति—

‘तस्य त इन्द्रविन्द्रपीतस्येन्द्रियावतस्सर्वगणस्य सर्वगण उपहृत उपहृतस्य भक्षयामि’ ॥ ११ ॥

अयमर्थः—इन्दुरयं रसात्मकः सोम इदममृतमयं शुद्धानं सोम मवागादवाप्नोत् । हे इन्द्रो तस्य तयाविधस्य ते तवांशमहं भक्षयामि । कीदृशस्य तव ? इन्द्रपीतस्येन्द्रेण पीतस्येन्द्रियावतो वीर्यवतः सर्वगणस्य सर्वैर्ऋत्विगणैरपितस्योपहृतस्य ‘अध्वर्युरुपहृत्यस्व’ इत्यादिभिः कृतोपह्वानस्य । भक्षयिता विशोष्यते—सर्वगणः समानमक्षैरन्यैर्ऋत्विगणैश्चक्षुरादीन्द्रियगणैर्वा युक्तोऽन्वैर्ऋत्विगिर्मन्त्रेणाऽनुज्ञातः ॥ ११ ॥

चमसहोमानन्तरं तद्भक्षणं कर्त्तव्यम् । कृते च तस्मिन्नाध्वर्युणा स्तोत्रोपाकरण कार्यम् । यद्यध्वर्युश्चमसभक्षणात्पूर्वं स्तोत्रमुपाकुर्यात् तदा कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तमाह—

“हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्र” इत्याज्येनाऽभ्युपाकृतस्य जुहुयादाग्नीध्रं परेत्य “भूतानां जातः पतिरेक आसीत् स दाधार पृथिवीं धामुतेमां तस्मै त इन्द्रो हविषा विधेम स्वाहे”ति सैव तस्य प्रायश्चित्तिः ॥ १२ ॥

अभ्युपाकृतस्याऽभक्षितं चमसमभिलक्ष्योपाकृतं प्रारब्धं स्तोत्रं यस्य स तयोक्तः । तादृशस्य यजमानस्याऽनुपाकरणदोषापगमनार्थमाग्नीध्रीयधिष्ण्यं परेत्य प्राप्य तस्मिन् ‘हिरण्यगर्भ’ इति मन्त्रेणाज्येन द्रव्येण जुहुयात् । ‘भूतानां जात’ इत्यादिस्तस्य मन्त्रस्य शेषः । तस्य दोषस्य सेवाऽऽहुतिः प्रायश्चित्तिरुपशमहेतुः । मन्त्रस्याऽयमर्थः—अत्र सर्वस्य भूतभौतिकप्रपञ्चस्य सृष्टेः पुरा हिरण्यगर्भः हिरण्यस्यस्याऽण्डस्य गर्भभूतः प्रजापतिः समवर्त्तत परस्माद्भ्रूणः संकाशादजायत । स च जातो जातमात्र एव भूतानां स्वात्मना सृज्यानां सर्वेषां भूतजानानामेकोऽसाधारणः पतिरासीदधिपतिरभवत् । स च पृथिवीं विस्तीर्णीं धामुतापीमां भूमिं च दाधार धृतवान् । तस्मै हिरण्यगर्भाय हे इन्द्रो सोम ते तव सम्बन्धिना हविषा विधेम परिचरेम । ‘तस्मा’ इति कर्मणि चतुर्थी ॥ १२ ॥

अथ सोमामिषवार्यप्रावणां भेदे कर्त्तव्यमाह—

यदि प्रावाऽपि शीर्यते पशुभिर्यजमानो व्यृध्यते प-
शवो वै प्रावाणो शुतानस्य मारुतस्य साम्ना स्तुयुः ॥१३॥

यद्यमिषसमये प्रावाऽपि शीर्यते विशीर्णो मिषो भवेत्तदा
यजमानः पशुभिर्गवादिभिर्व्यृध्यते पशवो हीयन्ते । प्रावाणः पशव एव
अलु । पशवो यथा क्षीरादिरसप्रदा एवं सोमरसप्रदातृत्वात् प्रावणां
पशुत्वम् । तथा च तद्भेदनेन पशुहानिर्युज्यते । तदैतत्प्रायश्चित्तं कर्त्त-
व्यम् । मरुतसम्बन्धिनो शुतानस्यैतत्संज्ञस्य ऋचः साम्ना । तत्साम च
(१) 'वृत्रस्य त्वा स्वसयात्' इत्यस्यामुत्पन्नम् । तेन साम्ना होतारः स्तु-
यीरन् ॥१३॥

प्रावणां भेदे साम्नः सम्बन्धो योग्य इत्याह—

मारुता वै प्रावाणः स्वेनैवैनापुंस्तद्रूपेण समर्द्धयति ॥१४॥

मारुता मरुद्देवत्याः अलु प्रावाणः 'मरुनो नशतोपास्रया' इति हि
प्रावणां योजनमन्त्रः । तस्मान्मारुतस्य साम्नः करणेनैतान् प्रावणः
स्वेनैव रूपेण समर्द्धयति समृद्धान् पूर्णावयवान् करोति ॥ १४ ॥

अथ सोमस्याऽभिदाहे प्रायश्चित्तं विधत्ते—

यदि सोममभिदहेद्ग्रहानध्वर्युः स्पाशयेत् स्तो-
त्राण्युद्गाता शस्त्राणि होताऽथ यथापूर्वं यज्ञेन चरेयुः प-
ञ्च दक्षिणा देवाः पाङ्क्तो यज्ञो यावान्यज्ञस्तमेवारभते-
ऽवभृथाद्भुदेत्य पुनर्दीक्षते तत्र तद्व्याघ्रहास्यं स्यात् पुरा
ढादश्या दीक्षेत यद्ब्रह्मादशमिति नपेदन्तर्दीपेत ॥ १५ ॥

यदि सदोहविर्जानादीनि प्रमादादग्निना दह्येन् तदा सोमादिकं
सर्वं यज्ञसम्भारमादाय तत्समीपे पुनरन्यद्देवयजनमध्यवसाय यज्ञ-
शेषोऽनुष्ठेयः । यदि सोममपि हविर्जानादिभिः सहाऽग्निरभिदहेत् तदा-
ध्वर्युर्म्रहानूर्द्धपाश्राणि वायव्यानि स्पाशयेत्, एतावदनुष्ठितमेतावन्नैति
कृताकृतविभागं जानीयात् । तथोद्गाता स्तोत्राणि होता च शस्त्राणि ।
अथाऽनन्तरमन्यद्देवयजनमध्यवसाय यथापूर्वं पूर्ववदन्यं सोममाहृत्या-
मिषुत्य पुनरवशिष्टेन यज्ञेन चरेयुर्यज्ञेयुः । क्रतुसंकरावसरे यावत्यो
दक्षिणादातव्यत्वेन संकल्पितास्तासां स्थाने पञ्चैव दक्षिणा गावो दे-

याः । यज्ञस्य पादूत्वं पूर्वमुक्तम् । तथा सति यावान् यत्परिमाणको यज्ञः
तत्परिमाणमेव यज्ञं पञ्चसंख्योपेतया दक्षिणया भारमते गृह्णाति । ततो-
ऽवभृथादनन्तरं उदेत्य उदयनीयाशुदधसान्नीयान्तं कृत्वा पुनस्तस्यैव
क्रतोरनुष्ठानाय दीक्षेत । यज्ञो हि यज्ञस्य प्रायश्चित्तिरिति श्रुतेः । यद्वाक्षि-
णाद्रव्यं पूर्वस्मिन् यज्ञे दास्यन् स्यात् तत्र तस्मिन् पुनः क्रियमाणे यज्ञे
तद्दद्यात् यज्ञप्राप्तेरूर्ध्वं या द्वादशी द्वादशसंख्यापूरणी रात्रिः तस्या द्वा-
दश्याः पुरा पुरस्ताद्दीक्षेत प्रायश्चित्तरूपस्य यज्ञान्तरस्य दीक्षा कार्या ।
यद्यदि द्वादशी रात्रिमतिनयेत् दीक्षया अतिकामयेत् द्वादशाह्ने दीक्षे-
तेत्यर्थः, तदा स यज्ञोऽन्तर्दीयेत अन्तर्हितोऽहोदयो भवेत् । पुनरनुष्ठाने-
न प्राप्तुं न शक्यते इत्यर्थः ॥ १५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे धेदार्यप्रकाशसहिते नवमाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

प्रवर्ग्येण चत्सु महावीरस्य भेदेने प्रायश्चित्तं विधत्ते—

यदि महावीरो भिद्येत तं भिन्नमभिमृशेत् (१) “य क्र-
ते चिदभिधिपः पुरा जन्तुभ्य आतृदः । सन्धाता सन्धि-
मधवा पुरुवसुर्निष्कर्त्ता विहुतं पुनः ॥ मा भेम निष्ठया ह्वे-
न्द्र त्वदरणा हव । वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोपा-
सो अमन्महि । अमन्महीदनाशवो नुग्राभश्च वृत्रहन् । सकृ-
त्सुते महता शूर राधसानुस्तोमं मदेमही”ति महावीरं
भिन्नमभिमृशेत् सैव तस्य प्रायश्चित्तिः ॥ १ ॥

यदि प्रवृज्जनसमये महावीरः श्रुत्येत्, प्रादेशमात्रे मृन्मयेयस्मिन् पा-
त्रे बहुलं घृतमानीय संतते तस्मिन्नाज्ये पयः आनीय प्रवृज्यते स
प्रवर्ग्यपात्रविशेषो महावीरः, स यदि भिद्येत भिन्नो भवेत् तदा तं भिन्नं
महावीरं ‘य क्रते चिदभिधिपः’ इति वृत्तेनाऽभिमृशेत् सैव तस्य भेदेने
प्रायश्चित्तिः । पुनर्महावीरमभिमृशेदिति वचनमुपसंहारार्थम् ।

क्वचामयमर्थः—अभिधिपः अभिष्ठिष्यति इदमवति अनेनेति
अभिष्ठिदमिन्नस्य सन्धायकं द्रव्यम् । रलयोरेकत्वस्मरणात् रेफः ।
सन्धायकात् अन्यस्मात् द्रव्यात् क्रते चित् क्रतेऽपि । (२) अन्याया-

दितरत्ते' इति पञ्चमी । भिन्नस्य सन्धायकं जनुप्रभृतिकं द्रव्यमन्तरेणा-
पि यः मघवा इन्द्रः सर्गिष सन्धातव्यं भिन्नं यस्तु सन्धाना स्वसाम-
र्थ्येनैव भिन्नस्य पुनरेकीकर्त्ता । कदा ? जनुष्य आतृदः पुरा । असमध्यदे-
हयोः सन्धयः जवृणि । अथ तत्सादृश्यात् महावीरस्योपरिमाणो लक्ष्य-
तो 'पृष्ठपथे चतुर्थी वक्तव्ये'ति चतुर्थी । जवृणां आतृदः आनर्दनाद्विसना-
ज्जेदनात् पुरा पूर्वमेवा 'उतृदिर्हिंसानादरयोः, इति धातोः (१) "सृपितृदोः
कसु" प्रिति कृत्यार्थे तृदः कसुन्प्रत्ययः (२) "क्तातोसुनकसुन" इत्यव्ययत्वात्
"अव्ययादाप्सुव" इति पञ्चम्या लुक् । मघवा इन्द्रः पुरुषसुर्वहुधनः विदुनं
विनष्टं पुनर्निष्कर्त्ता निःशेषेण कर्त्ता पुनरुत्पादयितेत्यर्थः । ह कौटिल्ये
(३) हु हरेश्छन्दसी'ति निष्ठायां हुभावः । हे इन्द्र अरणा इव रणन्तीति
रणाः स्तोतारः अस्तोतारो यथा त्वत्तो विभ्यति एवं यं निष्ठया हिं-
साया इव त्वत्तो मा मेम भीता मा भूम । अद्रिवः अद्रिणात्यनेनेत्यद्रिर्वज्रः
तद्वशिन्द्र प्रजहितानि प्रकर्षेण हातव्यानि वनान्यरण्यानि त्वत्प्रसा-
दात् दुरोपासः उपितुं दग्धुं याधितुमशक्याः सन्तोष्यं नाऽमन्महि न
जानीमः । तत्प्रसिद्धं त्वदीयं रक्षणं यमन्महीत् इच्छन्तोऽवधारणे ।
अज्ञासिष्य एव कथंभूताः ? आशवः व्यापनशीलाः । हे वृत्रहन् । अ-
नुग्रामः त्वया अनुगृह्यमाणाश्च अपि वा हे शूर ते तव सम्बन्धिना
महता प्रभूतेन हेतुना स्तोमं त्वदीयं स्तोत्रमनु पश्चात् सकृद्युगपत्
एकहेलयैव सुष्ठु मदेमहि हृष्यामः ॥ २ ॥

निष्ठातस्य यूपस्य यक्षमध्ये विरोहणकृतां हानिं दर्शयति—

असुर्यं वा एतस्माद्वर्णं कृत्वा तेज इन्द्रियं वीर्य-
मन्नाथं प्रजाः पशवोऽपक्रामन्ति यस्य यूपो विरोहति स
ईश्वरः पापीयान् भवितोः ॥ २ ॥

यस्य यजमानस्य यक्षमध्ये यूपो विरोहति अष्टाधित्वाद्युपात्तुनः
शास्त्रान्तरमुत्पद्यते एतस्माद्यजमानात् असुर्यं असुरस्य स्वभूतं माया-

१. पा. सू. ३. ४. १५. भावलक्षणेऽर्थे वर्तमानयोः सृपितृदोः धात्वोः तुमर्थे कसुन्
प्रत्ययस्त्वयदिति सूत्रार्थः ॥

२. पा. सू. १. १. ४०. नत्वाप्रत्ययान्तं तोसुनप्रत्ययान्तं, कसुन् प्रत्ययान्तं आ-
व्यय स्यादित्यर्थः ।

३. पा. सू. २. ४. ८२. ४. पा. सू. ७. २. ३१. ५. पा. सू. ३. ४. १३.

मयं घर्णं रूपं कृत्वा तेजआदीन्यपक्रामन्ति अपगच्छन्ति । तेजः शरीर-
कान्तिः, इन्द्रियं अक्षययोग्यं, वीर्यं बलकर्म, अन्नाद्यं प्रशस्तमन्नं, प्रजाः
पुत्रभृत्यादयः पशवो गवाद्याः एवमेतेषां अपक्रमणात् स यजमानः पा-
पीयान् मवितोः ईश्वरो निकृष्टो भवितुं समर्थः स्यात् । (१) 'ईश्वरे तो-
सुनृक्सुना' विधि मवतेस्तुमर्थं तोसुन् प्रत्ययः ॥ २ ॥

तत्र प्रायश्चित्तत्वेन पशुयागः कर्त्तव्य इत्याह—

त्वाष्ट्रं पशुं बहुरूपमालभेत त्वष्टा वै पशूनां रूपा-
णां विकर्त्ता तमेव तदुपधावति स एनं तेजसेन्द्रियेण
वीर्येणाऽन्नाद्येन प्रजया पशुभिः पुनस्समर्द्धयति सैव
तस्य प्रायश्चित्तिः ॥ ३ ॥

त्वाष्ट्रं त्वष्टृदेवस्य बहुरूपं नानारूपं पशुं छागं आलभेत संब्रूयेन्
बहुरूपेण पशुना त्वष्टारं यजेतेत्यर्थः । नानारूपस्य त्वष्टुश्च सम्बन्धयो-
ग्यतामाह—त्वष्टा खलु पशूनां गवादीनां यानि परस्परं विभिन्नानि रूपा-
णि तेषां विविधं कर्त्ता । तथा च तैत्तिरीयकम्—(२) यावच्छो वै रेतस-
'स्सिरस्य त्वष्टा रूपाणि विकरोति तावच्छो वै तत् प्रजायत' इति ।
तच्चेत बहुरूपेण पशुना तं त्वष्टारमेव उपधावन्पुपगच्छति । स च त्वष्टा-
ऽनेन पशुना शीतस्सन् एनं यजमानं तेजआदिभिः पुनः समर्द्धयति
समृद्धं करोति । तस्य यूपधरोदस्य सैव प्रायश्चित्तिः ॥ ३ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्द निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देवाद्विद्यातीर्थमहेदवरः ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे नवमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥१०॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवार्बुक्कम्पा-
लसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये साम
वेदार्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे

नवनोऽध्यायः ॥

अथ दशमोऽध्यायः ॥

प्रथमः खण्डः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं चन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥

अथ व्युदद्वादशाहं विधातुकामः तदीयदशरात्रगतान् त्रिवृदादि-
स्तोमान् क्रमेण प्रशंसिष्यन् प्रथमं त्रिवृतं स्तौति—

अग्निना पृथिव्यौपधिभिस्तेनाऽयं लोकस्त्रिवृद्वायुनाऽ-
न्तरिक्षेण वयोभिस्तेनैष लोकस्त्रिवृद्योऽयमन्तरादित्येन
दिवा नक्षत्रैस्तेनाऽसौ लोकस्त्रिवृदेतदेव त्रिवृत आयतन-
मेवाऽस्य बन्धुता ॥ १ ॥

अयं पुरोवर्ती लोकः अग्निना देवतया पृथिव्या औपधिभिस्तत्रोत्प-
न्नाभिस्तेनैतद्वितयेन त्रिवृत त्रिगुणः । तथाऽन्तरिक्षेण वायुना तदधिष्ठातृ-
देवतया वयोभिः पक्षिभिः तेनैतद्वितयेन योऽयमन्तरा वावापृथिव्यो-
र्मध्ये लोक एष भूषधिहितस्त्रिवृत त्रिगुणः । तथा दिवा तुलक्षणस्थाने-
नाऽऽदित्येन तदधिष्ठात्रा देवतया नक्षत्रैस्तत्रैरुद्भिस्तेनैतद्वितयेनाएवं
उपरि दृश्यमानो लोकः योऽयं अन्तरा स्वर्गश्च पृथिवी चान्तरिक्षलोक
इत्यर्थः । तथा सूर्येण दिवा स्वर्गेण नक्षत्रैश्चाऽसौ स्वर्गो लोकस्त्रिवृत्
त्रिगुणः । एवं त्रयाणां लोकानां प्रत्येकं त्रिवृत्त्वान्नघसंख्याको यः समुदायः
एतदेव त्रिवृतः ऋह्णघकात्मकस्य त्रिवृत्स्तोमस्य आयतनं स्थानम् । अपै-
वास्य त्रिवृतो बन्धुता बन्धुसमूहः । त्रिगुणास्त्रयो लोकास्त्रिवृतः परित-
नभूता इत्यर्थः । (१) 'ग्रामजनबन्धुम्यस्तल्' इति तल् प्रत्ययः ॥ १ ॥

एतद्वेदनमपि फलवदित्याह—

आयतनवान् बन्धुमान् भवति य एवं वेद ॥ २ ॥

एवमुक्तप्रकारेण यस्त्रिवृतं वेद सोऽपि आयतनवान् स्थानवान् ब-
न्धुमान् बान्धवैर्युक्तश्च भवति ॥ २ ॥

तस्यैव त्रिवृतो ब्रह्मवादिभिः कृतां प्रतिष्ठा रूपतां प्रदर्शयौपपादयति—

तमु प्रतिष्ठेत्पाहुस्त्रिवृद्ध्येवैषु लोकेषु प्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

तमु तमेव त्रिवृतं प्रतिष्ठा प्रतिष्ठात्मक इति ब्रह्मवादिनः आहुः । कु-
तो हतोः ? त्रिवृद्धोऽत्र त्रिवृत्स्तोम एव खलु एषु पूर्वमुक्तेषु भूरादिषु प्र-
त्येकं त्रिगुणलोकेषु प्रतिष्ठितः । तदायतनत्वप्रतिपादनात् तत्रैवाऽऽश्रि-
तो वर्त्तते । ततस्तस्य प्रतिष्ठात्यम् ॥ ३ ॥

अथ पञ्चदशस्तोमं पूर्ववत् प्रशंसति—

अर्द्धमास एव पञ्चदशस्याऽऽयतनमेवाऽऽस्य बन्धुता ॥ ४ ॥
मासस्यार्द्धमर्द्धमासः ॥ (३) 'अर्द्धश्रपुंसक'मित्येकदेशिसमासः । अर्द्धमा-
सेऽपि पञ्चदशसंख्या विधत्ते । अतः पञ्चदशस्य पञ्चदशस्तोमस्यार्द्धमास
एव आयतनं स्थानम् । एष एवाऽर्द्धमासः अस्य पञ्चदशमुपपादयतीति
बन्धुता बन्धुसमूहः । निर्दिश्यमानप्रति निर्दिश्यमानयोरेकतामापादय-
न्ति सर्वनामानि पर्यायेण तत्तल्लिङ्गतामुपाददत इति वचनादत्राऽपि
निर्दिश्यमानापेक्षया एवेति स्त्रीलिङ्गता ॥ ४ ॥

वेदनं प्रशंसति—

आयतनवान् बन्धुमान् भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

स्पष्टम् ॥ ५ ॥

अथाऽस्य पञ्चदशस्य ओजोबलरूपत्वमभिधायोपपादयति—

तं चैजो बलमित्याहुरर्द्धमासशो हि प्रजाः पशव ओ-
जो बलं पुष्यन्ति ॥ ६ ॥

तं पञ्चदशस्तोमं ओजोरूपं बलरूपं चेत्याहुः ब्रह्मवादिनः बलहेतुः
शरीरे वर्त्तमानो रसविशेषः, ओजो बलं प्रसिद्धम् । अर्द्धमासश अर्द्धमासेन
हि क्षीरादिरसोपजीवनसाहितेन प्रजाः मनुष्याः पशवश्च ओजो बलं
च पुष्यन्ति पोषयन्ति वर्द्धयन्ति । अतस्तदायतनोभयात्मकत्वमुपपन्नम् ॥ ६ ॥

अथ सप्तदशस्तोमं प्रशंसति—

संवत्सर एव सप्तदशस्याऽऽयतनं द्वादश मासाः पञ्च-
र्त्तव एतदेव सप्तदशस्याऽऽयतनमेवाऽस्य बन्धुता ॥ ७ ॥

सप्तदशस्तोमस्य संवत्सर एवाऽऽयतनम् । कथं तस्य सप्तदशसंख्यायो-
गः ? तदाह—द्वादश मासाश्चैत्राद्याः । हेमन्तशिशिरयोः समासेनैकत्वात्
पञ्चर्त्तवः । एवं सप्तदशावयवः संवत्सरः तस्मादेतदेव सप्तदशस्याऽऽय-
तनमित्युक्तस्योपसंहारः । गतमन्यत् ॥ ७ ॥

अथ पूर्ववद्देदनं प्रशंसति—

आयतनवान् बन्धुमान् भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

स्पष्टम् ॥ ८ ॥

अथाऽस्य सप्तदशस्य प्रजातिरूपत्वं विधायोपपादयति—

तमु प्रजातिरित्याहुः संवत्सरं हि प्रजाः पशवोऽनु-
प्रजायन्ते ॥ ९ ॥

तं सप्तदशस्तोमं प्रजातिः प्रजातिपत्यात्मक इत्याहुर्महर्षिवादिनः कुतः ?
हि यस्मात् संवत्सरमनु सम्वत्सरानन्तरमेव गर्भरूपाः प्रजाः पशवश्च
प्रजायन्ते उत्पद्यन्ते । अतः संवत्सरायतनसप्तदशस्य प्रजात्यात्मकत्वमु-
पपन्नम् ॥ ९ ॥

अथैकविंशस्तोमं प्रशंसति—

आदित्य एवैकविंशस्याऽऽयतनं द्वादश मासाः पञ्च-
वर्त्तस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश एतदेवैक-
विंशस्याऽऽयनमेपाऽस्य बन्धुता ॥ १० ॥

एकविंशस्य स्तोमस्य आदित्य एवाऽऽयतनं आश्रयः मासाद्यपेक्षया —
तस्यैकविंशत्वेन उभयोः सादृश्यात् । गतमन्यत् ॥ १० ॥

तद्देदनं प्रशंसति—

आयतनवान् बन्धुमान् भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ११ ॥

अथाऽस्य स्तोमस्य देवतत्पत्वं विधाय तद्देदनेन सह स्तौति—

तमु देवतत्प इत्याहुः प्र देवतत्पमाप्नोति य एवं वेद ॥ १२ ॥

स्पष्टम् ॥ १२ ॥

अथ त्रिणवस्तोमं प्रशंसति—

त्रिवृदेव त्रिणवस्याऽऽयतनमेपाऽस्य बन्धुता ॥ १३ ॥

त्रिवृत्स्तोम एव त्रिणवस्तोमस्याऽऽश्रयः यतोऽयं त्रिवृत् समु-
दायात्मकः । समुदायश्च समुदाय्याश्रय एवेति प्रसिद्धम् ॥ १३ ॥

अथैतद्देदनं प्रशंसति—

आयतनवान् बन्धुमान् भवति य एवं वेद ॥ १४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १४ ॥

तस्य च पुष्टिरूपत्वं विधाय प्रशंसति—

तमु पुष्टिरित्याहुस्त्रिवृद्येवैव पुष्टः ॥ १५ ॥

तं त्रिणवस्तोमं पुष्टिः अभिवृद्धिः तद्रूप इत्याहुर्ब्रह्मवादिनः । हि
यस्मादेव त्रिणवः पुष्टोऽभिवृद्धः त्रिवृदेव त्रिणवस्तोम एव त्रिरावृत्त्या
पुष्टस्त्रिणव इति व्यपदिश्यते । अतोऽस्य पुष्टिरूपता युक्ता ॥ १५ ॥

अथ त्रयस्त्रिंशस्तोमं प्रशंसति—

देवता एव त्रयस्त्रिंशस्याऽऽयतनं त्रयस्त्रिंशद्देव-
ताः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंश एतदेव त्रयस्त्रिंशस्याऽऽयत-
नमेवाऽस्य बन्धुता ॥ १६ ॥

त्रयस्त्रिंशस्य स्तोमस्य देवता आयतनं त्रयस्त्रिंशत्संख्याका हि देव-
ताः । अष्टौ वसवः, एकादश रुद्राः, द्वादशाऽऽदित्याः, इन्द्रश्चेति द्वात्रिं-
शत् । प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशत्संख्यापूरकः । एतदेव त एव देवाः त्रयस्त्रिंश-
स्याऽऽयतनमित्युक्तोपसंहारः । एतेवाऽस्य स्तोमस्य बन्धुता बन्धुसमूहः
त्रयस्त्रिंशद्देवा एवाऽस्य परिजनभूता इत्यर्थः ॥ १६ ॥

एतद्वेदनं फलवदित्याह—

आयतनवान् बन्धुमान् भवति य एवं वेद ॥ १७ ॥

स्पष्टम् ॥ १७ ॥

अथाऽस्य स्तोमस्य नाकरूपत्वमुपपादयति—

तमु नाक इत्याहुर्न हि प्रजापतिः कस्मै चनाऽकम् ॥ १८ ॥

तमु तमेव त्रयस्त्रिंशस्तोमं नाकः, कं सुखं अकं दुःखं नास्त्यस्मिन्
अकमिति नाकः, दुःखलेशेनाऽसंसृष्टः सुखात्मक इत्याहुः । न खलु
प्रजापतिः सर्वं सृष्ट्वा कस्मैचन कस्मैचिदपि पुरुषाय अकं दुःखदेतुर्भ-
वति । अतस्तदायतनोऽपि स्तोमः नाकात्मक इत्यर्थः । (१) 'गम्नाणनपान्नवे
दानास्त्या' इत्यादिना प्रकृतिभावस्य निपातनात् (२) 'नलोपो नञः'
इति नाक इत्यत्र नञो नकारस्य लोपो न भवति ॥ १८ ॥

अथ चतुर्विंशादयः स्तोमा छन्दोमास्तान् प्रशंसति—

छन्दांस्येव छन्दोमानामायतनमेवैषां बन्धुता ॥ १९ ॥

छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिर्मौयमानाश्चतुर्विंशादयः स्तोमाश्छन्दोमाः ।
तेषां छन्दांस्येव गायत्र्यादीन्येवाऽऽयतनमात्रं चतुर्विंशस्य चतुर्विंश-
दक्षरात्मिका त्रिष्टुबायतनम् । अष्टाचत्वारिंशस्य तृतीयस्य छन्दोमस्या-
ष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती आयतनम् । एषां छन्दोमानामेषा बन्धुता
एषां गायत्र्यादय एव बन्धुसमूहः ॥ १९ ॥

एतद्वदने प्रशंसति—

आपतनवान् चन्धुसान् भवति य एवं वेद ॥ २० ॥

स्पष्टम् ॥ २० ॥

अथ तेषां छन्दोमानां पुष्टिरूपत्वं विधाय प्रशंसति—

तानु पुष्टिरित्पाहुः पशवो हि छन्दोमाः ॥ २१ ॥

तानि तांश्चतुर्विंशदीन् पुष्टिः पुष्ट्यात्मका इत्याहुः । हि यस्मात् पशवश्छन्दोमाः पशुसाधनमूताः । पशवश्च सोऽदिप्रदानेन पुष्टिदेतव इति युक्तं छन्दोमानां पुष्टिरूपत्वम् ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे वेदार्थप्रकाशसहिते

दशमाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ द्वादशाहं विधायसुस्तत्प्रकृतिमूतस्याऽग्निष्टोमस्य ज्योतिष्टो-
मत्वं निर्वक्तुमुपक्रमते—

प्रजापतिः प्रजा असृजत सोऽताम्यत्तस्मै वाग्ज्यो-
तिरुदगृह्णात्सोऽब्रवीत्को मेऽयं ज्योतिरुदग्रहीदिति स्वैष
ते वागित्यब्रवीत्तामब्रवीद्विराजं त्वा च्छन्दसां ज्यो-
तिष्कृत्वा यजान्ता इति ॥ १ ॥

पुरा प्रजापतिः सर्वकारणमूतः स्रष्टा स्रष्टव्याः प्रजाः प्रजोपलीक्षन्
सर्वं जगद् असृजत सृष्टवान् । स्रष्टा च सः प्रजापतिरताम्यत् अथा-
म्यत् व्यापारमाहृष्टात् । एवं आन्तस्य तस्मै, पृष्ठपथ्यं चतुर्थ्यो, तस्य
प्रजापतेज्योतिस्तेजः वाग्देवता उदगृह्णात् उत्कृष्टा गृहीतवती । स
प्रजापतिरब्रवीत्—मे मदीयं ज्योतिस्तेजः कोऽयमुदग्रहीदिति । ततो
वाक् प्रजापतिमब्रवीत् । किमिति ? तदुच्यते—हे प्रजापते ते तव स्वैव
स्वमूतैव वागहं त्वदीयं ज्योतिरुदग्रहीयमिति । ततश्च वाचं प्रजाप-
तिरब्रवीत्—हे वाक्ज्योतिः ! मदीयेन ज्योतिषा मुकां त्वा त्वां छन्दसां
गायत्र्यादीनां मध्ये विराजं विराडात्मकं छन्दः कृत्वा यजान्ते यजे-
रन् यजान्ता इति यजेर्लोटि (१) 'लोटोऽडाट' विष्वाद्यागमः (२) 'वैतो-
ऽयत्र इत्यैत्वम् ॥ १ ॥

इत्थं विराजो ज्योतिरात्मकत्वमुक्तम् । अथाऽग्निष्टोमस्य ज्योतिः
ष्टोमत्वं निर्वेकि—

तस्माद्यो विराजं स्तोमं सम्पद्यते तं ज्योतिष्टो-
मोऽग्निष्टोम इत्याचक्षते विराड्छन्दसां ज्योतिः ॥२॥

यस्मादुक्तप्रकारेण विराड् ज्योतिरात्मिका तस्मात् यस्तोमः, अत्र
स्तोमशब्देन स्तोमवान् याग उच्यते, यः सोमयागो विराजं सम्पद्यते ।
यत्र संस्तुतानां सर्वासां स्तोत्रीयाणां दशसंख्याविभागे अन्ततो
दशसंख्यैव परिसमाप्यते नावशिष्यते स यागः विराजं सम्पद्यते ।
दशाक्षरा विराडिति श्रुतेर्दशसंख्यैव विराट् तस्या अत्र सङ्गावात् तं
स्तोमं स्तोमवन्तं सोमयाग ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोम इत्याचक्षते ज्योतीरू-
पविराट्सम्पत्तेः ज्योतिष्टोमः, अन्तिमे स्तोत्रे 'यज्ञायज्ञा वो अग्नय' इत्य-
स्यामृचि गीयमानस्याऽग्निष्टोमस्य सङ्गावादग्निष्टोम इत्युभयया अभिज्ञा
ब्रह्मवादिनः कथयन्ति । अस्य चाऽग्निष्टोमस्य संस्तुतस्य विराट्सम्प-
त्तिः षोडशेऽध्याये 'तस्य नवतिशतं स्तोत्रीया' इत्यत्राऽस्माभिः प्रद-
र्शिता । पूर्वमाख्यायिकया याद्विराजो ज्योतीरूपत्वमुक्तं तदेव विम्रियते-
छन्दसां गायत्र्यादीनां मध्ये विराट्छन्दो हि ज्योतिः ज्योतिरात्मि-
केति ॥ २ ॥

एतद्वाङ्मन्यार्थं ज्ञानतोऽपि ज्योतिर्मवतीत्याह—

ज्योतिः समानानां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

समानानां सदृशानां ज्ञातीनां मध्ये एवंवेदिता ज्योतिः ज्योति-
ष्मान् तेजस्वी भवति । इत्थं विराट्सम्पत्त्या ज्योतिष्टोमत्वं प्राप्तो योऽ-
ग्निष्टोमः षष्ठाद्यध्यायैर्विस्तरेण विहितः स इह द्वादशाहे प्रकृतितयाऽ-
स्माभिरीरितः ॥ ३ ॥

अथ द्वादशाहमध्ये यो दशरात्रः तत्साधनभूतानां त्रिवृदादिस्तो-
मानां गायत्र्यादिछन्दसाञ्च सृष्टिमाह—

अनुष्टुप् च वै सप्तदशश्च समभवतां साऽनुष्टुप् चतु-
रुत्तराणि छन्दांस्यसृजत षडुत्तरान् स्तोमान् सप्तदश-
स्तावेतान्मध्यतः प्राजनयताम् ॥ ४ ॥

गायत्र्यादीनां मध्ये येयमनुष्टुप् सा (१) 'वाग्वा अनुष्टुषि'ति श्रुतेः
वाग्नृपत्वात् उत्पत्तिं नोपसृते सप्तदशस्य स्तोमस्य प्रजापतिः (२) प्रजा-

पतिर्वै सप्तदश' इति श्रुतेः । अतस्तस्याऽप्युत्पत्त्यपेक्षा नाऽस्ति । वाष्पा
अनुष्टुप् च प्रजापत्यात्मकः सप्तदशश्च स्त्रीपुंसौ समभवताम् । मिथुनीभूत-
योस्तयोर्मध्ये साऽनुष्टुप् समानाकृतौनि चतुरसराणि उत्तरोत्तरं चतुः
संख्यातिरिक्तानि छन्दसां गायत्र्यादीन्यसृजत सृष्टवती । सप्तदशस्तो-
मस्तु स्वसमानजातीयान् पञ्चसरान् उत्तरोत्तरं पदसंख्ययाऽधिकान् स्तो-
मान् त्रिवृदादीन्यसृजत । छन्दसां मध्ये गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरा । ततश्च-
तुराधिक्येनोष्णिगष्टाचत्वारिंशदक्षरा भवति । पुनश्चतुराधिक्ये सति
द्वाविंशदक्षराऽनुष्टुप् सम्पद्यते । ततोऽक्षरचतुष्टयेन पदत्रिंशदक्षरा
पृथगीत्यादि चतुरस्ररत्वं छन्दसां द्रष्टव्यम् । स्तोमेष्वपि त्रिवृत्स्तोमो
नवस्तोत्रीयात्मकः । ततः पञ्चभिः स्तोत्रीयाभिराधिक्ये पञ्चदशस्तोमो
निष्पद्यते । पुनः पञ्चाधिक्ये एकविंशस्तोम इत्यादि पञ्चस्ररत्वं स्तोमा-
नामप्यूहनीयम् । तावदनुष्टुप्सप्तदशावेतान् पृथ्वीकान् विराजं मथ्यतः
उष्णिगनुष्टुमोर्मध्यं प्राजनयतां उत्पादितवन्तौ । त्रिंशदक्षरा हि विराट्
द्वाभ्यामक्षराभ्यामधिका उष्णिगेव विराट् भवति । तथा चोक्तं-द्वाभ्यां
विराट् स्वराजाविति ॥ ४ ॥

अथ सृष्टानां स्तोमानां मध्ये स्तोमद्वयस्याहविंशेषसम्बन्धं प्र-
दर्शयन् तयोर्द्वोरहरन्तरात् पूर्वप्रयोज्यत्वमाह—

त्रिवृच्च त्रिणवश्च राधन्तरौ तावजश्चाऽश्वश्चान्वमृ-
ज्येतां तस्मात्तौ राधन्तरं प्राचीनं प्रधूनुतः ॥ ५ ॥

त्रिवृच्च त्रिणवश्चेत्येतौ द्वौ स्तोमौ राधन्तरौ राधन्तरेऽहनि प्रयोज्यौ ।
पृष्ठपदद्वे प्रथमतृतीयपञ्चमानि त्रीण्यहानिराधन्तराणि । अन्यानि त्री-
णि बार्हतानि । तदुक्तं सूत्रकृताऽश्वलायनेन (१)'अभिप्लवपृष्ठयाहानि ।
रथन्तरपृष्ठान्ययुजानिवृहत्पृष्ठानीतराणी'ति । अतः एतौ स्तोमौ तृ-
तीयस्याऽहः सप्तदशस्याऽवरुद्धत्वात् प्रथमपञ्चमयोरहोः प्रयोज्यत्वा-
द्वाधन्तरौ तौ स्तोमावनु पश्चात् तयोः सृष्टपतन्तरं अजश्चादशश्चेत्येतौ
पञ्च असृज्येतां सृष्टावमृताम् । तस्मात्पश्चात् सृष्टत्वात् तावजाभ्यां
राधन्तरमहः प्राचीनं प्राक्तनं बार्हता द्वितीयादेरहः पूर्वं प्रयोज्यं प्रधूनुतः
प्रक्षिपतः स्थापयत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

अथाऽन्ययोः स्तोमयोरहविंशेषसम्बन्धं दर्शयन् तस्याऽहविंशेष-
स्य पश्चाद्भाविनोऽपि दीप्तिर्भवतीत्याह—

पञ्चदशश्चैकविंशश्च बार्हता तौ गौश्चाऽविश्वान्वसृ-

ज्येतां तस्मात्तौ बार्हतं प्राचीनं भास्कुरुतः ॥ ६ ॥

पञ्चदशैकविंशश्चेति द्वौ स्तोमौ बार्हतौ बार्हतेऽहनि प्रयोज्यौ तावनु पश्चात् गौश्चाऽविश्वेत्येतौ पशु असृज्येतां सृष्टावभूताम् । तस्माद्बार्हतयोः पञ्चदशैकविंशयोरनन्तरं सृष्टत्वात्तौ पशू बार्हतं द्वितीयचतुर्थादिकमहः प्राचीनं प्राक्तनं, अङ्गुगतिपूजनयोः, यथा पूजितं भवति तथा भास्कुरुतः मासा दीप्त्या युक्तं कुरुतः ॥ ६ ॥

एवं वाग्रूपानुष्ठुमः सकाशात् प्रजापतेः आत्मनः सप्तदशाश्लोका सृष्टिं जानतः फलमाह—

एवं वै विद्वांसमाहुरपि ग्राम्याणां पशूनां वाच आजानाति ॥ ७ ॥

एवमुक्तां सृष्टिं विद्वांसं जानन्तं पुरुषं आहुर्ब्रह्मवादिनः, किमिति ग्राम्याणां ग्रामे भवानां गवादीनां पशूनामपि च वाचः अथ्यकानि वाक्यानि आजानाति अभिजानातीति । एवं विद्वान् पुरुषः मनुष्यवाक्यस्येव पशूनां वाक्यस्याऽपि आकारणादिकमर्थं जानातीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे दशमाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥ २ ॥

अथ तृतीयः खण्डः ॥

अथ द्वादशाहमृद्धिफलकं विधित्सुराह—

प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स आत्मन्मृत्त्वयमपश्यत्तत ऋत्विजोऽसृजत यदृत्त्वयादसृजत तदृत्विजामृत्त्विकत्वं तैरेतं द्वादशाहमुपासीदत्सोऽराध्नोत् ॥

अस्य जगतः सृष्टेः प्रागवस्थायां प्रजापतिः सर्वस्य स्रष्टा अकामयत चेच्छत् । किमिति ? बहु स्यां नानाविधकार्यात्मना अहं बहुर्मवेयम्, तदर्थं प्रजायेय प्रजारूपेणोत्पद्येयेति । एवं कामयमानः स प्रजापतिः आत्मन् आत्मनि स्वस्मिन् ऋत्वं ऋतौ ऋतुकाले मवं गर्भस्य कारणं बीजमपश्यत् दृष्टवान् । ततस्तस्मात् आत्मन ऋत्वात् प्रजापतिर्ऋत्विजोऽसृजत यद्यस्मात् ऋत्वात् सृष्टवान् तस्मात् ऋत्विजां याजकानां ऋत्विक्त्वं ऋत्विगिति नाम सम्पन्नम् । एवमृत्विजः सृष्ट्वा तैः सृष्टेः एतं द्वादशाहं, अत्राहःशब्देन सवनत्रयात्मकः सोमयागः उक्तः, तमेतं द्वादशाहसंज्ञं सोमयागं उपासीदत् उपागच्छत् अन्वतिष्ठदित्यर्थः । तदनु-

प्राप्तेन स प्रजापतिरराध्नोत् प्रजादिभिः समृद्धोऽभवत् । राधसाधसं-
सिद्धाविति धातुः ॥ १ ॥

एवं द्वादशाहः समृद्धिहेतुरित्युक्तम् । अथ तस्मिन् द्वादशाहे वा
द्वादश दीक्षा साऽपि समृद्धिहेतुः । किमु वक्तव्यं द्वादशाहस्य समृद्धि-
हेतुत्वं इत्यभिप्रायेणाऽऽह—

पिता नोऽरात्सीदिति मासा उपासीद्विंशते दीक्ष-
यैवाऽराध्नुवन्तुपसत्सु त्रयोदशमदीक्षयन् सोऽनुव्यमभ-
वत् तस्मादुपसत्सु द्विदीक्षाणोऽनुव्यं भवत्येव च हि
त्रयोदशं मासं चक्षते नैव च ॥ २ ॥

सद्यस्सरात्मकः प्रजापतिः नोऽस्माकं पिता अरात्सीत् अनेन द्वाद-
शाहेन समृद्धोऽभूदिति बुध्वा मासाश्चत्राद्या मासदेवता अपि एनं
द्वादशाहमुपासीदन् अनुष्ठानमुपागच्छन् ते दीक्षयैव द्वादशदिवसनि-
ष्पाद्येन दीक्षासंस्कारेणैव अराध्नुवन् समृद्धा अभवन् । द्वादशभिर्दीक्षा-
दिवसैरेव समृद्धास्ते मासा उपसत्सु, द्वादशाहस्य द्वादश दीक्षाः, द्वाद-
शोपमदो द्वादश प्रसुत, इति स्थितिः । येषु दिवसेषु सायंप्रातः
कालयोः प्रथमोपसदोरनुष्ठानं ते दिवसा उपसद् इत्युच्यन्ते । तेषु
सदिवसेषु त्रयोदशसंख्यापूरकं संसर्पाहस्पत्यार्यं मासं अदीक्षयन् ।
समृद्धा मासाः तत्रपि दीक्षया समस्कुर्वन् । स त्रयोदशो मासः अनुव्यं
अनुपूर्वात् वेतेर्गतिकर्मणः सम्प्रदादिलक्षणो भावे क्तिप् । ततो द्वितीयै-
कवचने(१)एरनेकाच' इति यण् । अनुव्यमनुगमनं प्रति अभवत् अजा-
यत द्वादशानां मासानामनुगन्ता त्रयोदशो मासो जात इत्यर्थः ।
यस्मात्ते पूर्वदीक्षया समृद्धाः अतः पश्चाद्भाविनो मासस्य त्रयोदशस्य
युक्तमनुगन्तव्यम् । यस्मादेवं तस्मादुपसत्सु द्विदीक्षाणो दीक्षां कृतवान्
पुरुषोऽनुव्यं भवति अनुगमनं प्रति नमर्थो भवति । सर्वेषां पूर्वदीक्षि-
णामनुयायी भवतीति । तस्मादुपसत्सु त्रयोदशेन न दीक्षितव्यम् । त-
था चाध्वर्युसूत्रम्(२)एको द्वादशाहेन यजेत त्रयस्यद् द्वादश त्रयोदश
वा । तेषामुपसत्सु त्रयोदशं दीक्षयन्ति । तस्मात् द्वादशाहे त्रयोदशेन न
ब्रह्मणा मधितव्यमित्येक' इति । अत एव मासान्तरयत् प्राधान्याभा-
वात् कदाचिदेव त्रयोदशं मासं नैव चक्षते क्वचिदेव संवत्सरेऽस्तीति
कथयन्ति, न चैनं सर्वस्मिन् संवत्सरे । एवमुक्तेन प्रकारेण द्वादशाहेन

समृद्धिकामो यजेतेति विधिरुन्नेतव्यः ॥ २ ॥

अथ विहिते तस्मिन्नधिकारिविशेषानाह—

एको दीक्षेतैको हि प्रजापतिरराधोद्द्वादश दीक्षेरन्
द्वादश हि मासा अराध्नुवन् चतुर्विंशतिर्दीक्षेरन् चतु-
र्विंशतिर्ह्यर्द्धमासा अराध्नुवन् ॥ ३ ॥

तस्मिन् द्वादशाहे एक एव दीक्षेत एकेनैव यजमानेन द्वादशाहो-
ऽनुष्ठेयः । हि यस्मात् प्रजापतिः एक एव यजमानः सन् अराध्नुत्,
तस्मादयमेकयजमानकर्तृको द्वादशाहः । द्वादश यजमानाः सहस्य
द्वादशाहमनुष्ठाय समृद्धा अभूवन्निति हि पूर्वमुक्तम् । अनः संहना
नामपि द्वादशानामद्याऽप्यनुष्ठानं गम्यते । अथ वा चतुर्विंशतिसंख्या-
का यजमानाः द्वादशाहाय दीक्षेरन् चतुर्विंशतिसंख्याका ह्यर्द्धमासा
सकृदनुष्ठानेन पूर्वमराध्नुवन्, एकैकस्मिन् मासे द्वौ द्वावर्द्धमासाविति
मासानां समृद्धिरेव । तदवयवानामर्द्धमासानामपि सैव समृद्धिरित्य-
भिप्रायेणैवं स्तुतिः ॥ ३ ॥

इतोऽधिकस्य दीक्षिणं प्रतिषेधति—

यदि पञ्चविंशो दीक्षेतेमे पञ्चमे पञ्चमे पञ्चमे पञ्चमे
चत्वारोऽसावेक इति निर्दिशेयुर्घस्मा अराद्धिकामाः
स्युस्तमेवाऽराद्धिरन्वेति सर्व इतरे राध्नुवन्ति ॥ ४ ॥

यदि चतुर्विंशतेरधिकः पञ्चविंशः पञ्चविंशतिसंख्यापूरकोऽन्यः
पुरुषो दीक्षेत तदा पञ्चशः पञ्चशः विंशतिसंख्याकान् यजमानान् चतुर्द्वौ
पृथक् कुर्यात् । अवशिष्टानां पञ्चानां मध्ये इमे चत्वार इति चत्वारः
पृथक् कर्त्तव्याः । अथ यस्मै यजमानाय अराद्धिकामाः असमृद्धिका-
माः स्युः—असमृद्धिरस्मै भूयादिति कामयेन्, तं असौ देवदत्त
एकोऽस्मद्यो बहिर्भूत इति निर्दिशेयुः विमजेयुः । तमेव यजमानं
अराद्धिरसमृद्धिरन्वेति अनुगच्छति । इतरे सर्वे यजमाना राध्नुवन्ति
संसिद्ध्यन्ति । तस्मात् पञ्चविंशो न दीक्षितव्य इत्यर्थः । यदि बहवो
मिलित्वा द्वादशाहेन यजेरन्, तत्रैको गृहपतिः इतरे सहदीक्षणो
यजमानाः । यजमानकर्मणां मध्ये यानि केवलं क्रत्वर्थानि यूपार्जनश्रुत-
याज्यादीनि तानि गृहपतिरेव कुर्यात्, नेतरे । यानि पुरुषार्थानि
ऋतुफलभोग्यत्वयोग्यतासम्पादकानि च दीक्षासंस्कारादीनि तानि

सर्वे कुयुः । तथा च भगवानापस्तम्बः(१)सर्वे याजमाने स्थानितः । सर्वे याजमान कुयुः । गृहपतिरेव परार्थानि यथा यूपाञ्जनमृतुपाज्यामिति । गृहपतिरेव सामिधेनीकल्पेनाऽश्वदानकल्पेनेति प्रक्रमेयुर्गानि चान्यान्येवंरूपाणि स्युः”इति ॥ ४ ॥

एवं सति स्वस्य गृहपतित्वं सहदीक्षिणोऽन्यांश्च यजमानान् यः कामयेत तस्य तत्प्राप्त्युपायं दर्शयति—

यो वै देवानां गृहपतिं वेदाऽश्नुते गार्हपतं प्र गार्हपतमाप्नोति ॥ ५ ॥

यो वै देवानां गृहपतिं सहदीक्षिणश्च वेद जानाति स गार्हपतं गृहपतित्वं सह दीक्षिणश्चाऽश्नुते । एतस्यैव विवरणं गार्हपतमाप्नोतीति ॥ ५ ॥

कोऽसौ देवानां गृहपतिः ? के वा सह दीक्षिणः ? इत्युभयं दर्शयति—

संवत्सरो वै देवानां गृहपतिः स एव प्रजापतिस्तस्य मासा एव मह दीक्षिणः ॥ ६ ॥

संवत्सरः खलु देवानां मध्ये गृहपतिः कालात्मकस्य तस्य कथं गृहपतित्वमित्याशङ्क्योच्यते—स एव संवत्सरः प्रजापतिः प्रजापतिरेव संवत्सरात्मना वर्त्तमानो गृहपतिर्जात इत्यर्थः । तस्य संवत्सरात्मनः प्रजापतेः मासा एव सह दीक्षिणः सह दीक्षमाणा मन्ये यजमाना ब्रमवन् ॥ ६ ॥

एतदेवोपसंहरति—

विन्दते सह दीक्षिणोऽश्नुते गार्हपतं प्र गार्हपतमाप्नोति य एवं वेद ॥ ७ ॥

एवमुक्तमर्थं यो वेद जानाति स वेदिता सहदीक्षिणः सह दीक्षमाणानन्यान् यजमानान् विन्दते लभते स्वयं च गार्हपतं गृहपतित्वमश्नुते ॥ ७ ॥

अथ द्वादशाहं गृहत्यागमना तुष्टुवानस्तस्य प्रथमं स्वराज्यप्राप्तिहेतुतामाह—

यो वै छन्दसां स्वराजं वेदाऽश्नुते स्वाराज्यं प्र स्वाराज्यमाप्नोति बृहती चाव छन्दसां स्वराजंश्नुते स्वाराज्यं प्र स्वाराज्यमाप्नोति य एवं वेद ॥ ८ ॥

यो वै यः छन्दसां गायत्र्यादीनां मध्ये स्वराजं स्वयमेव राजमा-
नां दीप्यमानां वेद स स्वाराज्यं स्वायत्तदीप्तिमत्तामश्नुते । तस्यैव
विवरणम्—प्र स्वाराज्यमाप्नोतीति । का सौ छन्दसां स्वराहुच्यते ? बृहती
सल्लु छन्दसां मध्ये स्वराद् स्वयमेव राजमाना यन्वित्यहरन्यानि छन्दां
सि वर्षीयांसि कस्माद्बृहत्युच्यते इत्यादिना बृहत्याः सर्वलोकव्यापकत्व-
स्य चाऽन्येषां छन्दसां बृहत्स्यन्तर्भावस्य चोक्तत्वादिति । स्पष्टमन्यत् ॥८॥

अथ स्वाराज्यप्राप्तिहेतुभूतं बृहत्यात्मना द्वादशाहं प्रशंसति—

तां वा एतामन्नाद्याय व्यावृज्याऽऽसते यदेतं द्वाद-
शाहं द्वादश दीक्षा द्वादशोपसदो द्वादश प्रसृतः पद-
त्रिंशदेता रात्रयो भवन्ति पदत्रिंशदक्षरा बृहती ॥ ९ ॥

तां पूर्वोक्तां स्वराङ् रूपामेवेतां बृहतीमन्नाद्याय अन्नाद्यफलाय व्या-
वृज्य विभज्य आसते अनुतिष्ठन्ति यत् ये यजमाना एतं द्वादशाहमासं-
ते । कथं बृहत्या विभाग इति ? उच्यते—अथ द्वादशाहस्य द्वादश रात्रयो
दीक्षाः दीक्षया पयोव्रतादिनियमात्मिकया युक्ता भवन्ति । ततो द्वा-
दश रात्रयः उपसदः । ततो द्वादश प्रसृतः सुत्वाः । एवं पदत्रिंशत्स-
ङ्ख्याका एता रात्रयो दिवसाः भवन्ति । बृहती च पदत्रिंशदक्षरा ।
ततो बृहतीमेवैवं त्रेधा विभज्य द्वादशाहं कुर्वाणाः अन्नाद्याऽनुति-
ष्ठन्तीत्यन्वयः । अतः स्वराडात्मिकया बृहत्या संस्तुतत्वात् द्वादशा-
होऽपि स्वाराज्यहेतुरित्युक्तो भवति ॥ ९ ॥

अथोक्तं दीक्षादिकमवयुत्य प्रशंसति—

जायते वाच दीक्षया पुनीत उपसद्भिर्देवलोकमेव
सुत्ययाऽप्येति ॥ १० ॥

“ब्राह्मणो वा एष जायते यो दीक्षत” इति श्रुत्यन्तरात् द्वादश-
दिवसानुष्ठितया दीक्षया पुनर्यजमानो जायते । ततः कृताभिरुप-
सद्भिः पुनीते शुष्यति । ततः शुद्धः सन् सुत्यया द्वादशदिवसकृतया
तत्साध्येन सोमपागेन देवलोकं देवानां लोकं स्वर्गादिकं अप्येत्यपि ग-
च्छति । अनेन देवलोकप्राप्तिरपि द्वादशाहस्य फलमित्युक्तं भवति ॥१०॥

अथाऽनेन संवत्सरसम्बन्धीन्द्रियवीर्यप्राप्तिरपि भवतीत्याह—

एतावद्वाच संवत्सर इन्द्रियं वीर्यं यदेता रात्रयो
द्वादश पौर्णमास्यो द्वादशैकाष्टका द्वादशाऽमावास्या
यावदेव संवत्सर इन्द्रियं वीर्यं तदेतेनाऽऽप्त्वाऽवरुन्धे
द्वादशाहेन ॥ ११ ॥

यदेता वक्ष्यमाणाः या रात्रयः एतावदेव संवत्सरे वर्त्तमानं चलं
वीर्यं बलसाध्यं धीरकर्म च संवत्सरस्य सात्भूता रात्रयः इत्यर्थः ।
कः पुनरेताः ? (१) द्वादश पौर्णमास्यः द्वादशमासात्मके संवत्सरे द्वाद-
शसंख्याकाः पौर्णमास्यो भवन्ति । एकाष्टकाश्च द्वादश भवन्ति । य-
द्यपि माघकृष्णाष्टम्येवैका । तथा चाऽध्वर्युसूत्रम्-(१) या माघ्याः पूर्ण-
मास्याः उपरिष्ठाष्टाष्टका तस्यामष्टमी उपेष्टया सम्पद्यते तामेकाष्टकेत्या-
चक्षत" इति, तथापि तत्सामान्यात् वैशादिमासगताः सर्वा एव
कृष्णाष्टम्योऽत्रैकाष्टकाशब्देनोच्यन्ते । तथाऽभावास्याश्च द्वादश भव-
न्ति । एवं संवत्सरे यावदेव पट्त्रिंशद्विषसात्मकमिन्द्रियं तत्सर्व-
मेतेन द्वादशाहेन पट्त्रिंशद्विषससाध्येन आप्त्वा प्राप्याऽवहन्धे स्वा-
त्मनि निदधति ॥ ११ ॥

अथ द्वादशाहस्य विराट्सम्पत्तिमाह—

त्रिंशदक्षरा वा एषा विराट् पट्टतव ऋतुष्वेव वि-
राजा भवति तिष्ठत्युत्तुमिविराजि ॥ १२ ॥

द्वादशाहस्य हि दीक्षोपसाम्पत्त्या मिलित्वा पट्त्रिंशदक्षराणि
भवन्ति । तत्र यानि त्रिंशत् सा विराट्(२) "त्रिंशदक्षरा विराट्" इति
श्रुतेः । यान्यवशिष्टानि पट् ते पट्टतवः । स्पष्टमन्यत् ॥ १२ ॥

पुनः पट्त्रिंशत्सङ्ग्रामधगुप्त्य स्तौति—

द्वात्रिंशदक्षरा वा एषाऽनुष्टुब्बागनुष्टुप् चतुष्पा-
दः पशवो वाचा पशुन्दाधार तस्माद्वाचा सिद्धा वाचा-
हृता आयन्ति तस्माद्गु नाम जानते ॥ १३ ॥

अथ द्वादशाहस्य यान्यादितो द्वात्रिंशदक्षराणि एषा द्वात्रिंशदक्षरा-
नुष्टुब्धेव । यान्यवशिष्टानि तानि चत्वारि तानि चतुष्पादः पशवः ।
अनुष्टुप् च वाग्रूपा । तथा पूर्वप्रयुक्तया वाचा चतुष्पादः पशून् दा-
धाराऽऽत्मनि धारयति । यस्मादेवं तस्मादेव कारणात् पशवो वाचा
सिद्धा वाग्व्यवहारे लब्धाः वाचा नामधेयात्मकेन शब्देन बाहृताः आ-
कारिताश्च सन्तः पशवः आयन्ति आगच्छन्ति । यस्मादेव पशून् वा-
चा दाधार तस्मादेव कारणात् पशवः स्वं स्वं नाम जानते अवग-
च्छन्ति ॥ १३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे वेदार्थप्रकाशसहिते दशमाध्यायस्य तृतीयः खण्डः

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

एवं द्वादशाहं विधाय समुदायेन बहुशः स्तुतिः कृता । अथ तस्य आद्यन्तयोर्यावतिरात्रौ तौ स्तुतिमुखेन विधत्ते—

भूतं पूर्वोऽतिरात्रो भविष्यदुत्तरः पृथिवी पूर्वो-
ऽतिरात्रो द्यौरुत्तरोऽग्निः पूर्वोऽतिरात्र आदित्य उत्तरः
प्राणः पूर्वोऽतिरात्र उदान उत्तरः ॥ १ ॥

भूतं इतः पूर्वं सृष्टेरूर्ध्वं उत्पन्नं यावत्पदार्थजातमस्ति स एव पूर्वः
द्वादशाहस्य प्रथमोऽतिरात्रः । भविष्यदितः परमुत्पत्तस्यमानं यावदास्ति
विकारजातं स एवोत्तरः द्वादशाहस्याऽन्त्योऽतिरात्रः । तथा पृथिव्य-
ग्निप्राणानां प्राथम्यात् प्रथमोऽतिरात्रस्तत्स्थानीयः । द्यौरादित्य
उदान इत्येतेषां स्वपूर्वापेक्ष्योत्तरत्वात् चरमातिरात्रस्य तदात्मक-
त्वम् । अत एवविधावतिरात्रौ आद्यन्तयोः कर्त्तव्याविति विधिरुन्नीतो
भवति ॥ १ ॥

अथ प्रथमादतिरात्रादूर्द्ध्वमुत्तमान्त्यपूर्वं अग्निष्टोमसंस्थे द्वे अहनी
कार्ये इति विधित्सुराह—

चक्षुषी अतिरात्रौ कनीनिके अग्निष्टोमौ यस्माद-
न्तरा अग्निष्टोमावतिरात्राभ्यां तस्मादन्तरे सत्यौ कनी-
निके भुङ्क्तः ॥ २ ॥

यावेतौ पूर्वोक्तावतिरात्रौ तौ चक्षुषी यज्ञस्य चक्षुषो गोलकस्था-
नीयौ । उभयोः समीपेऽनुष्ठीयमानौ यावत्तुष्टोमौ ते कनीनिके नेत्रमध्ये
वर्त्तमानकृष्णमण्डलस्थानीयौ । एवं सति यस्मादतिरात्राभ्यां अन्तरा
मध्ये अग्निष्टोमावनुष्ठेयौ तस्मादन्तरे चक्षुर्मण्डलस्य अन्तरा मध्ये
सत्यौ वर्त्तमाने कनीनिके भुङ्क्तः पुरुषं पालयतः । भुजपालनाभ्यवहा-
रयोः । (१) 'भुजोऽनवन' इति पर्युटनादादात्मनेपदाभावः ॥ २ ॥

अथाऽनयोरतिरात्रयोश्चयनं न कार्यमिति विधत्ते—

संवत्सरस्य वा एतौ दंष्ट्रौ यदतिरात्रौ तयोर्न स्व-
प्नव्यं संवत्सरस्य दंष्ट्रयोरात्मानं नेदापिदधानीति ॥ ३ ॥

यत् यौ पूर्वोक्तावतिरात्रौ एतौ संवत्सरस्य दंष्ट्रौ (२) "संवत्सर-

प्रतिमा वै द्वादश रात्रयः" इति श्रुतेः संवत्सरस्य द्वादशाहस्य दंष्ट्र-
स्थानीयौ । तयोर्नै स्वप्नस्य स्वापो न कार्यः । संवत्सरस्य दंष्ट्रयोः
स्वापान्नैवाऽऽत्मानमपिदधानि अपिदध्यं प्रक्षिपेयमिति बुद्ध्या ॥ ३ ॥

अथ पक्षान्तरमाह—

तदाहुः कोऽस्वप्नुमर्हति यद्वाव प्राणो जागर तदेव
जागरितमिति ॥ ४ ॥

तत्तत्र विषये अमिषा ब्रह्मवादिन आहुः लोके—को नाम पुरुषः
अस्वप्नुं स्वापमकर्तुमर्हति ? स्वापस्याऽवश्यम्भावित्वात् । तर्हि कथं
पूर्वोक्तदोषपरिहारः ? उच्यते—यद्वाव यदेव प्राणो देहे वर्त्तमानः प्राण-
वायुर्जागर्ति कदाचिदपि न स्वपिति । स हि जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु
तिष्ठन्स्वप्नस्थासु सर्वदा प्रबुद्ध एव वर्त्तते । तदेव प्राणकर्तृकं जाग-
रणमस्य यजमनस्य जागरित जागरणमिति उक्तदोषो न भविष्यति ४

अथ पूर्वोक्तानां चतुर्णामहामन्तराले उक्त्यसंख्यान्यष्टावहानि
कर्त्तव्यानीति विधित्सुराह—

गायत्री वा एतां ज्योतिःपक्षामासते यदेतं द्वादशा-
हमष्टौ मध्य उक्था अग्निष्टोमावभितो मासा स्वर्गं लो-
कमेत्याऽऽजरसं ब्रह्माद्यमन्नमस्ति दीप्यमानः ॥ ५ ॥

यत् य एतं द्वादशाहं आसते अनुतिष्ठन्ति ते एतां वक्ष्यमाणां
ज्योतिःपक्षां गायत्रीमेवाऽऽसते । कैषा गायत्री ? किं वा तस्याः पक्षमूर्तं
ज्योतिः ? तदुभयमुच्यते ये द्वादशाहस्य मध्ये अष्टावुक्थाः उक्त्यसं-
ख्याः सैषा गायत्री । अष्टाक्षरा च गायत्रीत्युभयोरष्टसंख्यासाम्यात् ।
अभितः पार्श्वयोर्द्वयानां पुरस्तात् परस्ताश्च यावन्निष्टोमौ क्रियमाणौ
तावेवास्याः गायत्र्याः पक्षौ(?) अग्निर्देवतानां ज्योतिर्विराट्छन्दसां ज्यो-
तिरिति श्रुतेः । तस्मिन् ज्योतिष्टोमस्य समाप्तत्वाद्दग्निष्टोमोऽपि ज्योतिः ।
तस्मादेषा गायत्री ज्योतिःपक्षा । एवं ज्ञात्वाऽनुतिष्ठन् देहावसाने माम्ना
दीप्या सह स्वर्गं लोकमेति गच्छति । अस्मिन्श्च लोके आजरसं याव-
ज्जीर्यते तावत्पर्यन्तं ब्रह्माद्यं ब्राह्मणजात्या अदनीयं प्रशम्नमन्नं
अस्ति भुङ्क्ते । दीप्यमानः मध्ये मध्ये ज्वरादिभिः तप्यमानः सन् । एत-
दुक्तं भवति—द्वादशाहस्य प्रथममतिरात्रे तत एकमहरग्निष्टोमः ततो-
ऽग्निष्टोमातिरात्राविति क्रमेण कर्त्तव्यानीति ॥ ५ ॥

अथैतेष्वहःसु आद्यन्तावतिरात्रो मुक्त्वा यो मध्ये दशरात्रं क्रमेण कर्त्तव्यः तत्राऽऽदितः त्रिष्वहस्तु पृष्ठस्तोत्रे विकल्पेन रथन्तरं साम कार्यमिति विधत्ते—

त्रिष्पुरस्ताद्रथन्तरमुपयन्ति व्यावृद्धे वाक् सर्वामेव वाचमवरुध्य सर्वमन्त्राद्यं द्वादशाहं तन्वते ॥ ६ ॥

पुरस्तात् पूर्वस्मिन् भागे दशाहस्याऽऽदितः त्रिष्वहःसु रथन्तरं त्रिरुपयन्ति त्रिवारं प्रयुञ्जीरन् । व्यावृद्धे त्रिधा आवर्त्तमाना खलु वाक् सुप्तिद्गुदन्तरूपेण यद्वा वेदत्रयरूपेण त्रिधा वर्त्तमाना एव रूपावर्त्तनेन रथन्तरस्य त्रिरूपामनेन सर्वा कृत्स्नामेव वाचं सर्वमन्त्राद्य-
आवरुध्य द्वादशाहं तन्वते विस्तारयन्ति ॥ ६ ॥

अस्मिन् पक्षे रथन्तरस्य नैरन्तर्येण प्रयोगाज्जामितादोपमाशङ्क्य परिहरति—

जामि वा एतद्यज्ञं क्रियत इत्याहुर्न त् त्रिष्पुरस्ताद्रथन्तरमुपयन्तीति सौभरमुक्थानां ब्रह्मनाम भवति तेनैव तदजामि ॥ ७ ॥

पुरस्ताद्रथन्तरं पूर्वस्मिन्पक्षे रथन्तरं साम नैरन्तर्येणोपयन्तीति यत् एतद्यज्ञे जामि नैरसमेव क्रियते प्रयुक्तस्यैव पुनः पुनः प्रयोगादिति ब्रह्मवादिन आहुः । तत्रायं जामितादोपपरिहारः उक्थानां तृतीयसवनगतानां स्तोत्राणां मध्य ब्रह्मसाम ब्रह्मणःस्तोत्रनिर्वर्तक साम तत् सौभरं कार्यम् । तेन प्रयुक्तेन सौभरेणैव एतदहरजामित्वदोषरहितं सारवदेव भवति ॥ ७ ॥

ननु दशरात्रस्य प्रथमेऽहन्यग्निष्टोमसंस्थे तृतीयसवने उक्थानि न सन्ति । तत्र कथमजामित्वमित्यत आह—

प्रज्ञवत्यः प्रायणीयस्याऽहः प्रतिपदो भवन्ति तेनो एव तदजामि ॥ ८ ॥

प्रतिपद्यन्ते प्रारभन्तेऽनेनाहेति प्रायणीयं पृष्ठ्यमहः । तस्य प्रायणीयस्याऽहः प्रज्ञवत्यः (१) 'अस्य प्रज्ञामनुद्युत'मित्याद्या ऋचः प्रतिपदो बहिष्पवमानस्य प्रारम्भार्था भवति । तेनो तेन उ तेनैव प्रज्ञवतीनां प्रतिपत्वेनैव तत् प्रायणीयमहरजामि तत्रत्यानां प्रतिपदां प्रज्ञवत्त्वलक्षणेन विशेषणेन योगात् अहरन्तरस्य तद्योगाभावाच्च अस्याप्यहो

जामित्वदोषो न भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथ दशरात्रस्योपरिमाणे अष्टमनवमदशमेष्वहःस्वपिरयन्तरस्य
त्रिरुपायनं विधत्ते—

त्रिर्वैवोपरिष्ठाद्रथन्तरमुपयन्ति व्यावृद्धे वाक् सर्वा-
मेव वाचमवरुध्य सर्वमन्नाद्यं द्वादशाहादुत्तिष्ठन्ति ॥९॥

उपरिष्ठाद्दशरात्रस्योपरितनेष्वपि त्रिष्वप्यहःसु एवमेव रथन्तरं त्रि-
रुपयन्ति त्रिवारमुपगच्छेयुः । अन्यत् पूर्ववद्याख्येयम् । सर्वा वाचं स-
र्वमन्नाद्यं प्राप्य द्वादशाहादुत्तिष्ठिताद्यागादुत्तिष्ठन्ति उत्क्रामन्ति तं
परिसमापयन्तीत्यर्थः । अत्रापि पूर्ववत् । जामित्वशङ्कापरिहरश्च पूर्व-
वद्योजनीयः । दशमेऽह्न्यपि प्रज्वल्यः प्रतिपद इति व्याख्यास्यति ।
अतः पूर्ववदजामित्वम् ॥ ९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे वेदार्थप्रकाशे दशमाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अथाऽस्मिन् द्वादशाहे आद्यन्तावतिरात्रौ दशममहश्च । अन्तर्मध्ये यो
नवरात्रः तं स्तोतुं त्रेधा विभजति—

त्रयो वा एते त्रिरात्रा यदेष द्वादशाहो गायत्रमुखः
प्रथमो गायत्रमध्यो द्वितीयो गायत्रोत्तमस्तृतीयः ॥ १ ॥

अत्र द्वादशाहशब्दः सद्ययवे नवरात्रे वर्तते । यत् एव द्वादशाहो
द्वादशाहावयवो नवरात्रः एते त्रयस्त्रिरात्राः । तत्र त्रिरात्रो गायत्र-
मुखः गायत्रीछन्दस्कमहर्मुखे प्रथमतो यस्य स तथोक्तः । द्वितीयत्रिरा-
त्रो गायत्रमध्यः तत्र मध्यमस्याहो गायत्रत्वात् । तृतीयस्तु गायत्रोत्तमः
तृतीयमहर्हि तत्र गायत्रम् । अत्र प्रथमं पदशस्त्रं गायत्रीछन्दकत्वञ्चामिमेत्य
गायत्रमुख इत्यादि व्यपदेशः । एतत्(१) छन्दांसि वा अन्योन्यस्य लो-
कमभ्यध्याय"मिति छन्दसां व्यूहनविधानसमये विस्पष्टं दर्शयिष्यामः ॥१॥

अस्वेयम्, ततः किं जातम् ? अत आह—

यस्माद्गायत्रमुखः प्रथमः तस्माद्दृष्टोऽग्निर्दीदाय यस्मा-
द्गायत्रमध्यो द्वितीयस्तस्मात्तिर्य्यद् वायुः पवते यस्मा-
द्गायत्रोत्तमस्तृतीयस्तस्माद्वाक्वादित्यस्तपति ॥ २ ॥

यस्मात्प्रथमस्त्रिरात्रो गायत्रमुखो भवति तस्मात्तेजोरूपाया गाय-
त्र्याः प्रथमतः प्रयुक्तत्वात् तत्प्रदेशादारभ्य ऊर्ध्वं ऊर्ध्वामिमुखः सन्
अग्निर्दादाय ज्वलति । यस्मात् द्वितीयस्त्रिरात्रो गायत्रमध्यः तस्माद्वा
यव्या मध्यतः प्रयोगात् द्वावापृथिव्योर्मध्ये तिर्यङिति तिरश्चीनो
वायुः पवते । यस्मात् तृतीयस्त्रिरात्रोत्तमः तस्माद्वायव्या उपरिस्थित
त्वादादित्यो तुलोकस्योपर्यवस्थाय अवाक् अवाङ्मुखस्तपति प्रका-
शयति ॥ २ ॥

अथ प्रकारान्तरेण एतेषां त्रिरात्राणां गायत्रीसम्यग्बन्धं स्तौति—

तेजसा वै गायत्री प्रथमं त्रिरात्रं दाधार पदैर्द्विती-
यमक्षरैस्तृतीयम् ॥ ३ ॥

वैषा गायत्री चतुर्विंशत्यक्षरात्मिका अग्निना तेजसैव प्रथमं त्रिरात्रं
दाधार धारयति । पदैः पदैर्द्वितीयं त्रिरात्रम् । मक्षरैरात्मीयैश्चतुर्विं-
शत्यक्षरैस्तृतीयं त्रिरात्रं धारयति ॥ ३ ॥

किञ्च तस्यास्तेजः ? के पादाः ? कियन्ति वा तदीयान्यक्षराणि ?
कथं वा तैस्त्रयस्त्रिरात्रा धृता ? इति सर्वमेतद्दर्शयति—

त्रिवृद्वै गायत्र्यास्तेजः त्रिवृत्प्रायणयिमहस्तेन प्रथम-
स्त्रिरात्रो धृतस्त्रिपदा गायत्री त्रिरात्रो मध्ये तेन द्विती-
यस्त्रिरात्रो धृतश्चतुर्विंशत्यक्षरा गायत्री चतुर्विंश-
श उत्तममहस्तेन तृतीयस्त्रिरात्रो धृतः ॥ ४ ॥

त्रिवृत्स्तोमो हि गायत्र्यास्तेजः । प्रजापतिमुखायोः सहोत्पत्तेः अ-
ग्निना सहोत्पन्नत्वाच्च त्रिवृत्स्तेजोरूपत्वम् । दशरात्रस्य प्रायणीयं
प्रथममहस्त्रिवृत् त्रिवृत्स्तोमकम् त्रिवृदेव स्तोमो भवतीति विधा-
स्यमानत्वात् । तेन त्रिवृदात्मकेन गायत्र्यास्तेजसा प्रथमस्त्रिरात्रो
धृतः त्रिवृत्स्तुचः त्रयात्मकत्वेन त्रिसंख्यायुक्तत्वात् अष्टाक्षरास्त्रियः
पादा अस्यामिति त्रिपदा गायत्री (१) 'संख्यासुपूर्वस्ये'ति पादशब्द-
स्यान्त्यलोपः । (२) "पादोऽन्यतरस्या"मिति ङोपि प्राप्ते (३) "टाट्-
चीति" टाप् । (४) "पादः पत्" इति पद्भावाः । मध्ये प्रथमतृतीययो-
स्त्रिरात्रयोरन्तराले त्रिरात्रस्तिष्ठो रात्रयः । तेनोभयोस्त्रिरात्रयोगेन गा-
यत्र्याः पदैर्द्वितीयस्त्रिरात्रो धृत इत्युच्यते चतुर्विंशत्यक्षरात्मिकायाः ।

एवं प्रथममध्यमोत्तमानां त्रिरात्रगतानामह्नां गायत्रत्वं (१) "गायत्रीं वा ऐन्द्र-
वायवो गायत्रं प्रायणीयमह" रित्यादिना शास्त्रान्तरे स्पष्टमाप्नातम् । यद्वा
प्रथमे त्रिरात्रे त्रीण्यपि प्रातःसवनानि गायत्राणि । मध्ये तु माध्यन्दिन-
सवनानि । उत्तमे त्रिरात्रे तु तृतीयसवनानि गायत्राणि एतदेका गायत्री ।
सप्तममहश्चतुर्विंशस्तोमकम् । अत एतद्द्वयं संस्थाद्वारेण सम्बद्धम् । तेन
सप्तमाहुः सम्बन्धेन तृतीयस्त्रिरात्रोऽक्षरैर्धृत इत्युच्यते ॥ ४ ॥

अथोक्तप्रकारेण गायत्र्यास्त्रिरात्रयव्याप्तिं स्तौति—

तेजसा वा एते प्रयन्ति तेजो मध्ये दधति तेजो-
ऽभ्युद्यन्ति, ज्योतिषा वा एते प्रयन्ति ज्योतिर्मध्ये
दधति ज्योतिरभ्युद्यन्ति, चक्षुषा वा एते प्रयन्ति चक्षु-
र्मध्ये दधति चक्षुरभ्युद्यन्ति, प्राणेन वा एते प्रयन्ति
प्राणं मध्ये दधति प्राणमभ्युद्यन्ति, ये गायत्र्या प्रयन्ति
गायत्रीं मध्ये दधति गायत्रीमभ्युद्यन्ति ॥ ५ ॥

ये यजमाना गायत्र्या गायत्रीलुन्दसा प्रयन्ति प्रगच्छन्ति प्रथमं
त्रिरात्रमारभन्ते एते तेजसा वै तमसो निवर्त्तकमालोकादिकं नेज्ज्मे-
नैव प्रयन्ति प्रारभन्ते । ये गायत्रीं मध्ये दधति द्वितीयं त्रिरात्रं माध्य-
न्दिनसवनेषु धारयन्ति एते तेज एव मध्ये दधति स्थापयन्ति । ये
गायत्रीमभिलक्ष्योद्यन्ति उद्गच्छन्ति गायत्रैस्तृतीयसवनैस्तृतीयं त्रिरात्रं
समापयन्ति । एते पूर्वोक्तं तेजोऽभिलक्ष्योद्यन्ति उदयनं समापनं कुर्व-
न्ति । एवमुत्तरेषु त्रिषु पर्यायेषु योज्यम् । तेजसा तेजःशब्दाभिधेयेन
अग्न्यादिना अन्यं प्रकाशं ज्योतिः चष्टेः पश्यतिकर्मणः चक्षुर्ज्योति-
रन्यं ज्ञानं चक्षुः प्राणापानादिपञ्चवृत्त्यात्मकः प्राणः । गायत्र्याश्च तेज-
आदिसम्बन्धः 'तेजो वै गायत्री' 'ज्योतिर्वै गायत्री' त्यादिवाक्यशेषैरधि-
गन्तव्यः ॥ ५ ॥

अर्धेन द्वादशाहं चत्वारत्मकत्वेन रूपयन् विस्तार्यमाणस्य तस्य
प्रान्तदाढ्यं हेतुशुद्धिसगन्तयैतां गायत्रीं स्तौति—

तन्त्रं वा एतद्विंशत्यत यदेष द्वादशाहस्तस्येतै मयू-
खा यद्गायत्रयसंख्याधाय ॥ ६ ॥

तायते विस्तार्यत इति तन्त्रं वक्ष्यम् । एतदेवै एतद्विंशत्यत विस्तीर्षते ।
(२) 'तनोतेर्यकी' इति अनुनासिकस्याकारः । यत् य एष द्वादशाहस्तस्य

विस्तारितस्य असंव्याधाय संव्याथस्सञ्चलनं, व्यथ मयचलनयोरिति धातुः, चलनाभावाय दाढर्पाय एते मयूखाः प्रान्तेषु निष्ठातव्याः शङ्खवः । यत् यैषा गायत्री सर्वद्वादशाहं व्याप्नुवती गायत्री कृत्स्नमेव द्वादशाहं द्रढयतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथोक्तिप्रत्युत्तथा सदृष्टान्तं द्वादशाहो गायत्र्यां प्रतिष्ठित इति प्रदर्शयति—

गिरिक्षिदौचामन्यवेति होवाचाऽभिप्रतारी काक्ष-
सेनिः कथं द्वादशाह इति यथाऽरान्नेमिः पर्येत्येवमेनं
गायत्री पर्येत्यविस्त्रंसाय यथाऽरा नामौ धृता एवम-
स्यां द्वादशाहो धृतः ॥ ७ ॥

उचामन्युपुत्रो गिरिक्षिधामकः काक्षिदपिः । हे औचामन्यव
गिरिक्षिप्तु ! इति तं सम्बोध्य काक्षसेनिः कक्षसेनस्य पुत्रः अभिप्रतारी
नाम ऋषिः इति ह इति खलु पूर्वमुवाच । इतिशब्दपरामृष्टमेव प्रद-
र्यते-कथं द्वादशाह इति कथं केन प्रकारेण स्थितोऽसौ द्वादशाह इति
उचामन्यवे काक्षसेनिः पप्रच्छ । तस्योत्तरमेतत्-यथा अरान् रथचक्र-
मध्यस्थान् कीलकान् नेमिर्वह्निर्वलयः पर्येति परितो व्याप्नोति एवमेनं
द्वादशाहं गायत्री पर्येति परितो व्याप्नोति । किमर्थम् ? अविस्त्रंसाय विस्त्रं-
सनाभावाय शैथिल्याभावाय यथा वा अरा नामौ चक्रमध्ये धृताः
सम्बद्धा एवमस्यां द्वादशाहो धृतः ॥ ७ ॥

अथैतमनुष्टुप् रूपेण स्तौति—

अनुष्टुभं वा एतामन्नाथाय व्यावृज्याऽऽसते यदेतं
द्वादशाहम् ॥ ८ ॥

यत् यमेतं विहितं द्वादशाहमासते अनुष्टुभं द्वात्रिंशदक्षरात्मिका-
मेवेतां व्यावृज्य विभज्य अन्नाथाय अन्नञ्च तदाद्यञ्च अन्नाद्यं तदर्थ आ-
सते अनुतिष्ठन्ति ॥ ८ ॥

कथं द्वादशाहमनुतिष्ठद्भिर्नुष्टुभो विभागः कियते ? इति तदर्थं
तद्विभागमाह—

अष्टाभिर्वा अक्षरैरनुष्टुप् प्रथमं द्वादशाहस्याऽह-
द्यच्छत्येकादशभिर्द्वितीयं द्वादशभिस्तृतीयम् ॥ ९ ॥

द्वात्रिंशदक्षरात्मिकाऽनुष्टुप् अष्टाभिरात्मीयैरक्षरैर्द्वादशाहस्य प्रथ-
ममहः उद्यच्छति उद्गृह्णाति व्याप्नोति । तस्याऽहो गायत्रत्वात् तत ए-

कादशभिरात्मीयैरक्षरैर्द्वितीयमहश्चच्छति । तस्याऽह्रस्त्रिष्टुमत्वात्
त्रिष्टुमश्च पादा एकादशाक्षरा इति तद्योगः द्वादशभिरवशिष्टैरक्षरैस्तृ-
तीयमहश्चच्छति, जागतं हि तदहः । अतो जागतपादयोगात्तदभिप्राये-
णेदम् ॥ ९ ॥

अत्र प्रथमेऽहि नियुक्तानामष्टानामक्षराणामन्त्यमक्षरमुपादाय तत्प्र-
भृति पुनरेकादशाक्षराणि द्वितीयेऽहि विनियुज्यन्ते । तत्रापि अन्त्यमक्ष-
रमुपादाय तदारभ्य द्वादशाक्षराणि तृतीये सम्बध्यन्ते । एवमेकैकमक्ष-
रमादाय विनियोगे सति त्र्यक्षरमवशिष्यते । नान्येवाक्षराणि चतुर्थ्या-
दीनि प्रीण्यहानि व्याप्नुवन्तीत्याह—

अक्षरं त्र्यक्षरमुच्छिष्यते तदेवोत्तरं त्रिरात्रमनु-
विदधाति ॥ १० ॥

उक्तप्रकारेण अन्त्यमक्षरमादाय परिगणनायां त्र्यक्षरमक्षरत्रयमु-
च्छिष्यते अवशिष्यते । तदेवाक्षरत्रयं द्वितीयत्रिरात्रमनुक्रमेण विदधानि
करोति । न त्वनुष्टुमि विद्यमानानि सर्वाण्यक्षराणि गतानि ॥ १० ॥

छन्दांस्येवाऽस्पास्तृतीयं त्रिरात्रं वहन्ति ॥ ११ ॥

अस्पाः अनुष्टुमः सम्बन्धीनि यानि गायत्रीत्रिष्टुजगत्पात्मिकानि छन्दां-
सि ताभ्येव तृतीयं त्रिरात्रं वहन्ति निवेदन्ति । (१) 'अनुष्टुप् च वै सप्तदशश्च
सममवता' मित्यादिना छन्दसामनुष्टुमः सकाशात् सृष्टिरुक्ता । तैश्च गाय-
त्र्यादिभिश्छन्दोभिर्मीयमानानि सप्तमादीन्यहानि । चतुर्विंशत्यक्षरा हि
गायत्री । सप्तममहश्चतुर्विंशस्तोमकम् । चतुश्चत्वारिंशदक्षरा त्रिष्टुप् अष्टम-
महश्चत्वारिंशस्तोमकम् । अष्टाचत्वारिंशदक्षरा जगती अष्टाचत्वारिं-
शस्तोमकश्च नवममहः । अत एतानि छन्दांसि तृतीयं त्रिरात्रं वहन्तीत्युच्यते
एतेषाञ्चानुष्टुप्प्रभवत्वात् अनुष्टुबेव व्याप्नोतीति छत्स्नस्य नवरात्रस्य
अनुष्टुप् रूपता । अतो द्वादशाहमनुतिष्ठन्त एतामनुष्टुममेव विमन्य
आसत इति पूर्ववदन्वयः ॥ १ ॥

अथोक्तं नवरात्रस्याऽनुष्टुमोऽप्यार्पणं याप्रतित्रिरात्रव्याप्तिवैलक्षण्यं
तत्प्रशंसति—

तां वा एतां प्रतीचीं तिरश्चीं पराचीमासतेऽन्नायाय
तस्मात्प्रत्यश्चं तिर्य्यश्चं पराश्चं प्रजाः पशुमुपजीवन्ति ॥ १२ ॥

तां पूर्वोक्तामेतामनुष्टुमं प्रतीचीं प्रतिमुखं अञ्चन्तीं प्रत्यक्षीभूतां

प्रथमे त्रिरात्रे प्रयुज्यते ; तत्र अष्टावेकादश द्वादशेति आनुष्टुभाश्रयसं-
ख्यया मूयस्त्वेनोपलम्भात् । द्वितीये तु त्रिरात्रे तिरश्चीं तिरोऽञ्चनीं अन्त-
र्ज्ञानं प्राप्नुवन्तीं आसते तत्र हि त्रीण्येकाक्षराणि विभज्य प्रत्यहं एकै-
कमक्षरमानुष्टुमं संयोजितम् । अतोऽक्षरस्याऽल्पीयस्त्वात् न स्यान्ति-
र्यक्तम् । अथ तृतीये त्रिरात्रे परार्चीं परावृत्तां परोक्षमेवाऽनुष्टुममासते ;
तत्र हि अनुष्टुमः सकाशादुत्पत्तेः । छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिः स्तोमसंख्या
साम्यमनुष्टुमो व्याप्तिहेतुरिति घणितं आत्माभिमुखं तिर्यञ्चं तिरश्चोर्नं
अन्यथावृत्तमुखं पराञ्चं परावृत्तं पारोक्षस्थितञ्चोपजीवन्ति ॥ १२ ॥

अथ छन्दसां व्यूहनप्रकारं विधित्सुराह—

छन्दांसि वा अन्योन्यस्य लोकमभ्यध्यायन् गायत्री
त्रिष्टुभस्त्रिष्टुब्जगत्या जगती गायत्र्यास्तानि व्यौहन्-
यथा लोके ततो वै तानि यं यं काममकामयन्त तम-
सन्वन् ॥ १३ ॥

छन्दांसि वै गायत्रीत्रिष्टुब्जगत्यात्मकानि छन्दांसि अन्योन्यस्य
लोकं म्यानं अभ्यध्यायन् एतेषां हि क्रमेण प्रातःसवनादीनि सवनानि
स्थानतया कृत्तानि गायत्रं प्रातःसवनं ॥ १३ ॥

यत्कामो व्यूढच्छन्दसा द्वादशाहेन यजते सोऽस्मै
कामः समृध्यते ॥ १४ ॥

द्वादशाहेन यजते स कामः काम्यमानोऽर्थः अस्मै यजमानाय समृ-
ध्यते । एतदुक्तं भवति-द्वादशाहस्तावत् द्विविधः-सप्रात्मकोऽहीनात्म-
कश्च । पुनरपि प्रत्येक द्वेधा भवति-समृद्धो व्यूढश्चेति । यत्रोक्तं व्यूहनं न
क्रियते स समृद्धः, अपरस्तु व्यूढः । स कामप्राप्तिहेतुरिति अस्मिन्
ब्राह्मणे प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वात् श्रूयते ॥ १४ ॥

अथैतं द्वादशाहं देवानां स्थानत्वेन स्तौति—

ओको वै देवानां द्वादशाहो यथा वै मनुष्या इमं
लोकमाविष्टा एवं देवता द्वादशाहमाविष्टा देवता ह वा
एतेन यजते य एवं विद्वान् द्वादशाहेन यजते ॥ १५ ॥

योऽयं द्वादशाहः स देवानामोकः स्थानं वै । तदेवोपपाद्यते-यथा खलु
मनुष्या इमं लोकमाविष्टाः एवं देवता द्वादशाहमाविष्टाः । तथा सति

य एवं विद्वान् जानन् द्वादशाहेन यजते स देवतायुकेनैव एतेन द्वादशा-
हेन यजते ॥ १५ ॥

अथैतं गृहत्वेन प्रशंसति—

गृहा वै देवानां द्वादशाहो नाऽगृहताया भयम् ॥ १६ ॥

देवानां द्वादशाहो गृहस्थानीय एव, सर्वदा तत्रैव वासात् । अत एव
जानता द्वादशाहेन यद्वा अगृहताया अगृहत्वात् गृहराहित्यात् न भयं
न भेतव्यं भीतिस्तस्य न जायते, सर्वत्र गृहलामादित्यर्थः । (१) भय-
प्रवये च छन्दसी"ति विभेतेऽेतुमये यत् प्रत्ययो निपात्यते ॥ १६ ॥

एवं द्वादशाहं बहुधा प्रशस्य अथ तस्याऽग्निष्टोमसाध्यतां जानतः
फलमाह—

यो वै द्वादशाहमाग्निष्टोमेन कल्पमानं वेद कल्पनेऽ-
स्मै प्रातःसवनेनैव प्रथमस्त्रिरात्रः कल्पते माध्यन्दिनेन
द्वितीयस्तृतीयसवनेन तृतीयोऽग्निष्टोमसार्धैव दशम-
महः कल्पते ॥ १७ ॥

यः अस्वेवं द्वादशाहमाग्निष्टोमेन अग्निष्टोमसंस्थेन ज्योतिष्टोमेन क-
ल्पमानं निष्पाद्यमानं वेद जानाति अस्मै जानते यजमानाय अग्निष्टो-
मस्य यत्प्रातःसवनं तेनैवं द्वादशाहिकस्य दशरात्रस्य प्रथमस्त्रिरात्रः
कल्पते क्लृप्तो भवति । अग्निष्टोमकेन माध्यन्दिनसवनेनैव दश-
रात्रस्य द्वितीयास्त्रिरात्रः कल्पते । तृतीयसवनेन तृतीयास्त्रिरात्रस्तस्मिन्
तृतीयसवने यदन्तिममग्निष्टोमसाम तेनाऽग्निष्टोमसार्धैव दशममहः
विधाक्यायं कल्पते क्लृप्तो भवति ॥ १७ ॥

इममुक्तमर्थं वेदितुमपि फलमाह—

कल्पतेऽस्मै य एवं वेद ॥ १८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १८ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवोपे वेदार्थप्रकाशे
दशमाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

अथ षष्ठः खण्डः ॥

द्वादशाहस्य दशरात्रस्य पञ्चमिरध्यायैः स्तोत्रीयाः सामानि च विधास्यन् तत्र पृष्ठपदद्वे या स्तोत्रीयाः सामानि च तेषामसाङ्ग्यार्थं प्रत्यहं विभिन्नानि रूपाणीतः परं षड्भिः खण्डैः प्रदर्श्यन्ते । तत्राऽऽदित स्त्रिभिः स्तोत्रीयाणां रूपाणि, ततस्त्रिभिः साम्नां रूपाणीति विवेकः । एवं प्रदर्शितरूपैरुपेताः स्तोत्रीयाः तद्युक्तानि सामानि चोत्तरत्र विधेयानि । तथोत्तरत्र गायत्र्यः सत्यस्त्रिष्टुमो रूपेण त्रिष्टुमः सत्यो जगत्या रूपेणेत्यादिना छन्दसामपि प्रत्येकमसाधारणरूपवत्त्वं सिद्धवदाभ्यायते । अतो ऽनेन खण्डेन सहस्तोमछन्दःसाम्नां साधारणानि रूपाणि षडक्षरसम्बन्धीन्यभिधीयन्ते । तत्र प्रथमस्याऽहुस्तदीयस्तोमादेश्च रूपाणि दर्शयति—

एति प्रेत्याशुमद्वीतिमद्रुक्मसेजस्वद्युक्जानं प्रथम-
स्याऽहो रूपं त्रिवृतः स्तोमस्य गायत्रस्य छन्दसो रथन्त-
रस्य साम्नः ॥ १. ॥

आ इति प्र इति एवमेतदुपसर्गद्वयं प्रथमस्य त्रिवृत्स्तोमकस्य प्रायणीयस्याऽहो रूपमहरन्तराद्यावर्त्तकम् । अत एव(१) "अग्न आयाहि वी-
तये"(२) 'आ नो मित्रावरुणा'(३) 'प्र सोमासो विपश्चितः'(४) 'प्र सोमासो मदव्युत' इत्यादिकमुक्तरूपद्वयोपेतं तस्मिन्नहनि प्रयुज्यमानस्य त्रिवृत्स्तोमस्य गायत्रस्य छन्दसो रथन्तरस्य साम्नश्चैतदेव रूपम् । अतः एतेषामप्यसाधारणरूपत्वसिद्धिः । एवमाशुमादित्याद्यावपि योज्यम् । अशु व्याप्तावित्यस्माद्धातोर्निष्पन्न आशुशब्दः । स चाऽहिम-
ग्नहनि(५) 'अश्वघ्न त्वा वाजिन'(६) 'अश्वघ्नन्तो मघवन्निन्द्र वाजिन' इत्यादिषु दृश्यते । तदभिप्रायेणेदमाशुमदिति आशुमत् आशुधातुनि षपन्नशब्दयुक्तम् ।

यद्वा आशुरश्वः अर्थपरोऽयमाशुशब्दः । आशुरश्वार्थयुक्त-
मिन्वर्थः । वीतिमत् वीगत्यादिषु एतद्धातुनिष्पन्नेन शब्देन युक्तम् । तथा हि-वीतियुक्तं दृश्यते-'अग्न आयाहि वीतये, 'प्रसोम देव

१. सा. सं. उ. १. १. ४. १.

२. सा. सं. १. १. ५. १.

३. सा. सं. उ. १. २. १९. १.

४. सा. सं. उ. १. २. २१. १.

५. सा. सं. उ. १. १. १०. १.

६. सा. सं. उ. १. १. ११. २.

धीते' इति । तथा रुक्मत्, रुचिधातुयुक्तम्, तेजस्वत् तेजःप्रतिपाद-
कशब्दोपेतम् । युञ्जानं युजिधातुयुक्तं एतान्यपि रूपाणि प्रथमेऽहनि
विनियुज्यमानासु स्तोत्रीयास्वन्यत्र विद्यमानायां गायत्र्यां द्रष्टव्यानि,
अहरादिषु साधारणत्वात् रूपाणाम् । अत एवाऽन्यत्र गायत्र्यां 'दविद्यु-
तत्या रुचे'ति रुचिधातुयोगो दृश्यते । अस्मिन्नाऽहनि(१) 'अयं सूर्य इ-
वोपहति'ति तेजःप्रतिपादकसूर्यशब्दध्वनात् तदभिप्रायेण तेजस्वदि-
ति रूपम् (२) 'ब्रह्माणस्त्वा युजा वयं' (३) "आ त्वा ब्रह्म युजा हरौ" इति
युजिधातुयोगाच्च दृष्टः । एतदभिप्रायेण तेजस्वादिति रूपं 'ब्रह्माणस्त्वा-
युजा वयं'मित्युपन्यस्तम् । यद्वा युञ्जानं योजनमेव कुर्वन्ति सम्बन्धो
नियोगः लोटो लिटश्च मध्यमपुरुषप्रयोगः । एतावत् प्रथमस्याऽहो रूपं
त्रिवृदादेश्च ॥ १ ॥

अथ पृष्ठध्वजहे द्वितीयस्याऽहः तदीयस्तोमादीनाञ्च साधारणानि
रूपाणि दर्शयति—

वृषवद्वृषहवद्रपिमद्विश्ववदुपस्थितं द्वितीयस्याऽहो रूपं
पञ्चदशस्य स्तोमस्य त्रैण्डुभस्य छन्दसो बृहत्तः सान्नः ॥२॥

वृषवत् वृषिधातुनिष्पन्नशब्दयुक्तं द्वितीयस्य पार्ष्टिकस्याऽहो रूपं
पञ्चदशस्तोमादेश्चैतदेव रूपम् । अत एवास्मिन् द्वितीयेऽहनि(४) । "वृषा
पवस्व धारया" (५) "वृषा शोणो" इत्यादिकाः वृषशब्दवत्यः स्तोत्रीया
विनियुज्यन्ते । एवमुत्तरेष्वपि रूपेषु योज्यम् । वृषहवत् वृषहननलिङ्ग-
युक्तम् । तथा हि तत्र मन्त्रवर्णः—(६) "हन्ति वृत्राणि दाशुये" (७) "जघ्निर्हृ-
त्रममित्रि"मिति । तथा रपिमत् रयिशब्दयुक्तम् । तथा च(८) "रयि
वीर्यतीमिव"मिति दृश्यते । तथा विश्ववद्विश्वशब्दोपेतम्, अत एव तत्र
दृश्यते(९) "अभि विश्वानि काव्ये"ति । उपस्थितमित्यनेन तिष्ठनिधातु-
निर्दिष्टः, तत्तुक्तमपि द्वितीयस्याऽहो रूपम्; तथा हि तस्मिन्नहनि दृश्यते
(१०) "महिसे सोम तस्मिन्" इति । यद्वा उपस्थितं प्राप्तं विद्यमानस्यैव
कथनं वक्ष्यमानकालापदर्शिनो लटः प्रयोग इति यावत् ॥ २ ॥

१. सा. सं. ड. १. २. १६. २.

२. सा. सं. ड. १. १. ६. १.

३. सा. सं. ड. १. १. ६. २.

४. सा. सं. ड. २. १. १०. १.

५. सा. सं. ड. २. १. ११. १.

६. सा. सं. ड. २. १. ११. २.

७. सा. सं. ड. २. १. १५. २.

८. सा. सं. ड. २. १. ५. १.

९. सा. सं. ड. २. १. १. १.

१०. सा. सं. ड. २. १. १. १.

अथ तृतीयस्याऽहोः सप्तदशस्तोमादेश्च रूपाणि दर्शयति—

उद्वद्विविद्दिग्वद्गोमदृपभवत् तृतीयस्याऽहो रूपं सप्त-
दशस्य स्तोमस्य जागतस्य छन्दसो वैरूपस्य साम्नः ॥ ३ ॥

उद्वत् उच्छ्वद्वयुक्तं त्रिवृत् त्रिवसंरयायोगश्च तृतीयस्य पाठिकस्या-
ऽहो रूपं तदीयस्य सप्तदशस्तोमादेश्च तदेव रूपम् । अत एव तस्मिन्
हनि(१) 'तिस्रो वाच उदीरते' इति रूपद्वयं दृश्यते । तथा दिक्शब्दव-
त्त्वञ्चाऽपरं रूपम् । तस्मादेव दिशं विशं हसिति दिक्शब्दयोगो दृश्यते ।
गोमत् गोशब्दत्वञ्चाऽन्यद्रूपम्(२) 'गावो मिमन्ति धेनव' इति हि तत्र
स्यो मन्त्रवर्णः । ऋपभवत् अर्थपरोऽयं निर्देशः ऋपमशब्दार्थवत्वमपर रू-
पम् । "(३) इन्द्र स्वव्दी ववसग" इति तत्र दृश्यते । यद्वा शोमनशब्दो
ववसगः वधतीयगामी वृषभ इव इन्द्रः कदाऽस्मद्यज्ञं प्राप्नोतीति ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थस्याऽहोः एकविंशस्तोमादेश्च रूपाणि दर्शयति—

राजन्वज्जनवद्वत्सूर्यवादिराडनुतोदवच्चतुर्थस्याऽहो
रूपमेकविंशस्य स्तोमस्याऽऽनुष्टुभस्य छन्दसो राजस्य वै
साम्नः ॥ ४ ॥

राजन्वत् राजन्शब्द युक्तं, यद्वा राजनिधातुयुक्तं एवमादिक चतु-
र्थस्य पाठिकस्याऽहोऽसाधारणं रूपं एकविंशस्तोमादेश्च एतदेव रूपम् ।
तथा हि मन्त्रवर्णं दृश्यते(४)—"राजानावनमिद्गुहा"(५) "पवनमानो अ-
जीजन" इत्यादौ । तथा सूर्यवत् सूर्यशब्दयोगोऽप्यन्यद्रूपम्(६) 'उ-
पाः सूर्यो न रदिममि"रिति हि तत्र मन्त्रवर्णः । तथा विराट्छन्द-
सो ऽनुतोदवत् अनुतोदयुक्तं अन्यद्रूपम्, तत्र हि(७) "पिषा सोममिन्द्र-
मन्दतु त्वे"त्यादिका विराट्मत्स्वाहावोजीयाउसहो हाउ वलं हा-
विन्द्रोहाउवयो हाउ बृहतं हाउ स्वाहाउ ज्योतिर्हाउ दा ३ ध इत्यादि-
मस्तोमः प्रतिपादमनुतोद्यतेव्यवधीयते । यद्वा अनुतोदोऽभ्यासः
स च चतुर्थेऽहनि विहिते महावैराजसामादौ दृश्यते । तथा हि 'पिषा
सोममिन्द्र मन्दतु त्वे"त्यादिकं त्रिरभ्यस्यते ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमस्याऽहोऽस्त्रिणवस्तोमादेश्च रूपाणि दर्शयति—

चित्रवच्छिशुमत् पङ्क्तिः शकरी धूनाक्षरा गो-

१, २. सा. सं. २. २. १४. १.

३. सा. सं. उ. २. २. १२. २

४. सा. सं. उ. १. १. ७. १.

५. सा. सं. ३. १. २. १,

६. सा. सं. ३. १. ३. ५.

७. सा. सं. पू. ५. १. १. ८.

महपभवत् पञ्चमस्यऽहो रूपं त्रिणवस्य स्तोमस्य
पाङ्क्तस्य छन्दसः शक्ररीणां सान्नः ॥ ५ ॥

चित्रवत् चित्रशब्दयुक्तं शिशुमत् शिशुशब्दयुक्तं पतदादिकं पञ्च-
मस्याऽहो रूपं त्रिणवस्तोमादेश्चैतदेव रूपं शक्यं इति एकस्यैव "विदा-
मघवसि"त्यस्यां गीयमानस्य सान्नः संज्ञा । स्त्रीत्वं बहुत्वापेक्षया शक्यं-
श्रयस्य सान्न इत्यर्थः । तथा पङ्क्तिछन्दोऽप्यस्याऽहो रूपम् अत एव (१) "इन्द्रो
मदाय वावृध" इत्यादिका पङ्क्तिर्दृश्यते । सप्तपदा शक्वरी । सा च विदा-
मघवसित्यादिका पञ्चमेऽहनि विधित्सिता । तथा छूनाक्षरा द्वाभ्यामक्ष-
राभ्यां न्यूनाऽप्यस्या अगस्याऽहो रूपम् । गोमत् गोशब्दयुक्तं क्रमवत्
क्रमशब्दयुक्तम् । (२) अनूपे गोमान् गोभिरक्षा "इत्यादिकमपि पञ्चमस्य-
ऽहो रूपं तथा वज्रवत् वज्रयुक्तं अमिमत् अमिशब्दयुक्तं (३) वज्र हिन्य-
न्ति सायकं (४) "अभि व्रतानि पवते पुनान" इति हि तत्रत्यौ मन्त्रवर्णौ ।
एतावत्सर्वं पञ्चमस्याऽहस्त्रिणवस्तोमादेश्च रूपम् ॥ ५ ॥

अथे पष्ठस्याऽहस्त्रयस्त्रिंशस्तोमादेश्चाऽसाधारणानि रूपाण्याह—

परिवत्प्रतिवत्सप्तपदा द्विपदा विनाराशं सा गो-
महपभवत् पष्ठस्याऽहो रूपं त्रयस्त्रिंशस्य स्तोमस्य स-
र्वेषां छन्दसां रूपं रेवतीनां सान्नः ॥ ६ ॥

परिवत् परिशब्दयुक्तं प्रतिवत् प्रतीत्यनेन युक्तञ्च पष्ठस्याऽहो ऽह-
रन्तराद्यावत्तर्कं रूपं अत एवैतदुभयं तस्मिन्नहनि दृश्यते (५) "मिन्धि वि-
श्वा अप द्विपः परिवाधैः" इति (६) "प्रति वां सुर उदित" इति प्रति-
शब्दस्य त्रयस्त्रिंशस्तोमस्य तस्मिन्नहनि प्रयुज्यमानस्य तथा सर्वेषां
गायत्र्यादीनां छन्दसां तथा रेवतीनां (७) "रेवतीर्नः सघमाद" इति अ-
स्यामुत्पन्नं साम रेवत्यः । "वापो धो रेवत्य" इति श्रुतेः अप्सवेन संस्तु-
तत्वात् अप्शब्दवदस्यापि स्त्रीत्वं बहुत्वञ्च, रेवत्याप्यस्य सान्नोऽप्येत-
देव रूपम् । एवमुत्तरेष्वपि योजना । सप्तपदा सप्तभिः पदैरुपेता । "सप्त
पदया यजती"ति ब्राह्मणे विशेषदर्शनात् । होत्रा सान्ना योज्येत्यथतच्छ्रु-
ति (८) 'वृषसिन्धु वृषपाणास इन्दयः' सुष्टुमायातमद्रिभिः अथ जायत

१. सा. सं. ३. २. १४. १.

२. सा. सं. ३. २. १२. २.

— ३. सा. सं. ३. २. १५. २.

४. सा. सं. उ. ३. २. २०. ३.

५. सा. सं. उ. ४. १. ९. १.

६. सा. सं. उ. ४. १. ८. १.

७. सा. सं. उ. ४. १. १४. १.

८. ऋ. सं. २. २. ४. १. इयं पादसप्तकविशिष्टा श्रग्नेदे पठिता ।

धनुषोघारीत्यादिकाः सप्तपदाश्चाऽत्र विनियुज्यन्ते । द्विपदा पादद्वया-
त्मिका(१)अग्ने त्वं नो अन्तम', (२)इमा नु क भुवना सीषधमे" त्यादिका
विनाराशसाः, नराः शस्यन्ते अनयेति नाराशसा स्तुति' तद्गहिता
ऋक् अस्याहो रूपम्, तथा गोमत् गोशब्दयुक्त ऋषभयत् ऋषभशब्द
युक्तश्च(३)'गोमिरञ्जानो अपैनि' (४)सुदुधामिव गोदुह" इत्यादिकम्॥६॥
अथोक्तानां षडहसम्बन्धिना रूपाणा नानात्वं स्तौति—

यस्मादेपा समाना सती षडहविभक्तिर्नानारूपा त-
स्माद्विरूपः संवत्सरः ॥ ७ ॥

यस्मादेपोका षडहविभङ्गि' षडहस्य विभक्तिर्विभागः समाना
सती षडहविभक्तिर्येन सहशी भवत्यपि नानारूपा उक्तप्रकारेण पर-
स्परं विभिन्नरूपा तस्मात् संवत्सरो विरूपो विभिन्नरूपः उक्तप्रकारेण
विलक्षणाभ्यानि षडृतुस्थानीयानि । अतो वसन्तादीनां परस्पर वि-
भिन्नधर्मत्वात् उक्त संवत्सरस्य विरूपत्वम् ॥ ७ ॥

एतद्वेदेन प्रशंसति—

विरूपमेनमनुप्रजायते य एवं वेद ॥ ८ ॥

एन वेदितारमनु पश्चात् विरूप विविधरूपमपत्यादि प्रजायते
उत्पद्यते य एवमुक्तां विलक्षणां षडहविभक्तिं वेद जानीयात् ॥ ८ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माघवीये वेदार्थप्रकाशे

दशमाध्यायस्य षष्ठ खण्ड ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

अथाऽस्मिन्नेव पृष्ठ्ये षडहे अग्निविभक्तिर्वाचिष्य प्रदयं स्तौति—

अग्न इति प्रथमस्याऽहो रूपमग्निविभक्तेराग्निमिति
द्वितीयस्याऽग्निनेति तृतीयस्याऽग्निरिति चतुर्थस्य ॥ १ ॥

अग्निविभक्तेः अग्निशब्दस्य या विभक्तयस्तासा मध्ये अग्ने इति सम्बु-
ध्यन्त प्रथमस्याऽहो रूपम् । (५)'अग्न आयाहि वीतये' इति हि तस्मिन्नह-
नि दृश्यते । अग्निमिति द्वितीया विभक्तिः । द्वितीयस्याऽहो रूपम्(६)"अग्नि
दूत वृणमिह" इति तत्र मन्त्रवर्ण । अग्निनेति तृतीया तृतीयस्याहो रूपम्

१. सा. घ. उ. ४. १. २२ १.

२. सा. स. उ. ४. १. २२ १.

३. सा. स. उ. ४ १, २. २.

४. सा. स. उ. ४ १. १५ १.

५. सा. सं. उ. १ २ १६. २.

६. सा. स. उ. २ १. ६ १.

अत एव तत्राऽपि (१) "अग्निनाग्निः समिध्यत" इति दृश्यते । अग्निरिति प्रथमैव चतुर्थस्याऽहो रूपम् । (२) "जनस्य गोषा मज्जनेष्ट जागृविरग्निः सुदक्षः" इति तत्र दर्शनात् ॥ ९ ॥

अथ पञ्चमस्याऽहोऽसाधारणाग्निविभक्ति विवक्षुराह—

देवा वै श्रियमैच्छन्स्तान्न प्रथमेऽह्न्यविन्दन् द्वि-
तीये न तृतीये ताश्चतुर्थेऽह्न्यविन्दन् विन्दते श्रियं य
एवं वेदाऽग्नेरिति पञ्चमस्य तेनो श्रीः प्रत्युपोदितेत्याहुः ॥ २ ॥

देवाः खलु पुरा श्रियं सम्पदं ऐच्छन् । तदर्थं द्वावशाऽह्न्यन्वतिष्ठन् । तत्र च तां श्रियं प्रथमेऽह्नि नाऽविन्दन् नाऽलभन्त । तथा द्वितीये चा-
ऽह्नि नाऽविन्दन् । तृतीये चाऽह्नि नाऽविन्दन् । एवं प्रथमे त्रिरात्रे
मलब्ध्वा तां चतुर्थेऽह्न्यविन्दन् । एवमुक्तश्रियो लाभं यो वेद अन्वैश्रियं
सम्पदं विन्दते लभते । एवं चतुर्थेनाऽह्ना श्रियः प्राप्ता सत्यां अग्नेः इति
विभक्तिः पञ्चमस्याऽहो भवतीति यत् तेनो तेनैव सा प्राप्ता श्रीः प्रत्यु-
पोदिता प्रत्याख्यातेत्याहुर्ब्रह्मवादिनः । (३) "तव श्रियो धर्मस्येव विद्यु-
तोऽग्नेधिकित्व" इति हि पञ्चमेऽह्नि दृश्यते । तत्र चाग्नेः इति सम्ब-
न्धः प्रतीयते । तस्मात् सम्बन्धः प्रत्याख्यात इति तेषां ब्रह्मवादिनाम-
भिप्रायः ॥ २ ॥

एतद्वेदनस्य फलमाह—

अप्रतिवाद्येन भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

एवमुक्तं प्रतिवचनं यो वेद भ्रातृव्यः शत्रुः एनमप्रतिवादी भवति
अनेनोक्तं प्रतिवक्तुं न शक्नोति ॥ ३ ॥

आरम्भावसानयोः सारूप्यार्थं तमेव सम्बुध्य षष्ठस्याऽहो रूप-
मित्याह—

अग्न इति षष्ठस्य येनैव रूपेण प्रयन्ति तदभ्युद्यन्ति ॥ ४ ॥

(४) 'अग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तद्ये'ति षष्ठेऽह्नि दर्शनात् अग्न इ-
त्येतदेव षष्ठस्याऽहो रूपम् । तथा च येनैव रूपेण प्रयन्ति षडहं प्रारमन्ते
तेनैव रूपमभिलक्ष्य तेनैव रूपेणाद्यन्ति षडहं समापयन्ति ॥ ४ ॥

उक्तविभक्तिनानात्वं प्रशंसति—

यस्मादेषा समाना सत्याग्निविभक्तिर्नानारूपा तस्मा-

यथर्त्वादित्यस्तपति ॥ ५ ॥

एषोकाऽग्निविभक्तिः समाना अग्निविभक्तित्वेन सरूपा सती यस्मा-
न्नानारूपा सम्बुद्ध्यादिविभक्तिभेदेन परस्परं विलक्षणाकारा तस्मा-
द्देवोर्यथर्त्तुं क्रतावृतौ वसन्तादिके आदित्यो नानारूपः सन् तपति सर्वं
जगद्भासयति ॥ ५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये वेदार्थप्रकाशे
दशमाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

अथाऽष्टमः खण्डः ॥

अथाऽस्मिन् पट्टहे विभक्तेर्नानात्वं प्रदर्श्य स्तौति—

इन्द्रेति प्रथमस्याऽहो रूपमिन्द्रविभक्तेरिन्द्रमिति
द्वितीयस्येन्द्रेणेति तृतीयस्येन्द्र इति चतुर्थस्येन्द्रादिति
पञ्चमस्येन्द्रेति षष्ठस्य येनैव रूपेण प्रयन्ति तदभ्युद्यन्ति
तस्मादेषा समाना सतीन्द्रविभक्तिर्नानारूपा तस्माद्य-
थर्त्त्वोपधयः पच्यन्ते ॥ १ ॥

इन्द्रविभक्तेः इन्द्रशब्दस्य विभक्तीनां मध्ये इन्द्रेति सम्बुध्यन्तं प्र-
थमस्याऽहो रूपम् । तथाच तत्रत्यो मन्त्रवर्णः—(१)“आ याहि सुपमा
हि त इन्द्र सोम”मिति । इन्द्रमिति द्वितीया विभक्तिर्द्वितीयस्याऽहो रू-
पम् । (२)“इन्द्रमिद्रायिनो बृह”दिति हि तत्र दृश्यते । इन्द्रेणेति तृती-
यस्य (३)“इन्द्रेण सं हि दक्षस” इति तत्र दर्शनात् । इन्द्र इति प्रथमान्तं
चतुर्थस्य । (४)“इन्द्रो दधीचो मस्थमि”रिति हि तत्र मन्त्रो दृश्यते ।
इन्द्रादिति पञ्चमस्य, (५)“इन्द्रात्परितन्वं मम” इति तत्रत्यान्मन्त्रव-
र्णात् । इन्द्रेति सम्बुध्यन्तमेव षष्ठस्य (६)“यद्दीडाविन्द्र यत्स्थिरं”इति हि
तत्र दृश्यते शिष्टं सिद्धप्रायम् ॥ १ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये वेदार्थप्रकाशे

दशमाध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ॥

१. सा. सं. उ. १. १. ६. १.

२. सा. सं. उ. २. १. ८. १.

३. सा. सं. उ. २. २. ७. १.

४. सा. सं. उ. ३. १. ८. १.

५. सा. सं. ५. १. ९. ३.

६. सा. सं. उ. ४. १. ९. ३.

अथ नवमः खण्डः ॥

इत्थं स्तोत्रीयागतानि रूपाणि दर्शयित्वा साम्नामपि पृष्ठचपडदे विधास्यमानानां रूपाणीत उत्तरं त्रिभिः खण्डैः प्रदर्शयन्ते । तत्र प्रथमं स्वरविभक्त्याणि रूपाणि षडहस्य दर्शयति—

पट्ट्या प्रस्तौति तत्प्रथमस्याऽहो रूपं स्वरविभक्त्यै-
त्पुरस्तात्स्तोभं तद्वितीयस्य यदुभयतः स्तोभं तत् तृती-
यस्य यदनुतुन्नं तच्चतुर्थस्य यदभ्यारब्धं तत्पञ्चमस्य
यदिहकारेणाऽभ्यस्तं तत् षष्ठ्याऽहो रूपम् ॥ १ ॥

स्वरविभक्तेः स्वराणां विभक्तयो विभज्यमाना एकदेशाः स्वरवि-
भक्तयः, जाताधेकवचनम्, स्वरविभक्त्यानां मध्ये ऋचा स्तोमादिवर्जित-
या केवल्यैवर्षा प्रस्तोता सामप्रस्तांतीति यत्तत् प्रथमस्याऽहो रूपम् ।
तथाहि—प्रथमेऽहनि माध्यन्दिनसवने विधास्यमानानि आर्यं सोम-
साम औशनादीनि ऋचैव प्रस्तूयन्ते । यत् पुरस्तात् ऋक्प्रारम्भात्
पूर्वमेव स्तोमयुक्तं साम तत् द्वितीयस्याऽहो रूपं तथैव तस्मिन्महनि-
यौकार्यं, आयास्यं वासिष्ठ बृहदित्येवमादीनि सामानि पुरस्तात् स्तो-
मान्येव विधास्यन्ते । यदुभयतःस्तोभं पादस्याद्यन्तयोः स्तोमयुक्तं
साम तत् तृतीयस्याऽहो रूपम् । हाउ अमिसोमास आयवो हाउ इत्या-
दिकमुभयतः स्तोभं गीतमस्य तत्र विधानात् यत् अनुतुन्नं अनुपादः
स्तोमेस्तुद्यमानं साम तच्चतुर्थस्याऽहो रूपम् । स्वरादनुतोदवायत्यत्रैव
एतत्साम प्रदर्शितम् । यत्सामाभ्यारब्धं अभि उपर्यधः एकस्या ऋच
उपर्यभ्यारब्धव्यं भवति तत् पञ्चमस्याऽहो रूपम् सर्वाण्यपि सामानि
एकैकस्यामृचि समाप्यन्ते, शास्त्रसाम तु त्रिस्तुष्टु समाप्यत इत्यभि-
प्रायेण अभ्यारब्धव्यमित्युक्तम् । एवं तिस्रः तिस्र एकैका स्तोत्रीयेति प-
ञ्चमेऽहि पृष्ठस्तोत्रम् । तथा चाऽद्वयलायनसूत्रम्—नव प्रकृत्या तिस्रो भव-
न्तीति । यत्साम इहकारेणाऽभ्यस्तं पुनः पुनरिहकारेण इहशब्दोच्चार-
णेन स्तोमयुक्तेन दीदिदीचेति नभमिर्ऋग्भिः स्तोत्रीयास्तृचो निष्पद्यन्ते
भद्रं दीतिर्धौप इत्यादिकं तत् षष्ठ्याऽहो रूपमुक्तम् ॥ १ ॥

स्वरविभक्तेर्नानात्वं प्रशंसति—

स्वराणां यस्मादेपां समाना सती स्वरविभक्तिर्ना-
नारूपा तस्माद्यथर्तु वायुः पद्यते ॥ २ ॥

स्वराणां मध्ये येषां स्वरविभक्तिरुक्ता सा समाना सती सामावय-
त्वेन सदृशी भवन्ती यस्माज्जानात्तु उक्तप्रकारेण प्रत्यहं विभिन्नरूपा
तस्माद्यत्तु ऋतावृत्तौ धीप्तालक्षणेऽर्थे यथाशब्दस्याऽव्ययीभावः प्रत्युतु
वायुर्नानाकारः पवते गच्छति ॥ २ ॥

इति ताण्ड्यमहाभाष्ये माधवीये वेदार्थप्रकाशे
दशमाध्यायस्य तवमः खण्डः ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

अथ तस्मिन् पदहे निधनविभक्तेर्नानात्वं प्रदर्श्य स्तौति—

पदानिधनं प्रथमस्याऽहो रूपं निधनविभक्तेर्वहिर्निध-
नं द्वितीयस्य निधनं तृतीयस्येति निधनश्चतुर्थस्याऽथका-
रणिधनं पञ्चमस्य यदिहकारेणाभ्यस्तं तत् षष्ठस्याऽहो
रूपं निधनानां यस्मादेषा समाना सती निधनविभक्ति-
र्नानारूपा तस्मादिमे लोकाः सह सन्तो नानैव ॥ १ ॥

निधनानि तावत् द्विविधानि-अन्तर्निधनानि बहिर्निधनानि च ।
(१) "इहकार इडा यकारौ गीतञ्च निधनस्वरं ह्रीयोस्वरञ्च व्यक्षरं देवताश्वा-
रण्ये गेयेषु तान्यन्तस्सामनिधनानी"त्यादिना सूत्रकारेण अन्तर्निधना-
न्युक्तानि । सर्वत्र तावद्यत्तार एव सामान्ताः स्वरो निधनमिडावागि-
त्यादिना बहिर्निधनान्यपि सूत्र एवोक्तानि । तदुभयमत्राऽनुसन्धातव्यम् ।
अयमर्थः-निधनविभक्तीनां मध्ये पदानिधनं पादे पादे कियमाणेन निध-
नेन युक्तं साम प्रथमस्याऽहो रूपम् । तथा यौधाजयं बहिर्निधनं ऋगक्ष-
राह्निर्भूतं निधनं यस्य तत् द्वितीयस्याऽहो रूपम् । तथा यौकाश्वादिकं
दिश इति निधनं यस्य तद् द्वितीयस्याहो रूपम् । तथा क्षुल्लकवैष्ट-
म्ममं हावैष्टम्मं ई इति निधनं यस्य तदानीधनं चतुर्थस्याहो रूपम् । तथा
महावात्सप्रमहावैराजे अथकारः अथेति शब्दो निधनं यस्य तदथकार-
णिधनं पञ्चमस्याहो रूपम् । इहकार इडा यकारौ गीतञ्च निधनस्वरमित्या-
दिना सूत्रकृता अथकारस्यान्तर्निधनत्वमुक्तम् । तच्च शाकवरे साम्नि
वदयते इन्द्रा धूमनायना १ इया इत्यादि । तथा इडा इडा यत् साम भद्रं
दीदिहा धौपादिकं इह कारणिधनेनाऽभ्यस्तं तत् षष्ठस्याऽहो रूपं नाना

सम्बन्धिनी एषा निधनविभक्तिः समाना सती यस्मादुक्तप्रकारेण नानारूपा नस्मात् भूरादयस्त्रयो लोकाः सहस्रन्त एकरूपाः सन्तोऽपि नानैव नानारूपा एव भवन्ति ॥ १ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये वेदार्थप्रकाशे

दशमाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

अथैकादशः खण्डः ॥

अथेडाविभक्तेनितत्वं प्रदर्श्य स्तौति—

द्रवदिडं प्रथमस्याऽहो रूपमिडाविभक्तेरुद्धेडं द्वितीये-
स्य परिष्टुब्धेडं तृतीयेस्पेडाभिरैडं चतुर्थस्याऽध्यर्द्धेडं पञ्च-
मस्य यदिहकारेणाऽभ्यस्तं नत् पष्ठस्याऽहो रूपमिडानां
यस्मादेषा समाना सतीडाविभक्तिर्नानारूपा तस्मात्स-
मानाः सन्तः पशवो नानारूपाः ॥ १ ॥

इडाविभक्तेः इडाविभक्तीनां इडाप्रमेदानां मध्ये द्रवदिति द्वि-
क्षिपनाम द्रवन्तीडा यस्य तद्द्रवदिडं कालेयगौतमादिकं तत्प्रथम-
स्याऽहो रूपं इडाभिरैडाभिश्चन्द्रेण युक्ता इडा यस्य पृश्निसामादेः तत्त-
योक्तं इडा २३ भा ३४३ तु २३४५ इ डा भा २३४५ ई इति ऊर्ध्वेडा
यस्येति तत् । माधुच्छन्दसादेः तत् द्वितीयस्याऽहो रूपम् (१) । अर्धम-
धिकंयस्याः सा अध्यर्द्धा अध्यर्द्धा इट् इडेत्येवं रूपा यस्य वार्षवाग्नादेः
तदध्यर्द्धेडं पञ्चमस्याऽहो रूपं, यद्यपि वार्षवाम्नादेरध्यर्द्धरूपा ऊ३२३पा
एवाऽध्ययने दृश्यते तथापि सूत्रकारेण (२) "उपा स्थानेष्वन्यानि निध-
नानी"त्यपक्रम्य इडा परिष्टुब्धा इडा यस्य संज्ञैरवभृथाच्छाधाकसामं
भवतीत्यादेः तद्वैरवादिपरिष्टुब्धेडं तत्र द्विउप ३ होवा हो ५ इडा
२३ भा २४३ पो २३४५ इ डा इति द्वि तत्र दृश्यतेऽनादेशे इत्यादिना
अध्यर्द्धात्यमध्यर्द्धोपानामित्येतेन अध्यर्द्धोपास्थाने इट् इडेत्येवं रूपा
अध्यर्द्धेडा प्रयोगकाले प्रयोज्येत्युक्तत्वात् वार्षवाग्नायोरप्यध्यर्द्धेडत्वम्
यासाम इहकारेणाभ्यस्तं आवर्त्तमानेहकारयुक्तं वारयन्तीयादिकं तत्
पष्ठस्याऽहोरूपं इडानां सम्बन्धिन्वेषा उदाहनेडाविभक्तिः समाना

सदृशी सत्यपि यस्मान्नानारूपः द्रवदुर्द्धनादिभेदेन विभिन्नाकारा
तस्मात् पशवः समानाकृतयः सन्तोऽपि नानारूपाः ॥ १ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये वेदार्थप्रकाशे

दशमस्याध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

अथाऽस्य पञ्चदशस्य प्रत्यहं विशिष्टफलहेतुतां ब्रह्मवादिनां प्रश्नप्र-
युक्तिभ्यां दर्शयति—

भरद्वाजायना वै सत्रमासत तानपृच्छन् किं प्रथ-
मेनाऽह्ना कुरुतेति प्रैवैमेति किं द्वितीयेनेत्यवसमेवाऽकुर्म-
हीति किं तृतीयेनेति पर्येषाप्सवामहीति किं चतुर्थेनेति
सतैव सदप्यदध्मेति किं पञ्चमेनेति प्राणानेव विच्छि-
न्दन्त एमेति किं षष्ठेनेतीदमेवाऽगच्छामेति इति ॥१॥

भारद्वाजायनाः भरद्वाजगोत्राः खलु पुरा ऋषयः सत्रं सत्रात्मक-
मेतं द्वादशाहमासत अन्वतिष्ठन् । सत्रमासीनान् यजमानान् अन्ये तु
ब्रह्मवादिनोऽपृच्छन्-हे ऋषयो यूयं प्रथमेन पार्ष्टिकेनाऽह्ना तु किं कुरु-
त किं फलं प्राप्नुयेति । तान् प्रत्येवमब्रुवन्-प्र प्रैवैमेति पदच्छेदः एते-
र्लटि लङि रूपमेतत् प्रैवैमैव यज्ञस्य प्रायणमेव केवलमकार्ष्मेति । अथ
द्वितीयेनाऽह्ना किं कुरुतेति पुनस्ते ब्रह्मवादिनोऽपृच्छन् अवसं अश्रमेव-
कुर्महि निष्पादितवन्तो वयमिति प्रत्यवोचन्त । अथ तृतीयेनाऽह्ना
किं कुरुतेति ब्रह्मवादिभिः पृष्टे तस्येदमुत्तरम्-परि सर्वत एवाऽप्सवा-
महि प्राप्नुवन्तः स्म इति । पुनश्चतुर्थेनाऽह्ना किं कुरुतेति ब्रह्मवादिनां
प्रश्नः । तस्येदमुत्तरं सतैव विद्यमानेन निष्पन्नेन एते सुपांसुलुगिति
तृतीयाया आकारः अन्वादेशः विषयादेशादेशः एतेन चतुर्थेनाऽह्ना सत्
विद्यमानं सर्वं फलमध्यदध्म अपिहितवन्तः स्थापितवन्तः प्राप्तवन्तो
वयमिति । पञ्चमेनाऽह्ना किं कुरुतेति ब्रह्मवादिभिः पृष्टे सत्येतान् वि-
द्विषां प्राणानेव विच्छिन्दन्तः वियोजयन्तः एतान् प्राणानेव प्राप्ताः स्म
इति प्रत्यब्रुवन् । अथ षष्ठेनाऽह्ना किं कुरुतेति ब्रह्मवादिभिः पुनः
पृष्टे तस्येदमुत्तरम्-इदमेव स्थानं इहलोकावस्थानमेव प्राप्तवन्तः स्म
इति ॥ १ ॥

अथ यद्वचा प्रस्तौतीत्यादिना येषां स्वरविभक्तिः पूर्वं प्रदर्शिता त-
त्रैकैकमनूय स्तौति—

यस्य पदेन प्रस्तौत्यथ स्वारमभिवाच्य तेन देवाः प-
शुनपश्यन् यत् पुरस्तात् स्तोममथ स्वारमुदेव तेनासृ-
जन्त यदुभयतः स्तोममथ स्वारमेभ्य एव तेन लोकेभ्यो
देवाः पशुभ्योऽन्नाद्यं प्रायच्छन् यदनुतुन्नमथ स्वारमुपैव
तेनाशिक्षन् यस्य मध्ये निधनमथ स्वारं गर्भांस्तेनादधन्
तानि हवतास्वारेण प्राजनयन् ॥ २ ॥

यस्य प्रथमेऽहनि विहितस्य साध्नः पदेन ऋचः पादेनैव स्तोम-
रहितेन प्रस्तौति प्रस्तोता प्रस्तावमागं भूयात् अथाऽनन्तरं स्वारं स्व-
र्च्यमाणं स्वरिति विशिष्टं उद्गीयमाणगङ्गाद्वाता ब्रवीति तेन साम्नास्तूय-
माना देवाः पशुनेवाऽभ्यपश्यन् यजमानाय दातुमभ्यजानन् यत् पुर-
स्तात्स्तोमं ऋचः पुरस्तात् क्रियमाणेन स्तोमेन युक्तं अथानन्तरं
स्वारं स्वर्च्यमाणं द्वितीयेऽहनि विनियोज्यं साम तेन स्तुता देवा उद-
सृजन्तैव पूर्वदृष्टान् पशून् यजमानैः प्राप्तुं व्यमुञ्चन् प्रायच्छन्नित्यर्थः—
यदुभयतः स्तोमं आद्यन्तयोः स्तोमं आद्यन्तयोः स्तोमयुक्तं अथानन्तरं
स्वर्च्यमाणेन स्वारं तृतीयेऽहनि विनियोज्यं साम तेन साम्ना स्तुताः देवा
पश्य पश्य भूरादिभ्यो लोकेभ्य एव दृष्टेभ्यः पशुभ्यः सक्ताशादन्ना-
द्यं क्षीरादिकं अदनीयमन्नं प्रायच्छन् प्रकर्षेण दत्तवन्तः यदनुतुन्नं प्रथ-
मं अनुतोदधत् अथाऽनन्तरं स्वारं स्वरितयुक्तं चतुर्थेऽहनि विनियो-
ज्यं साम । तेन स्तुता उपैवाशिक्षन् शिक्षयितुमिच्छन् यजमानान् शक्ता-
न् कर्तुमैच्छन्नित्यर्थः । शिक्षतेः (१) 'सति मौमाधुरमलमशकपेत्त्यादिना सन्
प्रत्यये परतः (२) 'अत्र लोपोऽभ्यासस्ये'त्यभ्यासलोपः । यद्वा शिक्ष
इति दानकर्म्या यजमानैर्यद्यत्प्राथितं तत्तत् प्राप्तुयुक्तित्यर्थः । यस्य
साम्ना मध्ये निधनं इडा मध्येत्यादिकं अथानन्तरं स्वारं स्वरितयुक्तं तेन
साम्ना तूयमाना देवाः गर्मान् दधन् ब्रजान् गर्माणां निक्षेपणमकार्षुः
इद्वताइ इद्वताइ हाइद्वकारवता स्वारेण स्वर्च्यमाणेन साम्ना तान्
पूर्वमाहितान् गर्मान् प्राजनयन् प्रकर्षेण उदपादयान् ॥ १ ॥

पदनिधनं प्रथमस्येत्यादिना येषां निधनविभक्तिरुक्तास्तानवयुत्य

स्तौति—

इमं वाव देवा लोकं पदनिधनेनाऽभ्यजयन्मुं वहि-
र्णिधनेनान्तरिक्षं दिङ्निधनेनाऽमृतत्वमीनिधनेनागच्छन्
ब्रह्मवर्चसमथनिधनेनाऽवास्मन्धताऽस्मिन्नेव लोक इहानिध-
नेन प्रत्यतिष्ठन् ॥ ३ ॥

देवाः खलुः पुरा इममेव भूर्लोकं पदनिधनेन क्रियमाणेन निधनेन
तद्वता साक्षा अभ्यजयन् अमुं स्वर्गलोकं वहिर्णिधनेन ऋगक्षराद्वहि-
र्भूतनिधनयुक्तेन साक्षाऽभ्यजयन् । अथ दिङ्निधनेनाऽगच्छन् प्राप्नुवन्
दिश इति निधनवता साक्षा अन्तरिक्षमभ्यजयन् । तथा अमृतत्वं क-
दाचिदपि मरणराहित्य ईनिधनेन इकारनिधनेन साक्षा आगच्छन्
प्राप्नुवन् अथनिधनेन अधिकारनिधनेन साक्षा ब्रह्मवर्चसं ब्राह्मं तेजः
अवारुन्धत प्राप्नुवन् । तथा इहनिधनेन इहकारनिधनेन साक्षा अस्मि-
न्नेव भूर्लोके प्रत्यतिष्ठन् चिरकालावस्थायिनोऽभूवन् ॥ ३ ॥

अथ द्रवदिङ् प्रथमस्याऽङ्गा रूपमित्यादिना यैषा इडा विभक्तिर्ज्ञा-
नारूपोक्ता तामवयुत्याऽनुवादेन स्तौति—

इमं वाव देवा लोकं द्रवदिङेनाऽभ्यजयन्नुमूर्ध्वेङेना-
न्तरिक्षं परिष्टुब्धेङेन प्रतिष्ठाभिडाभिरैङेनाऽवारुन्धत
प्रतिष्ठायाऽध्यद्वेङेन व्यजयन्ताऽस्मिन्नेव लोक इहेङेन प्र-
त्यतिष्ठन् ॥ ४ ॥

इममेव भूर्लोकं देवाः पुरा द्रवदिङेन हो इडा इति युक्तेन साक्षा-
ऽभ्यजयन् । ऊर्ध्वेङेन अमुं ध्रुलोकमभ्यजयन् । परिष्टुब्धेङेन परितः
स्तोमयुक्तेडाशब्दोपेतेन साक्षा अन्तरिक्षलोकमभ्यजयन् । इडाभिरै-
ङेन साक्षा प्रतिष्ठां प्रतिष्ठानं अवारुन्धत प्राप्नुवन् । प्रतिष्ठाय च अध्य-
द्वेङेन अर्द्धाधिक्येडया युक्तेन साक्षा अजयन्त ऊर्ध्वमभ्यजयन्त अ-
मितो जयन्त अमितो जयं प्राप्नुवन् अस्मिन्नेव भूर्लोके इहेङेन इहका-
रयुक्तपङ्कहोपेतेन साक्षा प्रत्यतिष्ठन् प्रतिष्ठिता अभवन् ॥ ४ ॥

अथैतामिडाविभक्तिं प्रकारान्तरेण स्तोष्यन् वाङ्निधनात् इडा
निधस्याऽतिशयं दर्शयति—

न वाक् संवत्सरमतिवदतीडैव संवत्सरमतिवदति
गर्भेण संवत्सरे पर्यावृत्य प्रजायेते तेनाऽतिवदति ॥ ५ ॥

वाक् वाङ्निधनं संवत्सरं द्वादशमासात्मकं कालविशेषं नातिव-
दति अतिक्रम्य न वदति । किन्तु ततः पूर्वमेव वदति जननादूर्ध्वं प-
ञ्चसु मासेषु हि बालानां जल्पितं भवति । इडैव इडानिधनमेव तु सं-
वत्सरमतिवदति । एतदेव विविपते गर्भेणेति इडेति गोनामसु
पाठात्(१) 'पशवो वा इडे'ति श्रुतेश्च इडाशब्देन पशुरेषोच्यते । स
च गर्भेण गर्भरूपेणाऽवस्थितस्सन् संवत्सरे मासदशके सम्पूर्णं पर्या-
वृत्य योनिदेशं प्रति स्वकीयं शिरः प्रतिनिवृत्य प्रजायते उत्पद्यते । तेन
प्रकारेण इडानिधनं संवत्सरमतिवदतीति ॥ ५ ॥

अस्त्येवम् । ततः किम् ? अत आह—

ता वा एताश्चतस्रः पडहं पराक्ष्य इडा अतिपन्त्ये-
षा नृतैषा विपूच्येषा प्रतीच्येतदीडम् ॥ ६ ॥

एतास्ताः पूर्वाकाः पराक्ष्यः पराक् उपरिभागे वर्तमानाश्चतस्रः
इडाः परिष्टुग्धेडायाः पडहप्रिवृदादि पट्पृष्ठकं अतियन्ति अतीत्य
गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । इयदिहोर्लुं तु रयत्तरस्य वृद्धतश्चोभयोः
प्रकृतावेव सम्यन्धात् तद्विषये एवेति न ताभ्यां पडह्व्याप्तिः । एषा तु
एषा छल्विडा ऊता प्राता पाडहिकेषु सामसु सम्यद्धा । तथैषा विपूची
विष्वक् सर्वत्राऽञ्चती साम्नामधस्तादुपरिष्ठाञ्च वर्तमाना । एषैव प्रतीची
प्रत्यञ्चती प्रत्येकं लोमानि प्राप्नुवती भवति । एतदिदं परिदृश्यमानं
जगत्सर्वं पेडमु पेडमेव इडाप्रभवमेव इडायाः पशुरुपत्वात् पशुभिश्च
सर्वं जगत्पुष्टं भवतीति इडाजगतोऽस्सम्यन्धः ॥ ६ ॥

यद्येव इडानिधनमेव स्यात् न तर्हि वाङ्निधननाशोर्भवेदित्या-
शङ्क्य सम्पत्त्या तदपि लभ्यते इत्याह—

संवत्सरोऽग्निर्वाक् सम्वत्सरो यदग्निर्विभज्यते

वाचमेव तद्विभजन्ति ॥ ७ ॥

अग्निस्तावत् संवत्सरः, तन्निष्पाद्यत्वात् वाक् च संवत्सररत्मिका,
संवत्सरे पूर्णं एव शिशवो व्यकवर्णा वाचं प्राप्नुवन्ति । (२) "तस्मादे-
कहायना मनुष्या वाचं वदन्ती"ति श्रुत्यन्तरात् । अतो वाचः सम्य-
त्सरात्मकत्वम् । एवं परम्परया अग्निरेव वागित्युक्तं भवति । युक्त-
श्चैतत्-अग्नेर्वाचोऽधिष्ठातृत्वात्, श्रूयते हि "अग्निर्वागमूल्या मुष्टं
प्राविश"दिति । एवं सति यदग्निर्विभज्यते अग्न इति प्रथमस्याऽङ्गो

रूपमित्यादिनोक्तेन प्रत्यहं अग्निशब्दो विभक्तिमेदेन मिद्यते तत्तेन घा-
चमेव तद्विभजन्ति चाग्निभक्तिरेव सा एषा विभक्तिः । अतो घाङ्निध
नाश्रितमपि फलं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

तत्र विभज्यमानाग्निशब्दगतां संख्यामनूद्य प्रशंसति—

द्वे द्वे अक्षरे विभजन्ति द्वौ द्वौ हि मासावृतुरथो
मासानामेव तद्रूपं क्रियते ॥ ८ ॥

अग्निविभक्तौ च द्वे द्वे अक्षरे अग्निरिति द्वे अक्षरे इन्द्र इति
द्व्यक्षरञ्च विभजन्ति । कुतो ? हि यस्मात् द्वौ द्वौ मासौ चैत्रादिकौ
सम्भूय ऋतू वसन्तादिक ऋतुर्भवति । अथो अपि च तदक्षरद्वयविभ
जनात् मासानां द्वन्द्वशो वर्त्तमानानामेव रूपं क्रियते ॥ ८ ॥

अथोक्तां षडहविभक्तिमनूद्य स्तौति—

षडहानि विभजन्ति षडृतव ऋतूनां धृत्या ऋतू-
नां प्रतिष्ठित्या अथो ऋतूनामेव तद्रूपं क्रियते षड् पुरुषा
यानमिरनुविहिष्यते ॥ ९ ॥

दशरात्रस्याऽऽदितः षट्संख्यान्यहानि विभजन्ति एति प्रेत्याशुम-
दित्यादिना पूर्वोक्तेन साधारणरूपेण विभजन्ति विभक्तानि कुर्वन्ति ।
ऋतवश्च षट्सहस्रका भवन्ति । यथा च तत् षडहविभजनं ऋतूनां
धृत्यै स्थैर्याय भवति तथा तेषामृतूनां प्रतिष्ठित्यै प्रतिष्ठानाय च भव
ति । अथो अपि च तद्विभजनं ऋतूनामेव रूपं क्रियते ऋतवोऽपि
परस्परं विभक्ताकारा विभज्यमानान्यहानि च परस्परं विलक्षणानि
भवन्ति इति तद्वैलक्षण्यमेव ऋतुवैलक्षण्यकारणमित्यर्थः । यस्मादे-
तानि विभज्यमानान्यहानि षट्संख्यानि अत एव कारणात् सदसि
निविष्टा(१) होतृमैत्रावरुणाद्या षट्कर्त्तारः पुरुषाः षट् षट्संख्या-
का भवन्ति यान् होत्रादीननुलक्ष्य समपि अग्निर्विहिष्यते होत्रियादिषु
धिष्यपेषु आग्नीध्रीयादाहृत्याऽग्निः, प्रक्षिप्यते ॥ ९ ॥

ननु सर्वासां देवतानां मध्ये अग्नेरिन्द्रस्य चोभयोरेव विभक्तिरु-
क्ता, कुतो नान्यासामित्यत आह—

यदिदं बहुधाग्निर्विहिष्यते षट्सावादित्यः सर्वाः-
प्रजाः प्रत्यह् तस्मादेते एव देवते विभक्तिमानशाते
नातोऽन्या काचन ॥ १० ॥

यस्मात् इदमयमग्निर्वहुधा बहुप्रकारं विहितं यस्माच्च असौ
 द्युलोकस्थः आदित्यः सर्वा इमाः भूलोकवर्तिनीः प्रजाः प्रत्यङ् प्रत्य-
 ञ् अन् प्रत्येकं पूर्वस्यां दिश्युद्यन् भवति । श्रुत्यन्तरञ्च भवति(१) “तस्मात्
 सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगादिती”ति । इन्द्र एव आदित्यः तस्मादेतोः
 एते एव अग्निरिन्द्रश्चेति देवते विभक्तिं पठहे प्रत्यहं विभागं आनृणाते
 प्राप्तवत्यौ । अतोऽन्या एतद्व्यतिरिक्ता काचन काचिदपि देवता न
 प्राप्तवतीति ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमद्देश्वरः ॥ १० ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेस्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभू-
 पालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये
 सामवेदार्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे
 दशमाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥
 दशमाध्यायः समाप्तः ॥

अथैकादशोऽध्यायः ॥

प्रथमः खण्डः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं षन्दे विधातीर्यमहेदधरम् ॥

इत्थं द्वादशाहं विधाय समुदायशोऽवयवशश्च तत्प्रशंसा कृता ।
तदवयवे पृष्ठपदद्वये स्तोत्रीयाणां तदाश्रितानां सामानि च दशरात्रिका-
णि विधास्यन्ते । द्वादशाहस्य यावाद्यन्ताश्रितिरात्रौ तौ पूर्वोक्तात् ज्यो-
तिरतिरात्रात्र विशिष्यते । अतस्तौ वर्जयित्वायानि मध्ये दशाऽहानि-
पृष्ठयः पदहस्त्रयद्वन्द्वोमाः दशममहरविवाक्यञ्चेति तेषु प्रथमेऽहनि
अग्निष्टोमसंस्थे सर्वेष्वपि स्तोत्रेषु त्रिवृदेव स्तोमः । द्वितीयादीन्यष्टा-
वहान्युक्त्यसंस्थानि पञ्चदशसतदशौकविंशत्रिणवत्रयस्त्रिंशच्चतुश्चत्वारिं-
शाष्टाचत्वारिंशस्तोमकानि । दशममहस्तु चतुर्विंशस्तोमकम-
ग्निष्टोमसंस्थम् । तत्राऽग्निष्टोमसाम्नि तु त्रयस्त्रिंशस्तोमः । अथैषा-
महामितः परैर्दशभिः प्रकरणैः स्तोत्रीयाः सामानि च विदधानः प्र-
शितान् स्तोमांश्च क्रमेण विधत्ते । तत्र प्रथमेऽहनि बहिष्पवमानस्य
स्तोमकलृप्तिं विधित्सुराह—

स्तोमो युज्यते सान्नियेभ्योऽहर्भ्यः प्रत्नवतीभिश्चो-
पवतीभिश्च ॥ १ ॥

दशरात्रस्य प्रथमेऽहनि बहिष्पवमाने योऽयं विधास्यमानस्त्रिवृ-
स्तोमः सोऽसौ प्रत्नवतीभिः प्रत्नशब्दयुक्ताभिः (१) “अस्य प्रत्नामनुद्युत”
मित्यादिभिः । उपवतीभिः (२) “उपशिक्षापतस्युपः” इत्यादिभिः स्तो-
त्रीयाभिः प्रयुज्यते सम्बध्यते निष्पद्यते इत्यर्थः । किमर्थम् ? सान्निये-
भ्यः, द्वादशाहमभूतिविष्वसृजामयनपर्यन्तानि सत्राणि । तत्सम्बन्धि-
भ्यः विधित्सितो दशरात्रश्च सर्वसत्रसम्बन्धी भवति । तत्र तत्र “द्वाद-
शाहस्य दशाऽहानीति” विधिदर्शनात् ईदृग्भ्योऽहर्भ्यः अहरर्थम् ।

एतच्च(१)नव भवन्ति, नवाहस्य युक्त्या' इत्यनेन विशदीकारिष्यते
समिधो यजति तनूनपातं यजतीत्यादाविव ॥ १ ॥

प्रक्षवतीभिश्चोपवतीभिश्चेति पाठाद्योऽनुष्ठानक्रमोऽवगतस्तमनूय
स्तौति—

यत्प्रक्षवत्य उपवतीभ्यः पूर्वा युज्यन्ते ब्रह्म तत्पूर्वं
क्षत्राद्युज्यते ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात् ॥ २ ॥

उपवतीभ्यः पूर्वं प्रक्षवत्यो युज्यन्ते सम्बध्यन्ते इति यत् तत्तेन ब्रह्म
हि पूर्वं क्षत्रात् ब्राह्मणजातिरेव क्षत्रात् क्षत्रियजातेः पूर्वं युज्यन्ते स-
म्बध्यन्ते । युक्तञ्चैतत् क्षत्रात् क्षत्रियजातेः पूर्वं हि ब्रह्म ब्राह्मणजातिः ।
सृष्टिसमये हि (२)प्रजापतिमुखात् ब्राह्मणजातानुत्पन्नायां पश्चादुरसे
बाहुभ्याञ्च क्षत्रियस्योत्पत्तेः ॥ २ ॥

एतदेव पौर्वापर्यं प्रकारान्तरेण स्तौति—

मनस्तत्पूर्वं वाचो युज्यते मनो हि याद्वि मनसा-
ऽभिगच्छति तद्वाचा वदति ॥ ३ ॥

उपवतीभ्यः पूर्वाः प्रक्षवत्यः इति यत् तत् तेन वाचः पूर्वं मन एव
युज्यते । मनो हि मनः खलु वाचः शब्दात् पूर्वं प्रथमभावि भवति ।
याद्वि यत् खलु मनसा अभिगच्छति अभिप्राप्नोति विषयीकरोति
तदेव वाचा वदति, न खलु कश्चित्प्रेक्षावान् मनसा ऽविषयीकृतं वस्तु
वक्तुं शक्नोति । तस्मादेतयोः पौर्वापर्यनियमादत्रत्येन पौर्वाप-
र्येण तदेव क्रियत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

अथ पुनः प्रकारान्तरेण स्तौति—

बृहत्तत्पूर्वं रथन्तराद्युज्यते बृहद्वि पूर्वं रथन्त-
राद्विजित्या तु वै रथन्तरं पूर्वं योगमानशे ॥ ४ ॥

तत्तेन प्रक्षवतीनां पूर्वयोगेन रथन्तरात् पूर्वमुत्पन्नं बृहत्सामैव
युज्यते । बृहत्साम हि रथन्तरात् पूर्वं प्रजापतेरजायत । नन्वेवं बृहत्तः
प्रथमभावित्वं प्रथमेऽहनि बृहत्सामैव वृष्टस्तोत्रोच्यं स्यात् । उभयसा-
मसु च संसवादिषु बृहदेव पूर्वं सम्बध्यन्तेत्याशङ्कायामिदमुच्यते—
विजित्या त्विति । तुशब्दः पक्षव्यावृत्त्यर्थः । “प्रजापतिरकामयत बहु
स्यां प्रजायेयेति । स तूर्णो मनसा स्यात्” इत्यादौ बृहत् एव प्रथम-
भावित्वं प्रतीयते । तथाऽपि यन्त्रित्याहुर्बृहत् पूर्वं प्रजापतेः समभवदि-

त्यादिना कस्मात् पूर्वं रथन्तरं योगमानश इत्यन्तेन पूर्वं प्रजापतेर्म-
नसि समुद्भूतमपि बृहत्तिरस्कृत्य सृष्टिसमये रथन्तरस्यैव प्रथमस-
र्जनात् प्रथमयोग इति पूर्वमुक्तम् । तदेवाऽत्र विजित्येत्युच्यते । वि-
जित्या विजयेनैव रथन्तरं बृहत्तः पूर्वं दशरात्रस्य प्रथमेऽहनि योगं स-
म्यन्धमानशे प्राप । तृचत्रमात्मको हि त्रिवृत्स्तोमस्तेषु तेषु प्रदेशेषु स-
माज्ञातामेकैकामृचमादाय तृचीकृताः ते तृचाः स्युरिति ॥ ४ ॥

विधत्ते—

सम्भार्यास्तृचा भवन्ति यथाऽऽशिष्ठान्वहिष्ठान्-
सम्भरेदेवमेवैतान् सम्भरन्ति गत्यै ॥ ५ ॥

एते तृचाः सम्भार्याः सम्पाद्या भवन्ति । यद्यपि तृतीय एव तृचः
सम्भार्यस्तथापि तद्योगात्(?) प्राणभृन्न्यायेन सर्वेऽपि तृचाः सम्भार्या
इति व्यपदेशः । यथा खलु लोक आशिष्ठान् भोक्तृन्मान् भक्षणसमर्थान्
वहिष्ठान् वोदृतमांश्च अनहुह अन्विष्य एकत्र सम्भरन्ति समूहीकु-
र्वन्ति; गत्यै गमनाय दशरात्रस्याऽन्तर्गताप्तवयम् ॥ ५ ॥

अथ सत्रियेभ्य इति यदुक्तं पूर्वं तत् स्तोत्रीयासङ्ख्यानुवादेनोप-
पादयति—

नव भवन्ति नवाहस्य युक्त्या ऋचर्चैवाऽहर्गुनक्ति
यथा प्रार्थस्य शम्पा अवदध्यादेवमेवैतन्नवाहस्य शम्पा
अवदधाति गत्यै ॥ ६ ॥

एवं त्रिषु तृचेषु नवस्तोत्रीया भवन्ति । एतच्च नवाहस्य अविधा-
क्यात् पूर्वभाविना नवरात्रस्य युक्त्यै योजनाय भवति । एतदेव विवि-
यते—ऋचर्चैवाहर्गुनकीति । अत्रत्यया एकैकया ऋचा नवस्वहःसु एकै-
कमहर्गोजितवान् भवति । अपिच प्रार्थस्य प्रकर्षेण इत्यर्त्तिं गच्छतीति
प्रार्थोऽनङ्गवान् तस्य युजे योजनाय । यथा शम्पा अवदध्यात् युगाङ्कि-
त्रेषु प्रक्षेप्यान् कीलकान् प्रोतान् कुर्यात् एवमेवैतत् । एतेन नवर्चन
नवाहस्य योजनाय शम्पा एवाऽवदधाति । तथा सति गत्यै समाप्तिप-
र्यन्तं गमनायैतत्सम्पद्यते ॥ ६ ॥

१. 'प्राणभृत् उपदधाति' इत्यत्र प्राणमृच्छन्दः प्राणमृदप्राणमृत्समुदायमभिधत्ते ।
तत्रैक एव मन्त्रः प्राणशब्दघटितः । अन्ये त्वतथाभूताः । तथापि तत्समुदायः प्राणमृच्छ-
न्देनोच्यते तद्वत् ।

अथाऽस्मिन्नहनि विधित्सितं स्तोमं बहिष्पवमानस्य विधाय
प्रशंसति—

त्रिवृदेव स्तोमो भवति तेजसे ब्रह्मवर्चसाय ॥ ७ ॥

सिद्धप्रायमेतत् । तेजः (२) प्रकाशः । ब्रह्मवर्चसं श्रुताभ्ययनादिजन्यं
प्राह्यं तेजः । अग्निना सहोत्पन्नत्वात् त्रिवृत्स्तोमः तस्योभयस्य कारणं
भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणाचार्यविरचिते माधवीये
एकादशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ॥

अथ द्वितीयः खण्डः ॥

प्रथमेऽहनि बहिष्पवमानस्य स्तोत्रायाः स्तोमाश्च विहिताः । अथा
ज्यानां विधित्सुराह—

उभाभ्यां वै रूपाभ्यां बहिष्पवमान्यो युज्यन्ते य-
त्सामा स्तोमो भवति तदाज्येषु ॥ १ ॥

उभाभ्यां बृहद्रथन्तराभ्यां रूपाभ्यां खलु बहिष्पवमानस्य स्तोत्रा-
याः युज्यन्ते बृहत्तत्त्वं पूर्वं रथन्तरादिति हि पूर्वमुक्तम् । अतः प्रज्ञव-
त्यो बार्हतं रूपं उपवत्यो राथन्तरमिति रूपबह्वययोगः आज्येषु आज्य-
स्तोत्रेषु उत्तरस्यैव साम्नो रूपं भवति यत्सामा यत्सामपृष्ठकस्तोमवान्
यागो भवति प्रथमेऽहनि होतुः पृष्ठस्तोत्रे यत्सामा क्रियते तस्यैव सा-
म्नो रूपमाज्येषु भवति नान्यस्येत्यर्थः । अत एव वक्ष्यति राथन्तरमेव
तद्रूपं निर्योतयति स्तोम इति ॥ १ ॥

अथाऽऽज्यानि लिङ्गविशेषयुक्तानि विधत्ते—

निराहावन्त्याज्यानि भवन्ति युक्तमेव तैराहयति २

निराहावन्ति निष्कृष्य समूहात् पृथक्कृत्य सम्बुष्याभिमुखीकृ-
त्याऽऽहानं निराहयः, तद्वन्त्याज्यानि आज्यस्तोत्राणि भवन्ति निराहा-
यन्तीत्यत्र एको घकारलोपश्छान्दसः । तैराहानलिङ्गकैराज्यैर्बहिष्पवमा-
न्या युक्तं योजितमेव प्रथममहराहयति ॥ २ ॥

कानि पुनस्तथाविधानीति ? तान्याह—

- (१) “अग्न आयाहि वीतय” (२) “आ नो मित्रावरुणा”
(३) “ऽऽयाहि सुयमा हि त” (४) “इन्द्राग्नी आगतं सुत”
मिति रायन्तरमेव तद्रूपं निर्योतयति स्तोमः इति ॥३॥

एते चत्वारस्तृचाश्चत्वार्याज्यस्तोत्राणि । एषु च आकारो दृश्यते;
पति प्रेत्याश्रुमदिति परिगणितत्वात् । तच्च रायन्तरं रूपं तदेकमेव रा-
यन्तरं रूपं निर्योतयति प्रकाशयति स्तोमश्चाऽऽज्येष्वपि त्रिवृदेव । स चै-
कैकस्मिन्नाज्ये तृचस्याऽऽवसनेन पूरणीय इत्यर्थः । एवं प्रातःसवन-
केषु पञ्चसु स्तोत्रेषु स्तोत्रीयाणामेव विधानादत्र गातव्यं साम प्राकृ-
तमेव गायत्रम् ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणाचार्यविरचिते माधवीये
वेदार्थप्रकाशे एकादशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

- (१) क. अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये । नि होता सत्सि बर्हिषे ॥
ख. तं त्वा समिद्धिरङ्गिरो घृतेन वर्धयाममि । बृहच्छोत्वा यविष्ठय ॥
ग. स नः पृथुश्रवाय्यमच्छा देव त्रिवाससि । बृहदमे सुवीर्यम् ॥ (सा. सं. उ. १. १. ४.)
- (२) क. आ नो मित्रावरुणा घृत्रैर्गव्यूतिमुक्षतम् । मघा रजांसि सुकतू ।
ख. उरुशंसा नमो वृषा मङ्गा दक्षस्य राजयः । दाधिष्ठाभिः शुचित्रता ॥
ग. गृणाना जमदग्निना योनावृनस्य सीदतम् । पातऽसोममृतावृषा ॥
(सा. सं. उ. १. १. ५.)
- (३) क. आ याहि सुयमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एवं बर्हिस्सदो मम ॥
ख. आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी बहलमिन्द्र केशिना । उप ब्रह्मणि नदंशु ॥
ग. ब्रह्मणस्त्वा युजा वयं सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥
(सा. सं. उ. १. १. ६.)
- (४) क. इन्द्राग्नी आगतं मुनं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् । अस्य पात धियेपिना ।
ख. इन्द्र मी जारिनुः मघा यज्ञो जिगात्त चेतनः । अय पातमिमं सुतम् ॥
ग. इन्द्रमग्निं कविच्छदा यज्ञस्य जूया वृगे ता सोमस्येह तुम्नतम् ॥
(सा. सं. १. १. ७.)

अथ तृतीयः खण्डः ॥

अथ माध्यन्दिनपवमानस्य सामानि विधास्यन् स्तोत्रीयांस्ता-
चद्विधाय स्तौति—

“प्र सोमासो विपश्चित्” इति गायत्री भवति प्रेत्या
“अभिद्रोणानि वभ्रव” इत्यभिक्रान्त्यै “सुता इन्द्राय
वायव” इति स०स्कृत्यै “प्र सोम देव वीतये” इति प्रेत्यै
“प्र तु द्रवे”ति प्रेत्यै प्र वा एतेनाऽह्ना यन्ति ॥ १ ॥

(१) ‘प्र सोमास’ इति गायत्रीछिन्दस्का प्रथमा स्तोत्रीया भवति । सा
च प्रशब्दयोगात् प्रेत्यै प्रायणाय दशरात्रप्रारम्भायोचिता (२) “अभि-
द्रोणानि वभ्रव” इत्यस्यां तु अभीत्युपसर्गो दृश्यते । तेन चाऽभिक्रमणं
स्मार्यते । अतः सा अभिक्रान्त्यै अभिक्रमणाय दशरात्रस्याऽमितः आक्र-
मणाय भवति । (३) ‘सुता इन्द्राय वायव’ इत्यत्र स्थ (४) सुतशब्देनाऽभिपु-
तसोमवाचिना अभिपवाच्यः संस्कारो बुद्धावुपस्थाप्यते । अतस्सा सं-
स्कृत्यै प्रवृत्तस्य दशरात्रस्य संस्कारगुणातिशयाचानाय भवति । (५) “प्र
सोम देव वीतये” (६) “प्र तु द्रवे” इत्यनयोः प्रशब्दयोगात् प्रायणं बु-
द्धिर्यं भवति । अतस्तदुभयं प्रेत्यै प्रायणाय दशरात्रस्याऽऽरम्भाय यो-
ग्यम् । एतेन त्रिवृत्स्तोमकेन प्रथमेनाऽह्ना प्रयन्ति वै प्रायणमेव कुर्वन्ति
यजमानाः । अतः प्रायणस्य प्रतिपादिका स्तोत्रीया योग्येति भावः ॥ १ ॥

अथ “प्र सोमास” इत्यस्यां स्तोत्रीयायां गातव्यं साम विधत्ते—

गायत्रं भवति ॥ २ ॥

तत्रैकैर्मित्युत्तराग्रन्थे एकस्या ऋच एवाऽऽख्ययनादवसीयते ॥ २ ॥
अस्य च गायत्रस्य स्तुतिप्रकारविधायकं ब्राह्मणं सार्धवादं पूर्वमा-

१. प्र सोमासो विपश्चितोऽपो नयंत ऊर्मयः । वनानि महिषा इव ॥

२. अभिद्रोणानि वभ्रवः शुक्ला ऋतस्य धारया । वाज गोमन्तमधरन् ॥

३. सुता इन्द्राय वायवे वरुणाय मरुद्भ्यः । सोमा अर्पन्तु विष्टवे ॥

(सा. सं. उ. १. २. ११ ।)

४. सुतशब्दोऽभिपुतसोमवाची तेन. इति ख. पु.

५. प्र सोम देववीतये सिन्धुर्न विष्ट्ये अर्णसा ।

अंशोः पयसा मदिरो न जगृविच्छाकोशं मधुप्युतम् । (सा. सं. उ. १. २. २०. १)

६. प्र तु द्रव परिकोशं निपदि शुभिः पुनानो अभिवाजमयं । ७१६ नत्वा वाजिनं
मर्जयन्तोऽच्छा बर्ही रक्षनाभिर्नयन्ति ॥ (सा. सं. उ. १. १. १०. १.)

स्नातमत्राऽप्यतिदिशति—

यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

यदेव प्रकृतावग्नियोमे विहितस्य गायत्रस्य ब्राह्मणं(१) “इमे वै लोका गायत्रं व्यावृद्गेय”मित्यादि तदेवाऽस्याऽपि विहितस्य गायत्रस्य ब्राह्मणम् । प्रकरणभेदाद्ब्राह्मणस्याऽसम्बन्धशङ्का स्यात् । तस्मा मृदित्यर्थ-मयमतिदेशः ॥ ३ ॥

अथाऽभिद्वेणानीत्यस्यां गातव्यं साम विधत्ते—

आश्वं भवति ॥ ४ ॥

स्पष्टम् । एतदप्येकवचनम् ॥ ४ ॥

अथैतत् प्रवृत्युपन्यासेन प्रजातिहेतुरिति स्तौति—

अश्वो वै भूत्वा प्रजापतिः प्रजा असृजत स प्राजायत बहुरभवत्प्रजायते बहुर्भवत्पादवेन तुष्टुवानः॥५॥

पुरा खलु प्रजापतिः सर्वकारणभूतः स्रष्टा अश्वः अश्वरूपी भूत्वा प्रजाः स्रष्टव्या असृजत सृष्टवान् । पुनरपि स प्राजायत बहुप्रजारूपेणोदपद्यत । ततः बहुरनेकविधोऽभवत् । अतः आश्वेनाऽश्वसम्बन्धिना साम्ना तुष्टुवानः स्तुतवान् यजमानः प्रजायते पुत्रपौत्रादिरूपेणोत्पद्यते ततो बहुरनेको भवति ॥ ५ ॥

अथैतस्य निधनविमक्तिमनूद्य स्तौति—

एकाक्षरं निधनमुपयन्ति रथन्तरस्याऽनतिवादाय ॥ ६ ॥

रा २३४५न् इति एकाक्षरं हि अस्य साम्नो निधनं तदुपयन्ति । रथन्तरस्य साम्नोऽनतिवादायाऽतिवादामावाय भवति । अस्ति हि रथन्तरस्यैकमेवाऽक्षरं निधनम् । तद्यत्राऽपि अनेकाक्षरं निधनं स्यात् रथन्तरस्याऽतिवादो भवेत् । अत उभयोरेकाक्षरत्वेन साम्यादतिवादाभावः सिध्यतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

एतद्वेदनं प्रशंसति—

अनतिवाद्येनं भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

य एवमुक्तमर्थं जानाति एनं वेदितारं भ्रातृव्यः शत्रुरनतिवादी अतीत्य वादी न भवति एतद्वचनस्योपरि भ्रातृव्यवचनं नोत्पद्यत इत्यर्थः ॥७॥

अथ “सुता इन्द्राय वायव” इत्यस्यां गातव्यं साम विधत्ते—

सोमसाम भवति ॥ ८ ॥

सोमेन दृष्टं साम सोमसाम तदप्येकवर्चम् ॥ ८ ॥

अथास्य साम्नः सोमसम्बन्धमेवाऽऽत्पानेन प्रदर्शयन् राज्यादिहे-
तुत्वेनेदं स्तौति—

यथा वा इमा अन्या ओषधय एवम् सोम आसी-
त्स तपोऽतप्यत स एतत्सोमसामाऽपश्यत्तेन राज्यमा-
धिपत्यमगच्छयशोऽभवद्राज्यमाधिपत्यं गच्छति यशो
भवति सोमसाम्ना तुष्टुवानः ॥ ९ ॥

यथा वा यथा खलु इमाः इदानीं दृश्यमानाः अन्या ओषधयः ल-
तागुल्माद्याः, एवमेव सोमः पुरा अविशिष्ट आसीत् । स सोमस्तपोऽ-
तप्यत् ईश्वरस्मरणात्मकं तपश्चक्रे । तत ईश्वरानुग्रहात् स सोम एत-
त्सोमसामाऽपश्यत् दृष्टवान् । दृष्ट्वा च तेन स्तुत्या राज्यं राष्ट्रः कर्म
आधिपत्यं ओषधीनामाधिपतित्वञ्चाऽगच्छत्प्राप्नोत् । ततो यशो यशस्वी
अभवत् । अतोऽन्योऽपि सोमसाम्ना तुष्टुवानः स्तुवन् राज्यमाधिपत्यं
च गच्छति यशो यशस्वी च भवति ॥ ९ ॥

“प्र सोम देव धीतय” इति तुचे गातव्यसामविधायकं प्राकृतं
तद्ब्राह्मणं चातिदिशति—

यौधाजयं भवति यदेव यौधाजयस्य ब्राह्मणम् ॥ १० ॥

(१) “देवा वै यशस्कामास्तत्रप्रासताऽग्निरिन्द्रो वायु” रित्युपक-
र्य “अथेन्द्रो यौधाजयं प्रावृहते” त्यादि यदेव प्राकृतस्य यौधाजयस्य
ब्राह्मणं तेदवाऽस्यापि ब्राह्मणं द्रष्टव्यम्, तत्रोक्तं सर्वमस्यापि भव-
तीत्यर्थः ॥ १० ॥

अथ “प्र तु द्वे” ति तुचे गातव्यं साम विधाय पूर्ववत्तद्ब्राह्मणम-
प्यतिदिशति—

औशनं यदौशनस्य स्तोमः ॥ ११ ॥

भवति, ब्राह्मणमिति पदद्वयमनुपज्यते । औशनं भवति यदेव प्रकृ-
तावौशनस्य ब्राह्मणमास्नातम् । “(२) अथ वायु रौशनं प्रावृहते” त्यादिना
तदेवास्याऽप्यौशनस्य ब्राह्मणं भवति । स्तोत्रीयामिर्माष्यन्दिनस्य पथ-
मानस्य त्रिवृत्स्तोमो निष्पन्न इत्यर्थः ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये वेदार्थप्रकाशे

एकादशाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

होतृमैत्रायणब्राह्मणाद्यंस्तोत्राणां क्रमेण चत्वारि पृष्ठस्तोत्राणि । तेषां स्तोत्रीयाः सामानि च प्राकृतान्येव । तत्र होतुः पृष्ठस्य स्तोत्रीयं प्रगाथविधिमनूय स्तौति—

“अभि त्वा शूर नो नुम” इत्यभितीति रथन्तरस्य रूपं राथन्तरं ह्येतद्दहः ॥ १ ॥

(१) “अभि त्वा शूरे” इत्येवा हि रथन्तरस्य योनिः । ततोऽभिश्च शब्दस्योत्पत्तावेव रथन्तरेण सम्बन्धादभिश्च शब्दो रथन्तरस्य रूपम् । एतत्प्रायणीयमहश्च राथन्तरं रथन्तरपृष्ठकम् । हि यस्मादेवं तस्मादभिश्च शब्दयुक्तः प्रगाथोऽस्मिन्नहनि सम्बन्धयोग्य इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयस्य पृष्ठस्य स्तोत्रीयं त्वचमुपादाय स्तौति—

“कयानश्चित्र आभुव” इति कवत्यस्तेन प्राजापत्याः को हि प्रजापतिः प्रजापतेराप्त्यै ॥ २ ॥

(२) “कयानश्चित्र” इत्याद्याः कवत्यः कश्चिदपेनास्ति स्रक् ऋचो भवन्ति । यतः कवत्यस्तेन प्राजापत्याः प्रजापतिदेवताकाः । कुत एतत् ? को हि कश्चिदभिधेयः खलु प्रजापतिः । एवं कवत्यो भवन्तीति यत् तत् प्रजापतेराप्त्यै प्राप्तये सम्पद्यते ॥ २ ॥

अथ तृतीयस्य पृष्ठस्य स्तोत्रीयं त्वचमनूय स्तौति—

(३) “तं वो दस्म मृतीपहं चसोर्मन्दानमन्धसोऽभिवत्सं न

१. अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनव ।

इंशानमस्य अगतः स्वर्हंशमीशानमिन्द्र तस्थुष ॥ १ ॥

न त्वा वाऽन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते ।

अश्वायन्तो मधवन्तिन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे ॥ (सा. सं. उ. १. १. १)

२. कया नश्चित्र आभुवद्वती सदा वृष. ८. खा । कया शविष्ठया वृता ॥ १ ॥

कस्त्वा सत्यो मदाना मरिष्ठो मत्सदन्धसः । दृढाचि दारुजे-वसु ॥ २ ॥

अर्भोपुणः सखीनामविता जरितृणाम् । शन भवास्यूतये ॥ ३ ॥

{ सा. सं. उ. १. २. १२ }

३. तं वो दस्म मृतीपहं चसोर्मन्दानमन्धस ।

अभिवत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्मीर्हवामहे ॥ १ ॥

युक्षः सुदानु तविषीभिरावृत्त गिरि न पुरुभोजसम् ।

क्षुमन्तं वाजः शतिनः सवसिणो मक्षु गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥

(सा. सं. १-१-१३)

स्वसर्गेषु भेनव" इत्यभीति रथन्तरस्य रूपं राधन्तरं
ह्येदन्तः ॥ ३ ॥

"तं वोदस्म"मित्यस्मिन्तृचे अभिवन्ममिति अभिशब्दो विद्यते ।
अभीत्येतद्रथन्तरस्य रूपमित्याद पूर्ववद्व्याख्येयम् । क्रवस्तु उत्तरा-
स्वेव व्याख्याता इति न पुनर्व्याख्यायन्ते ॥ ३ ॥

अस्मिन्नव त्व काञ्चत्पादमादाय तदभिप्रायमाह—

'हन्द्रं गोभिर्हवामह' इति हवन्त एवैनम् ॥ ४ ॥

'हन्द्र गोभिर्हवामह' इत्यनेन पादेन एनमिन्द्रं हवन्त एव आह्वयन्त
एव ॥ ४ ॥

अथ चतुर्थस्य पृष्ठस्य स्तोत्रोप्यं प्रगाथमनूय स्तौति—

(१) "तरोभिर्वो विदद्वसु"मिति स्तोमो वै तरो यज्ञो
विदद्वसुः स्तोमेन वै यज्ञो युज्यते यत्तरोभिर्वो विदद्वसु-
मित्याह यज्ञमेव तद्युनक्ति ॥ ५ ॥

"स्तोमो वै देवेषु तरो नामाऽऽसी"दित्यादिना तरःशब्दस्य स्तोम-
वाचकत्वं विदद्वसुशब्दस्य यज्ञवाचकत्वं च पूर्वमुक्तम् । तत्त्यनेन यज्ञ-
मिति तरः स्तोमः यज्ञना लम्भकत्वात् यज्ञो विदद्वसुः । अत्र मन्त्रे य-
द्यपि शब्दद्वयमर्थान्तरपरं तथाऽपि शब्दसामान्येन स्तुतिः । स्तोमेन
च त्रिवृदादिना यज्ञो युज्यते सम्बध्यत इति च प्रसिद्धम् । तथा सति
यथा तरोभिर्वो विदद्वसुमिति तरोभिः करणैः सम्बन्धं विदद्वसुमाह
तत्तेन यज्ञमेव विदद्वसुवाच्यं तरःशब्दवाच्येन स्तोमेन युनक्ति सम्बद्धं
करोति ॥ ५ ॥

अथ प्रथमे स्तोत्रोप्ये प्रकृतमेव सामविधिमनूय स्तौति—

रथन्तरं भवति ब्रह्म वै रथन्तरं ब्रह्म प्रायणीयमह-
र्ब्रह्मण एव तद्ब्रह्माऽऽक्रम्य प्रयन्ति ॥ ६ ॥

ऋगन्तरवत् 'तं वोदस्म मित्यस्या अप्युचः प्रतीकमात्रप्रहणे कर्तव्ये अस्या आभि-
शब्दवत्त्वेन स्तुतेः कर्तव्यतया तस्य चोत्तरार्धे एव सत्त्वाद् तदर्थं समप्राया अनुवादः ॥

१. तरोभिर्वो विदद्वसुमिन्द्रं यथाय कृतये ।

पृच्छायन्तः सुतसोमे अर्चरे हुवे भर न काणिम् ॥ १ ॥

न यं दुष्मा वरन्ते न स्थिरासुरोमदेषु शिप्रमन्वसः ।

य आहत्या शशमानाय मुन्वते दाता जरित्र सकम्पम् ॥ २ ॥

(सा. सं. १. १. १४)

ब्रह्म ब्राह्मणजातिरेव रथन्तरं प्रजापतिमुखान्महोत्पत्त । प्रय-
न्यनेनानि प्रायणीयं प्रथममहः । तच्च ब्रह्म तस्मिन्नहनि रथन्तरस्य कर-
णात् ब्रह्मण एव सकाशात् ब्रह्माऽऽक्रम्याऽधष्ठाय प्रयान्न प्रायणमुपक्रम
कुर्वन्ति ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेण प्रशसति—

इयं वै रथन्तरमस्यामेव प्रतिष्ठाय सत्रमासते ॥७॥

इयं दृश्यमाना भूमिरेव रथन्तर, तथा सति अस्यामेव पृथिव्या
प्रतिष्ठाय सत्रमासतेऽनुतिष्ठन्ति ॥ ७ ॥

अथ मेवावरुणपृष्ठस्तोत्रनिर्वर्तक साम विधाय स्तौति—

वामदेव्यं भवति पशवो वै वामदेव्यं पशूनामव-
रुध्यै प्राजापत्यं वै वामदेव्यं प्रजापतावेव प्रतिष्ठाय स-
त्रमासते ॥ ८ ॥

शान्तिहेतुनया पशुसाधनत्वात् वामदेव्यस्य पशुत्वम् । 'कथा
नश्चित्र' इति वामदेव्याधारस्य तृचस्य प्राजापत्यत्वात् तदाश्रित सा-
माऽपि प्राजापत्यमित्युक्तम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ८ ॥

अथ तृतीयस्य पृष्ठस्तोत्रस्य साम विधाय स्तौति—

नौधसं भवति ब्रह्म वै नौधसं ब्रह्म प्रायणीयमहर्ब्र-
ह्मण एव तद्ब्रह्माऽऽक्रमन्ते ॥ ९ ॥

नौधा नाम ऋषिस्तेन दृष्टसाम नौधस तद्ब्रह्म परिवृढम् । यद्वा
वृद्धप्रतिरूपकत्वेन राधन्तरेऽहनि प्रयोज्यत्वात् ब्रह्मति व्यपदेशः ।
प्रायणीयमहश्च परिवृढ मुख्यत्वात् । एव सति नौधस भवतीति यत्तेन
ब्रह्मणः सकाशादेव ब्रह्माऽऽक्रमन्ते अवलम्बन्ते ॥ ९ ॥

अथ चतुर्थस्य पृष्ठस्य साम प्रदर्श्य तच्च रथन्तरञ्चोमय सयु-
ज्य स्तौति—

कालेयं भवति समानलोके वै कालेयश्च रथन्तरञ्चैयं
वै रथन्तरं पशवः कालेयमस्याञ्चैव पशुषु च प्रतिष्ठाय
सत्रमासते ॥ १० ॥

कालेय सामाऽब्जधाकपृष्ठस्तोत्रं भवति । कालेयश्च रथन्तरञ्चैते
सामनी समानलोके समानायतने रथन्तरं यत्र प्रयुज्यते तत्र कालेय-
मपि प्रयोज्यमित्यर्थः । इयं खलु पृथिवी रथन्तरं साम पशवश्च काले-
यं तत्साधनत्वात् ईदृशयोरुभयोः प्रयोगात् अस्याञ्चैव पृथिव्या पशुषु

गवादिषु च प्रतिष्ठाय चिरकालं स्थित्वा सत्रमासते अनुतिष्ठन्ति॥१०॥
अस्य साम्नो निधनस्याऽहरानुरूप्यं दर्शयति—

द्रवदिडं तथा ह्येतस्याऽहो रूपं स्तोमः ॥ ११ ॥

(१)हो ५ इडेति द्विप्रगेयेन इडाशब्देन युक्तं एतत्साम तथा द्वि तथा
खल्वेतस्य प्रायणीयस्याहो रूपं पूर्वमुपन्यस्तं तत् द्रवदिडं प्रथमस्याऽ-
हो रूपमिति एतेषु चतुर्षु षष्ठस्तोत्रेषु उक्त एव त्रिवृत् स्तोमो वेदितव्यः॥११॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणं सायणीये वेदार्थप्रकाश
एकादशाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥ ४ ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अथाऽऽर्मषपवमानस्य स्तोत्रीया विधाय तत्र तासामानुरूप्यञ्च
दर्शयति—

“प्र सोमासो मदच्युत” इति गायत्री भवति मदवद्
चै रसवृत्तृतीयसवनं मदमेव तद्रसं दद्यात् “या पवस्व-
देवयु”रित्येति रथन्तरस्य रूपं राधन्तरं ह्येतदहः॥१॥

“पवतेऽहर्यतो हरि”रिति बृहतो रूपं बृहदेव तदेत-
स्मिन्नहनि युनक्ति तद्युक्तं इय आरभन्ते ॥ २ ॥

“प्र सुन्वानायाऽन्धस”इति प्रवत्यो भवन्ति प्रणिनी-
पण्यामिव ह्येतदह “रभिप्रियाणि पवते च नोहित”इत्य-
भीति रथन्तरस्य रूपं राधन्तरं ह्येतदहः ॥ १ ॥

(२) “प्र सोमास” इत्येषा एका स्तोत्रीया गायत्री प्रथमा भवति ।
तत्तृतीयसवनं तन्मदवद्धै मदयुक्तमेव रसवत् रसयुक्तं भवति तत्रा-
ऽऽशिरावनयनेन मदकररसजननात् ‘विश्वे देवाः सोमस्य मत्सन्’ ‘ऋ-
मयो देवाः सोमस्य मत्सन्नित्यादिनिधिन्मन्त्रवर्णाश्च तृतीयसवनस्य म-
दहेतुत्वं गम्यते । तत्तेन मदवत्या गायत्र्याः प्रयोगेन मदवत् मदकरमे-

१. निधनमिदं तृचस्याऽन्ते द्रष्टव्यम् ।

२. प्र सोमासो मदच्युतः श्रवणे नो मघोनाम् । सुता विदधे अहम् ॥ १ ॥

(घा. सं. उ. १. २. २१. १)

य रसं सुतीयसञ्चने दद्याति, (१) "अया पवस्वे"ति अपरा स्तोत्रीया । तत्र चाऽऽकारो विद्यते । आ इति च रयन्तरस्य रूपं पति प्रेत्याशुमदिति गणनात् एतत्प्रायणीयमहश्च रायन्तरम् । अतो रयन्तररूपयुक्तमत्र परिप्रयोगार्हमित्यर्थः ॥ १ ॥

(२) पवते हृष्येत इत्यन्या स्तोत्रीया । तत्र च पवत इति वर्त्तमानकाला-
भिधायिना पवनस्य स्थितिः प्रतीयते । तच्च बृहतो रूपं उपस्थितं द्वि-
तीयस्याऽहो रूपमित्यादिना बृहतस्तद्रूपत्वस्योक्तत्वात् । तत्तेन स्तोत्रीया-
करणेन बृहत्सामैव एतस्मिन् प्रथमेऽहनि युनक्ति पूर्वास्मिन्नहनि युक्तं
सम्बद्धं तत्साम इवः परेष्टुरारम्भन्ते प्रयोक्तुं, परिगृह्णन्ति, प्रशब्दवत्त्वेन
तोति । (३) "प्रसुन्वानोय"त्येषाऽपरा स्तोत्रीया । यद्यप्येकवर्चमेव तत्र सा-
द्वय गौरीधीतं गौतमञ्चाऽत्र गीयते, तथाऽपि उत्तराभ्यां सह मिलित्वैत-
त्प्रशस्पते प्रवत्यः प्रशब्दयुक्ता भवन्ति तत्प्रायणीयमहः प्रणिनीपेष्य-
मिव हि प्रणतव्यत्वेनेष्टं खलु 'अभिप्रियाणी'त्यपरः स्तोत्रीयः मृचः ।
अमीति रयन्तरस्य रूपं, तद्योन्या 'ममित्वा शूरे'ति दृष्टत्वात् । गत-
मन्यत् ॥ १ ॥

अयाऽग्निष्टोमसाम्नः स्तोत्रीयां दर्शयति—

"यज्ञा यज्ञा वो अग्नय" इत्यग्निर्वै यज्ञो यज्ञ एव
तद्यज्ञं प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

यज्ञा यज्ञाव इत्यस्मिन् प्रगाथे यज्ञायज्ञेति द्वौ यज्ञशब्दौ दृश्येते ।
तयोरेकः यज्ञशब्दोऽभिवाचकः, अपरस्तु क्रियाया इत्यभिप्रायेण व्या-
चष्टे-अग्निर्वै यज्ञ इति । योऽयं यज्ञः यज्ञशब्दाभिधेयः क्रतुः सोऽग्निर्वै
अग्निरेव तन्निष्पाद्यत्वात् यज्ञशब्दस्योपरि पुनर्यज्ञशब्दोच्चारणात्
यज्ञे संस्तुते अज्ञावेव तत्तेन यज्ञं प्रतिष्ठापयति ॥ २ ॥

अथ प्रसोमास इत्याद्यायां स्तोत्रीयायां गायत्रं साम विधाय इमे
वै लोका गायत्रं व्यावृद्धगेयमित्यादिकं तद्ब्राह्मणञ्चाऽतिदिशति—

गायत्रं भवति यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ३ ॥

१ अया पवस्व देवसु रेमन्पवित्र पर्येषि विदधतः । मघोर्षारा अचक्षत ॥ १ ॥

२ पवते हृष्यतो हरिरिति हराश्वि रश्मिः । अम्भयंस्तोतृभ्यो वीरवद्यतः ॥ २ ॥

३ प्रसुन्वानायाऽन्वसो मर्तो न वष्ट तद्वचः ।

सपद्वानमरावसन् इता मघ न मृगवः ॥ ३ ॥

(सा. स. प. ६. २. १. ९. सा. सं. व. १. २. २२)

व्याख्यातमेतत् ॥ ३ ॥

अथ तस्यामेव स्तोत्रीयायां सामान्तरं विधाय निधनद्वारा तत्प्र-
तिष्ठाहेतुरिति स्तौति—

संश्रितं भवति द्व्यक्षरणिधनं प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठा-
यैव सत्रमासते ॥ ४ ॥

गायत्रं संहितञ्चैते द्वे अपि च सामनी एकञ्चै तत्र सहितं द्व्यक्षर-
णिधनं द्वे अक्षरे निधनं यस्य तत्तथोक्तं क्रर ३ ४ ५ मुः इति हि तस्य
निधनमधीयते । तच्च मनुष्यपादद्वयसाम्यात् प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठानाय
भवति । एवमनेन निधनेन प्रतिष्ठायैवाऽनन्तरं प्रतिष्ठिताः यजमानाः स-
त्रमासते ॥ ४ ॥

'अथा पधस्वे' त्यस्यां गातव्यं साम विदधाति—

सफं भवति ॥ ५ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

एतत्सामनिर्वचनद्वारेण लोकत्रयप्राप्तिहेतुरेतत्सामेति दर्शयति—

सफेन वै देवा इमान् लोकान् समाप्नुवन्
यत्समाप्नुवथंस्तत्सफस्य सफत्वामिमानेवैतेन लोकान्
समाप्य सत्रमासते ॥ ६ ॥

सफेन खलु साम्ना साधनेन देवाः पुरा इमान् पृथिव्यादिकान्
लोकान् समाप्नुवन् सम्यगाप्तवन्तः यद्यस्मात्समाप्नुवन् तत्तस्मात्
समाप्तिसाधनत्वात् सफस्य साम्नः सफत्वं सफमिति संज्ञा सम्प-
न्ना । सम्पूर्वादाप्नोतेः सफशब्दो व्युत्पादनीयः । पृषोदरादित्वाद्धर्णवि-
कारः । यस्मादेवं तस्मादिदानीन्तना अपि यजमानाः एतेन सफेन
साम्ना इमानेव लोकान् समाप्य सम्यगवाप्य सत्रमासते ॥ ६ ॥

'पधते हर्यतो हरि' रित्यस्यां गातव्यं साम विदधाति—

आक्षारं भवति ॥ ७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

इदं साम भ्रातृव्यापनोदनहेतुरिति प्रतिपादयिपुराह—

अष्टौ वा एताः कामदुघा आसथंस्तोमेका समशी-
र्यत सा कृषिरभवदृष्यतेऽस्मै कृषौ य एवं वेद ॥ ८ ॥

पुरा खलु एता गायत्रीत्रिष्टुपाद्याः अष्टौ अष्टसंख्याः सत्यः काम-
दुघाः कामस्य काम्यमानस्याऽभिमतस्य सर्वस्य फलस्य दोग्ध्यो गो-

रूपा आसन् । तासां मध्ये एका समशीत्यंत संशीर्णा प्रध्वस्ताऽ-
भूत् । ततः सा कृपिः व्रीहेयवादिहेतुः कर्पणक्रियाऽभूत् । अत इदानीं
गायत्र्यादीनि चतुरक्षराधिकानि ससैव छन्दांस्युपलभ्यन्ते । एवं कृपे-
रुत्पत्तिं यो वेद जानाति तस्मै जानते कृपौ कर्पणक्रियायां ऋष्यते
ऋद्धिः समृद्धिर्भवति ॥ ८ ॥

अथ प्रतिपित्सतं भ्रातृव्यापनोदनमेव दर्शयति—

तासु देवासुरा अस्पृष्टन्त ते देवा असुरान् काम
दुघाभ्य आक्षारेणाऽनुदन्त नुदते भ्रातृव्यं कामदुघाभ्य
आक्षरेण तुष्टुवानः ॥ ९ ॥

तासु पूर्वोक्तासु कामदुघासु देवासुराः देवाश्चाऽसुराश्चाऽस्पृष्टन्त
परस्परं स्पृष्टा कृतवन्तः । ते स्पृष्टमाना देवाः अनेनाऽऽक्षरेण साम्ना
तानसुरान् कामदुघाभ्योऽनुदन्त प्रैरयन् ताभिरसुराभ्ययोजित-
वन्त इत्यर्थः । यत एवं अतो हेतोरिदानीमपि आक्षारेण तुष्टुवानः
स्तुतवान् यजमानो भ्रातृव्यं शत्रुं कामदुघाभ्यः सकाशात् नुदते प्रैर-
यति (१) निर्गमयति ॥ ९ ॥

अथ प्रसङ्गादिदं साम कस्यचिद्यजमानविशेषस्य ब्रह्मसामत्वेन-
विधित्सुः (२) अन्वर्था आक्षारसंज्ञां निर्धक्ति—

एभ्यो वै लोकेभ्यो रसोऽपाक्रामत्तं प्रजापतिराक्षारेणा-
ऽऽक्षारयद्यदाक्षारयत्तदाक्षारस्याऽऽक्षारत्वम् ॥ १० ॥

एभ्यस्त्रिभ्यो लोकेभ्यः सकाशात् पुरा रसः क्षीराद्यात्मकः अपा-
क्रामत् अपागच्छत् । तमपक्रामत् रसं प्रजापतिः प्रजानां पालयिता
देवः आक्षारेणा नेनाऽऽक्षारयत् आसमन्तादासितवान् । यद्यस्मादने-
नाऽऽक्षारयत् तत्तस्मादस्य साम्न आक्षारमिति नाम सम्पन्नम् ॥ १० ॥

असत्वेवम्, किं ततः ? इत्याह—

तस्माद्यः पुरा पुण्यो भूत्वा पश्चात्पापीयान् स्यादा-
क्षारं ब्रह्म साम कुर्वीताऽऽत्मन्येवेन्द्रियं वीर्यं रसमा-
क्षारयति ॥ ११ ॥

यस्मात् आक्षारणसाधनमेतत्साम तस्माद्यो यजमानः पुरा पूर्वस्मिन्
काले पुण्यः घनादिभिः श्रेष्ठो भूत्वा पश्चात्पिरस्मिन् काले पापीयान् पापिष्ठो

दरिद्रतमः स्यात् भवेत् स आक्षारं साम ब्रह्मसाम कुर्वति । हृतेन च तेन साम्ना आत्मनि स्वस्मिन्निन्द्रियं इन्द्रस्य सम्बन्धि वीर्यं रसं पयःप्रभृतिकञ्च आक्षारयति (१)आश्चोतयति ॥ ११ ॥ -

अथ प्रकृतमेवाऽनुसरन् सफमाक्षारञ्चोभयं संयुज्य धृतिहेतुत्वेन स्तौति—

जनुपैकर्चो भवतोऽहो धृत्यै यद्वा एतस्याऽहोऽधृतं तदेताभ्यां दाधार ॥ १२ ॥

जनुया जन्मना स्वभावतः एतौ सामविशेषौ एकर्चौ एकस्यामे-
वर्धि गेयौ भवतः । तथा चोभयोः साम्यात् सामद्वयमपि पादद्वयवत्
अस्य प्रायणीयस्याऽहो धृत्यै धारणाय भवति । एतदेव विधियते-यद्वा
इत्यादिना । यत् खलु एतस्य प्रायणीयस्याऽहो ऽधृतमधारितं अना-
धित भवति तदेताभ्यां सामभ्यां दाधार स्तोता धारयति ॥ १२ ॥

अथ “प्रसुन्वानाये”त्यस्यामृचि गौरीवितगौतमे गातव्ये तद्वाऽऽद्यं विदधाति ।

गौरीवितं भवति ॥ १२ ॥

स्पष्टम् ॥ १३ ॥

अहानिषु क्रतुषु पूर्वोत्तरयोरहोरिदं साम सन्धानहेतुरिति दर्श-
यिष्यन् तदर्थमस्य साम्नोऽतिरिक्तामाह—

गौरीवितिर्वा एतच्छाक्त्यो ब्राह्मणोऽतिरिक्तमपश्य-
त्तद्गौरीवितमभवत् ॥ १४ ॥

(२)शाक्त्यः शक्तिगोत्रः गौरीवितिर्नाम ऋषिः पुरा ब्रह्मणः परमे-
ष्ठिनः शब्दब्रह्मात्मिकाया वाचो विमज्ज्यमानायाः एतत्सामातिरिक्त-
मपश्यत् तत्साम गौरीविताख्यं अभवत् “देवा वै वाचं व्यभजन्त
नस्या यो रसोऽन्यारिच्यत । तद्गौरीवितमभव”दिति हि ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

किमतः ? तदाह—

अतिरिक्तं वा एतदातिरिक्तेन स्तुवन्ति यद्गौरीविते-
नाह्नीनाञ्छ्वस्तनवद्भवत्यपि प्रजाया उपकलृप्तम् ॥ १५ ॥

१. आभवेति इति क. पु.

२. गुरीर्वितस्या पत्य गौरीवितिः । शाक्यनामा इति ख. पु. तत् परमेष्ठिनोऽतिरिक्तं
गुरीर्वीलापत्यशाक्यस्य साम । अतस्तस्य गौरीवितमिति नाम सम्पन्नम् इति पाठभेदो
दृश्यते ख. पु ।

एतद्वैरीवितं उक्तप्रकारेणाऽतिरिक्तं वै अधिकमेव खलु अतोऽति-
रिक्तेनाऽधिकेन अत्र स्थितैव अहरन्तरं व्याप्तुं शक्तेन साम्रा स्तुवन्ति
अहीनानहःसमूहान् “अहः समूहे खो वक्तव्यः” । यद्वैरीवितेन साम्रा
ऽहीनान् सन्तनोति तेन प्रजायाः पुत्रपौत्रादिरूपायाः उपकृत्य उपक-
ल्पितं सम्पादितं धनादिकं स्वस्तनवत् श्वः परेशुरपि वर्त्तमानं भवति
सर्वदाऽवस्थितं भवति । न कदाचित् क्षीयत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

अथैतत्प्रजातिहेतुत्वेन स्तौति—

वृषा वा एतद्वाजिसाम वृषभो रेतोधा अद्य स्तुवन्ति
इयः प्रजायते ॥ १६ ॥

वाजि वाजवत् बलवद्वा एतत्साम वृषा वै वर्षणसमर्थः पुङ्गवः । स
च वृषभो रेतोधा रेतसः पुत्रपौत्राद्युत्पत्तिहेतुभूतस्य वीर्यस्याऽऽघाता
भवति । अतो वृषसंस्तुतेनाऽनेन साम्रा अहीनेषु अद्याऽस्मिन्नहनि स्तुव-
न्ति-तेन च रेत एव निषिकं भवति । इयः परेशुः प्रजायते तदेव निषिकं
रेतः प्रजारूपेणोत्पद्यते ॥ १६ ॥

अथाऽस्याऽऽधारभूताया ऋचश्छन्दोद्वाराऽपि प्रजाहेतुत्वमाह—

अनुष्टुभि छन्दसां क्रियतेऽनुष्टुभि छन्दसां योनिः
स्वायामेव तद्योनौ रेतो धत्ते प्रजात्यै ॥ १७ ॥

छन्दसां गायत्र्यादीनां मध्ये अनुष्टुभि अनुष्टुप्छन्दस्कायामृचि
“प्र सुन्वानाये”त्यस्यां क्रियते । तत्कस्य हेतोः ? हि यस्मात् छन्दसां
गायत्र्यादीनामनुष्टुप् योनिर्भवति । “अनुष्टुप् च वै सप्तदशश्च समभव-
ता”मित्यादिना छन्दसामनुष्टुप्पोनित्वं पूर्वमेव प्रदर्शितम् । तत्तस्मा-
त्सर्वच्छन्दसां योनावनुष्टुभि गौरीवितस्य करणात् स्वायां स्वकीयायां-
आत्मीयायामेव योनौ रेतो धत्ते आधत्ते प्रजात्यै पुत्रादिरूपेणोत्पत्यै ॥ १७ ॥

एतद्वेदनं प्रशंसति—

प्रजायते बहुर्भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १८ ॥

अधुनाऽस्य साम्नोऽहःसमूहे प्रयुज्यमानस्य पूर्वोत्तरयोरहोः सन्धा-
यकत्वं दर्शयति—

ह्यदासं भवत्येतौ वा उदासौ स्वर्गस्य लोकस्याऽव-
सानदर्शौ पूर्वेण पूर्वमहः संप्रस्थापयन्त्युत्तरेणोत्तरमह-
रभ्यतिवदान्ति ॥ १९ ॥

एतस्मात् सदासं द्वाबुदासाबुक्षेपौ यस्मिन् तथाविधं भवति । ततश्च किम् ? एतौ सखुदासौ स्वर्गस्य लोकस्याऽवसानदर्शौ पारद-
श्वानौ तयोः पूर्वेण पूर्वमनुष्ठीयमानमहः संस्थापयन्ति परिसमाप-
यन्ति, उत्तरेणोदासेन उत्तरमागाम्यहरमिलस्याऽतिवदन्ति इदमहर-
तिक्रम्य वदन्ति ॥ १९ ॥

अथैतेनोदासद्वयेन यजमानानां स्वर्गलोकाध्यवसानं भवतीति दर्शयति—

तद्यथाऽदः पूर्वेद्युः स्पष्टं तृणोदकमन्ववस्यन्तो य-
न्त्येवमेव ताभ्यामुंस्वर्गं लोकमन्ववस्यन्तो यन्ति ॥ २० ॥

नयिति वाक्यालङ्कारे । यस्मादेताबुदासौ स्वर्गस्य लोकस्याऽवसा-
नदर्शौ, अतोऽस्माद्धेतोः यथा पूर्वेद्युः पूर्वस्मिन् दिवसे यागकाले तृ-
णोदक समापस्थानि तृणान्युदकानीति चाऽन्ववस्यन्तः अध्यवस्यन्तो
यन्ति, एवमेवैताभ्यामुदासाभ्यां यजमानाः स्वर्गं लोकमन्ववस्यन्तः
अनुक्रमेण पश्यन्तो यन्ति गच्छन्ति ॥ २० ॥

अथाऽस्यामेव स्तोत्रीयायां सामान्तरं विधत्ते—

गौतमं भवति ॥ २१ ॥

गौतमेन दृष्टं साम गौतमं एतदप्यत्रैकवचम् ॥ २१ ॥

तदेतत् स्वर्गं चिरकालस्थितिहेतुत्वेन स्तौति—

सामाऽऽर्पयवत् स्वर्गाय युज्यते स्वर्गाल्लोकान्न व्यवते
तुष्टुवानः ॥ २२ ॥

आर्पयवत् ऋषिसम्यन्धवत् साम स्वर्गाय युज्यते स्वर्गप्राप्त्यै
युक्तं भवति । ततोऽनेन तुष्टुवानः स्तुतवान् स्वर्गात् लोकाश्च व्यवते
न प्रच्युतो भवति ॥ २२ ॥

अथ सामान्तरस्य पूर्वमुक्तं ब्राह्मणमत्राऽप्यतिदिशति—

यदु चैवाऽऽनुष्टुमस्य मध्ये निधनस्य ब्राह्मणं तदु
चैतस्य ॥ २३ ॥

प्रकृतौ हि “पुरोजितोषो अन्धस” इत्यस्मिन्ननुष्टुमे तु चैवा-
वाश्वान्धीगवे द्वे सामनी विहिते । अश्वान्धीगवं मध्येनिधनं दशाक्ष-
रम् । “मध्यतो निधनमुपयन्ती”ति तत्र श्रवणात् । आनुष्टुमस्य अनु-
ष्टुमि क्रियमाणस्य मध्येनिधनस्याऽऽन्धीगवस्य यदु चैव’ यदेष च
ब्राह्मणं ‘मध्येनिधनमैहं भवत्येतेन वै तृतीयसधनं प्रतिष्ठित’मित्यादिकं

तदु तदेव चैतस्य गौतमस्याऽपि ब्राह्मणं तत्र प्रतिपादितं सर्वं अने-
नाऽपि शेषत्वेनाऽन्वयित इत्यर्थः ॥ २३ ॥

अथ "अभिप्रियाणी"ति त्वे गेयं सामं विदधाति—

कावं भवति ॥ २४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २४ ॥

अथैतल्लोकप्राप्तिहेतुरित्याह—

लोकधिन्दुं सामं विन्दते लोकं कावेन तुष्टुवानः ॥ २५ ॥

लोकधिन्दुं लोकस्य लम्भकं पतत्साम । अतोऽनेन कावेन तुष्टु-
वानः स्तुतवान् लोकमभिलषितं स्थानं विन्दते विदल्ललाभ इत्यस्माद्धा-
तोः धिन्दुरिच्छुरिति उपत्ययान्तो निपातितः ॥ २५ ॥

अस्य निधनं प्रदर्श्यं स्तोति—

स्वारमु स्वरेण स्वरेण हि देवेभ्योऽन्ततोऽन्नाद्यं प्र-
दीयते स्वरेणैव तद्देवेभ्योऽन्ततोऽन्नाद्यं प्रयच्छति ॥ २६ ॥

स्वरेण स्वरितेन स्वारं स्वरनिधनञ्चैतद्भवति ततः किम्? उच्यते-
स्वरेण स्वर्ग्यमाणेन वषट्कारेण स्वरितान्तेन स्वाहाकारेण वा स्रल्लु-
देवेभ्यः अन्ततो मन्त्रावसानेऽन्नाद्यं अर्चुं योग्यञ्चक्षुरोडाशादिकमन्नं
प्रदीयते । तत्तस्मादत्रापि अन्ततः अहरवसाने तृतीयसवने देवेभ्यः
स्वरेणैव कावसम्बन्धिना क्रियमाणेनाऽन्नाद्यं देवेभ्यः प्रयच्छति ॥ २६ ॥

एवमार्भाषकस्य त्रिवृत्स्तोमस्य नवस्तोत्रायास्तत्रत्यानि सा-
मानि च विहितानि । अथाऽभिष्टोमसाम विधत्ते—

यज्ञायज्ञीयं भवति ॥ २७ ॥

स्पष्टम् ॥ २७ ॥

तथैतत् स्तोति—

वाग्यज्ञायज्ञीयं वाचि यज्ञः प्रतिष्ठितो वाच्येव तद्यज्ञ-
मन्ततः प्रतिष्ठापयन्ति तं वाचोऽधि श्व आरभन्ते ॥ २८ ॥

वाङ्निधनत्वाद्यज्ञायज्ञीयं सामं वागात्मकम् । वाचि च वेदात्मि-
कायां यज्ञः प्रतिपाद्यत्वेन प्रतिष्ठितः । यस्मादेवं तस्मादन्ततोऽहरव-
साने आश्रयभूतायां वाच्येव यज्ञं प्रतिष्ठापयन्ति निदधति तं पूर्वद्युः
प्रतिष्ठापितं यज्ञं वाचोऽधि वाचः सकाशादेव द्रवः परेशुरारभन्ते पुन-
राददते ॥ २८ ॥

नस्याऽग्निष्टोमसाम्नः स्तोमकलृप्तिं प्रदर्श्य स्तौति—

त्रिवृदेव स्तोमो भवति तेजसे ब्रह्मवर्चसाय ॥ २१ ॥

गतार्थः ॥ २१ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

एकादशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

अथ पष्ठः खण्डः ॥

त्रिवृदग्निष्टोमस्य दाशरात्रिकस्य प्रथमस्याऽहः स्तोमकलृप्तिर्वि-
हिता । अथ पञ्चदशस्तोमकस्य उक्त्यर्थं द्वितीयस्याऽहः स्तोमकलृ-
प्तिरभिधीयते । तत्र बहिष्पवमानस्य प्रतिपन्नृचं विदधाति—

“पवस्व वाचो अग्निं” इति द्वितीयस्याऽहः

प्रतिपद्भवति ॥ १ ॥

प्रतिपद्यते प्रारभ्यतेऽनयेति प्रतिपत् । पवस्व वाचो अग्निं इति
प्रथमतृच इत्यर्थः ॥ १ ॥

वृत्तवाचस्प्यमाणयोरहोः सन्धानहेतुरित्येतत् स्तौति—

पवस्वेति वै राधन्तरं रूपमग्निं इति बार्हतमुभे रूपे

समारभते द्विरात्रस्याऽविस्त्रंसाय ॥ २ ॥

अस्यामृचि यत्पवस्वेति पवनप्रतिपादकं पदं तत् खलु राधन्तरं
रधन्तरसम्यग्भिरूपं युञ्जानं प्रथमस्याऽहोरूपमित्यादिना तद्रूपस्योक्त-
त्वात् । अग्निं इति पदं तु बार्हतं वृद्धतो रूपं अग्ने भवोऽग्निः वृद्धब-
रधन्तरादग्ने जातत्वादग्निं भवतीति शब्दसामान्येन तद्रूपता । तथा
च पवस्व वाचो अग्निं इति प्रतिपदा वृद्धरधन्तरयोः साम्नोः स्वरूपे
स्वमूले उभे द्वे अपि रूपे समारभते परिगृह्णाति । द्विरात्रस्य पूर्वमनुष्ठि-
तस्याऽहोऽस्याऽनुष्ठास्यमानस्य च अहर्द्विरात्रस्य अहस्याऽविस्त्रंसाया
ऽग्निविधाय सन्धानायेत्यर्थः । राधन्तरं हि पूर्वमहः । अत्र च तद्रूपा-
न्वयात् सन्धानं भवति ॥ २ ॥

अथ तस्यैव बहिष्पवमानस्य द्वितीयं तृचं विधत्ते—

‘पवस्वेन्दो धृपासुत’ इत्यनुरूपो भवति धृपण्वद्वा एत-

दैन्द्रं त्रैष्टुभमहर्यत् द्वितीयं तदेव तदभिधदाति ॥ ३ ॥

“पवस्वेन्दो वृषा सुत” इति तृचोऽनुरूपार्थो द्वितीयो भवति । तदे-
तत् द्वितीयमहस्तदैन्द्रं इन्द्रदेवतं त्रैष्टुभं त्रिष्टुप्छन्दस्कं वृषण्यत् वृष-
शब्दयुक्तं च भवति । वृषवद्ब्रह्मवदयिमद्विश्ववदुपस्थितमिति रूपस्य
द्वितीयेऽहनि परिगणितत्वात्तदेव वृषण्यद्रूपम् । तत् पवस्वेन्दो वृषा
सुत इति मन्त्रवाक्यं अभिवदति अभिलक्ष्य प्रवीति ॥ ३ ॥

अथाऽस्य तृचस्याऽनुरूप इति संज्ञां निर्वक्ति—

पूर्वमु चैव तद्रूपमपरेण रूपेणाऽनुवदति यत्पूर्वम् रूपम-
परेण रूपेणाऽनुवदति तदनुरूपस्याऽनुरूपत्वम् ॥ ४ ॥

“पवस्व वाचो अग्निव” इति प्रथमतृचेन प्रतिपाद्यं यदर्थरूपं पूर्वमु-
च पूर्वभावि, तदेव च रूपं अपरेण द्वितीयतृचप्रतिपाद्येन पश्चाद्भा-
विना रूपेणाऽनुवदति तृचः प्रतिपादयति । इत्यम्भावे तृतीया । यद्य-
स्मात् पूर्वं रूपं अपरेण रूपेणाऽनुवदति तत्तस्मादनुवाद्यरूपवाचकत्वा-
दनुरूपस्य द्वितीयस्य तृचस्याऽनुरूपत्वं अनुरूप इति संज्ञा ॥ ४ ॥

एतद्वेदनफलमाह—

अनुरूप एनं पुत्रो जायते य एवं वेद ॥ ५ ॥

य एवमनुरूपत्वं वेद जानाति एनमनुरूपः अस्य स्वानुरूप आत्मी-
यैर्गुणैः सदृशः पुत्रो जायते ॥ ५ ॥

विहितं तृचद्वयं सहाऽनूद्य स्तौति—

स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ भवतः प्राणापानानामवरुध्यै ॥ ६ ॥

उक्तयोः स्तोत्रीयानुरूपयोस्तृचयोः करणं प्राणापानानां प्राणवा-
यूनामपानवायूनाञ्च ऊर्द्धाधोवर्तिनामवरुध्यै अवरोचनाय शरीरे नि-
रोधनाय भवति ॥ ६ ॥

अथ विहितमनुरूपं तृचं अर्थवादसम्बन्धार्थं विधिस्तुः तेन तृच-
द्वयेन सयुज्य विधाय स्तौति—

वृषण्यन्तस्तृचा भवन्तीन्द्रियस्य वीर्यस्याऽवरुध्यै ॥ ७ ॥

‘वृषा सोम’, वृषा ह्यसी’ति द्वौ तृचौ, पूर्वोक्तः ‘पवस्वेन्दो वृषा सुत’
इति तृचश्चेत्येते वृषण्यन्तः वृषशब्दयुक्तास्वयस्तृचा भवन्ति । वृषशब्दाच्च
सेचनसामर्थ्यं प्रतीयते । अत एतत्तृचत्रयं इन्द्रियस्य रेतोरूपवीर्यस्या-
वरुध्यै अवरोचनाय भवति ॥ ७ ॥

अथ ‘पवमानस्य ते वय’मिति बहिःपवमानस्याऽन्त्यं तृचं विधत्ते—

तृच उत्तमो भवति ॥ ८ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ८ ॥

तदेतत् प्रतिपत्सारूप्येण स्तौति—

येनैव प्राणेन प्रयन्ति तमभ्युद्यन्ति ॥ ९ ॥

येनैव प्राणेन प्रयन्ति प्रारम्भन्ते तमभिलक्ष्य उद्यन्ति समापयन्ति
प्रथमोत्तमयोस्तृचयोः पवमानसोमदेवताकृत्वा तृचात्मनैवाऽवस्थानाञ्चो-
भयोः सारूप्यमित्येकवच्यपदेशः ॥ ९ ॥

अथाऽस्य स्तोत्रस्य स्तोमकल्पति विदधाति—

पञ्चदश एव स्तोमो भवति ॥ १० ॥

पञ्च तृचा अनुक्रान्तास्ते पञ्चदशस्तोत्रीयास्तृचा भवन्तीति पञ्च-
दश एव स्तोमोऽस्य भवति ॥ १० ॥

तदेतत्प्रतिष्ठाहेतुरित्याह—

ओजस्पेव तद्वीर्यं प्रतितिष्ठत्पोजो वीर्यं पञ्चदशः ॥ ११ ॥

तच्चथा सति पञ्चदशस्तोमे कृते सति ओजस्पेव ओज इति बल-
नाम बले बलात्मक एव वीर्यं प्रतितिष्ठति प्रतिष्ठितो भवति । कुतः ?
पञ्चदशः स्तोमो यतः ओजः बलात्मक वीर्यं रेतोरूपं प्रजायते वी-
र्यवतोऽङ्गादुत्पन्नत्वात् ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे
एकादशाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

अथाऽऽज्यानि विधित्सुराह—

उभाभ्यां वै रूपाभ्यां बहिष्पवमान्यो युज्यन्ते

यत्सामा स्तोमो भवति तदाज्येषु ॥ १ ॥

उभाभ्यां यार्हतारायन्तराभ्यां रूपाभ्यां खलु बहिष्पवमान्यः बहि-
ष्पवमानस्तोत्रीया युज्यन्ते । 'पवस्वे'ति वै रायन्तरं रूपम्, 'अग्निम्' इति
यार्हतमुमे रूपे समारम्भत इति प्राशक्तम् । आज्येषु आज्यस्तोत्रेषु तत्तस्यैव
साम्नो रूपं भवति यत्सामा यत्सामपृष्ठकः स्तोमः, स्तोमवान् यागो
भवति । अस्मिन् द्वितीयेऽहनि होतुः पृष्ठस्तोत्रे यद्वृद्धसाम क्रियते
तस्यैव साम्नो रूपमाज्येषु भवति नाऽन्यस्येत्यर्थः ॥ १ ॥

किं तद्रूपं यत् बृहत्तोऽसाधारण्येनाऽऽज्येषु भवेदित्याशङ्क्य तद्विशि-
ष्टान्येवाऽऽज्यानि विधत्ते—

निराहोपस्थितान्याज्यानि भवन्ति ॥ २ ॥

निराहो निराहावो निष्कृष्य सम्बोध्याऽऽह्वानं तदुपस्थितं समीपे स्थितं सार्थकम्, न तु शब्दतः, एतत्त्रयेषु तानि निराहोपस्थितानि तादृशान्याज्यस्तोत्राणि भवन्ति । उपस्थितावलिङ्गञ्च बृहत् एवाऽसाधारणं रूपं न रयन्तरस्येति 'उपस्थितं द्वितीयस्याऽहो रूप'मित्यादिना प्रत्यपादि ॥ २ ॥

कानि पुनस्तथाविधान्याज्यानि ? तानि दर्शयति—

अग्निदूतं घृणामिहे मित्रं वयधुं हवामह इन्द्रमिन्द्राधिनो बृहदिन्द्रो अग्रा नमो बृहदिति बार्हतमेव तद्रूपं निर्धोतयति स्तोमः ॥ ३ ॥

एषु चतुर्ष्वपि उपस्थितात्मकं बार्हतं रूपं दृश्यते । इन्द्रमिन्द्राधिनो बृहत् 'इन्द्रो अग्रा नमो बृह'दिति बृहच्छब्दो दृश्यते । स च शब्दसामान्यात् बृहत्सामाज्यगमयति । तत्तेन बार्हतमेव रूपं निर्धोतयति प्रकाशयति स्तोमश्चामीषामुक्तः पञ्चदश एव भवति । एवं प्रातःसवनि-केषु पञ्चसु स्तोत्रेषु उकासु स्तोत्रीयासु प्राकृतमेव गायत्रं साम गातव्यम् सामान्तरस्य विध्यभावात् ॥ ३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

एकादशाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥ ७ ॥

अथाष्टमः खण्डः ॥

अथ माध्यन्दिनपवमानस्य त्रयः स्तोत्रीयास्तुचा विधित्सिताः तत्र प्रथमं विदधाति—

घृषा पवस्व धारयेति गायत्री भवत्पहो घृत्यै ॥ १ ॥

'घृषा पवस्व धारये'ति गायत्री गायत्रछन्दस्का प्रतिपद्भवति प्रथमस्तुचो भवतीत्यर्थः । धारयेति शब्देन घृञ्धारण इत्यस्य धातोः प्रत्यभिज्ञानात् एषा प्रतिपत् अस्य द्वितीयस्याऽहो घृत्यै धारणाय स्यैर्ध्याय भवति ॥ १ ॥

ननु गायत्रं वै प्रथममहस्त्रैष्टुमं द्वितीयं जागतं तृतीयमित्यादिना द्वितीयस्याऽह्नैष्टुभत्वं प्रतीयते । कुतस्तत्र गायत्रो विनियोज्यन्त इति, तत्राऽह—

घृषणवत्पस्त्रिष्टुभो रूपेण त्रैष्टुभं ह्येतदहः ॥ २ ॥

इमा विहिता गायत्र्यो वृषण्ययो वृषच्छब्दयुक्ता भवन्ति । वृष-
ण्वत्यञ्च त्रिष्टुभो रूपम् , तस्मात्त्रिष्टुभो रूपेण युक्तत्वात् द्वितीयेऽहनि
विनियोगार्हाः । एतदहञ्च त्रैष्टुभं हि त्रिष्टुप्सम्यग्दम् । हिशब्दः प्रसि-
द्धौ । आ च पूर्वमेव दर्शिता ॥ २ ॥

अथाऽपर स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

पुनानस्सोमधारयेति धृत्यै ॥ ३ ॥

पूर्ववद्योज्यम् ॥ ३ ॥

अथाऽन्यं स्तोत्रीयं तृचं विधत्ते—

वृषाशोणो अभिकनिक्रदद्वा इति ॥ ४ ॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥

अस्य त्रैष्टुमे द्वितीयेऽहनि सङ्गतिमाह—

वृषण्वत्यञ्चिष्टुभो रूपेण समृद्धा वृषण्वद्वा एतदेन्द्रं त्रै-
ष्टुभमहर्ष्यत् द्वितीयं तदेव तदभिवदति ॥ ५ ॥

यत् वृषा शोण इत्याद्या वृषण्वत्यो वृषशब्दयुक्ताः अतश्चिष्टुभो रू-
पेण समृद्धाः सम्पूर्णाः एतदहञ्चैन्द्रं इन्द्रदेवत्यं त्रैष्टुभं त्रिष्टुप्छन्द-
स्कं वृषण्वद्वै वृषच्छब्दयुक्तमेव वृषवद्वृषप्रहवदित्यादिना वृषशब्दस्य
तद्रूपत्वेनोक्तत्वात् । दशरात्रस्य यत् द्वितीयमहः एतदिति सम्यग्धः
तद्वृषा शोण इत्यादिकं मन्त्रवाक्यं तदेव वृषण्वदेव द्वितीयमहरभिव-
दति अभिलक्ष्य ब्रवीति ॥ ५ ॥

अथ वृषा पवस्वेति प्रथमे तृचे गतिव्यं सामं विधाय पूर्वमाप्ना-
तं तद्वाह्यणञ्चातिदिशति ।

गायत्रं भवति यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ६ ॥

सिद्धमेतत् ॥ ६ ॥

अथाऽस्मिन्नेव तृचे पुनरावृत्ते गतिव्यं सामान्तरं दर्शयति—

यौक्ताश्वं भवति ॥ ७ ॥

युक्ताश्वेन दृष्टं सामं यौक्ताश्वम् ॥ ७ ॥

अथाऽस्य कामप्राप्तिहेतुतां विवक्षुरारण्यायिकामाह—

युक्ताश्वो वा आङ्गिरसः शिशु जातौ विपर्यहर-
त्तस्मान्मन्त्रोऽपाक्रामत्स तपोऽतप्यत स एतयौक्ताश्व-
मपश्यत्तं मन्त्रं उपावर्त्तत तद्वाव स तर्ह्यकामयत काम-
सनि सामं यौक्ताश्वं काममेवैतेनाऽवरुन्धे ॥ ८ ॥

पुरा युकाश्चो नामाऽऽङ्गिरसोऽङ्गिरोगोत्रजात ऋषिः जातौ जातमात्रौ
 शिशू बालौ स्तनन्धयौ धिपर्यहरत विपरिहृतवान् बाधितवान् । अका-
 र्यस्य करणात् तस्मादपेर्मन्त्रो वेदोऽपाक्रमदपागमत् । स मन्त्रराहित्ये-
 न हीनः सन् पुनस्तत्प्राप्तये तपोऽतप्यत प्रायश्चित्तात्मक तपस्तेपे । तेन
 च नपसा विशुद्धः स ऋषिः एतद्यौकाश्वं सामाऽपश्यत् । यस्मात् ए-
 तस्य साम्नो द्रष्टारं तमपक्रान्तो मन्त्रः पुनरुपावर्तत, तत् ततोऽनन्तरं
 तर्हि तस्मिन् काले स खल्वकामयत । किमिति ? यदेतद्यौकाश्वं एन-
 त्साम कामसनि कामप्रदम् । यणु दाने । 'छन्दसि घनसत्तरक्षिमया'मि-
 नीन्प्रत्ययः । तस्मादनेन साम्ना यः स्तौति स कामं काम्यमानममिलपि-
 नमेव फल एतेन साम्नाऽवबुधे लभते ॥ ८ ॥

अथ पुनानस्सोमधारयेति तृचे द्विरभ्यस्ते द्वे सामनी क्रमेण नेये
 दर्शयति—

आयास्ये भवतः ॥ ९ ॥

अयास्येत दृष्टे सामनी आयास्ये । प्रथममिडानिधानमायास्यम्,
 द्वितीयं त्रिणिचनमायास्यम् ॥ ९ ॥

एतत्सामद्वयं निम्दिताज्ञोपजीवन(१)जग्यस्य पापस्य निष्कृतिहेतु-
 परित्यग्निप्रायेणाऽऽह—

अयास्यो वा आङ्गिरस आदित्यानां दीक्षिताना-
 मन्नमाश्नात्तं शुगाच्छेत् स तपोऽतप्यत स एते आ-
 यास्ये अपश्यत्ताभ्यां शुचमपाहताऽप शुचं हत
 आयास्याभ्यां तुष्टुवानः ॥ १० ॥

पुरा खल्वयास्यो नामाऽऽङ्गिरसः अङ्गिरोगोत्रज ऋषिः दीक्षितानां
 प्राप्तदीक्षाणां प्रारब्धयज्ञानामादित्यानां अदितेः पुत्राणां अन्नमाश्नात्
 अभुङ्क्त । तं ऋषिं शुक् शोक आच्छेत् प्राप्नोत् अमोज्यस्य भक्षणत् ।
 दीक्षितान्नं हि प्रतिपिद्धत्वादमोज्यं हि स्मर्यते 'न दीक्षितवसनं परिद-
 धीत, नाऽस्य पापं कीर्त्तयेत्, नाऽन्नमश्नोया'दिति । शुगात्तस्स ऋषिः
 तपोऽतप्यत । तत्तेन तपसा एते आयास्ये सामनी अपश्यत्ताभ्यां साम
 भ्यां अमोज्यमोजनवशादुपजातां शुच शोकमपाहत अवर्जयत । अत-
 र्दानीमपि आयास्याभ्यां तुष्टुवानः स्तुतवान् यजमानः शुचमपहते
 अपहन्ति अमोज्यमोजनजन्यं पापं विनाशयतीत्यर्थः ॥ १० ॥

अथैनयोः स्तवनं वृष्टिहेतुरपीति दर्शयति—

एभ्यो वै लोकेभ्यो वृष्टिरपाक्रामत्तामयास्य आया-
स्याभ्यामच्यावयत् च्यावयति वृष्टिमायास्याभ्यां तुष्टु-
वानः ॥ ११ ॥

पुरा एभ्यः पृथिव्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽपि लोकेभ्यो वृष्टिः अपाक्रामद-
पागच्छत्, त्रिष्वपि लोकेष्वनावृष्टिर्जातेत्यर्थः । तामपक्रान्तां वृष्टिं अ-
यास्य क्रयिः आयास्याभ्यामेताभ्यां सामभ्यां साधनभूताभ्यामच्या-
वयदवर्षयत् । स्पष्टमन्यत् ॥ ११ ॥

अथाऽन्नाद्यहेतुत्वेनैते स्तौति—

अन्नाद्यं वाव तदेभ्यो लोकेभ्योऽपाक्रामत्तदयास्य
आयास्याभ्यामच्यावयत् च्यावयत्यन्नाद्यमायास्याभ्यां
तुष्टुवानः ॥ १२ ॥

तत्तत्र वृष्ट्युपक्रमणसमयेऽन्नाद्यं वाव अदनीयमन्नमेवैभ्यो लोके-
भ्योऽपाक्रामत्, वृष्टिमन्तरेण तस्याऽनुत्पत्तेः । निगदसिद्धमन्यत् ॥ १२ ॥

अथ वृषाशोण इति तृतीये त्वे गातव्यं सामं विदधाति—

वासिष्ठं भवति ॥ १३ ॥

वासिष्ठस्येदं वासिष्ठम् ॥ १३ ॥

इममेव सम्यग्व्यं प्रदर्शयन् इदं विशिष्टफलहेतुरित्याह—

वासिष्ठो वा एतेन वैडवः स्तुत्वाऽञ्जसा स्वर्गं लोक-
मपश्यत् स्वर्गस्य लोकस्याऽनुस्यूत्यै स्वर्गाल्लोकान्न च्य-
वते तुष्टुवानः स्तोमः ॥ १४ ॥

वैडवो वाडुपुत्रो वासिष्ठः खलु पुरा एतेन सान्ना स्तुत्वा अञ्जसा
आञ्जवेन ऋजुगामिनैश्च मार्गेण स्वर्गं लोकमपश्यत् सम्यगद्राक्षीत् ।
अत एतस्सामेदानीं प्रयुज्यमानं स्वर्गस्य लोकस्याऽनुस्यूत्या अनुस्यू-
नार्थं सम्यग्दर्शनाय भवति । अपि च तुष्टुवानः स्तुतवान् । स्वर्गाल्लोकात्
सम्यक् दृष्टान्न च्यवते न प्रच्युतो भवति, सर्वदा तत्रैवावतिष्ठत्
इत्यर्थः । एवं त्रयस्तुत्वा आवृत्त्या सह पञ्चदश स्तोत्रीयास्तुत्वाः स-
म्पन्नाः । अतः पञ्चदशस्तोमो निष्पन्न इत्यर्थः ॥ १४ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

एकादशाध्यायस्याष्टमः खण्डः ॥

अथ नवमः खण्डः ॥

अथ होतुः पृष्ठस्य स्तोत्रीयं तृचं प्रदर्श्य तस्मिन्नहनि तदानुगुण्यं दर्शयति—

‘त्वामिद्वि हवामह’ इति त्वमिति बृहतो रूपं चार्हतं छेतदहः ॥ १ ॥

त्वामिद्वीत्ययं प्रगाथस्तोत्रीयो भवति । प्रथमस्य पृष्ठस्तोत्रस्य त्वामिति युष्मच्छब्दरूपस्योपलक्षणं त्वामिद्वीति बृहतो योन्यां त्वामिति युष्मच्छब्दः श्रूयते । अतस्तद्बृहतो बृहत्साम्नो रूपं उत्पत्तिशिष्टत्वात् । एतत् द्वितीयमहश्च चार्हतं बृहत्पृष्ठत्वात् । अतोऽस्मिन्नहनि त्वामिद्वीति प्रगाथस्य करणं युक्तमिति भावः ॥ १ ॥

अथ ब्रह्मणः पृष्ठस्तोत्रस्याऽऽधारभूतं तृचं विधाय स्तौति—

अभिप्रवः सुरावसमिति युञ्जते वै पूर्वेणाऽह्ना छेतेन प्रयन्ति ॥ २ ॥

पूर्वेण प्रथमेनाऽह्ना यज्ञे युञ्जते प्रारभन्ते । यथा देशान्तरं गच्छन् रथे अश्वान् युञ्जे, एवं यज्ञसमाप्तिं गन्तुं तस्योपक्रम एव कियते । तेनाऽह्ना युक्तं यज्ञं एतेन द्वितीयेनाऽह्ना अभिप्रयन्ति उद्दिश्य प्रकर्षेण गच्छन्ति । अतोऽस्याहः अभिप्रायणसाधनत्वादभिश्चन्दयुक्तोऽयं तृचः सङ्गत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथाऽच्छावाकपृष्ठस्य स्तोत्रीयं तृचं विधाय तस्य पूर्वोत्तरयोरहोः सन्धानहेतुतामाह—

त्वामिदाह्यो नर इत्यद्य चैव ह्यश्च समारभते

द्विरात्रस्याऽविस्त्रुंसाय ॥ ३ ॥

त्वामिदाह्य इत्यस्मिन् तृचे इदाह्यश्चेति शब्दद्वयं श्रूयते । तयोरयमर्थः—इदानीं ह्यः पूर्वद्युरिति एवं कालद्वयवाचिता तेन अद्य च अद्यतनश्चैव द्वितीयमहः ह्यः पूर्वमहश्च समारभते । समित्येकीभावे एकीकृत्योमयं गृह्णातीति । किमर्थम् ? द्विरात्रस्याऽर्द्धद्वयस्य अविस्त्रुंसाय विस्त्रुंसनामावार्थं सन्धानार्थमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अथाऽऽद्ये तृचे साम विधाय तस्य द्वितीयेनाऽह्ना सङ्गतिमाह—

बृहद्भवति वर्ष्म वै बृहद्वर्ष्म द्वितीयमहर्वर्ष्मण-

एव तद्वर्ष्माऽऽक्रमन्ते ॥ ४ ॥

तदेतद् बृहत्साम तद्वर्ष्म वै ब्रह्मणः शरीरभूतं द्वितीयमदृश्य यज्ञ-
स्य वर्ष्म शरीरं तत्तया सति बृहतो द्वितीये ऽहनि सम्बन्धात्
वर्ष्मण एव सकाशात् वर्ष्माऽऽक्रमन्ते ॥ ४ ॥

अथ द्वितीयस्मिन्तृचे साम विधाय तस्य सन्तानहेतुतामाह—
इयेतं भवति साम्नोर्विवाहो यज्ञस्य सन्तत्यै ॥ ५ ॥

अभिप्रयः सुराद्यसमित्यास्मिन् तृचे इयेतं ब्रह्मसाम भवति । इयेतं
हि रथन्तरप्रभवं नौघसं बृहत्प्रभवम्, अतो राधन्तरेऽहनि इयेतस्य वा
हतेऽहनि नौघसस्य प्रयोगे प्राप्ते इमौ वै लोकौ सदास्तामित्यादिनाऽ
नयोः साम्नोर्विवाहो विविधं प्रायणं विपर्यस्य प्रयोग उक्तः । स च यज्ञ-
स्य पूर्वोत्तरयोरहोर्न्यासज्यधर्तमानस्य सन्तत्यै सन्तानाय भवति ।
राधन्तरं हि पूर्वमहः बाहृतमुत्तरं रथन्तरपक्षीयस्य इयेतस्याऽत्र
प्रयोगात् सन्ततिरिति द्रष्टव्यम् ॥ ५ ॥

अथ तृतीये प्रगाथे साम विधाय ऋषिसम्बन्धप्रतीतिस्तत्साम
चिरकालं स्वर्गाविस्थितिहेतुरिति स्तौति ।

माधुच्छन्दसं भवति सामार्पेयवत्स्वर्गाय युज्यते
स्वर्गाल्लोकान्न च्यवते तुष्टुवानः ॥ ६ ॥

सिद्धमेतत् ॥ ६ ॥

अस्मिन् साम्नि विद्यमानां ऊर्ध्वस्वराविशिष्टामिडामनूयाऽस्मिन्-
हनि तत्सङ्गतिमाह—

ऊर्ध्वेडं तथा ह्येतस्याऽहो रूपंस्तोमः ॥ ७ ॥

औ२२४५१ड। इत्येवं रूपा इडा यस्य तदूर्ध्वेडं साम । तथा हि तथैव
सत्वेतस्य द्वितीयस्याहो रूपमुपन्यस्तं द्रवदिडं प्रथमस्याहो रूपमित्या-
दिना अत्र त्रीणि पृष्ठस्तोत्राण्यनुकान्तानि । मैत्रायणपृष्ठस्तोत्रं तु चो-
दकत एव प्राप्तम् । तेनैतेषु चतुर्षु स्तोत्रेषु पञ्चदश एव स्तोमो
भवति ॥ ८ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाश
एकादशाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

अथाऽऽर्चयन् पवमानस्यैकं स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

यस्ते मदो घरेण्य इति गायत्री भवति ॥ १ ॥

गायत्रस्तृचो भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अस्य तृचस्य मदशब्दयुक्तत्वेन तृतीयसवनस्याऽऽनुरूप्यं दर्शयति—

मदवष्टै रसवचतृतीयसवनं मदमेव तद्रसं दधाति ॥ २ ॥

प्रसोमासो मदव्युत इति गायत्री भवतीत्यस्य वाक्यशेषवत् एत-
दपि व्याख्येयम् ॥ २ ॥

अन्यां स्तोत्रीयां विधायऽस्मिन्नहनि तस्याः सङ्गतिमन्नाद्यदेतुताञ्चाह—

पवस्व मधुमत्तम इति पवन्त इव ह्येतेनाऽह्ना मधुमत्तम
इत्यन्नं वै मध्वन्नाद्यमेष तद्यजमाने दधाति ॥ ३ ॥

पवस्व मधुमत्तम इत्यस्मिन् पूञ् पवन इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नः
पवस्वेति शब्दः श्रूयते। एतेन द्वितीयेनाऽह्ना पवन्त इव हि। इवेत्यव-
धारणे। पवन्ते शोधयन्त्येष स्रज्वनुष्ठातारः। अतोऽस्मिन्नहनि तत् पव-
नप्रतिपादकं मन्त्रवाक्यं सङ्गतम्। तथा मधुमत्तम इति च पदं तत्र
श्रूयते। लोके च अन्नं वै अन्नमेव मधु मधुरमिति प्रसिद्धम्। अतोऽन्न-
वाचिमधुशब्दयुक्तेन तत्तेन मन्त्रवाक्येन यजमाने अन्नार्थं अदनीय-
मन्नमेव दधाति ॥ ३ ॥

अथाऽपरां स्तोत्रीयां विधाय तथा वीर्यप्राप्तिमाह—

इन्द्रमच्छ सुता इम इतीन्द्रियस्य वीर्यस्याऽऽवरुध्यै ॥ ४ ॥

अस्यामृचीन्द्रशब्दः श्रूयते। तेन च इन्द्रसम्बन्धि वीर्यं प्रत्यभिज्ञायते
अतः फलस्य इन्द्रियस्य इन्द्रेण सुष्टस्य तद्वत्तस्य वा वीर्यस्याऽऽपत्यका-
रणस्य रेतोरूपस्याऽवरुध्यै अवरोधनाय प्राप्तये एषा भवति ॥ ४ ॥

अथाऽपरं स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

अयं पूषा रयिर्भग इति ॥ ५ ॥

अस्य तृचस्याऽऽनुष्टुभत्वात् त्रैष्टुभेऽह्न्यसङ्गतिमाशङ्क्य त्रैष्टुभेन
रूपेण योगारसङ्गतिमाह—

अनुष्टुभः सत्पञ्चिष्टुभो रूपेण त्रैष्टुभं होतदहः ॥ ६ ॥

अनुष्टुभः सत्यः अनुष्टुप्छन्दस्का मवन्त्योऽप्येतास्त्रिष्टुभो रूपेण

३६ ता० ब्रा०

रयिशब्दादिना युक्ताः । रयिशब्दयोगश्च त्रिष्टुभो रूपमिति वृषवद्वृषद-
बदित्यादिना प्राशुकम् । अतोऽस्मिन् त्रैष्टुभेऽहनि सङ्कता इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अथाऽन्यं जागतं वृचं विधाय तस्याऽपि त्रैष्टुभरूपयोगात् त्रैष्टुभेऽ-
हनि सङ्कतिरित्याह—

वृषामतीनां पवते विश्वक्षण इति जगत्पः सत्पस्त्रिष्टुभो

रूपेण त्रैष्टुभं ह्येतदहः ॥ ७ ॥

अथ वृषशब्दत्रिष्टुभो रूपम् । अन्यत् पूर्ववद्योज्यम् ॥ ७ ॥

अथ प्रथमे वृचे एकं साम विधाय प्राकृतिकं तद्ब्राह्मणञ्चाऽति-
दिशति—

गायत्रं भवति पदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

व्याख्यातमेतत् ॥ ८ ॥

अथ पुनरावृत्ते तस्मिन्नेव वृचे सामान्तरं विदधाति—

हाविष्मतं भवति ॥ ९ ॥

हविष्मता ऋषिणा दष्टं साम हाविष्मतम् ॥ ९ ॥

इममेव सम्बन्धं प्रदर्शयन् समृद्धिहेतुरेतत्साम इत्याह—

हविष्मांश्च वै हविष्कृचाऽङ्गिरसावास्तां द्वितीयेऽहनि

हविष्मानराप्नोन्नवमेऽहनि हविष्कृत् ॥ १० ॥

पुरा खलु हविष्मांश्च हविष्कृच्चेति द्वौ व्याङ्गिरसौ व्याङ्गिरोमोऽश्वरूपी
आस्तामभवताम् । तयोर्मध्ये हविष्मान् द्वादशहमनुतिष्ठन् द्वितीयेऽहनि
अनेन साम्ना स्तुत्वा अराप्नोत् समृद्धोऽभवत् । हविष्कृच्च नवमेऽहनि
आत्मना दष्टेन हाविष्कृतेन साम्ना अराप्नोदित्येतत् प्रासङ्गिकम् ॥ १० ॥

अप्येताप्रकारान्तरेण स्तीति—

अपथं हविष्मानित्येव जातमहर्जातिथं सोमं प्राह
देवेभ्यः सान्नैवात्मा आशिषमाशास्ते साम हि स-
त्याशीः ॥ ११ ॥

अस्य सान्नोऽवसाने हविष्मतेति पदं धूपते । तद्विशिष्टं जानमु-
त्पन्नमेतदहः । अथ यजमानो हविष्मान् हविषा युक्तं पेषति जातमुत्पन्नं
अभिपद्यादिभिः संस्कृतं सोमं देवेभ्यो हविर्मागं प्राह प्रयूने । अपि चाऽ-
स्मै यजमानायाऽनेनैव साम्नाऽऽशिषम्, अप्रातस्य फरस्य प्रातिराशीः,
तामाशास्ते स्तोतेति शेषः । साम हि साम खलु सत्याशीः सत्या अवित-

या आशीः फलप्राप्तिर्यस्मिन् तत्तथोक्तं ऋग्यजुःसाम्नां मध्ये सामैव अवितथफलहेतुः । अतो हेतोः सामेवाऽऽशिपमाशास्त इति ॥ ११ ॥

अथ पवस्व मधुमत्तम इत्यस्यामृचि गातव्यं साम विधाय शब्द-सामान्येन तस्य धृतिहेतुतामाह—

शङ्कु भवत्यहो धृत्यै यद्वा अधृतं शङ्कुना
तद्धार ॥ १२ ॥

शङ्कु शङ्कुसंज्ञं साम पवस्व मधुमत्तम इत्यस्यां गातव्यं भवति । तच्चाऽस्याऽहो धृत्यै धारणाय स्थैर्याय भवति । यत् खलु लोके अधृत आधारितं चञ्चलं भवति तच्छङ्कुना दाढ्याय निष्ठातव्येन कीलकेन दधार धारयति लौकिकः पुरुषः, तद्वदिदमपि साम शङ्कुशब्दवाच्यत्वाद् धृतिहेतुरित्यर्थः ॥ १२ ॥

अथाऽस्य साम्नो ब्रह्मवादिभिः कृतं संज्ञान्तरमनुवदन् तस्य निर्वचनञ्च प्रदर्शयन् पृथिव्यादिलोकप्राप्तिहेतुरेतत्सामेति दर्शयति—

तदु सीदन्तीयमित्याहुरेतेन वै प्रजापतिरुद्ध्व इमान् लोकानसीदद्यदसीदत्तत्सीदन्तीयस्य सीदन्तीयत्वमूर्द्ध्व इमान् लोकान् सीदति सीदन्तीयेन तुष्टुवानः ॥ १३ ॥

तदु शङ्कुसाम सीदन्तीयशब्दवाच्यम्, एतदपि तस्य नामेति ब्रह्मवादिना आहुः । तस्यैतन्निर्वचनं एतेन खलु साम्ना साधनेन प्रजापतिर्विधाता ऊर्द्ध्व उरिधतः सन् इमान् लोकान् दृश्यमानान् लोकानसीदत् अगच्छत् व्याप्नोत्, यद्यस्मात्कारणादनेन साम्नाऽऽसीदत् तत्तस्मादस्य सीदन्तीयस्य सीदन्तीयशब्दवाच्यस्य साम्नः सीदन्तीयत्वं सीदन्तीनेनेति व्युत्पत्त्या सीदन्तीयमिति नाम सम्पन्नम् । यच्च इदानीमपि सीदन्तीयेनाऽनेन तुष्टुवानः स्तुतवान् भवति सोऽप्यूर्ध्वमुरिधतः सन् इमान् लोकान् सीदति व्याप्नोति ॥ १३ ॥

इन्द्रमच्छेत्यस्यां गातव्यं साम विदधाति—

सुज्ञानं भवति ॥ १४ ॥

सुज्ञानार्थं साम कर्त्तव्यम् ॥ १४ ॥

रायन्तरबार्हतयोरेतयोरहोः सन्तानाय उभाभ्यां रूपाभ्यां भाव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह—

स्वर्वद्वै रायन्तरं रूपं स्वर्णिघनं बार्हतम् ॥ १५ ॥

अस्मिन् सुज्ञाने सुवर्दिद पृ३ उपा २३४५ इति समाप्तौ दृश्यते । स्व-

वत् स्वदशव्ययुक्तं हि राघन्तरं रूपम् । ईशानमस्य जगतः स्वर्हंशमिति
तद्योन्यां दृष्टत्वात् स्वर्णिधनं स्वरिति सुज्ञानस्य निधनम् । असौ लोको
बृहदि'ति श्रुतेः बार्हतं बृहत्सम्बन्धिरूपम् । अतोरूपद्वययुक्तमेतत्साम द्वि-
रात्रस्य सन्तत्यै भवतीत्यभिप्रायः । नन्यस्मिन् ऊपा इति निधनं दृश्यते
न स्वरिति, कथं स्वर्णिधनत्वम् ? नैष दोषः; यतः सूत्रकारेण ऊपा-
स्थानेष्वन्यानि निधनानीति प्रकृत्य स्वःकाशिते दैवोदात्तसुज्ञानयो-
श्चेत्युपास्थाने स्वरिति निधनस्य विहितत्वात् ॥ १५ ॥

एतदेवाऽभिप्रेत्याह—

स्वर्णिधनं भवति तथा ह्येतस्याऽहो रूपम् ॥ १६ ॥

एतत्सुज्ञानं स्वरिति बहिर्निधनयुक्तं भवति । तथा खल्वेतस्य द्विती-
यस्याऽहो रूपं पूर्वमुक्तं पदनिधनप्रथमस्याहो रूपम्, बहिर्निधनं द्विती-
यस्येति ॥ १६ ॥

अथ शङ्खसुज्ञाने संयुज्य प्लवात्मना रूपयन् ब्रजसा स्वर्गप्राप्ति-
साधने इत्याह—

प्लवौ वा एताद्युपोहन्ते स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै ॥ १७ ॥

ये शङ्खसुज्ञाने सामनी विहिते एतौ प्लवापेक्षया पुंलिङ्गता । एते प्रयु-
ज्याना उद्गातारः प्लवौ दुस्तरस्य यज्ञात्मकसमुद्रस्य पारप्राप्त्यर्थं प्लव-
पावेधोपोहन्ते प्रेरयन्ति । किमर्थम् ? स्वर्गस्य लोकस्य समष्टयै यज्ञमा-
नस्य प्राप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

अयं पूषेत्यस्य त्वत्स्याऽऽद्यायामृचि गातव्यं विधाय पूर्वमाज्जातं
तद्ब्रह्मणञ्चाऽतिशति—

गौरीवितं भवति यदेव गौरीवितस्य ब्राह्मणम् ॥ १८ ॥

गौरीवितिर्वा एतच्छाक्त्यो ब्रह्मणोऽतिरिक्तमपम्यदित्यादिकं गौरी-
वितस्य प्रागाज्जातं ब्राह्मणं यत् तदेवास्याऽपि ब्राह्मणम् ॥ १८ ॥

अथाऽस्मिन्नेव त्वे सामान्तरं विद्ध्यति—

क्रौञ्चं भवति ॥ १९ ॥

स्पष्टम् ॥ १९ ॥

तदेतद् स्तौति—

वाग्वै क्रौञ्चं वाग्वाद्दशाहो वाच्येव तद्वाचा

स्तुवते यज्ञस्य प्रभृत्यै ॥ २० ॥

वागात्मकं खलु कौञ्चं साम । द्वादशाहश्च वाग्रूपः (१) 'तस्मादेकहायना मनुष्या वाच वदन्ती'ति वाग्वदनसाधनत्वात् सम्बत्सरस्य तावद्वागात्मताऽवगम्यते, (२) 'सम्बत्सरप्रतिमा वै द्वादशरात्रयः' इति श्रुतेः द्वादशाहस्य सम्बत्सरप्रतिरूपत्वात् वागात्मकत्वं द्रष्टव्यम् । तत्तथा सति उभयोर्वाग्रूपत्वात् वाच्येव वाक् संस्तुत एव द्वादशाहे वाचा वाग्रूपेण कौञ्चेन स्तुयत उद्गातारः । किमर्थम् ? यज्ञस्य प्रवृत्तस्य द्वादशाहात्मकस्य प्रभृत्यै प्रभृत्यर्थं (३) माधिक्यार्थं स्वत एव वाग्रूपे यज्ञे पुनर्वाचा स्तुयतः प्रभृतिः २० अथ वृषामतीनां पवत इत्यन्ये तृचे शयं साम विधत्ते—

यामं भवति ॥ २१ ॥

प्रो अयासीदित्यस्यामुत्पन्नं साम यामम् । तदर्हिमस्तृचे ऊर्देन कार्थ्यम् ॥ २१ ॥

इदं स्वर्गस्य लोकस्याऽऽधिपत्यहेतुरित्यभिप्रेत्याह—

एतेन वै यमोऽनपजयममुष्य लोकस्याऽऽधिपत्यमा-

श्नुताऽनपजयममुष्य लोकस्याऽऽधिपत्यम-

श्नुते यामेन तुष्टुवानः ॥ २२ ॥

एतेन खलु साम्ना साधनेन पुरा यमो वैवस्वत अनपजयं केनाप्यपजेतुमशक्यं अवाध्यममुष्य स्वर्गलोकस्याऽऽधिपत्यमधिपतित्वं आश्नुत प्राप्नोत् । अत इदानीन्तनोऽपि यामेन तुष्टुवानः स्तुतवान् अनपजयममुष्य लोकस्याऽऽधिपत्यमश्नुते प्राप्नोति ॥ २२ ॥

तथेदं साम स्वर्गलोकावगतिहेतुः तत्र चिरकालावस्थितिहेतुश्चेत्याह—

एतेन वै यमी यमं स्वर्गं लोकमगमयत् स्वर्ग-

स्य लोकस्याऽनुख्यात्यै स्वर्गात् लोकान्न

च्यवते तुष्टुवानः स्तोमः ॥ २३ ॥

एतेन खलु साम्ना पुरा यमी यमस्य पत्नी यमं स्वर्गं लोकमगमयत् । अत इदं साम स्वर्गस्य लोकस्याऽनुख्यात्यै अनुष्ठायनाय सन्दर्शनाय भवति । अपि च एतेन तुष्टुवानः तस्मात् स्वर्गलोकांश्च च्यवते । उक्तप्रकारेण स्तोत्रीयाणां परिगणने सति पञ्चदशस्य स्तोमो निष्पद्यते ॥ २३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे एकादशाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

अथैकादशः खण्डः ।

अथाऽस्याऽह उक्त्यसंस्थत्वादितः परं त्रीण्युक्त्यस्तोत्राणि कर्त्तव्या-
नि । तत्र मैत्रावरुणोक्त्यस्य स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

एहूपु ब्रवाणि त इत्येहिबस्यो भवन्ति तृतीय-

स्याऽह उपहवाय सन्तत्यै ॥ १ ॥

एहूपुष्वित्याद्यास्तिस्र एहिबस्य एहीत्यनेन शब्देन युक्ताः प्रथम-
स्योक्त्यस्य स्तोत्रीया भवन्ति । तास्र एहीत्यागमनप्रतिपादनात् तृती-
यस्याऽऽगामिनोऽहः उपहवाय उपह्वानाय भवन्ति । उपह्वः किमर्थं इति
तत्राह—सन्तत्या इति । उभयोर्द्वितीयतृतीययोरहोः सन्तानार्थं भवति ॥ १ ॥

सा कस्मात्कारणादित्यत आह—

अपच्छिदिष वा एतद्यज्ञकाण्डं यदुक्त्यानि

यदेति सलोमत्वाय ॥ २ ॥

उक्त्यान्युक्त्यस्तोत्राणीति यत् एतद्यज्ञकाण्डं यज्ञभागः अपच्छिदिष
वै अपच्छिन्नमेव खलु, यज्ञायज्ञीयेनैव प्रकृतस्याऽहः परिसमाप्तत्वात् उक्त-
रस्य चाऽनारब्धत्वात् । अतोऽस्य सन्तानार्थं एहूपु ब्रवाणि त इत्यादी-
न्युक्त्यानि उक्त्यस्तोत्राणि एति प्राप्नोति करोतीति यत् सलोमत्वाय
सारूप्याय अपछेदमावेनैकरूप्याय भवति । अथ वा एति आशति आ-
मिमुख्यवाची उपसर्गोऽस्मिस्तुचे दृश्यते । ईदृश आकार इति यत् छि-
च्छिन्नयोः परस्परामिमुख्यप्रतिपादनात् सलोमत्वाय सारूप्यायैव त-
द्भवति ॥ २ ॥

अथ द्वितीयस्योक्त्यस्य स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

एवाह्यसि वीरयुरिति समानं वदन्तीदमित्थ-

मसदिति ॥ ३ ॥

एवाह्यसि इति तृचः स्तोत्रीयः कार्यः । तास्तिग्न ऋचः समानं स-
दृशमेवाऽर्थं वदन्ति प्रतिपादयन्ति, इदमहरित्थमनेन प्रकारेणाऽसत् अमू-
दिति । तत्र हि एवशब्दोऽप्यर्थः एवशब्दो बहुवचोऽभ्यस्यते तदामिप्रा-
येणैवमित्थमसदिति समानं वदन्तीति व्यपदेशः ॥ ३ ॥

अथ तृतीयस्योक्त्यस्य स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

इन्द्रं विद्वा अवीष्टधन्नित्यवर्द्धन्त ह्येतर्हि यज-

मानमेवैतया वर्द्धयन्ति ॥ ४ ॥

इन्द्रं विश्वा इति तृचः तृतीयस्योक्तस्य स्तोत्रीयः । तत्र च अवी-
वृधन्नवर्द्धयन् इति वृधिघातोर्मृतकालसम्बन्धिना दृश्यते । एतर्हि एत-
स्मिन् काले तृतीयस्योक्तस्य समये जेतव्यान्सुराजित्वा देवाः पुरा
अवर्द्धन्त समृद्धा अभूवन् । हि यस्मादेवं तस्मादमृतकालसम्बन्धिवृ-
धिघातुयुक्तस्तृचः सङ्गत इत्यर्थः । हि अपि चैतया वृधिघातुयुक्ता
ऋचा यजमानमेव वर्द्धयन्ति ॥ ४ ॥

अथ प्रथमे मैत्रावरुणोक्त्ये सामं विदधाति—

साकमश्चं भवत्युक्थानामभिजित्या अभिकान्त्यै ॥२॥

साकमश्चन्नाम साम एह्युष्विति तृचे गातव्यम् । किमर्थम् ? उक्थाना-
मुक्त्यस्तोत्राणामभिजित्यै अभिजयाद्यम् । अभिजित्य चाऽभिकान्त्यै
अभिकान्तिराकान्तिः शत्रूणामभिभवस्तदर्थम् ॥ ५ ॥

कुतोऽस्य साम्नस्तदुभयहेतुतेत्यत आह—

एतेन ह्यग्रे उक्थान्यभ्यजयन्नेतेनाभ्यक्रामन् ॥ ६ ॥

एतेन खलु साम्ना अग्रे पुरा देवा उक्थान्यभ्यजयन् एतेनैवाऽभ्य-
क्रामञ्छत्रन् । 'देवा वा अग्निष्टोममभिजित्योक्त्या'ने नाऽशक्नुवन्नाभिजे-
-तुमि'त्यादि ब्राह्मणमनुसन्धेयम् ॥ ६ ॥

अथ ब्रह्मण उक्त्यस्तोत्रे सामं विदधाति—

आमहीयवं भवति क्लृप्तिश्चाऽन्नाद्यश्च समानं वदन्तीषु

क्रियत इदमित्यमसदिति ॥ ७ ॥

एवाहसीति तृचे आमहीयवं साम कार्यमिदमहरित्यमनेन प्र-
कारेणाऽसदित्यमवदिति शब्दसामान्येन वदन्तीषु प्रतिपादयन्तीषु
क्लृप्तिः सामर्थ्ये चाऽन्नाद्यं अन्तुमर्हमन्नञ्च क्रियते तदुभयहेतुरेतत्सा-
मेत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ स्तोमछन्दोभ्यां संहताभ्यां ब्रह्मक्षत्रयोः सङ्गतिर्मवतीत्याह—

क्षत्रं वा एतदहरभिनिर्वदति यत्पञ्चदशं यद्वाप-
त्रीषु ब्रह्मसाम भवति ब्रह्म चैव तत्क्षत्रञ्च सयुजी क-
रोति ब्रह्मैव क्षत्रस्य पुरस्तान्निदधाति ब्रह्मणे क्षत्रञ्च
विशश्चाऽनुगे करोति ॥ ८ ॥

यत्पञ्चदशं पञ्चदशस्तोमकं अहः एतदहः क्षत्रं क्षत्रियजातिमेवाऽ-
भिलस्य निर्वदति निर्वकि । गायत्रं छन्दो ब्राह्मणजातिः तेन सह प्रजा-
पतिमुच्चादुत्पत्तेः । एवं सति गायत्रीष्वृष्टु पञ्चदशस्तोमकं ब्रह्मसाम

भवतीति यत् तत्तेन ब्रह्म ब्राह्मणजातिमेव च क्षत्रं क्षत्रियजातिमेव च
समुजी संयुक्ते करोति । अपि च गायत्रीणामृचां साम्न आघारतया प्रथ-
मभावितात्, स्तोमस्य च स्तोत्रोपासद्वात्मकस्य पञ्चदशस्य पश्चा-
द्भावितात्, क्षत्रस्य क्षत्रियजातेः पुरस्तात् पूर्वस्मिन् भागे ब्रह्मैव ब्रा-
ह्मणजातिमेव निदधाति, न तावत् पुरस्तान्निघानमात्रं ब्राह्मणजातेः,
अपि तु ब्रह्मणे पष्ठ्यर्थे चतुर्थी ब्रह्मणः क्षत्रञ्च विशञ्च क्षत्रियजातिं
चैश्यजातिञ्च अनुगे अनुगन्ध्यौ करोति ॥ ८ ॥

अथाऽस्मिन्नहनि गायत्रीषु ब्रह्मसामकरणं ब्राह्मणजातेरभिवृद्धिहे-
तुञ्चेत्याह—

ब्रह्म वै पूर्वमहः क्षत्रं द्वितीयं यद्गायत्रीषु ब्रह्मसाम
भवति ब्रह्म तद्यशसार्द्धयति ब्रह्म हि गायत्री ॥ ९ ॥

पूर्वं प्रायणीयमहर्ब्रह्म वै ब्राह्मणजातिरेव, गायत्रीत्यन्तरसम्य-
न्धात् । तयोश्च ब्राह्मणजात्या सहोत्पन्नत्वात् । द्वितीयमहः क्षत्रं क्षत्रिय
जातिः । तया सहोत्पन्नानां त्रिष्टुपादीनामत्र सद्भावात् । अतः क्षत्रसंस्तुते
द्वितीयेऽप्यहनि गायत्रीष्वृक्षु ब्रह्मसाम भवतीति यत् तत्तेन ब्रह्म ब्रा-
ह्मणजातिं यशसा कीर्त्या अर्द्धयति समृद्धं करोति । कुत एतत् ? हि-
यस्माद्ब्राह्मणजातिरेव गायत्री, छन्दसां मध्ये गायत्र्याद्यं छन्दः ॥ ९ ॥

अथ तृचस्थाऽर्थद्वारा समृद्धिहेतुतामाह—

तदु समानं वदन्तीषु क्रियते समृद्ध्यै ॥ १० ॥

तदु तद्ब्रह्मसाम समानं वदन्तीषु एकरूपमेवाऽर्थं प्रतिपादयन्तीषु
'एवाह्यसि, एवा शूर, एवा ते राधमि'त्यादिना एवशब्देनैवं शब्दपर्यायेण
सदृशस्याऽर्थस्य तत्र प्रतिपादनात् तासु क्रियते । एकस्यैव शब्दस्य
मूयोऽम्पासात्तत्साम समृद्ध्यै समृध्यर्थमेव भवति ॥ १० ॥

अथ तृतीये उक्त्यस्तोत्रे विकल्पेन सामनी विधत्ते—

आष्टादंष्ट्रे भवतः ॥ ११ ॥

अष्टादंष्ट्रेण ऋषिणा दृष्टे सामनी आष्टादंष्ट्रे । तयोरन्यतरत् इन्द्रं वि-
श्वं इत्यस्मिन्स्तुचे अष्टावाकसामत्वेन गातव्यम् ॥ ११ ॥

तयोः साम्नोराद्यौ स्तोमौ वृत्रहननसम्यग्धाविति प्रतिपादयन्
वीर्यवत्त्वं प्रतिपादयति—

एवाहा इति वा इन्द्रो वृत्रमहन्नैयादोहोवेति न्यगृ-

हाद्वार्चने सामनी वीर्यवती ॥ १२ ॥

पेयाद्वा इति पूर्वमाष्टादंष्ट्रे विद्यमानस्तोमः । शब्दानुकरणमेतत् । एवं शब्दं कुर्वन् खलु पुरा इन्द्रो वृत्रमसुरमहन् हतवान् । पेयादो हो वेति द्वितीयस्य स्तोमः । एतदपि शब्दानुकरणम् । पेयादो हो वेति शब्दायमानस्तमसुर न्यगृह्णात् निगृहीतवान् । अत एते सामनी चार्त्रिणे वृत्रहननसाधने वीर्यवती वीर्योपेते ॥ १२ ॥

किं तत इत्याह—

ओज एवैताभ्यां वीर्यमवरुन्धे ॥ १३ ॥

यस्मादुक्तप्रकारेण वीर्योपेते तस्मादेताभ्यां सामभ्यां ओजो बलरूपं वीर्यं शत्रुहननसामर्थ्यमवरुन्धे लभते ॥ १३ ॥

अथैषामुक्त्यानां पूर्ववत् स्तोमं विधाय तत्साध्यफलमाह—

पञ्चदश एव स्तोमो भवत्योजस्येव तद्वीर्यं प्रतिति-

ष्ठत्योजो वीर्यं पञ्चदशः ॥ १४ ॥

पूर्वाक्तः पञ्चदश एवैषां स्तोमो भवति । तत्तेन ओजस्येव ओजोरूपे बलात्मक एव वीर्यं प्रतितिष्ठति यजमानः प्रतितिष्ठितो भवति, यतः पञ्चदशः स्तोमः ओजो वीर्यं ओजोरूपवीर्यात्मकः वीर्यवतोऽङ्गात् बाहुलक्षणात् प्रजापतिना सृष्टत्वात् । अतः पञ्चदशस्तोमेन वीर्यं प्रतिष्ठापयुक्तेतिभावः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थोऽथतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेदवरः ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तकश्रीवीरबुक्कभूपाल-

साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्य्येण विरचिते माधवीये सामवे-

दार्थप्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे एकादशाध्यायस्य

एकादशः खण्डः ॥

एकादशाध्यायः समाप्तिमगमत् ॥

द्वादशोऽध्यायः ॥

अथ प्रथमः खण्डः ।

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यार्तोर्धमहेश्वरम् ॥

अथ तृतीये दाशरात्रिकेऽहि बहिष्पवमानस्य सप्तदशस्तोमस्य प्रथमं त्वं विदधाति—

दविद्युतत्यारुचेति तृतीयस्याऽहः प्रतिपद्भवति ॥ १ ॥

प्रतिपद्यते अनेनेति प्रतिपदाद्यस्तुचः । तृतीयस्य सप्तदशस्तोमस्योक्त्यसंस्थस्य पार्ष्टिकस्याऽहो बहिष्पवमानस्य दविद्युतत्येत्याद्यस्तुचः कार्यः ॥ १ ॥

अनुष्ठितयोरहोस्तृतीयस्य चाऽहः सन्धोयकानि रूपाणि दविद्युतस्येत्यस्यां दर्शयन् त्रिरात्रसन्धानं दर्शयति—

दविद्युतती वै गायत्री परिष्टोमन्ती त्रिष्टुब्गवाशी-
जगती त्रीणि रूपाणि समारभते त्रिरा-

त्रस्याऽविस्त्रुंसाय ॥ २ ॥

गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीत्येतानि त्रीणि छन्दांसि क्रमेणैतेषां त्रयाणामहानि रूपाणि । अत्र च दविद्युततीति गायत्र्यामिधायते । दविद्युततीत्यस्य दीप्यमानेति हि शब्दार्थः । गायत्री च अग्निना सहोत्पत्तेस्तेजोरूपत्वात् दीप्यमाना भवति । अतः शब्दसामान्येन दविद्युततीशब्देन गायत्र्येवोपस्थाप्यते, परिष्टोमन्तीशब्देन त्रिष्टुब्जस्यैवोपस्थाप्यते । त्रिष्टुब्जस्यैवोपस्थाप्यते, परिष्टोमन्तीशब्देन त्रिष्टुब्जस्यैवोपस्थाप्यते । अतोऽनेन पादेन त्रिष्टुब्जोपस्थाप्यते । परिष्टोमन्त्या कृपेति ह्यत्र द्वितीयः पादः, सोमाः शुक्रागवाशिर इति तृतीयः । जगती च गवाशीः गोविकारेण पयसा आशिरा आश्रयतासाधनेन युक्ता । तृतीयसवने हि जगत्या (१)मपात्तरसम् । तत्र आशिराधनयनं रसयश्चायक्रियते । अतो गवाशिर इति पदेन जगती सन्निधाप्यते । एतेषां त्रयाणां छन्दासामस्यामृचि प्रतिपादनात् तानि त्रीणि रूपाणि त्रयाणामहानि रूपाणि समारभते स-

मूढीकृत्य प्रयुङ्क्ते । किमर्थम् ? त्रिरात्रस्य अनुष्ठितयोरनुष्ठायमानस्य त्रयाणामहामविघ्नंसाय संसनाभावाय परसम्बन्धाय दाढ्यायेति यावत् ॥ २ ॥

अथाऽनुरूपायं तृचं विधत्ते—

एते असृग्रमिन्दव इत्यनुरूपो भवति ॥ ३ ॥

अनुरूपाण्यो द्वितीयस्तृचो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

एते असृग्रमिन्दव इति पदत्रयेण देवमनुष्यपितृसृष्टिरूपोऽर्थः पर्यवसाने धृत्या प्रतिपाद्यत इत्याह—

एत इति वै प्रजापतिर्देवानऽसृजतासृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृभृंस्तदेव तदभिवदति ॥ ४ ॥

एतत् ज्योतिष्टोमप्रकरण एव व्याख्यातम् । प्रजापतिस्तृष्टिसमये एतैः पर्यैर्देवाऽर्थरूपं ससजं तदेवार्थरूपं तत् पादत्रयमभिवदति ॥ ४ ॥

अथाऽस्य तृचस्यऽनुरूपां संज्ञाभिर्वृत्तं तद्वेदनफलमाह—

पूर्वमुचैव तद्रेपमपरेण रूपेणाऽनुवदति यत्पूर्वभृं रूपमपरेण रूपेणाऽनुवदति तदनुरूपस्याऽनुरूपत्वमनुरूप एनं पुत्रो जायते य एवं वेद ॥ ५ ॥

एतत् पवस्व वाचो अग्रिय इति द्वितीयस्याऽङ्गः प्रतिपन्नवतीति खण्डे व्याख्यातम् ॥ ५ ॥

अथ विहितावेतौ तृचावनूद्य फलान्तरहेतुतामाह—

स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ भवतः प्राणापानानामधरुधै ॥ ६ ॥

एतदपि तत्रैव व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

अथ तृचान्तरं विधत्ते—

राजा मेघाभिरीयते पवमानो मनावध्यन्तारिचेण यातव इति ॥ ७ ॥

राजा मेघाभिरिति बहिष्पवमानस्य तृतीयस्तृचः ॥ ७ ॥

तृतीयेऽह्न्यस्य तृचस्य सङ्गतिं वक्तुं अवशिष्टपादद्वयस्याऽनुवादः । तामेव सङ्गतिं दर्शयति—

अन्तरिक्षदेवत्यस्तृचो भवत्यन्तरिक्षदेवत्यमेतदह्न्यस्तृतीयं तदेव तदभिवदति ॥ ८ ॥

यत्तृतीयमहरन्तरिक्षदेवत्यं अन्तरिक्षदेवतार्थे अनो अन्तरिक्षेण या-
सव इति तन्मन्थवाफ्यं तदेवाऽन्तरिक्षदेवत्यमभिवदति ॥ ८ ॥

अथ पञ्चर्चं साम वहिष्पवमानस्य विधत्ते—

पञ्चर्चो भवति पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तमन्नमन्नाद्य-
स्याऽवबुध्यै ॥ ९ ॥

पञ्चानामृचां समुदायो भवति पञ्चपदा । पञ्चभिरष्टाक्षरैर्वोपेता
पङ्क्तिः । अन्नञ्च लेह्यशोष्यदिभेदेन पाङ्क्तं पञ्चसंख्यायुक्तम् । अतोऽसौ
पञ्चर्चः तन्वा नृणाणीत्यादिकः पञ्चर्चः अन्नाद्यस्यावबुध्यै सम्पद्यते ॥ ९ ॥
अथाऽग्न्यं त्वं विधत्ते—

तृच उत्तमो भवति येनैव प्राणेन प्रयन्ति तमभ्यु-
पयन्ति ॥ १० ॥

द्वितीयस्याऽहो वहिष्पवमानविधावेतदपि व्याख्यातम् ॥ १० ॥

अथाऽस्य स्तोत्रस्य विहिताभि ऋग्भिः सिद्धां स्तोमकृत्वातिं ब्रुवन्
विशिष्टफलहेतुतामाह—

सप्तदश एव स्तोमो भवति प्रतिष्ठापै प्रजात्यै ॥ ११ ॥

सप्तदशस्तोत्रायात्मक एवाऽस्य स्तोत्रस्य स्तोमो भवति । किमर्थम् ?
प्रतिष्ठापै प्रतिष्ठार्थम् । द्वादशमासाः पञ्चर्च इति सवत्सरात्मकः सप्त-
दशः संवत्सरेणैव च पुरुषस्य प्रतिष्ठानात् । सप्तदशस्य तद्धेतुत्वं तथा
प्रजात्यै प्रजात्यर्थं प्रजापतिर्वै सप्तदश इति श्रुतेः । प्रजापतिरपि सप्तद-
शस्तोमसाध्येत्यर्थः ॥ ११ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणाचार्यविरचिते माधवीये वेदा-
र्थप्रकाशे द्वादशाध्यायस्य प्रथमः खण्डः ।

अथ द्वितीयः खण्डः ।

अथ होतुराज्यस्य स्तोत्रीयं त्वं दर्शयति—

अग्निनाग्निः समिधस्त इत्याग्नेयमाज्यं भवति ॥ १ ॥

आग्नेयमग्निदेवार्थं होतुराज्यं स्तोत्रं अग्निनाऽग्निरित्यादिकस्तुचो म-
वतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अस्मिस्तुचे विद्यमानस्याग्निनाग्निरित्यग्निशब्दद्वयस्य पर्यवसित-
मर्थमाह—

पूर्वं एव तदहनी समिद्धे तृतीयमहरग्निसमिन्वे ॥ २ ॥

तत्तेनाऽग्निरिति शब्देन समिद्धे सम्यग्दीप्ते पूर्वे एवाऽहनी अभि
रुक्ष्य तृतीयमिदमह समिन्धे सन्दीपयति । अयमर्थः - अग्निनेति तृतीया
न्तेन पदेन 'अग्न आयाहि धीतये' 'अग्निं दूत वृणीमह' इत्याज्याभ्या यद्
नुष्ठित पूर्वमहर्ह्यं तदवोपलक्ष्य तेन सह पुनराग्निशब्दाभिधेयमेतदह
समिद्ध इति ॥ २ ॥

अथ द्वितीयमाज्यस्य स्तोत्रीयं तृच विधत्ते—

मित्रं हुवे पूनदक्षमिति राधन्तरममैत्रावरुणम् ॥ ३ ॥

मित्रं हुवे इति तृच राधन्तरं रधन्तरसम्यग्धि मैत्रावरुणेन य
दाज्यस्तोत्रमनुशस्यते तद्भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

कुतोऽस्य रधन्तरसम्यग्धितेत्यत आह—

हुवे इति वै राधन्तरं रूपम् ॥ ४ ॥

प्राकृतिकं राधन्तरे प्रगाथ 'गन्धन्तस्त्वा हवामह' इति ह्वयति घातु
ध्वयते । तस्य च रधन्तरसम्यग्धितेत्युपपन्नम् । तथा अत्राऽपि हुवे इति
ध्वयते । तथा चोक्तप्रकारेण राधन्तरमेव रूपम् ॥ ४ ॥

नन्वस्मिन्नहनि वैरूपसामैव पृष्ठस्तोत्रम्, न रधन्तरम्, तत्कथम
स्मिन्नहनि राधन्तरमाज्यं विधीयते इति तत्राऽऽह—

रधन्तरमेतत्परोक्षं यद्वैरूपं राधन्तरमेव तद्रूपं निर्व्यो
तयति ॥ ५ ॥

यद्वैरूपं साम एतत् परोक्षं परोक्षेण वर्त्तमानं राधन्तरमेव रधन्तराद
स्योत्पत्तेः । तथा चैतरेयके 'वृहन्च वा इदमग्रे रधन्तरञ्चाऽऽस्तामि'त्युपक
्रम्य 'तद्रधन्तरं गर्भमघत्तं तद्वैरूपमसृजत'त्याज्ञातम् । यद्यस्मात्परोक्षं रध
न्तरमेव वैरूपं तत्तस्माद्राधन्तरमेव तद्रूपं निर्व्योतयति प्रकाशयति ॥ ५ ॥

अथ ब्रह्मण आज्यस्तोत्रं दर्शयति—

इन्द्रेण सधं हि दक्षुस इत्यैन्द्रम् ॥ ६ ॥

इन्द्रेणेति तृच ऐन्द्रमिन्द्रदेवस्य तृतीयमाज्यस्तोत्रीयं कार्त्थ्यमित्यर्थः ॥
स हि दक्षुस इति शब्दार्थद्वारेण तृतीयेऽह्न्येतस्य तृचस्य सङ्ग
तिमाह—

समिव वा इमे लोका ददृशिरेऽन्तरिक्षदेवत्यमेतद्

हृर्यन्तृतीयं तदेव तदभिवदति ॥ ७ ॥

दृशिघातो कर्मणि लण्मध्यमैकवचने व्यत्ययेन कसप्रत्यये दक्षुस इति
रूपं भवति । हि यस्मादतः सदृश्यते सम्यग्दर्शनेन विपरीक्रियत इति

तस्याऽर्थः । इमे पृथिव्यादयस्त्रयो लोकाः सन्ददृशिर इव वै सन्ददयत
इव खलु । तदन्तर्वर्तित्वाद्नन्तरिक्षमपि सन्ददयते । एतदेवाऽत्र सन्दक्षुस
इति पदेनोपस्थाप्यते । एतद्वद्वरान्तरिक्षदेवतयं अन्तरिक्षदेवतार्थं यदे-
तत्तृतीयमद्वस्तदेवाऽस्याऽङ्गो देवतमन्तरिक्षं तव सन्दक्षुस इति पदम-
भिवदति ॥ ७ ॥

अथ चतुर्थमाज्यस्तोत्रं विधत्ते—

ता हुवे ययोरिदमिति राधन्तरमेन्द्राग्रम् ॥ ८ ॥

ता हुव इति तुचः राधन्तरं रधन्तरसम्बन्धि ऐन्द्राग्रं इन्द्राग्निदेवतयं
चतुर्थमाज्यस्तोत्रं कार्थ्यमित्यर्थः ॥ ८ ॥

प्रथमाज्य(१)स्तोत्रवद्वरापि प्रथमतो राधन्तरं रूपं प्रदर्शयन् वैरूपस्य
च राधन्तरात्मकत्वमभिधाय राधन्तरस्य वैरूपेऽहति सङ्गतिमाह—

हुव इति वै राधन्तरं रूपं रधन्तरमेतत्परोक्षं यद्वैरूपं

राधन्तर्गमेव तद्रूपं निर्योतयति स्तोमः ॥ ९ ॥

पूर्ववद्योज्यम् । अद्यैतेषु चतुर्ष्वमाज्यस्तोत्रेषु स एव सप्तदशः स्तोमः
कार्य इत्यभिप्रायेणोक्तं स्तोम इति ॥ ९ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्य द्वितीयः खण्डः ॥

अथ तृतीयः खण्डः ।

अथाऽस्मिन्नेव तृतीयेऽहनि माध्यन्दिनस्याऽऽद्यं पवमानस्तोत्रार्थं
तुचं दर्शयति ।

उद्या ते जातमन्धस इति गापत्री भवति ॥ १ ॥

उद्या त इत्येषा गापत्री गापत्रछन्दस्का प्रतिपद्भवति (२) इदमादिकः
प्रथमतुच इत्यर्थः ॥ १ ॥

तृतीयेऽह्नस्य तुचस्य सङ्गतिमाह—

उद्धा एतदहर्ष्यतृतीयं तदेव तदभिवदति ॥ २ ॥

यत्तृतीयमहः एतदुद्धा उच्छन्दवदेष पूर्वाम्यामहोभ्यामूर्ध्वमस्य
वर्तमानायात् ऊर्ध्ववाचिन उच्छन्दस्य तद्रूपता युक्ता । अत एव पूर्व

उद्वल्लिखद्भिर्गदित्यादिना तृतीयेऽहनि रूपत्वेनोद्भूतं परिगणितम् । तद्ब्रह्मवलक्षणं रूपमेव तदुच्चा त इति वाक्यं वदति । यद्यप्यस्मिन् उदिति पृथक्पदं न(१) श्रूयते तथाऽप्युक्त्वा त इत्यत्र प्रथमपदस्याऽवयवभूतो य उच्छन्दः तदपेक्षयैवेयं स्तुतिर्द्रष्टव्या ॥ २ ॥

अथैतस्मिन् तृत्वे पदान्तरस्य श्रवणात् पवमानस्याऽऽरम्भयोग्यस्तृच इति दर्शयति—

अन्धस्वती भवत्यहर्वा अन्धोऽह आरम्भः ॥ ३ ॥

अन्धस्वती अन्धदशब्दयुक्ता उच्चा ते जातमन्धस इत्येषा भवति । अन्धः इति सकारान्तमन्त्रनाम । अत्र तु तत्साधनेऽहनि वर्त्तत इति व्याचष्टे—अहर्वा अन्ध इति । यदिदं दशरात्रस्य तृतीयमहः एतदेवाऽन्धदशब्दसामान्येन स्तुतिः । तथा सत्यन्धदशब्दप्रयोगादह एव आरम्भ उपक्रमः कृतो भवति ॥ ३ ॥

अथाऽन्यं प्रगाथं विधत्ते—

अभि सोमास आयव इति ॥ ४ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ४ ॥

बृहद्रथन्तरयोः प्रत्येकं असाधारणमन्त्रं सिद्धं तद्रूपद्वयं तदस्मिन्नहनि प्रदर्शयन् तयोस्साम्नोरस्मिन्नहनि सम्यन्धमाह—

अभीति रथन्तरस्य रूपं बृहदिति बृहत उभयोः सह रूपमुपैत्युभौ हि वर्णावेतदहः ॥ ५ ॥

अभि सोमास इत्यत्र यो अभीति शब्दः एतद्रथन्तरस्य रूपम्, अभि-त्वा शूरेति तद्योन्यां दृष्टत्वात्, तथाऽस्मिन् प्रगाथे प्रहिन्वान ऋतं बृहदिति बृहच्छन्दः श्रूयते । स च बृहत्साम्नो वाचकत्वात्तस्यैव बृहतो रूपम् । एवं सत्युमयोर्बृहद्रथन्तरयोः सह सहितं संहतं रूपमस्मिन् तृतीयेऽह्न्युपैति । हि यस्मात् एतत्तृतीयमहर्कभौ वर्णौ बृहद्रथन्तरयोरुभयोरपि यावाकारौ तादृगाकारद्वयात्मकमित्यर्थः । सृष्टिसमये बृहद्रथन्तरे मिथुर्नामूय पश्चाद्रथन्तराद्वैरूपस्योत्पत्तेः तत्पृष्ठकस्य तृतीयस्याऽङ्गः उभय-वर्णात्मकत्वम् । अत्र चैतरेत्यकं सृष्टिप्रतिपादकं ब्राह्मणं पूर्वमेवोदाहृतम् ॥ ५ ॥

अथ तृचान्तरं विधत्ते—

तिस्रो वाच ईरयति प्रवहिरिति तृतीयस्याऽहो रूपं तेन तृतीयमहरारम्भन्ते ॥ ६ ॥

तिष्ठो वाच इत्ययमन्त्यस्तुचः कार्यः । तत्र तिष्ठ इति विशब्दः
श्रूयते । तच्च तृतीयस्याऽहो रूपं प्रत्यभिज्ञापकत्वात् । अत एव उद्वि-
चिद्विगदित्यादिना पूर्वं त्रित्वयोगस्य तृतीयेऽहनि रूपत्वमुक्तम् । तेन
कारणेन त्रित्वसंख्यावाचकेन तिष्ठ इत्यनेन तृतीयमेवाऽहरारम्भे
अवलम्ब्यन्ते ॥ ६ ॥

ननु गायत्रं प्रथममहर्षिष्टुभं द्वितीयं जागतं तृतीयमिति प्रसि-
द्धत्वात् कथमस्य त्रैष्टुभस्य तृचस्य जागतेऽहनि सङ्गतिरिति तत्राह—

त्रिष्टुभः सत्यो जगत्पो रूपेण जागतं ह्येतदहः ॥ ७ ॥

तृतीयस्याऽहो इव जागतस्य छन्दसोऽपि त्रित्वं रूपम्, छन्दसां मध्ये
तस्य तृतीयत्वात् । यस्मादेतास्त्रैष्टुभः सत्योऽपि रूपेण जगत्याः सम्ब-
न्धिना त्रित्वादिलक्षणेन युक्ताः तस्मादेता जगत्यः एतदहश्च जागतम् ।
अतोऽस्मिन्नहनि विनियोगार्हा इत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथोक्ता त इति प्रथमे तृचे पूर्ववद्गायत्रं साम विधाय प्राकृतिकं त-
द्ब्राह्मणञ्चाऽतिदिशति—

गायत्रं भवति यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

सिद्धमेतत् ॥ ८ ॥

अथ पुनरावृत्तेऽस्मिन्नेव तृचे सामान्तरं विधत्ते—

वैष्टम्भं भवति ॥ ९ ॥

यत् क्षुल्लकवैष्टम्भमिति सम्प्रदायप्रसिद्धं तदस्मिन् तृचे कार्य-
मित्यर्थः ॥ ९ ॥

अथाऽस्यैतत्संज्ञानिर्वचनद्वारेण अहर्दाढ्यहेतुतामाह—

अहर्वा एतदवलीयत तद्देवा वैष्टम्भैर्व्यष्टभुवधंस्त-

वैष्टम्भस्य वैष्टम्भत्वम् ॥ १० ॥

एतत्तृतीयमहः खलु पुरा अवलीयत अहिंस्यत वलोनातिर्दिसाकम्मा
शिथिलाधयधं जातमित्यर्थः । तत्तदवस्थमहः देवाः वैष्टम्भैरस्य सा-
म्नोऽधयवैर्व्यष्टभुवधं विष्टभं विशेषेण स्थिरमकुर्वन् । तत्तस्मात् वि-
ष्टम्भनसाधनत्वादस्य वैष्टम्भस्य साम्नो वैष्टम्भत्वं वैष्टम्भमिति संज्ञा
संजाता ॥ १० ॥

अथाऽस्य निधनं दिशां धृतिहेतुरित्याह—

दिश इति निधनमुपयन्ति दिशां धृत्पै ॥ ११ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ११ ॥

अभि सोमास आपव इति प्रगाथं तृचीकृत्य तत्राऽऽद्यायां पौरुमद्गा-
र्यं साम गातव्यमिति विधत्ते--

पौरुमद्गं भवति ॥ १२ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १२ ॥

तदेतत्साम पापक्षयहेतुरिति प्रतिपिपादयिपुराह—

अहर्वा एतदवलीयमानं तद्रक्षाभुंस्यन्वसचन्त त-
स्माद्देवाः पौरुमद्गेन रक्षाभुंस्यपापन्नप पाप्मानभुंहते पौ-
रुमद्गेन तुष्टुवानः ॥ १३ ॥

वैष्टम्भेन विष्टब्धावात् अवलीयमानमहिंस्यमानमेतदहः रक्षांस्य-
न्वसचन्त समाप्नुवन्नित्यर्थः । पच समवाये इति धातुः । ततोऽनन्तरं
देवाः पौरुमद्गेनाऽनेन साम्ना सङ्गतानि रक्षांसि तस्मादहोऽपापन्न (१) अ-
पगमय्य अवन्धिषुः । यस्मादेवं तस्मादिदानीमपि पौरुमद्गेनाऽनेन
साम्ना तुष्टुवानः स्तुतवान् यजमानः पाप्मानमपहते विनाशयति ॥ १३ ॥

अथाऽस्य संज्ञानिर्वचनद्वारेण (२) पापनिवृत्तिपुरस्सरं शुद्धिहेतुतामाह—
देवाश्च वाऽसुराश्चाऽस्पृजन्त ते देवा असुराणां पौरु-
मद्गेन पुरोऽमज्जयन्त्यत् पुरोऽमज्जयभुंस्तस्मात्पौरुमद्गं
पाप्मानमेवैतेन भ्रातृव्यं मज्जयति ॥ १४ ॥

देवाश्चाऽसुराश्च पुरा अस्पृजन्त स्पृजामि (३) कुर्वन् । तत्र ते स्पृजमाना
देवाः पौरुमद्गेनाऽनेन साम्ना साधनेन असुराणां पुरः पुराणि निवास-
स्थानानि अमज्जयन् अशोधयन् असुरैर्वर्षयोजयन्नित्यर्थः । यद्यस्मादनेन
साम्ना पुरोऽमज्जयन् अशोधयन् तस्मात्पौरुमद्गं एतत्साम पौरुमद्गसंज्ञं
जातमित्यर्थः । यत्र एवं ततो हेतोर्दिदानीमपि (४) एतेन साम्ना स्तुवन् पा-
प्मानं पापरूपमेव भ्रातृव्यं शत्रुं मज्जयति शोधयति अपगमयतीत्यर्थः ।
दुमस्त्रो शुद्धाविति धातुः ॥ १४ ॥

अथैतस्मिन्नेवाऽभि सोमास इति तृचे सामान्तरं गेयमिति विधत्ते-
र्गातमं भवति ॥ १५ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १५ ॥

१. अपहिसिषुः इति क. पु.

२. पापनिवृत्ति परस्परमिति क. ख. पु. ।

३. कृतवन्त इति. क. ख. पु. ।

४. तुष्टुवान एतेनेति क. ख. पु. ।

अस्य सास्त्रं पूर्वमाध्यातं ब्राह्मणमत्राज्यतिदिशति—

यदेव गौतमस्य ब्राह्मणम् ॥ १६ ॥

गौतम भवति सामार्थ्यवत् स्वर्गाय युज्यत इत्यादिकं तदेव चाऽत्रापि द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथाऽस्मिन् सास्त्रि पादस्याऽऽद्यन्तयोः स्तोममाम्नायते हावमिसोमास आयवो हा ऊ इति । तदेतदस्मिन्नहनि सङ्गतिमाह—

उभयतः स्तोत्रं तथा ह्येतस्याऽहो रूपम् ॥ १७ ॥

उभयतः पादस्य आद्यन्तयोः स्तोमो यस्य तच्छोक्तम् तथैव त्र्यह्वेतस्य तृतीयस्याऽहो रूपमुक्तं प्राक्-यदुभयतः स्तोम तत्तृतीयस्येत्यादिना ॥ १७ ॥

अथाऽस्मिन्नेवाऽऽवृत्ते तृचे सामान्तर विधत्ते—

अन्तरिक्षं भवति ॥ १८ ॥

पित्रा सुतस्य रत्नित इत्यस्यामुत्पन्नं सामाऽन्तरिक्षम्, तच्छस्मिन् तृचे गातव्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

सास्त्रोऽदृष्टं सङ्गतिं दर्शयति—

अन्तरिक्षदेवत्यमेतदह्यर्पितृतीयमन्तरिक्ष एव तदन्तरिक्षेण स्तुवते प्रतिष्ठायै ॥ १९ ॥

यदेतत्तृतीयमहः एतदन्तरिक्षदेवत्यं अन्तरिक्षदेवतार्थं अन्तरिक्षमस्य देवतेत्यर्थः । तथा सति अन्तरिक्षदेवत्यत्वात् अन्तरिक्षे अन्तरिक्षात्मक(१) एवैतस्मिन्नहनि अन्तरिक्षेण सास्त्रा स्तुवते स्तुवन्ति । निराघारेऽन्तरिक्षे स्तवनात् तच्च प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठानाय (२) आस्पदाय भवति ॥ १९ ॥

नृभिर्येमाण इति द्विपदा अभि सोमास इत्यस्याऽवसानं आम्नाता प्रहिन्वान इति पूर्वेण पादेनाऽभ्यस्तायां तस्यामेकं सामं गेयमिति विधत्ते—

आष्कारणिधनं काण्वं भवति ॥ २० ॥

आष्कार आप् इति शब्दो निधनं यस्य तथाविधं काण्वं नृभिर्येमाण इत्यस्या गातव्यम् । पूर्वयोरहो प्रयुक्तयोर्दृष्टव्यन्तरयोर्धे निधने तद्विलक्षणत्वमस्य निधनस्य प्रतीयते ॥ २० ॥

अतो निधनानां यदुत्वात्समृद्धिर्भवतीत्याह—

असिति वै राधन्तर रूपं हसिति चार्हतं तृतीयमेव तद्रूपमुपयन्ति समृद्धयै ॥ २१ ॥

अस् इति रायन्तरं रथन्तरसम्यन्धिरूपम्, हासिति बार्हतं बृहतः सम्बन्धि । तयोर्ह्यने निधने । एतदाप् इति रूपं तृतीयमेव उभयविलक्षणमन्यदेव त्रिसंख्यापूरकमुपयन्ति उपगच्छन्ति प्रयुज्जने । तथा सति निधनघट्टत्वापादकमेतत्तृतीयस्य निधनस्योपायनं समृद्धै यजमानस्य पद्मादिभिः समर्द्धनाय अभिवृद्धं सम्पद्यते ॥ २१ ॥

अथ तिष्ठो वाच इत्यस्मिन् त्रैष्टुमेऽन्तिमे तृचे एकं साम विदधाति-

अङ्गिरसां संक्रोशो भवति ॥ २२ ॥

अङ्गिरसां संक्रोश इति साम्नः संज्ञा । तदस्मिन् तृचे गेयमित्यर्थः २२ ॥ एतत्संज्ञार्थं ब्रुवन् अस्य स्वर्गप्राप्तिसाधनतामाह—

एतेन वा अङ्गिरसः संक्रोशमानाः स्वर्गं लोकमायन् स्वर्गस्य लोकस्याऽनुख्यात्यै स्वर्गाल्लोकान्न चपवते तुष्टुवानः स्तोमः ॥ २३ ॥

अङ्गिरसो नाम केचिद्वचनम् । ते पुरा एतेन खलु साम्ना साधनेन संक्रोशमानाः संहत्य शब्दं परस्परान्वानरूपं प्रियवाक्यं वदन्तः स्वर्गं लोकमायन् । अतोऽस्य साम्नोऽङ्गिरसांसंक्रोश इति संज्ञेत्यभिप्रायः । अत्र एतत्साम स्वर्गस्य लोकस्याऽनुख्यात्यै अनुरयानाय अनुक्रमेण सम्यगनुमवाय भवति । अपि च तुष्टुवानः स्तुतवानपि स्वर्गात् लोकान्न चपवते न प्रच्युतो भवति । स्तोमश्च पूर्वोक्तः सप्तदश एव विहितेषु सामसु क्रियमाणेषु सम्पद्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्य तृतीयः खण्डः ॥

अथ चतुर्थः खण्डः ॥

अथ होतुः पृष्ठस्य स्तोत्रीयं तृचं विधत्ते—

यथाव इन्द्र ते शतमिति शतवत्प्यो भवन्ति ॥ १ ॥

यद्यप्येष प्रगाथस्तथापि (१) प्रप्रथनेन त्रित्वात् शतवत्प्यः शतशब्दयुक्ता भवन्तीति बहुवचनम् ॥ १ ॥

किं तत इत्याह—

शतवद्वै पशूनां रूपं सहस्रवत्पशूनामेवैताभी रूपमवरुन्धे ॥ २ ॥

पशूनां गवाक्षीनां रूपं स्वरूपं शतवत् शतसंख्यायुक्तं तथा सह-
स्रवत् सहस्रसंख्यायुक्तञ्च भवति पशूनां नानारूपत्वात् । एताभिः
शतवतीभिर्ऋग्भिः पशुनामेव तदपरिमितं रूपमवगन्धे लभते ॥ २ ॥

अथ ब्रह्मणः पृष्ठस्य स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

वयंहृत्वा सुतावन्त इति सतोवृहत्पो वर्षीयश्छ-
न्द आक्रमतेऽनपम्रंशाय ॥ ३ ॥

वयं वस्येत्येतास्तिष्ठः सतोवृहत्पः स्तोत्रीया भवन्ति । यद्यप्येता-
स्तिष्ठो वृहत्पस्त्वृतीयपादस्य द्वादशाक्षरत्वात्, सतोवृहत्पास्तु प्रथम-
तृतीयौ द्वादशाक्षरौ, अयुजौ जागताविति हितलक्षणम्, तथाऽप्येतासां
सतोवृहतीत्वम् । तथा सति वृहत्याः सकाशात् वर्षीयो वृद्धतरं सतोवृह-
त्पात्मकं छन्द आक्रमते अवष्टम्भोति । किमर्थम्? अनपम्रंशाय । न्यूनस्य
छन्दसः आक्रमणं अपम्रंशः । सामावयवस्य(१) म्रंशोऽपगमः स्यात्
तदमाचार्यम् ॥ ३ ॥

अथाऽच्छावाकपृष्ठस्य स्तोत्रीयं तृचं दर्शयन् तस्य प्रतिष्ठाहेतु-
तामाह—

तरणिरित्सिपासति चाजं पुरन्ध्या युजा । आव इन्द्रं
पुरुहृतं न मे गिरेत्यावदक्षरमुद्धतामिव वै तृतीयमह-
र्यदेव तावदक्षरं भवत्यहरेवैतेन प्रतिष्ठापयति ॥ ४ ॥

तरणिरित्सिपासतीति प्रगायस्त्वृचोक्तोऽच्छावाकपृष्ठस्य स्तोत्रीयः ।
तत्र च आव इन्द्रं पुरुहृतं न मे गिरेत्यम्नायते । यद्यपि आव इति उपसर्गो
युष्मदादेशश्च पदद्वयम्, तथाऽपि सादृश्यात् आवदक्षरं भवति घातुनि
स्पर्शं आव इत्येकं पदं बुद्धौ सन्निधीयते । तृतीयमहश्च उद्धतामिव उत्सा-
दितमिवाऽप्रतिष्ठितं यदेतत् पूर्वोक्तमावदक्षरं भवति एतेनाऽहरेव प्रति-
ष्ठापयति । अतोर्हि रक्षणमर्थः । तेन च तत्कार्यस्थापनं लक्ष्यते ।
अतोऽनेन प्रतिष्ठाप्रीतिपादनमुपपन्नम् ॥ ४ ॥

अथ पृष्ठस्तोत्रस्य निर्वर्त्तकं साम दर्शयति—

पञ्चनिधनं वैरूपं पृष्टं भवति दिशां घृत्यै ॥ ५ ॥

दिशं विशं हस् इत्यादीनि पञ्च निधनानि यस्य तत्पञ्च निधनंवैरूपं
यथाष इति तृचे क्रियमाणं प्रथमं पृष्ठस्तोत्रं भवति । दिशं विशं हस् अ-
श्वाग्निशुमतीति देवतावाचकं वाक्यद्वयं(२) स्वाध्यायशठे वैरूपस्य यो-

ना उपरिष्ठादाग्नातं प्रयोगसमये उत्तरार्द्धर्चस्य प्रथमपादात् पूर्वं दिशं विशमिति प्रयोज्यम् । अश्वा शिशुमतीति द्वितीयपादात् पूर्वं एतत्पाद द्वयं देवतावाक्यद्वयं च मिलित्वा चत्वारि निधनानि, इद् इडेति प पञ्चमं निधनम् । तदुक्तं सूत्रकृता-देवतापदं देवतापदमिति वैरूपे नि धनानि इति । तानि पञ्च निधनान्यस्मिन् साम्नि प्रयुज्यमानानि दिशां प्राच्यादीनां मध्यदिक्सहितानां पञ्चानां धृत्यै धारणा-य सम्पद्यते ॥ ५ ॥

अपि चाऽग्राद्येहेतुश्चैतत्सामेत्याह—

पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्कमन्नमन्नाद्यस्याऽवकथ्यै ॥ ६ ॥

अस्मिन् साम्नि पञ्च निधनानि दृश्यन्ते । पङ्क्तिश्च पञ्चपदा पञ्चभिः पादै रूपेता पाङ्क्तं अन्ने पङ्क्तिसम्बद्धं पञ्चसङ्ख्योपेतं आशयं पेयं खाद्यं लेह्यं शो-प्यमित्यादिभेदेन । एवं परम्परया पञ्चसंख्याद्वारेण एतत्साम अन्नाद्य-स्याऽवकथ्यै अवरोधनाय प्राप्तये भवति ॥ ६ ॥

प्रकारान्तरेणैतत्साम स्तौति—

दिशां वा एतत्साम यद्वैरूपं दिशो ह्येवैतेनाऽभिवदति ॥ ७ ॥

दिशां सम्बन्धि ह्येतत् साम यद्वैरूपाख्यम् । तस्मादेतेन साम्ना दिश एवाऽभिवदति दिशं विशमिति तत्र श्रवणात् ॥ ७ ॥

एवं साम दिक्सम्बन्धेन प्रशस्य ऋतुसम्बन्धेनाऽपि प्रशंसति—

अथ यत्पञ्चनिधनं तेनर्तूनां पञ्च हृतवः ॥ ८ ॥

अथशब्दः प्रकारान्तरद्योतनार्थः । यद्यस्मात्पञ्चनिधनं पञ्चभिर्निधनै-रूपेतं वैरूपम्, तेन कारणेन ऋतूनां सम्बन्धि तद्भवति । ननु वसन्ताद्याः पञ्चतवः । कथं पञ्चसंख्याया ऋतुसम्बन्ध इति तत्राऽऽह-पञ्च हृतव इति पञ्चसंख्याका अपि ऋतवो भवन्ति, हेमन्तशिशिरयोस्समासेनै-कत्वात् ॥ ८ ॥

अस्तु दिशां ऋतूनां सम्बन्धेतत्साम ततः किमित्यत आह—

ऋतुभिश्च वा इमे लोका दिग्भिश्चाऽऽवृतास्तेष्वेवोभ-येषु यजमानं प्रतिष्ठापयति यजमानं वा अनुप्रतितिष्ठन्त-मुद्गाता प्रतितिष्ठति य एवं विद्वान् वैरूपेणोद्गायति ॥ ९ ॥

ऋतुभिर्वसन्ताद्यैः कालविशेषैः दिग्भिः प्राच्यादिभिः इमे पृथिव्यादयो लोका आवृता आवेष्टिताः । अतः ऋतवो दिशश्च प्राप्तव्याः । तैष्वेवोभयेषु ऋतुषु दिक्षु च यजमानं प्रतिष्ठापयति उद्गाताऽनेन साम्ना प्रतितिष्ठन्

करोति, प्रतितिष्ठन्तं यजमानमनु पश्चादुद्गाता स्वयमपि प्रतितिष्ठति
य उद्गाता एवं विद्वान् उक्तप्रकारं ब्राह्मणार्थज्ञानं वैरूपेणोद्गायति
उद्गानं करोति ॥ ९ ॥

दिक्छन्दस्वमनूय स्तौति—

दिग्बद्धवति भ्रातृव्यस्याऽपनुत्यै ॥ १० ॥

दिग्बद्ध दिक्छन्दसुकमेतत्साम भवति भ्रातृव्यस्य शत्रोरपनुत्यै
दिग्भ्यः सकाशादपनोदार्थम् ॥ १० ॥

अथाऽस्य प्रथमं निधनमनुवदन् प्राक्प्रदर्शितं दिग्धारणमनेन ल-
भ्यमित्याह—

दिशं विशमिति निधनमुपयन्ति दिशं धृत्यै ॥ ११ ॥

दिशं विशमिति प्रथमं निधनमुपयन्ति ध्रुवन्त्युद्गातारः । दिक्छ-
न्देन सन्निधापितानां सर्वासां दिशं धृत्यै धारणायेतन्निधनं सम्पद्यत
इत्यर्थः ॥ ११ ॥

अथ निधनान्तरं दर्शयति—

हसित्युपरिष्ठाद्दिशं निधनमुपयन्ति तेन बार्हतम् ॥ १२ ॥

दिशामुपरिष्ठाद्दिशं विशमित्यस्मादूर्ध्वं हस् इति निधनमुपयन्ति ।
तेनैतत्साम बार्हतं वृद्धतः सम्बन्धि भवति । हसिति हि तस्य निध-
नं रथन्तरादुत्पत्तेर्वैरूपस्य प्रःगुद्दर्शितत्वात् राथन्तरञ्च भवति ॥ १२ ॥

किमतस्तदाह—

राथन्तरो वा अयं लोको बार्हतोऽसाधुमे एव त-
द्वृहद्रथन्तरयो रूपेणाऽपराध्नोति ॥ १३ ॥

अयं मूलोको राथन्तरो वै रथन्तरसम्बन्धी, असौ ध्रुलोको बार्हतो
वृद्धतस्सम्बन्धी तत्तथा सति वृहद्रथन्तरयोः सम्बन्धिना रूपेणा-
ऽस्मिन् साम्नि दृश्यमानेन उमे एव द्यावापृथिव्या अपराध्नोति
अपेत्ययं धीत्यस्याऽर्थे व्यपराध्नोति लोकद्वयेऽप्यसन्निधः समृद्धो
भवति ॥ १३ ॥

रूपद्वयकरणस्य प्रयोजनान्तरमाह—

अनङ्वाहौ वा एतौ देवयानौ यजमानस्य यद्वृह-
द्रथन्तरे तावेष तद्युनक्ति स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै ॥ १४ ॥

अनङ्वाहौ अनङ्वाहाविष एतौ द्याहनभूतौ यजमानस्य देवयानौ
देवलोकप्राप्तिसाधनौ यत् ये वृहद्रथन्तरे तत्तथा सति वृहद्रथन्तरयोः

सम्बन्धिना रूपेण वैरूपगतेन तावदेव देययानौ बाहौ युनक्ति योजयति ।
किमर्थम् ? स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै सम्प्राप्त्यै ॥ १४ ॥

अथ निधनान्तरमनुय स्नौति—

अश्ववद्भवति प्रजात्यै ॥ १५ ॥

अश्वा शिशुमतीत्यश्वशब्दयुक्तं निधनं भवति प्रजात्यै प्रजातिरु-
त्पत्तिः पुत्रादीनामुत्पत्त्यर्थम् । अश्वा शिशुमतीति शिशुमिर्बालैरश्वैरुपेता
वड्वा प्रतीयते । अतः प्रजातिहेतुता युक्त्यर्थः ॥ १५ ॥

नन्वेतस्मिन् सामिन् बहूनां निधनानां प्रयोगे नरिसत्त्वं स्यादित्या-
शङ्क्याह—

यथा मण्डूक आद् करोत्येयं निधनमुपयन्त्यपातया-
मतायै ॥ १६ ॥

यथा खलु मण्डूको लोके वृष्ट्यनन्तरमाद् करोति आद् वाद् इत्ये-
वं शब्दं स्वरमेदेन विलक्षणमेव करोति एवं निधनमध्येते विभिन्नस्व-
रमेवोपयन्ति उपगच्छेयुः । किमर्थम् ? अयातयामतायै नरिसत्त्वामावाय
रासातिशयजननार्थमित्यर्थः ॥ १६ ॥

अथैतत्साम संवत्सरे प्रतिष्ठासाधनमित्याह—

द्वादश वैरूपाणि भवन्ति द्वादशमासाः संवत्सरः

संवत्सर एव प्रतितिष्ठति ॥ १७ ॥

यथाव इत्यस्यामृच्येव वैरूपमुत्पन्नम् । तत्तत्र च ऋगक्षरख्यतिरिक्तानि
द्वादशसंख्यानि वैरूपाणि वैरूप्यापादकानि रूपाणि भवन्ति । तानि च
तु वा द्वि द्वे इत्यादीनि द्रष्टव्यानि । द्वादशसंख्याका मासाः संहताः सं-
वत्सरो भवति द्वादशमासात्मकः संवत्सर इत्यर्थः । अतोऽस्मिन्
सामिन् द्वादशसंख्यायोगात् द्वादशमासात्मके संवत्सरे एव प्रतिति-
ष्ठति यजमानः प्रतिष्ठितो भवति ॥ १७ ॥

अथाऽनेन संवत्सरख्यातिद्वारेणाऽन्नाद्येहेतुरेवेतत्सामेत्याह—

विरूपः संवत्सरो विरूपमन्नमन्नाद्यस्याऽवबुध्यै ॥ १८ ॥

उक्तप्रकारेण संवत्सरो विविधरूपः । अन्नमपि विरूपं व्रीहियवादि-
मेदेन विविधाकारम् । अतः संवत्सराग्रयोः सादृश्यात् संवत्सरे प्रति-
ष्ठानेनाऽन्नाद्यस्य अर्चुं योग्यस्याऽन्नस्याऽवबुध्यै अवरोधाय लाभाय
भवति ॥ १८ ॥

अथ धये यत्वेति श्रुत्वा गातव्यं साम दर्शयति—

महावैष्टम्भं ब्रह्मसाम भवत्यन्नाद्यस्याऽवबुध्यै ॥ १९ ॥

महावैष्टम्भाख्यं साम ब्रह्मणः पृष्ठस्तोत्रत्वेन कर्त्तव्यम् । तथाऽन्नाद्य-
स्याऽवरोधार्थं भवति ॥ १९ ॥

तत्कथमग्नेनाऽन्नाद्यस्याऽवरोधस्तदाह—

यदा वै पुरषोऽन्नमन्यथाऽन्तरतो विष्टब्धः ॥ २० ॥

यदा वै यस्मिन् काले हि पुरुषो देही अन्नमग्निं भक्षयति अथाऽन-
न्तरमेव अन्तरतश्चरीरमध्ये विष्टब्धो विशेषेण स्तब्धो भवति । अतोऽ-
न्नस्य विष्टम्भनहेतुत्वात् वैष्टम्भस्य साम्नो विष्टम्भहेतुभूतस्याऽन्नस्या-
ऽवरोधकत्वम् ॥ २० ॥

अथाऽस्य निधनं प्रदर्शयन् तस्य प्रयोजनमाह—

दिश इति निधनमुपयन्ति दिशां धृत्यै ॥ २१ ॥

दिश इति निधनद्वारा दिशां वैष्टम्भसम्पन्नास्तास्तं धृतिः (१) रौरवं
नैश्चल्येनाऽवस्थानं वैष्टम्भेन कृतं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

अथाऽस्य साम्न आधारभूतानामृचां छन्दोद्वारेण स्तौति—

सतो वृहतीषु स्तुवन्ति पूर्वयोरहोः प्रत्युद्यमाय ॥ २२ ॥

सतो वृहतीषु ऋभु स्तुवन्ति यस्याः प्रथमवृत्तीयौ पादौ द्वादशा-
क्षरौ द्वावष्टाक्षरौ सा सतो वृहती । एतत्सतो वृहतीषु स्तवनं पूर्वयोः
प्रथमद्वितीययोरहोः प्रत्युद्यमाय प्रतिकूपत्वेनोद्यमनाय उच्छ्रयणाय
भवति । तत्र हि वृहतीषु ब्रह्मसाम भवति अस्मिन्नहनि तु सतो वृहती-
ष्विति अधिकाक्षरत्वात् ताभ्यामहोभ्यामेतद्दृष्टिकृतं भवति ॥ २२ ॥

अथ तरणिरित्तिपासतीति त्वे गातव्यं साम विचक्षे—

रौरवमच्छावाकसाम भवति ॥ २३ ॥

रौरवाख्यं साम अच्छावाकपृष्ठस्तोत्रत्वेन तरणिरित्तिपासतीति
त्वे कार्यम् ॥ २३ ॥

अनेन साम्ना स्तवनस्य पञ्चमिक्रमणहेतुत्वं विवक्षुस्तदर्थं रौरवे-
णाऽग्नेः सम्पन्वमाह—

अग्निर्वै रुरो रुद्रोऽग्निः ॥ २४ ॥

एतेन खलु साम्ना पुरा रुरोऽत्यत्यर्थं शब्दायमानो रुद्रस्तीक्ष्णो
रुद्रात्मको वा अग्निः पशुलक्षणं वीर्यं प्राप्नोत् । अत एवाऽस्य रौरवमि-
ति संज्ञा अग्नेः पञ्चाविपत्यञ्च जातम् ॥ २४ ॥

एतच्च तद्देवा यतो व्यभजन्त तस्याग्नी रौरवं प्रावृहतेत्यादिना

प्रागाम्नातम् । किमतो भवति ? तदाह—

अग्निर्वा एतस्य पशूनपक्रमयति यस्य पशवोऽप-
क्रामन्त्यग्निरेव तस्य पशूनभिक्रमयति यस्य पशवो-
ऽभिक्रामन्ति ॥ २५ ॥

यस्मादुक्तप्रकारेण रुद्रात्मकोऽग्निरनेन साम्ना पशून्(१)प्रापत् त-
स्मादग्निरेव एतस्य पशूनपक्रमयत्यपगमयति यस्य यजमानस्य पशवो-
ऽपक्रामन्त्यपगच्छन्ति । यस्य च पशवोऽभिक्रामन्ति अभिमुखमाप्नुवन्ति
यस्य यजमानस्याऽग्निरेव तस्य पशूनभिक्रमयति प्रापयति अपक्रमणा-
भिक्रमणयोरुभयोरग्निरेव कारयितेत्यर्थः ॥ २५ ॥

इत्थमग्नेः पशुस्वामित्वं जानतो रौरवेण स्तुवतः फलमाह—

अभ्यभ्येवाऽस्य पशवः क्रामन्ति य एवं विद्वान्
रौरवेण स्तुवते ॥ २६ ॥

एवमुक्तमर्थं विद्वान् जानन् योरौरवेण स्तुवते स्तौति अस्य पशवो-
ऽभ्यभ्येव क्रामन्ति सर्वदाऽभिमुखा एव प्राप्नुवन्ति । न तु कदाचि-
त्पराद्मुखा गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

अस्मिन् साम्नि विद्यमानमिडाविशेषं प्रदर्श्य तृतीयेऽहनि(२) तस्या-
ऽऽनुरूप्यमाह—

परिष्टुब्धेडं तथा ह्येतस्याऽहो रूपं स्तोमः ॥ २७ ॥

परिष्टुब्धा परितः स्तोमयुक्ता इडा औ २३ हो वा हो ६ इडा इत्येवं-
रूपा यस्य तत्परिष्टुब्धेडं इदं रौरवम्, तथा खल्वेतस्य तृतीयस्याऽहो
रूपं प्रागुक्तं 'परिष्टुब्धेडं तृतीयस्ये'ति । एतेषु पृष्ठस्तोत्रेषु स्तोमः
पूर्वोक्त एव सप्तदशः कार्यः इत्यर्थः ॥ २७ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्य चतुर्थः खण्डः ॥

अथ पञ्चमः खण्डः ॥

अथाऽस्मिन्तृतीयेऽहन्यामवपवमानस्याऽऽद्यं स्तोत्रीयं तृचं दर्श-
यित्वा तस्य(२) तत्राऽऽनुपूर्व्यमाह—

“तिस्रो वाच उदीरत” इति तृतीयस्याऽहो रूपं तेन

तृतीयमहरारभन्ते ॥ १ ॥

‘तिस्रो वाच’ इत्ययमाद्यस्तृच आर्मवपचमानस्य । एतच्च उच्छब्द-
त्रिशब्दयोगात् तृतीयस्याऽहो रूपम् । तेन तार्तीयरूपयुक्तेन तृचेन तृती-
यमहरारभन्ते गृह्णन्ति ॥ १ ॥

एतदेवोपपाद्यते—

उद्धृत्वा एतत् त्रिवदहर्घ्यत् तृतीयं तदेव
तदभिवदति ॥ २ ॥

एतदहर्घ्यत्वे उच्छब्दयुक्तमेव, तथा त्रिवत् त्रिशब्दयुक्तं च । उद्ध-
व-त्रिवदित्यादिना तृतीयस्याऽहो रूपम्, तथा परिसङ्ख्यानात् । तदे-
वाह—तृतीयाहम्सम्बद्धं रूपं तन्मन्त्रवाक्यमभिवदति प्रकाशयति ॥ २ ॥

अथाऽपरां स्तोत्रीयामृचं विदधाति—

“आ सोता परिपिञ्चने”ति परिवर्त्यो भवन्ति ॥ ३ ॥

आ सोतेत्याद्यास्तिस्रः क्रवः परिवर्त्यः परिशब्दयुक्ता भवन्ति । स्तो-
मातिरेकपरिहाराय (१) तास्वैकस्यामेव यथाभ्यस्यमानं वाचस्साम गा-
तव्यम्, अन्ये तु विकल्पिता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

(२) तदेव प्रशंसति—

अन्तो वै तृतीयमहस्तस्यैताः पर्याप्त्यै ॥ ४ ॥

इदं तृतीयमहरन्तो वै । अनेनैकस्य त्रिरात्रस्य परिसमापनात्तस्याऽह-
पताः परिवर्त्य ऋचः परिसमाप्तिवृत्तत्वात् पर्याप्त्यै परिसमाप्त्यै
भवन्ति ॥ ४ ॥

अथाऽपरां स्तोत्रीयां विदधाति—

‘सखाय आनिपीदते’त्युद्धतमिव वै तृतीयमहर्घ्यदाह
निपीदतेत्यहरेवैतेन प्रतिष्ठापयति ॥ ५ ॥

‘सखाय आनिपीदते’त्येका स्तोत्रीया । सा च निपीदतेति निषदन-
लिङ्गात् अहः प्रतिष्ठादेतुष्ट्याहोद्धतमित्यादिना । उद्धतमिव वा उत्था-
तमिव वै खल्वेतत् तृतीयमहर्निपीदत निषण्णा भवत यथास्थानमु-
पविशतेति तत्र वाक्यं यदाह, एतेन निषादनप्रतिपादकेनाऽहरेवेदं
प्रतिष्ठापयति यथास्थानं प्रतिष्ठितं करोति ॥ ५ ॥

१. तिसृभेकस्यामेवार्चं विधास्यमानमिति. क. ख. ३.

२. तदेतत्प्रशंसतीति. क. ३.

(१)अथाऽपरां स्तोत्रीयां विधत्ते—

‘सुतासो मधुमत्तमा’ इत्यनुष्टुभः सत्यो जगत्यो
रूपेण जागतुं ह्येतदहः ॥ ६ ॥

सुतासो मधुमत्तमा इति तिस्रः ऋचः कार्याः । ताश्चाऽनुष्टुभः सत्यो
रूपेण जगत्यो भवन्ति । तथा हि मधुमत्तमा (२) इत्यनेन अतिशयेन मधु-
रत्वं प्रतिपाद्यते । तच्च तृतीयसवनस्य रूपं आशिरावनयनेन मधुरत्वं रसा-
तिशयस्य करणात् । तृतीयसवनञ्च जगत्याः स्थानम् । अतः परम्परया
अतिशयेन माधुर्यं जगत्या रूपमिति तद्वाचको मधुमत्तमशब्दोऽपि
जागतं रूपं भवति तद्युक्त्यात् स्वभावतोऽनुष्टुभोऽपि जगत्यो भवन्ति ।
एतत्तृतीयमहश्च जागनम् । अत आसामस्मिन्नहनि सङ्गतिः ॥ ६ ॥

अथ तृचान्तरं विधत्ते—

“पवित्रं ते विततं ब्रह्मणस्पत” इति ॥ ७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

विततशब्दसूचितां तृचस्य तृतीयेऽहनि सङ्गतिमाह—

विततमिव वा इदमन्तरिक्षमन्तरेमे अन्तरिक्षदेवत्य-
मेतदहर्ग्यत्तृतीयं तदेव तदभिवदति ॥ ८ ॥

इमे द्यावापृथिव्यावन्तरा द्यावापृथिव्योर्मध्ये इदं हृदयमानमन्त-
रिक्षं विततं विस्तृतमिव वै । अतोऽनेन विततशब्देनाऽन्तरिक्षमेव
सूचितं भवति । शिष्टं स्पष्टम् ॥ ८ ॥

तिस्रो वाच इति प्रथमे तृचे गातव्यं साम विधाय प्राग्वदत्र ब्राह्म-
णञ्चाऽतिदिशति—

गायत्रं भवति यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ९ ॥

सिद्धमेतत् ॥ ९ ॥

अथ तस्मिन्नेव तृचे पुनरावृत्ते सामन्तरं विधत्ते—

पाष्ठौहं भवति ॥ १० ॥

पाष्ठौहा ऋषिणा दृष्टं पाष्ठौहम् । “(३)दृष्टं सामे”त्यण्प्रत्यये भसंज्ञायां
“(४)वाह ऊद्” इत्यूङ्मावे(५) “एत्येघत्सूट्स्वि”ति वृद्धिः ॥ १० ॥

अथैतत्साम निधनद्वारेण चतुर्थस्याऽहः सम्बन्धहेतुरिति दर्शयं-

स्तस्योक्तमेव निर्वचनमभिप्रेत्य पष्ठवाहसम्बन्धमाह—

पष्ठवाङ्वा एतेनाऽङ्गिरसश्चतुर्थस्याऽहो वाचं वदन्ती-
मुपाशृणोत्स होवागिति निधनमुपैत्तदस्याऽभ्युदितं
तदहरवसत् ॥ ११ ॥

पष्ठवाण्यामाऽङ्गिरसः पुरा एतेन (१) साम्नो निधनेन चतुर्थस्य वक्ष्या
माणस्याऽहः सम्बन्धिर्नो वाचं स्तुतशस्त्रात्मिकां वदन्ती शब्दायमानां
तृतीयेऽहनि स्थित्वा उपाशृणोत् श्रुतवान् । तदनन्तरं स ऋषिः होवा
गिति तां वाचं सम्बोध्य तदेव शब्दरूपमस्य साम्नो निधनमुपैत् उपा-
गच्छत् । अस्य च पाष्ठौहस्य ह्यवसाने पुरा पष्ठवाक् होपेतनिधनमेष
हाऊ वा औ वा २३४५ इति व्यासेन अन्यवर्णलोपेन चाऽधीयते, तन्नि-
धनं अस्य तृतीयस्याऽहस्सम्बन्धि अभ्युदितं चतुर्थस्याऽहो वाचमभि-
लक्ष्योदितं उच्चारितं तच्चतुर्थमहरवसत् अवासयत् ॥ ११ ॥

आ सोता परीत्यस्यां गातव्यं साम विधत्ते—

वाचः साम भवति ॥ १२ ॥

वाचो वाग्देवतायास्सम्बन्धितया दृष्टं साम वाचस्साम ।
तदस्यां गेयं भवति ॥ १२ ॥

यज्ञसमृद्धिहेतुतामाह—

वाग्वै द्वादशाहो वाक्पेव तद्वाचा स्तुवते यज्ञस्य
प्रभूत्यै ॥ १३ ॥

द्वादशाहस्य वागात्मकत्वं प्रागुक्तम् । तत्तथा सति वाचि वागात्मक
एव द्वादशाहे वाचा दृष्टत्वात् सामाऽपि वाक् । वागात्मकेन साम्ना
स्तुवते स्तुवन्ति । किमर्थम् ? यज्ञस्याऽस्य प्रभूत्यै प्रभूतिः समृद्धिः
तदर्थाय ॥ १३ ॥

वाचस्साम्नस्योक्तमेव सम्बन्धं प्रदर्शयन् आख्यायिकामुजेताऽस्य
साम्नो दर्शनहेतुतामाह—

निष्किरीषाः सत्रमासत ते तृतीयमहर्न प्राजानं
स्तानेतत्साम गायमानान् वागुपाप्लवत् तेन तृतीयमहः
प्राजानं स्तेऽब्रुवन्निपं वाव नस्तृतीयमहरदिदृशदिति
तृतीयस्यैवपाऽहो दृष्टिः ॥ १४ ॥

निष्करोषाः निष्करो नाम शाखाविशेषो गोत्रविशेषो वा । तत्स-
म्यन्धिनो यजमानाः पुरा सत्रं द्वादशाहाख्यं आसताऽन्वतिष्ठन् । ते तत्रत्यं
तृतीयमिदमहर्न प्राजानन् । तान् तथाविधान् यजमानानेतत्साम गाय-
मानान् गानं कुर्वन्तः षाक् उपाप्लवत् उपागच्छत् । प्लु गतौ मौघादिकः
सेन वाचा गीयमानेनाग्नेन साम्ना तृतीयमिदमहस्ते प्राजानन् प्रकर्षेणा
ऽनुष्ठानक्रममुच्यन्ते । ज्ञात्वा च ते पुनरद्युवन् इयं खलु षाक् नोऽस्मान्
तृतीयमहरदीदृशत् दर्शितवती । दृशेर्ष्यन्तात् लुङि चङिति ऋकारा-
देशस्य विकल्पे प्राप्ते "नित्यं छन्दसी"ति नित्यमृकारादेशे कृते च द्वि-
चचनादिके कार्ये रूपमेतददीदृशदिति । यस्मादेवमद्युवन् तस्मात्तृती-
यस्याऽह् एषा दृष्टिः दर्शनसाधनं चक्षुरिन्द्रियस्थानम् ॥ १४ ॥

अथ 'सखाय आनिषीदते'त्यस्यां गातव्यं साम विधत्ते—

शौक्तं भवति ॥ १५ ॥

शुक्तिना दृष्टं साम शौक्तम् ॥ १५ ॥

इममेव सम्बन्धं प्रदर्शयन् अस्य साम आज्ञवेन स्वर्गप्राप्तिहेतुत्वं
दर्शयति—

शुक्तिर्वा एतेनाऽऽङ्गिरसोऽञ्जसा स्वर्गं लोकमप-
श्यत् स्वर्गस्य लोकस्याऽनुख्यात्यै स्वर्गाल्लोकान्न ज्यवते
तुष्टुवानः ॥ १६ ॥

शुक्तिर्नामाऽऽङ्गिरस ऋषिरेतेन सास्त्रा अञ्जसा ऋजुगामिना मार्गेण
स्वर्गं लोकमपश्यत् अजानात् । दृष्ट्वा च तं लोकं प्राप्य चिकालमतिष्ठ-
दित्यर्थः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १६ ॥

'सुतासो मधुमत्तमा' इति तृच एकं साम विधाय पूर्वमाभ्नातं तत्
स्तावकं ब्राह्मणञ्चातिदिशति—

गौरीवित्तं भवति यदेव गौरीवितस्य ब्राह्मणम् ॥ १७ ॥

एतदपि सिद्धं प्राक् ॥ १७ ॥

अथाऽस्मिन्नेवाऽऽवृत्ते तृचे सामान्तरं (१)विदधाति—

त्वाष्ट्रीसाम भवति ॥ १८ ॥

त्वष्टुर्दुहितरस्तवाष्ट्रयः । तामिदं साम त्वाष्ट्रीसाम । तत् 'सु-
तासो मधुमत्तमा' इति तृचे गातव्यम् ॥ १८ ॥

अस्य सामस्तवाष्ट्रीसम्बन्धं प्रतिपादयन् कामप्राप्तिहेतुतां विव-

धुराह—

इन्द्रं वा अक्ष्यामयिणं भूतानि नाऽस्वापयधुंस्तमेतेन
त्वाष्ट्र्योऽस्वापयधुंस्तद्वाच तास्तर्ह्यकामयन्त ॥ १९ ॥

अक्ष्यामयिणं अङ्गोरामयो व्याधिरस्याऽस्तीत्यक्ष्यामयी, तथाविध-
मिन्द्रं खलु पुरा अन्धानि मृतजातानि नाऽस्वापयन् स्वापयितुं नाऽशक्नु-
वन् । एवं स्थिते त्वाष्ट्र्यः त्वष्टुर्दुहितर एतेन साम्ना अस्वापयन् । यथा
खलु लोके गानविशेषः अक्षिरोगादिनिमित्ते स्वापरहितान्वालान् स्वा-
पयन्ति, एवमेव धाव्येणैव सामगानेन (१) अक्ष्यामयं विस्मार्ह्य स्वाप-
मकारयन्नित्यर्थः । तस्मिन् काले तद्वाच तदेव खलु स्वापनं तास्त्वा-
ष्ट्र्यः अकामयन्त । कामितञ्च तत् एतेन साम्ना निष्पन्नम् ॥ १९ ॥

किं तत इत्याह—

कामसनि साम त्वाष्ट्रीसाम काममेवैतेनाऽवरुन्धे ॥ २० ॥

यदिदं त्वाष्ट्रीसाम एतत्कामसनि यद्यत्कामयते तस्य सर्वस्य
सनि दातुं सकलकाम्यमानफलप्रदं साम । तस्मादेतेन साम्ना कामं
काम्यमानममिलपितं सर्वमेव फलजातं अवरुन्धे लभते ॥ २० ॥

तयेदं सामोत्कृष्टवस्तुजन्महेतुरिति विवक्षयाऽऽह—

इन्द्रो वृत्राद्विभ्यद्वां प्राविशत्तं त्वाष्ट्र्योऽश्रुवज्जनया-
मेति तमेतैः सामभिरजनयज्ञापामहा इति वै सत्रमा-
सते जायन्त एव ॥ २१ ॥

इन्द्रः खलु पुरा वृत्रादसुराद्विभ्यत् भीतः सन् गां प्रविष्टवान् । त-
स्मिन् समये त्वाष्ट्र्यः त्वष्टुर्दुहितरोऽश्रुवन् तमिन्द्रे जनयाम प्रादुर्भूतं
वृत्रस्य पुरस्तात् अवस्थाय योजुं शक्तं करयामेति । तमिन्द्रमेतैस्त्वा-
ष्ट्रीसामभिरजनयन् । इदमेकं त्वाष्ट्रीसाम । अन्धान्यपि विद्यन्त इत्यमि
प्रायेण बहुवचनम् । जायामहे उत्कृष्टरूपेण जाताः प्रादुर्भूताः प्रशस्ता
भवाम इति खल्वमिप्रायेण सत्रमासते सत्रयागं कुर्वन्ति । अतोऽनेन
साम्ना प्रशुद्धेन जायन्त एव उत्कृष्टाकारविशिष्टव्या भवन्त्येव ॥ २१ ॥

अथ पवित्रन्त इत्यन्ये तृचे गातव्यं साम विधत्ते—

अरिष्टं भवति ॥ २२ ॥

स्पष्टम् ॥ २२ ॥

एतस्य साम्नः करणमर्हिसाहेतुरिति प्रतिपिपादयिषुस्तदर्थं ताव-

दरिष्टसर्गां (१) विवक्षुताह—

देवाश्च वा असुराश्चाऽस्पृहन्त यं देवानामघ्नत् स
समभवद्यमसुराणां संप्रसोऽभवत्ते देवास्तपोऽतप्यन्त
त एतदरिष्टमपश्यंस्ततोयं देवानामघ्नत् संप्रसोऽभव-
द्यमसुराणां न स समभवदनेनाऽरिषामेति तदारिष्टस्या-
रिष्टत्वमरिष्ट्या एवाऽरिष्टमन्ततः क्रियते ॥ २३ ॥

देवाश्च वा असुराश्च पुरा अस्पृहन्त स्पृहमाना अयुध्यन्त । तत्र दे-
वानां मध्ये यमसुरा अघ्नन् आयुधैः प्राहरन् स हतः न समभवत् संभूतः
पुनरुत्थितो नाऽभूत् । तथा असुराणां मध्ये यं देवा अघ्नन् स पुनः
समभवत् प्रहारं तिरस्कृत्य पुनरुत्थितोऽभूत् । एवं स्थिते देवास्तपोऽ-
तप्यन्त अहिंसासाधनं किमिति तत्पदार्थात्लोचने तदत्र तपःशब्दवाच्यं-
तदकुर्वन्श्रित्यर्थः । एवं तपस्तप्यमानास्ते देवा एतदारिष्टं साम अहिंसा-
साधनमपश्यन्त अपश्यन् । तत एतद्दर्शनानन्तरं देवानां मध्ये यमसुरा
अघ्नन् स पुनः समभवत्तया असुराणां मध्ये यं अघ्नन् देवाः स पुनरनं सम-
भवत् पुनरुत्पन्नो नाऽभूत् । एतस्मिन्नन्तरे अनेन अल्लु दृष्टेन साम्ना धर्मं
नारिषाम अरिषा असुरैर्हिंसिता नाऽमवामेत्यमन्यन्त । तत्तस्मात् शरेषण-
साधनत्वात् अरिष्टस्य साम्नो अरिष्टमिति नाम सम्पन्नम् । त्रिष हिंसा-
यामिति घातुः । एवञ्चारिष्ट्या एव अरिष्टिः अहिंसा । तदर्थमेवा-
रिष्टं साम अन्ततः पवमानस्याऽन्ते क्रियते ॥ २३ ॥

अपि चेदं साम निष्पद्यमानस्य प्रथमस्य त्रिरात्रस्य धृतिहेतुरित्याह—

त्रीदं भवति त्रिरात्रस्य धृत्यै ॥ २४ ॥

तिस्रः इडा यस्मिन् तर्ज्जिडम्, तादृशमेतत्साम भवति । अस्य ह्यव-
साने हो इडा हो इडा हो २३४५ इडा इति इडाशब्दः त्रिरम्यस्यने ।
तस्य त्रिरात्रस्य पूर्व्वे द्वे अहनी, इदमेकमिति त्रयाणामह्नां धृत्यै धार-
णाय भवति ॥ २४ ॥

तत्रोत्तमायामिडायां विद्यमानं किञ्चिद्धर्मविशेषमनूय तस्योत्तरे-
णाऽहो सन्तानहेतुतामाह—

द्रवन्तीमिडामुत्तमामुपगन्ति चतुर्थस्याऽहः

सन्तत्यै स्तोमः ॥ २५ ॥

तासुत्तमामन्त्यामिडां द्रवन्तीं द्रुतमुच्चार्यमाणामुपयन्ति उपगच्छ-
न्त्युद्गातारः । किमर्थम् ? चतुर्थस्य वक्ष्यमाणस्याऽहस्तन्तयै सन्धा-
नायसम्यन्धार्धम् । स्तोमः पूर्वोक्तस्तदश एव । एवं सामसु
क्रियमाणेषु निष्पद्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे
द्वादशाध्यायस्य पञ्चमः खण्डः ॥

अथ षष्ठः खण्डः ॥

अथ प्राकृतमेवाऽग्निष्टोमसाम तत्र न किञ्चिद्वक्यमस्तीत्यभिप्रा-
येण त्रयाणामुक्त्यानां स्तोत्रीयास्तृचः प्रदर्श्यन्ते । तत्र प्रथमस्योक्-
थस्तोत्रस्य स्तोत्रीयं तृचमाह—

प्रमं हिष्टाय गायतेति ॥ १ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १ ॥

तदेतद्रूपं प्रशंसति—

यद्गायतेति महस एव तद्रूपं क्रियते ॥ २ ॥

यद्गायतेति गातृणां बहुत्वं तन्महसस्तजस एव रूपं तेन क्रियते ।
लोके हि तेजस्विनामेव राक्षां बहुवो गायका भवन्तीति ॥ २ ॥

अथ द्वितीयस्योक्त्यस्य स्तोत्रीयं तृचं प्रदर्श्य तृतीयसवनयोग्यतां
दर्शयति—

‘तं ते मदङ्गुणीमसी’ति मदवद्वै रसवत्तृतीयसवनं
मदमेव तद्रसं दधाति ॥ ३ ॥

व्याख्यातमेतत् ‘प्रसोमासो मदव्युत’ इत्यत्र ॥ ३ ॥

अथ तृतीयस्योक्त्यस्य स्तोत्रीयं तृचं दर्शयति—

‘श्रुधीह्वं तिरश्चपा’ इति श्रुत्या एव ॥ ४ ॥

श्रु धवण इत्यस्मिन्निष्पन्नस्य श्रुधीशब्दस्य कीर्त्तनात् अयं तृचः
श्रुत्यै धवणायैव धाधिर्याभावात् सम्पद्यते ॥ ४ ॥

अथ प्रथमे उपर्ये यो विहितस्तृचस्तस्मिन् गेयं साम दर्शयति—

प्रमं हिष्टायिं भवति ॥ ५ ॥

प्र मं हिष्टाय गायतेति योनावुत्पन्नं साम प्रमं हिष्टाशब्दयोगात् प्रमं-
हिष्टायम् । तदत्र प्रमं हिष्टेति तृचे कर्त्तव्यम् ॥ ५ ॥

तदेतस्तौति—

प्रमं हिंष्टीयेन वा इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रावर्त्तयत्तम-
स्तृणुत भ्रातृव्यवान् प्रमं हिंष्टीयेनोक्त्यानि प्रणयेत स्तृ-
णुते भ्रातृव्यं वसीयां आत्मना भवति ॥ ६ ॥

प्रमं हिंष्टीयेनाऽनेन साम्ना यत्तु पुरा इन्द्रो वृत्राय वज्रं हन्तं वज्रं
प्रावर्त्तयत् प्राक्षिपत् । तदनन्तरं तं अस्तृणुत अहिंसीत् । स्तृ हिंसाया-
मिति धातुः । अत इदानीमपि भ्रातृव्यवान् विद्यमानशत्रुं यजमानः
प्रमं हिंष्टीयेनाऽनेन साम्ना उक्त्यानि प्रणयेत । सामान्याभिप्रायं बहुवन-
नम् । प्रथममुक्त्यस्तोत्रं स्तुवीत । ततो भ्रातृव्यं शत्रुं प्रति प्रयुक्तेनाऽनेन
साम्ना स्तृणुते दिनस्ति । अपि च वसीयान् वसुमत्तमः श्रेष्ठश्चाऽऽ-
त्मना स्वयमेव भवति ॥ ६ ॥

अथ 'तं ते मदं गृणीमसी'ति विहिते त्वे गातव्यं साम दर्शयति—

हारिवर्णं भवति ॥ ७ ॥

हारिवर्णेन ऋषिणा दृष्टं साम हारिवर्णम् ॥ ७ ॥

अथाऽस्य साम्नो निधनं शोकापहतिहेतुरिति विवक्षुस्तदर्थमा-
ख्यायिकमाह—

इन्द्रश्च वै नमुचिश्चाऽसुरः समदधातां न नो नक्तन्न
दिवाऽहनन्नाऽऽर्द्रेण न शुष्केणेति तस्य व्युष्टायामनुदित
आदित्येऽपां केनेन शिरोऽछिनदेतद्वै न नक्तं न दिवा
यत् व्युष्टायामनुदित आदित्य एतन्नाऽऽर्द्रेण शुष्कं यदपां
केनस्तदेनं पापीयां वाचं वददन्ववर्त्तत वीरहन्त दुहो
दुह इति तन्नर्चा न साम्नाऽपहन्तुमशक्नोत् ॥ ८ ॥

इन्द्रश्च नमुचिर्नामाऽसुरश्च पुरा समदधातां सन्धानमकुर्वाताम् ।
नावाययोरन्यतरोऽपि नक्तं रात्रौ न हनन् न हन्तव्यं, दिवा अहन्यपि तथा
न हन्तु, तथाऽऽर्द्रेण च न हन्तु, नाऽपि शुष्केण नीरसेन वज्रादिनेति ।
एतत् उक्तं भवति—इन्द्रः सर्वानसुराञ्जित्वा सर्वेभ्योऽसुरेभ्योऽधिकं
नमुच्यायमसुरं बलात् जग्राह । स चाऽसुरः इन्द्रादधिकबलः सन् त-
मेव जग्राह । गृहीत्वा च त्वां विमृजामि, यदि त्वं मां अहोरात्रयोः आ-
र्द्रेण शुष्केण मा हन्या इति । एवमात्मकं सन्धायकं वाक्यमिन्द्रं प्रत्यु-
क्तवानिति ।

तस्याऽयमभिप्रायः—अहोरात्रव्यतिरिक्तकालोऽपि नाऽस्ति आर्द्रं शु-
क्लविलक्षणे साधनमपि नाऽस्ति, यस्मिन् काले तेन साधनेन मां हन्या-
दिति । एतच्च तैत्तिरीयकेऽतिस्पष्टमाग्नातम्—‘इन्द्रो वृत्रहत्वा । असुरान्
परामाव्य । नमुचिमासुरं नाऽलभत । तं शच्या गृह्णात् । तौ समलभेतां
सोऽस्मादभिसृततरोऽभवत् । सोऽग्रवीत् सन्धां सन्दधावहै । यत् वाचः
अश्यामि । न मा शुष्केण नार्द्धेण हनः । न दिवा न नक्तमि’त्यादिना । एवं
सन्धानानन्तरमिन्द्रः व्युष्टायामुपसि जातायां आदित्ये चाऽनुदिते
उदयमप्राप्त योऽन्तरालः कालः तस्मिन् तस्य नमुचः शिर अपां विका-
रेण फेनेन वज्रीकृतेनाऽच्छिनत् द्वैधीकृतवान् अवधीदित्यर्थः । एवं कृते
पूर्वकृतस्य सन्धानस्याऽविदितिरुच्यते—एतद्वा इत्यादिना । एतद्वै एतत्
खलु न नक्त न रात्रिः न दिवा यद्व्युष्टायामुपसि जातायामादित्ये चा-
ऽनुदिते । एतच्च नाऽऽर्द्रो न शुष्कः यदां फेनः । एवं पूर्वकृतसन्धानाविरो-
धेन नमुचौ हते एतमिन्द्रमनु पश्चात् तन्नमुचिहननं पापीयां निकृष्टां वाचं
षदत् अकथयत् अवर्त्तयत् । काऽसौ पापी वाक् उच्यते? हे धीरहन्
धीरस्य शत्रुमृतस्य नमुचेर्हन्तः, अद्रुहो द्रुह इति वीप्सायां द्विवचनम्,
द्रोहं कृतवानसि इति । एवमाक्रुष्यमाण इन्द्रः तद्वचनं ऋचा ऋगा-
श्मकेन मन्त्रेण हन्तुं नाऽशक्नोत् । तथा साम्ना गानविशिष्टेन मन्त्रेण
अपहन्तुं विनाशयितुं नाऽशक्नोत् ॥ ८ ॥

तर्हि केनाऽपहतवानिति तदाह—

हारिवर्णस्यैव निघनेनाऽपाहत ॥ ९ ॥

हरिभिषां इत्येवं रूपेण हारिवर्णस्य निघनेनैव तत्पापीयां वाचं
प्रकटयन्नमुचिहननं अपाहत अपहतवान् । ततः तेजम्बी धीमांश्चा-
मूत् ॥ १० ॥

(१) अतोऽद्याप्यनेन निघनेन एतत् फलं भवतीत्याह—

अपशुचं हते हारिवर्णस्य निघनेन श्रियञ्च
हरश्चोपैति तुष्टुवानः ॥ १० ॥

अद्यतनोऽपि तुष्टुवानः स्तुवन् हारिवर्णस्य निघनेन हरिभिषा-
मित्यनेन प्रयुज्यमानेन शुचं शोकमपहते हरिभियामिति पदद्वयेनो-
पस्थापितं धियं सम्पदञ्च हरस्तेजश्चेत्येतत् द्वयं उपैति उपगच्छति
प्राप्नोति ॥ १० ॥

अथ तृतीये तृचे गेयं साम दशयति—

तैरश्वयं भवति ॥ ११ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ११ ॥

आख्यायिकया ऽस्य साम्नस्संज्ञां (१)निर्द्दिष्टुं पापापहतितेदेतुतामाह—

अङ्गिरसः स्वर्गं लोकं यन्तो रक्षाभ्यन्वसचन्त
तान्येतेन तिरश्चाऽङ्गिरसस्तिर्यङ् पर्यवैद्यत्तिर्यङ्पर्यवै-
त्तस्मात्तैरश्चयं पाप्मा वाव स तानसचत तं तैरश्चयेना-
ऽपान्नताऽपपाप्मानभ्यहते तैरश्चयेन तुष्टुवानः ॥ १२ ॥

पुरा कृतयागानुष्ठानात् स्वर्गं लोकं यन्तो गच्छन्तोऽङ्गिरसो रक्षांति
राक्षसा अन्वसचन्त अन्वगच्छन् समवेताः संसृष्टा अभूवन् । पच सम
वाय इति घातुः । तानि रक्षांसि अङ्गिरसस्तिर्यङ् तिरोऽञ्चन् एतत्संज्ञ
ऋषिः तिरसा तिरोऽञ्चता तिर्यङ् वर्त्तमानेनैतेन साम्ना पर्यवैत् (२)
परितोऽगच्छत् । यत् यस्मादनेन साम्नाऽङ्गिरसस्तिर्यङ् पर्यवैत् परितोऽ
गच्छत्, तस्मात्तैरश्वयं तिरश्चसम्बन्धादस्य साम्नः तैरश्वयमिति नाम
सम्पन्नम् । अस्तु प्रकृते किमापातम् ? उच्यते—पाप्मा वाव सः पापमे-
व सः पूर्वोक्तारक्षोरूपेण वर्त्तमानः तानङ्गिरसोऽसचत समवेतस्सङ्ग-
तोऽभूत् । तं पाप्मानं तैरश्वयेन साम्ना अपान्नत अपहतवन्तः । तस्मा-
दद्यतनोऽपि तैरश्चयेन तुष्टुवानः पाप्मानमपहते ॥ १२ ॥

अथैतेषु त्रिषूक्त्येषु स्तोमकलङ्गि प्रदर्श्य विशेषफलहेतुतामाह—
सप्तदश एव स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रजात्यै ॥ १३ ॥

गतार्थमेतत् ॥ १३ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्य षष्ठः खण्डः ॥

अथ सप्तमः खण्डः ॥

अथ दशरात्रस्य चतुर्थेऽदिति सर्वेष्वपि स्तोत्रेषु एकविंश एव
स्तोमः । तत्र बहिष्पन्नमानस्य एकविंशतिसंख्या स्तोत्रीया ऋचः ।
तस्याऽऽद्यं स्तोत्रीयं तृचं दर्शयति—

‘प्र त आदिवनीः पवमानधेनव’ इति चतुर्थस्याऽऽहः
प्रतिपद्भवति ॥ २ ॥

प्र त आदिवनीरिति नृचः चतुर्थस्य दशरात्रिकस्याऽहः प्रतिपद्भ-
वति प्रथमस्तृचो भवति । बहिष्पवमानस्याघस्तृचः इत्यर्थः ॥ १ ॥

अस्मिन् चतुर्थेऽहनि तस्य तृचस्य सङ्कृतिमाह—

आप्ते त्रिरात्रे रूपेण गायत्र्यो द्वितीयं प्रयन्ति प्रेति
वै गायत्र्या रूपम् ॥ २ ॥

दशरात्रे दशममहर्षिहाय त्रयस्त्रिरात्राः पूर्वं विभज्य स्तुताः । तत्र
प्रथमे त्रिरात्रे गायत्रमहः प्रथमम्, त्रैष्टुभं द्वितीयम्, जागतं तृती-
यम् । यस्मिन् त्रिरात्रे आप्ते समाप्ते सति गायत्रीत्रिष्टुब्ज-
गतीनां गतेस्तुभिरहोभिः समाप्तत्वात् पुनरपि द्वितीये त्रिरात्रे गायत्री-
त्रिष्टुब्जगतीभिरेव पूर्ववत् क्रमेणाऽर्क्षा कल्पयितव्यत्वात् विहितस्य
तृचस्य जागतत्वात् तत्र मुख्यगायत्र्यसम्भवात्तत्सङ्गाधो भाक्त इत्य-
भिप्रायेणाऽऽह गायत्र्या रूपेण गायत्रीछन्दसो रूपेण द्वितीयं त्रिरात्रं
प्रयन्ति प्रक्रमन्ते । किं तद्गायत्र्या रूपम् ; यत्सङ्गावादस्य तृचस्य गाय-
त्रत्वं स्यादिति । तदुच्यते प्रेति प्र इत्यपमुपसर्गः खलु गायत्र्याऽनु-
रूप एति प्रेत्यानुमदित्यादिना गायत्र्यादिस्तदूपस्याऽभिहितत्वात् ॥२॥

नन्वेवं मुख्यो गायत्र एव तृचः प्रथमं विधेयः । किमतया बह-
धन्वप्रयासकल्पनयेत्यत आह—

जगती प्रतिपद्भवति जागतमेतदहर्षतृतीयजगत्या
एव तज्जगतीमभिसंक्रामन्ति ॥ ३ ॥

उक्ता जगतीछन्दस्कैव प्रतिपद्भवति । किमर्थं जागतं जगतीछन्द-
स्कमेतदहर्षतृतीयमनुष्ठितम्, तत्तथा सति जगत्या एव पूर्वास्मिन्नह-
नि प्रमुक्तात्वात्जगत छन्दस एव जगती जागतमेव छन्दोभिः संक्रा-
मन्ति । यथा वृक्षमारुहः पुरुषः कस्याञ्चिच्छाखायामवस्थितः (१)उन्न-
तत्वेन सहस्रां शाखां अभिक्रामति नाऽघस्तनीं नोपरितनीं एवमेव
जगत्याः सकाराज्जगतीमेवाऽभिसंक्रामन्ति ॥ ३ ॥

एतदेव ध्यतिरेकमुखेन द्रवयति—

यदतोऽन्या प्रतिपत्स्यात् प्रतिकूर्ल वाऽनुकूर्ल वा स्यात् ॥४॥

अतोऽस्या जगत्या अस्या अन्यच्छन्दस्का गायत्र्यादिका यत् यदि प्रतिप-
त्स्यात् तर्हि प्रतिकूलं वाऽनुकूलं वा स्यात् । छन्दोन्तरसंकमणपक्षे प्राति-
कूल्यं भवेत्, आनुकूल्यमपि पाक्षिकम् । यथोक्ततायां वृक्षस्याऽग्रशाखाया
मवस्थितः पुमान् अथस्तादूरदेशे वर्तमानां शार्चा पादेनाऽवष्टम्बन्
पादविश्लेषात्कदाचिदधः पतति कदाचित्तत्रैव तिष्ठति, तद्वत् । तस्मा
ज्जगत्सैवाऽस्याऽहः प्रतिपदा भवितव्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

अथाऽनुरूपाख्यं बहिष्पद्यमानस्य द्वितीयं तृचं दर्शयति—

पवमानो अजीजनदित्यनुरूपो भवति ॥ ५ ॥

अयं तृचोऽनुरूपाख्यो द्वितीय इत्यर्थः । नन्वयं गायत्रस्तृचः स्तो-
त्रीयस्तु जागतः । कथं तेनाऽस्याऽऽनुरूप्यम् ? देवताद्वारेति श्रूमः । अत
एवोत्तराऽऽस्नास्यते—पूर्वमुचैव तद्रूपमिति । ननु पूर्वयोरहोः स्तो-
त्रीयानुरूपाणां छन्दसामपि सारूप्यं दृष्टम्, तद्वदत्राऽपि भवितव्यम् ।
सत्यं भवितव्यम्, यदि समूहद्वादशाहोऽभिहितः स्यात् । अस्मिन्स्तु ब्रा-
ह्मणे व्यूढ एव द्वादशाहो विहितः । अतस्तद्दीयस्यैव दशरात्रस्य स्तो-
मकलृप्तिरत्र विधीयते । तत्र च द्वितीये त्रिरात्रे जागतं प्रातस्सवनम्, गा-
यत्रं माध्यन्दिनम्, त्रैष्टुभं तृतीयसवनं 'गायत्रमध्यो द्वितीय' इति द्वि प्रा
गाभातम् । तस्मादवश्यं जगत्या भाव्यमित्यभिप्रायेण पूर्वं जागतस्तृचो
विहितः । एवं च द्वितीयस्य तृचस्य प्रथमेन छन्दसा सारूप्यसम्भवात्
देवताद्वारैवाऽऽनुरूप्यमित्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

अजीजनदिति जनिधातुयोगादयं तृचश्चतुर्थेऽहनि सङ्गत इत्याह—

जनद्वद्वा एतदहर्षचतुर्थमन्नाद्यञ्जनयति विराजञ्ज-
नयत्येकविंशत् स्तोमञ्जनयति ॥ ६ ॥

यच्चतुर्थमहरेतत् जनद्वद्वै जनिधातुनिष्पन्नशब्दशुक्रमेव खलु, रा
जन्वञ्जनद्वत्सूर्य्येवद्विराडनुतोदवदित्यादिना चतुर्थस्याऽहो रूपत्वेन
तस्य परिगणितत्वात् । यद्यपि 'इक्षितपौ धातुनिर्देश' इति स्मरणात्
जनिमदित्येव वक्तव्यम्, तथाऽपि 'पवमानो अजीजन' इति मन्त्रे
दर्शनात्तदनुकरणेन जनद्वदिति निर्देशः । तस्मादस्मिन्चतुर्थेऽहनि तद्विह
युक्तस्तृचस्सङ्गत इत्यर्थः । किञ्च जननेन जनिधातुयुक्तेन तृचेन अन्ना-
द्यमन्नयोग्यं चरुपुरोडाशादिकं यागपर्याप्तं जनयति, तथा विराजं
विराड्छन्दसं अस्मिन्नहनि पृष्ठस्तोत्रे चिकीर्षितं जनयति । तथा एक-
विंशं एकविंशतिस्तोत्रीयात्मकं स्तोमं जनयति । अयमर्थः—पवमानः पू-
यमानस्सोमो अजीजनत् अजनयदिति दृश्यते । तच्च जननमपेक्षित-

मन्नाद्यादीनामेवेति (१)अर्धादप्यवसीयत इति ॥ ६ ॥

यत्प्रागवादिभ्यः देवतासारूप्यादस्य तृचस्य स्तोत्रीयेणाऽऽनुरूप्य-
मिति तत्प्रदर्शयन् अस्याऽनुरूपसंज्ञां निर्व्वकि—

पूर्व्वमु चैव तद्रूपमपरेण रूपेणाऽनुवदति तदनुरूप-
स्याऽनुरूपत्वम् ॥ ७ ॥

व्याख्यातमेतत् ॥ ७ ॥

एतद्वेदनफलमाह—

अनुरूप एनं पुत्रो जायते य एवं वेद ॥ ८ ॥

एतदपि सिद्धम् ॥ ८ ॥

(२)अन्तिमौ तृचौ संयुज्य स्तौति—

स्तोत्रीयानुरूपौ तृचौ भवतः प्राणापानानामवरुध्यै ॥९॥

गतमेतत् ॥ ९ ॥

अथ 'प्रयद्गाव आशुरये'ति पटृचद्वयं विदधाति—

पटृचौ भवतः ऋतूनां धृत्यै ॥ १० ॥

पूर्व्वोक्तृचद्वयानन्तरमेतौ द्वौ पटृचौ भवतः । पटृचो यस्मिन् स
तथोक्तः (३)'ऋक्पूरुषूः पद्यामानक्षे' इत्यसमासान्तः । तत इतरेतर-
सम्बन्धयोगे द्वन्द्वः । एतच्च द्वितयं पटृ संख्यायोगात् ऋतूनां धस्तन्ता-
दीनां षण्णां धृत्यै धारणाय कल्पते । एवं बहिष्यवमानस्याऽष्टादशस्तो-
त्रीया गताः ॥ १० ॥

अथाऽन्त्यं तृचं विधत्ते—

तृच उत्तमो भवति येनैव प्राणेन प्रयन्ति तमभ्यु-
चन्ति ॥ ११ ॥

'दिन्यन्ति सूरमिति तृचः तिस्र ऋचौ यस्मिन् स तथोक्तः ऋचि
त्रेचत्तरपदादिलोपदण्डसीति त्रिशब्दस्य सम्प्रसारणम् । उत्तरपदे
ऋकारस्य लोपः । स उत्तमः बहिष्यवमानस्याऽन्तिमो भवति । शिष्टं
स्पष्टम् ॥ ११ ॥

एवं स्तोत्रीयास्तु कृतान्तु यस्तोमस्तसम्पद्यते तं स्तोमं विदधानः
प्रतिष्ठाफलताञ्चाऽऽह—

एकविंश एव स्तोमो भवति प्रतिष्ठापै प्रतिनिष्ठति ॥१२॥

एकविंशतिसंख्याक एव स्तोत्रीयाणां समूह एकविंशस्तोमो विधिः । पञ्चदशाध्यर्द्धमिति एकविंशतिशब्दार्द्धं प्रत्ययेति विंशते-
र्द्धीतीति त्रिशब्दलोपः । स एवाऽस्य बहिष्पवमानस्य स्तोमो भवति ।
किमर्थम् ? प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठार्थम् । अतो यजमानः प्रतितिष्ठति । प्रतिष्ठा
आस्पदं तद्वान् भवति ॥ १२ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये सायणीचार्यविरचिते वेदार्थ-
प्रकाशे द्वादशाध्यायस्य सप्तमः खण्डः ॥

अथाऽष्टमः खण्डः ॥

अथ तस्मिन्नेव चतुर्थेऽहनि चत्वार्यज्यस्तोत्राणि । तत्र प्रथम-
स्याऽऽज्यस्य स्तोत्रीयं तृचं विदधाति—

‘जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृचिरि’त्याग्नेयमाज्यं भ-
वति ॥ १ ॥

‘जनस्य गोपा’ इति तृचमाग्नेयमग्निदैवत्यं आज्यं प्रथमाज्यस्तोत्रं
भवति ॥ १ ॥

अजनिष्टेति अजिघातुयोगात्पूर्ववच्चतुर्थेऽहनि(१) जनद्वल्लिङ्गात् अयं
तृचस्सङ्गत इति प्रतिपादयस्तस्य विशिष्टफलजननहेतुतामाह—

जनद्वद्वा एतदहर्त्यच्चतुर्थमन्नाथजनयति विराजञ्ज-
नयत्यकेविंशं शं स्तोमजनयति ॥ २ ॥

पूर्ववद्याख्येयम् ॥ २ ॥

अथ द्वितीयमाज्यस्तोत्रं दर्शयति—

‘अयं वां मित्रावरुणे’ति बार्हत्तं मैत्रावरुणम् ॥ ३ ॥

अयं वां मित्रावरुणेति तृचे(२) बार्हत्तं बृहत्सामसम्बन्धि मैत्रावरुणं
मित्रावरुणदेवताकं हि तृतीयमाज्यस्तोत्रं भवति । यदा ज्योतिष्टोमे पृष्ठ-
स्तोत्रे बृहत्साम क्रियते, तदेवाऽस्य तृचस्य प्रातस्सवने प्रयोगात् बार्ह-
त्तत्वम् ॥ ३ ॥

नन्वेवमत्र वैराजं साम पृष्ठस्तोत्रं कथमस्य तृचस्य तेन सङ्गतिरि-

१. जनद्वल्लिङ्गमेवाऽयं तृचस्स्यादिति. क. ख. पु.

२. मित्रस्य वरुणस्य देवता अस्येति मैत्रावरुणं बार्हत्तमपि भवति यदेति. ख. पु. ।

ति तथाऽऽह—

वृहदेतत्परोक्षं यद्वैराजं बार्हतमेव तद्रूपं निर्योतयति ॥४॥

यद्वैराजं साम एतत्परोक्षं(१) परोक्षेण रूपान्तरेण स्थितं वृहत्सामैवा
तथा च तैत्तिरीयके 'वृहद्य वा इदमग्रे रथन्तरञ्चाऽऽस्तामि'ति प्रक्रम्य
'ते द्वे भूत्वा रथन्तरञ्च वैरूपञ्च वृहदित्यमन्येतां तद्रूपमधत्त तद्वैराजम-
तिसृजते'ति वृहत्सकाशाद्वैराजस्योत्पत्तिः श्रूयते । तस्माद्वैराजस्य
बार्हतत्वाद्वार्हतं वृहत्सम्यन्ध्येष रूपं निर्योतयति निष्कृत्य प्रकाशयति॥

अथ तृतीयस्याऽऽज्यस्तोत्रोयं त्वचं विधत्ते—

'इन्द्रो दधीचो अस्थभिरि'ति दाधीचस्तृचो भवति ॥५॥

'इन्द्रो दधीच' इति दाधीचो दधीचसम्वन्धो त्वचः ऐन्द्रः तृतीये
आज्यस्तोत्रोयः कार्य्यः । दध्यङ् शब्दात्तस्येदमित्यर्थे अणि भसंज्ञायां
'अच' इत्यकारलोपे चाविति दीर्घत्वम् ॥ ५ ॥

अत्रेन्द्रो दधीच इति(२) शब्दसूचकं साध्यं फलमाह—

दध्यङ्वा आङ्गिरसो देवानां पुरोधानीय आसीदन्नं
चै ब्रह्मणः पुरोधा अन्नाद्यस्याऽव रुध्यै ॥ ६ ॥

दध्यङ्नाम आङ्गिरसोऽङ्गिरो गोत्र ऋषिर्देवानामन्यादीनां पुरोधा-
नीयः पुरस्ताद्धारणीय आसीत् अभवत् । स चाऽत्र दधीच इति पष्ठ-
न्तेन पदेन मन्त्रैः प्रकाशितः ब्रह्मणो ब्राह्मणजातेः अन्नं चै अन्नमेव पुरोधाः
पुरोधारणीयः । तस्माद्दधीच इत्यनेन पुरोधानस्मरणात् ब्राह्मणानां
पुरस्ताद्धारणीयस्य अन्नाद्यस्याऽनुं योग्यस्याऽन्नस्याऽवरुध्यै अवरो-
धनाय प्राप्स्यर्थ एतत्तृचकरणं भवति ॥ ६ ॥

अथ चतुर्थमाज्यस्तोत्रं दर्शयति—

'इयं वामस्य मन्मन' इत्यैन्द्राग्नम् ॥ ७ ॥

'इयं वामस्येति' त्वचः ऐन्द्राग्ने इन्द्रदेवताकं चतुर्थमाज्यस्तोत्रं
भवति ॥ ७ ॥

तत्रत्यं किञ्चिल्लिङ्गमनूय चतुर्थेऽहनि सङ्गतिं प्रदर्शयन् अ-
न्नाद्यफलमेवादिति स्तौति—

'इन्द्राग्नी पूर्यस्तुतिरभ्रादृष्टाष्टिरिवाऽजनी'त्यानुष्टुभी ॥

१. परोक्षेण रूपान्तरेणाऽवस्थितमिति. क. ख. पु.

२. चन्द्रसूचितमिति. क. ख. पु.

वै वृष्टिरानुष्टुभमेतदहर्षचतुर्थं समीक्ष्यौ विराजौ
दधात्यज्ञाद्याय स्तोमः ॥ ८ ॥

अस्मिन् तृचे अन्नाद्वृष्टिरिवाऽजनीति वृष्टिशब्दः श्रूयते । सा च वृष्टि-
रानुष्टुमी धागनुष्टुबिति श्रुतेरनुष्टुब्बाग्रूपा मध्यमिकाया चाचस्स-
म्बन्धित्यात् वृष्टेरानुष्टुभत्वव्यपदेशः । एतदहरानुष्टुभमनुष्टुप्छन्दस्कं
यच्चतुर्थं चतुस्सहस्रापूरकं दशरात्रिकं तृतीयमहः । अतो वृष्टिद्वारा तृच-
स्याऽनुष्टुप्सम्बन्धात्तत्र सङ्गन इत्यर्थः । अन्नाद्वृष्टिरित्यस्योपलक्षणायै-
वेन्द्राग्नी पूर्व्यस्तुतिरित्यादेरनुवादः । गायत्रीत्रिष्टुब्जगतीत्यतानि त्री-
ण्येव छन्दांसि पुरा आसन् । तानि षट्सहस्रानि पृष्ठान्यहानि प्राप्तुम्
समर्थान्यभवन्, ततो व्याप्युपायमालोक्य पुनरन्यानि त्रीणि छन्दांसि
अजनयन्, गायत्र्यास्तकाशादनुष्टुप्, त्रिष्टुभः पङ्क्तिः, जगत्या अति-
छन्दः । एवं गायत्र्याद्याः षट्संख्या भूत्वा पृष्ठानि षट्सहस्रानि क्रमेण व्या-
प्तुवन् । अतश्चतुर्थस्याऽह आनुष्टुभत्वम् । ब्राह्मणञ्च भवति-‘गायत्रं वै
प्रथममहस्त्रैष्टुभं द्वितीयं जागतं तृतीयमानुष्टुभं चतुर्थमिति । छन्द-
सामुत्पात्तिश्चैतरेयके समास्नायते—‘सा गायत्री गर्भमधत्त । साऽनुष्टु-
भमसृजत । त्रिष्टुभगर्भमधत्त । सा पङ्क्तिमसृजत । जगती गर्भमधत्त । सा-
ऽतिछन्दसमसृजते’ति । अत एव चतुर्थस्याऽह आनुष्टुभत्वम् । अत्र वृ-
ष्टिसम्बन्धितया अहस्सम्बन्धितया च अनुष्टुप्द्वयं प्रतीयते । अनुष्टुप्च
द्वात्रिंशदक्षरा । तत्राऽन्तिमे पादे द्वे अक्षरे अक्षराप्रस्थानीये । तत्र त्रिंशद-
क्षराण्येव शिष्यन्ते विराट् च त्रिंशदक्षरा तथा सत्यनुष्टुप्द्वयसंयोजनेन
द्वौ विराजावेव समीची सङ्गते दधाति विदधाति अन्नाद्यार्थम् । यद्यप्यत्र
अनुष्टुभो विभागेन विराट्त्वं नोकम्, तथाऽप्यन्यत्र शाखान्तरे(१) “द्वा
त्रिंशद् वा स्तोत्रीयास्त्रिंशदक्षरा विराडि”त्यादौ विभागः श्रूयते ।
तत्सामान्यादध्याप्येवं विभज्य विराट्त्वं द्रष्टव्यम् । एवमुक्तेषु चतुर्वा-
ज्यस्तोत्रेषु प्रागुक्त एकविंश एव(२) स्तोमो भवति । साम तु प्राकृतमेव
गायत्रं नान्यत् ॥ ८ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये सायणाचार्यविरचिते वेदार्थ-

प्रकाशे द्वादशाध्यायस्याऽष्टमः खण्डः ॥

१. द्वात्रिंशदेतास्ताषां यास्त्रिंशदिति. क. ख. पु.

२. स्तोमः कार्य इति. क. ख. पु.

अथ नवमः खण्डः ॥

अथाऽस्मिन्नेवाऽहनि माध्यन्दिनपवमानस्य प्रथमं तृचं प्रदर्शयति—

“पवस्व दक्षसाधन” इति गायत्री भवति सिध्वै॥१॥

गायत्र्युद्दस्का प्रतिपन्नवति गायत्रस्तृचो भवतीत्यर्थः । स च दक्षसाधन इति सिधि धातुनिष्पन्न इति श्रवणात् सिध्वै फलप्राप्त्यै सम्पद्यते ॥ १ ॥

अस्तवेवम् । काऽसायस्याऽहस्सङ्गतिरिति तत्राऽऽह—

यत् पवस्वेति तद्वृहतो रूपं वार्हतृं ह्येतदहः ॥२॥

‘पवस्व वाचो अमिय’ इति द्वितीयस्याऽहः प्रतिपन्नवतीति वार्हतेऽहनि दृष्टायात् ‘पवस्व दक्षसाधन’ इत्यत्र यत् पवस्वेति पदं तद्वृहतो रूपम् । एतच्चतुर्थमहश्च वार्हतं वृहत् पव, वैराज्यात्मनापस्थानात् । अतोऽस्मिन्नाहनि तृचस्य सङ्गतिः ॥ २ ॥

अथाऽन्यत्तृचं विधत्ते—

“तवाऽहं सोमरारण सख्य इन्दो दिवे दिवे । पुरूणि धम्रो निचरन्ति मामव परिधीरतितां इही”-
ति ॥ ३ ॥

तवाऽहमित्यादिकस्तृचोऽन्यस्तोत्रीयः । अतितां इहीति लिङ्गप्रदर्शनार्थं सर्वानुवादः ॥ ३ ॥

तस्य च लिङ्गस्य तात्पर्यं लिङ्गान्तरञ्च प्रदर्शयन् प्रयोजनञ्चाऽऽह—

अति ह्यापच्छकुना इव पक्षिमेत्याति ह्यपतत् ॥४॥

हि यस्मादस्मिन् चतुर्थेऽहनि त्रिरात्रमत्यायन् अत्यकामन् तस्मादतिहीति अति पूर्वो गत्यर्थ इति धातुः यस्मिन्स्तृचे स्तोत्रसङ्गत इत्यर्थः । तस्मिन्स्तृचे शकुना इव पक्षिमेति दृश्यते । शकुनाः पक्षिण इव पक्षिमवयमुपतनं कृतवन्तः स्म इति तस्यार्थः । अस्मिन्नाहनि वर्त्तमानो यजमानः अत्यपताञ्च त्रिरात्रमतिक्रम्य इदमहरगच्छत् तस्मादप्यनेनाऽह्ना तृचसङ्गत इत्यर्थः ।

तृचान्तरं विधत्ते—

पुनानो अक्रमीदभीति ॥ ५ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ५ ॥

ननु प्रकृतौ माध्यन्दिनपवमानस्याऽन्यस्तृचस्यैष्टुमस्तस्य ह्याने

कथमसौ गायत्रस्तुचस्सङ्गत इति तत्राऽऽह—

गायत्र्यः सत्यास्त्रिष्टुभो रूपेण तस्मात्त्रिष्टुभां
लोके कियन्ते ॥ ६ ॥

‘पुनानो अक्रमीदि’त्याद्याः गायत्र्यस्तयोऽपि त्रैष्टुमेन रूपेण यो-
गात् त्रिष्टुभो भवन्ति । किञ्च त्रैष्टुभं रूपं विश्वामृचा विचपाणरिति
विश्वशब्दः, गमदिन्द्रो वृषासुत इति वृषशब्दश्च वृषवद्वृषहवद्रयि-
मद्विद्वदिति हि विराट् त्रिष्टुभो रूपे परिगणितम् । तस्मात्त्रिष्टुभा-
मृचां लोके स्थाने कियन्ते ॥ ६ ॥

अथ प्रथमविहिते तुचे पूर्ववद्गायत्रं साम विधाय तदितिकत्त-
व्यतायोधकं ब्राह्मणञ्चातिदिशति—

गायत्रं भवति यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ७ ॥

सिद्धमेतत् ॥ ७ ॥

अथ पुनरावृत्ते(१) तस्मिन्स्तुचे सामान्तरं विधत्ते—

चतुर्णिधनमायर्वणं भवति चतूरात्रस्य धृत्यै ॥ ८ ॥

चत्वारि निधनानि आसत् सुवः ज्योतिः ई २३४५ इत्यवमात्म-
क्रान्ति यस्य तच्चतुर्णिधनमायर्वणमायर्वणा दृष्टं साम पवम्ब दक्षसा-
धन इत्यस्मिन्नेव तुचे गेयम् । तच्चतुस्संख्यायोगाच्चतूरात्रस्याऽनेनाऽह्ना
सहितस्य प्रायणीयादीनामह्नां चतुष्कस्य धृत्यै धारणाय भवति ॥ ८ ॥

अथ चतुस्संख्यायोगादेव चतुर्थेऽहनि सङ्गतमेतदित्याह—

चतुष्पदानुष्टुभाऽऽनुष्टुभमेतदहर्ग्यच्चतुर्थम् ॥ ९ ॥

निधनगतचतुष्के चतुष्पदा पादचतुष्टयोपेता अनुष्टुप् स्मर्यते ।
एतच्चतुर्थमहश्चानुष्टुभं अनुष्टुप्छन्दस्कमिति प्रागुपपादितम् । अतो-
ऽस्मिन्नहनि चतुर्णिधनं योग्यम् ॥ ९ ॥

एवं ह्यन्द्रोद्वारेण प्रशस्य ऋषिद्वाराऽपि प्रशंसति—

भेषजं वाऽऽयर्वणानि भेषजमेव तत्करोति ॥ १० ॥

आयर्वणान्ययर्वसम्बन्धीनि कर्माणि मन्त्रजातानि च भेषजं वै
भैषज्यसाधनानि खलु । तत्तस्मादयर्वसम्बन्धिना साप्ता भेषजं रोगा-
द्युपशमनं भैषज्यमेव करोति ॥ १० ॥

अथाऽस्मिन्नेव तुचे आवृत्ते सामान्तरं विधत्ते—

निधनकामं भवति ॥ ११ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ ११ ॥

एतत्सर्वकामावाप्तिहेतुरिति स्तौति—

एकं वा अन्येन निरुक्तेन निधनेन कामं सनोत्य-
थैतन्निधनकामं सर्वेषां कामानामवरुध्यै ॥ १२ ॥

निरुक्तेन निदर्शणेन स्पष्टमुक्तेनाभ्येन निधनेन धागिडेत्यादिना एक-
मेव कामं सनोति सम्मजते । अथशब्दस्तुशब्दार्थः । एतत्साम निधन-
कामं काम्यमाननिधनवत् । अत एवाऽस्यैषा संज्ञा । तस्मात्काम्यमाना-
निधनत्वात् पुरुषोऽयं कामं कामयते । सर्वेषां कामानां काम्यमानानां
फलानामवरुध्यै प्राप्स्यै भवति ॥ १२ ॥

'तवाऽहं सोमे'ति विहिते त्वं गातव्यं साम दर्शयति—

आष्टादंष्ट्रं भवति ॥ १३ ॥

अष्टादंष्ट्रेण ऋषिणा दष्टं साम आष्टादंष्ट्रम् । तच्च द्वयमास्ति ।
तत्रोत्तरं साम तवाहं सोममित्यस्मिंस्तुत्वे गातव्यम् ॥ १३ ॥

अस्य सामस्तार्वकं यद्ब्राह्मणमास्नातं स्तुत्यर्थं तद्ब्राह्मण्यतिदिशति—

यद्वाष्टादंष्ट्रस्य ब्राह्मणम् ॥ १४ ॥

'इन्द्रो वृत्रमहन्नेयादौहोषेति न्यगृह्णादि'त्यादेकं यद्ब्राह्मणमास्नातं
व्याख्यानञ्च तद्ब्राह्मण्यपि द्रष्टव्यमित्यर्थः ॥ १४ ॥

अथाऽऽदृष्टेऽस्मिंस्तुत्वे सामान्तरं विधत्ते—

आभीशवं भवत्पहो धृत्यै ॥ १५ ॥

द्वयोरभीशवयोर्मध्ये यदुत्तरमाभीशवं तदस्मिन् त्वे गेयम् । त-
च्चाऽहो धृत्यै धारणाय भवति ॥ १५ ॥

एतदेव (१)लोकप्रदर्शनेनोपपादयति—

यद्वा अघृतमभीशुना तदाधार ॥ १६ ॥

यत् सलु लोके अघृतं अघृष्टं शिथिलं भवति तदभीशुना शङ्कुना
दाधार पुरुषो धारयति । एवमत्राऽपि अभीशुना शङ्कुना साक्षाद्ब्रह्म-
मन्धि यदघृतमधारितं शिथिलं तदधारयति ॥ १६ ॥

अथाऽस्मिन् सामि दृश्यमानं गीतिविशेषमनुवदशस्मिन्नहनि स-
ङ्गतिमाह—

अनुतुन्नं गायति तथा ह्येतस्याऽहो रूपम् ॥ १७ ॥

अनुतुलमनुतोदयुकम् । अनुतोदो नामाऽभ्यासः । सकृत्प्रयुक्तस्यैव
अगवयवस्य (१) पुनः पुनरुत्पादन सवयव इन्द्रो ३ दा इवे १ दिवा इत्यादि
तद्युक्तं गायति । तथा खद्वेनस्याऽहो रूपं विराडनुतोदवदिति हि
चतुर्थस्याऽहो रूपं (२) प्राग्दर्शितम् ॥ १७ ॥

अथाऽस्मिन्नेव तृचे पुरनानृत्ते स्वःपृष्ठाख्यं साम विधत्ते—

चतुर्णिघनमाङ्गिरसं भवति चतुरात्रस्य धृत्यै ॥ १८ ॥

आ २ वा २ ३ ४ और हो वा ऊ २ ३ ४ पा ऊ १ ३ ४ पा ई २ ३ ४
हो इति चत्वारि निघनानि यस्य तच्चतुर्णिघनमाङ्गिरसं अङ्गिरसा इष्टं
साम स्वःपृष्ठाख्यं तथाहमित्यास्मिन्स्तु च गातव्यम् । तच्च चतुस्संख्या-
योगात् चतुरात्रस्य एतदन्तस्याऽहश्चतुष्टयस्य धृत्यै धारणाग भवति ॥

अस्मिन्साम्नि विद्यमानं किञ्चिद्विलङ्गमनूयाऽहो सङ्गतिमाह—

स्वः पृष्ठं तथा ह्येतस्याऽहो रूपम् ॥ १९ ॥

अस्मिन् साम्नि उपाख्यं दृश्यते । तयोः स्थाने उपास्थानेष्वन्यानि
निघनानीति प्रकृत्य स्वः पृष्ठं च पूर्वं उत्तरं इति गौतमधानञ्जण्यावि-
त्यन्तरस्योपास्थाने स्वरित्ययमादेशो भवति । अन्यतरस्य स्थाने त्वि-
डेति सूत्रकारणोक्तम् । तत्र हि इडानादेशे स्वः काशीत इति उभयमनुव-
र्त्तते । तस्मादेतत्साम स्वःपृष्ठम् । पृष्ठशब्दो मध्यवचनः स्वरिति पृष्ठे
मध्ये यस्य तत् स्वःपृष्ठम् । स्वदशब्दश्च ज्योतिर्मयः स्वर्गवाची । इद-
महश्च विराडात्मकेन छन्दसा ज्योतिषा सम्यक्षम् । तस्मादत्रैतत्सं-
ज्ञितम् । एतदेवाऽह—तथा ह्येतस्याऽहो रूपमिति ॥ १९ ॥

‘अथ पुनानो अकमीदि’त्यन्तिमे तृचे गेयं साम विधत्ते—

सत्रासाहीयं भवति ॥ २० ॥

एषोऽर्थः ॥ २० ॥

अस्य साम्नो भ्रातृव्याभिभवसाधनत्वं विवक्षुस्तदर्थमाख्यायिकया
सत्रासाहीयसंज्ञां निर्वक्ति—

यद्वा असुराणामसौढमासीत्तद्देवाः सत्रासाही-
येनाऽसहन्त सत्रैनानसक्ष्महीति तत्सत्रासाहीयस्य स-
त्रासाहीयत्वम् ॥ २१ ॥

यद्वै यत् खलु असुराणा सम्बन्धि असोद(१) परैरनभिभूतं आसीत्
पुरा तद्देवा सत्रासाहीयेन साम्ना साधनेनाऽसदन्त अभ्यभवन् । पद
अभिभवे इत्यस्मादेव धातोर्निष्ठाया(२) 'तीपसदलुमे'त्यादिनाऽस्य वि
कल्पेनेदत्वात्(३) 'यस्य विभावे' तीप्प्रतिषेधे(४) 'सद्विषहोरोदवर्णस्ये'
त्यकारस्य स्थाने ओकार । तदनन्तर देवा एनानमुद्यान् सत्रा सद युगप
देव सर्वान् असह्यमदि अभ्यभूमेत्येव-यन्त । तत्तस्मात् सत्रासाहीयस्या
ऽस्य साम्न सत्रासाहीयत्व सत्रासाहीयमिति सज्ञा सज्ञाता ॥ २१ ॥
यस्मादेव तस्मादद्यतनोऽपि स्तोता अनन भ्रातृव्यमभिभवतीत्याह—
सत्रा भ्रातृव्य सहते सत्रासाहीयेन तुष्टवानः ॥ २२ ॥

सत्रासाहीयेन तुष्टुवान् स्तुतवान् यजमान सत्रा साकम्, साक
सत्रा सन सहति निष्पन्दु । सद युगपदेव यत्तेनैव भ्रातृव्य शत्रु सहते
मभिभवति ॥ २२ ॥

अथाऽधारभूतानामृचा छन्दोद्वारेण स्तौति—

गायत्रीषु स्तुवन्ति प्रतिष्ठापै ब्रह्मवर्चसाय येनैव
प्राणेन प्रयन्ति तमभ्युद्यन्ति ॥ २३ ॥

'पुनानो अक्रमीदि'त्याद्यासु गायत्रीषु सत्रासाहीयेन स्तुवन्त्युद्गा
तार । त्रिपदाश्च गायत्र्य लोके च त्रिपदा. पृष्ठयादय प्रतिष्ठिता दृष्टा ।
अतस्तत्स्तवन प्रतिष्ठायै यजमानस्य प्रतिष्ठानाय सम्पद्यते ब्रह्मवर्च
साय च । तजोविशपो हि ब्रह्मवचस गायत्री तु तेजोरूपेणाऽग्निना सह
प्रजापतिमुत्पादुत्पन्ना । तस्मात्तेजोरूपति ब्रह्मवर्चसहेतुरित्यर्थ । अपि
च प्राणापान-व्यानरूपण वृत्तित्रयरूप । प्राणापानवायुरथ त्रिपदा गायत्रा ।
अत्र चाऽऽद्यन्तयोस्तृचयोर्गायत्रत्वात् येनैव प्राणेन गायत्रीरूपेण प्रयन्ति
स्तोत्र प्रारभन्ते तमेवाऽभिलक्ष्योद्यन्ति समापयन्ति । एव सत्युपक्रमोप
सहाय्योरैकरूप्य जायत इत्यर्थ ॥ २३ ॥

यदुक्तं प्राक् स्तोत्रीयाविधानसमये गायःसू सत्यत्रिष्टुभो रूपेण
तस्मात्लोक क्रियन्त इति, तदत्र विवृणोति—

वृषण्यत्यो गायत्रयो भवन्ति तदु चैष्टुमाद्रूपाञ्ज-
यन्ति स्तोम ॥ २४ ॥

'गमदिन्द्रो वृषा सुतमि'ति वृषण्यत्यो वृषण्यच्छन्दयुक्ता गायत्रयो भ

यन्ति । तदु तस्मादेव कारणात्त्रैष्टुमाद्रूपाधयन्ति नाऽपगच्छन्ति 'एव
स्य दक्षसाधनः' 'तवाहं सोमे'ऽत्यनयोन्निरावृत्तयोः प्रत्येकं सामग्र्यं विहि-
तम् । तत्रैकैरस्य साम्नस्तिस्तिस्तिस्तिः स्तोत्रीया इत्यष्टादश सम्पद्यन्ते ।
अन्तिमस्य सत्रासाहीयस्य तिस्र इत्येकविंश एव स्तोमो भवति ॥२४॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे माधवीये सायणाचार्यविरचिते
वेदार्थप्रकाशे द्वादशाध्यायस्य नवमः खण्डः ॥

अथ दशमः खण्डः ॥

अथ पृष्ठानां (१) माघस्य स्तोत्रस्य स्तोत्रीयं त्वं दर्शयति—

'पिया सोमामिन्द्र मन्दतु त्वा यन्ते सुपाव हर्षश्चाद्रिः ।
सोतुर्वाहुभ्यां सुयतो नार्वे' इत्यतमिव वै चतुर्थमह-
स्नस्यैव यत्यै ॥ १ ॥

प्रथमस्य पृष्ठस्तोत्रस्य 'पिया सोमामिन्द्रे'ति वैराजस्तुचः स्तोत्रीयः ।
सत्र च सुयतो नार्वेति सुष्ट यमनं प्रतीयते । चतुर्थमहश्चायतमिव वै
अनियतमसम्बद्धमिव खलु । प्रथमस्य त्रिरात्रस्य समाप्तत्वात् । तेन
सह सम्बन्धानुपपत्तेः । आगामिनश्चाहोऽननुष्ठितत्वादेवाऽभावात् ।
यतो नियमनसापेक्षस्य तस्यैवाऽहो यत्यै नियमनाय भवति ॥ १ ॥

प्राकृतमेव द्वितीयं पृष्ठमिति मन्वानो ब्रह्मणः पृष्ठस्य स्तोत्रीयं त्वं
दर्शयति—

विद्वाः पृतना अभिभूतरत्नर इत्यतिजगती वर्षीय-
यश्छन्द आक्रमतेऽनपन्नं शाय ॥ २ ॥

विश्वाः पृतना इत्यतिजगती द्वापञ्चाशदक्षरा अतिजागनस्तृचो
(२) ब्रह्ममामाधारतया कार्य इत्यर्थः । एवं वर्षीयो वृद्धतरं छन्दश्चतुर्थम-
हश्चाऽऽक्रमते अवलम्बने । किमर्थम् ? अनपन्नं शाय अपन्नं शयः पतनं
भृशुन्नशु अघः पतन इति धातुः अनघः पाताय ॥ २ ॥

एतदेव विवृणोति—

अपन्नं शय इव वा एव यज्ज्यायसश्छन्दसः कनी-
यश्छन्द उपैति यदेपा चतुर्थेऽहन्यतिजगती क्रियते ऽन-
पन्नं शाय ॥ ३ ॥

तृतीयमहर्जागतम् । इदं चतुर्थमहरानुष्टुभम् । जगती चाऽष्टाचत्वारिंश
दक्षरत्वात् ज्यायसी । तथा सति ज्यायसो वृद्धतराच्छन्दसः तृतीयेऽहनि
प्रयुक्तत्वात् कनीयोऽवपीयो न्यूनतरमानुष्टुभं छन्दश्चतुर्थेऽहन्युपैत्युपग-
च्छति एषोऽपमंश इव वै अधःपात इव खलु । यथा खलुप्रतात(१) ध्वजा-
प्रात् अधोदेशे पतति तद्वत् । एवं सति चतुर्थेऽहनि अतिजगती जगत्या
अपि चतुर्भिरक्षरैरधिकं छन्दः क्रियत इति यत् तदनपमंशाय अपमं-
शाभावार्थम् ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थस्य पृष्ठस्तोत्रस्य स्तोत्रीयं वृचं दर्शयति—

यो राजा चर्षणीनामिति ॥ ४ ॥

स्पष्टार्थः ॥ ४ ॥

अत्र राजशब्देन सूचितं फलमाह—

राजो ह्येतर्हि वाचोऽगच्छन् राज्यमेवैतया यज-
मानं गमयन्ति ॥ ५ ॥

एतर्हि एतस्मिन्चतुर्थस्याहोऽनुष्ठानसमये राज्ये जनपदे खलु वाचः
पैतृर्द्वादशाहोऽनुष्ठीयत इति । एवं रूपाणि वाक्यान्यगच्छन् । एतया
राजशब्दयुक्तया स्तोत्रीयया तद्राज्यमेव यजमानं गमयन्ति स्तोतारः ॥ ५ ॥

अथ चैराजं विधित्सुस्तस्य निधनं शुलोके सूर्यस्य दृढावस्थि-
तिहेतुमिति स्तौति—

छन्दोभिर्वै देवा आदित्यं स्वर्गं लोकमहरन्
स नाऽऽधिपत तं चैराजस्य निधनेनादृहं हंस्तस्मात्
पराङ् चार्वाङ् चादित्यस्तपति पराङ् चार्वाङ्चे-
कारः ॥ ६ ॥

छन्दोभिर्गायत्र्यादिभिः खलु पुरा देवाः आदित्यं सूर्यं स्वर्गं लो-
कमहरन् प्रापयन् । आप्नुवन् स आदित्यस्तत्र नाऽऽधिपत नावतिष्ठते
धृङ् अवस्थान इति धातुः । एवमधृतं तमादित्यं चैराजस्य साक्षो निध-
नेन ईरत्येवं अरुदन् दृढीकृतवन्तः दृढं स्थापितवन्त इत्यर्थः । द्वि यस्मा-
दयमीकारः पराङ् च चार्वाङ् भवति । अकारवत् कण्ठस्थानोऽपि न भवति
उकारवन्नेष्ट्योऽपि भवति । उभयोरन्तयोर्लब्धत्वाद्भुभयोरन्तरालवृत्ती
सन् उभयनिर्देशमलमत इति पराङ्त्वमर्वाङ्त्वं चेकारस्य । तस्मादेव
कारणाद्वाङित्योऽपि पराङ् च पराङ्मुखः स्वर्गादुपरितनानपि लोकान्

अर्वाङ्घ्र्य अवाङ्मुखश्च सन् अधस्तनानपि लोकान् तपति प्रकाशयति
अथ तस्मिन् सास्त्रे प्रस्तावानन्तरं मत्स्वा हाऊ(१) इत्यादिका ये
दश विष्टम्भास्ताननूय स्तौति—

प्रस्तावं प्रस्तुत्य विष्टम्भान्विष्टभोति मुखेन एव
तदन्नाद्यं धत्ते मुखं हि सास्त्रः प्रस्तावः ॥ ७ ॥

होइ या होइ या ३४३ दिग्य इति प्रस्तावभागः । तं प्रस्तुत्य उच्चार्य
मत्स्वाहाऊ इत्यादिकान् विष्टम्भोति विष्टम्भसंज्ञकानेतान् ब्रूयात् तत्त-
था सति मुखतो मुखप्रदेशे आस्य एव अन्नाद्यं धत्ते धारयति । प्रस्ताव-
भागः खलु सास्त्रो मुखं तत्र विष्टम्भानां धारणात् ॥ ७ ॥

एतदेव विवृणोति—

दशकृत्वो विष्टभोति दशाक्षरा विराड् वैराजमन्न-
मन्नाद्यस्याऽवर्ह्यै ॥ ८ ॥

मत्स्वा हाऊ ओजो हाऊ सद्दो हाऊ यलं हाऊ इत्यादिभिर्दशकृत्वो
दशवारं विष्टम्भोति एतदादिकान् दशसंख्याकान् विष्टम्भान् कुर्यात् वि-
राद्दशाक्षरा दशेन्द्रियवता किं तेन दशविधत्वाद्मन्त्रं वैराजं विराट्-
सम्बन्धि । एवं संख्याद्वारेण दशकृत्वो विष्टम्भमन्नाद्यस्याऽवर्ह्यै अव-
रोधनाय भवति ॥ ८ ॥

एवमुत्तरयोरपि पादयोः प्रारम्भे एते विष्टम्भाः कार्य्याः इत्यभि-
प्रायेणाऽऽह—

त्रिंशत्कृत्वो विष्टम्भोति भूयसोऽन्नाद्यस्याऽवर्ह्यै ॥ ९ ॥

विराजो हि दशाक्षरास्त्रयः पादाः । तत्र प्रतिपादं दशकृत्वो विष्टम्भने
सति त्रिंशत्कृत्वः त्रिंशद्वारं विष्टभोति(२) विष्टम्भं कृतवान् भवति
तच्च भूयसो बहुतरस्याऽन्नाद्यस्याऽवर्ह्यै भवति ॥ ९ ॥

अत एवंगुणविशिष्टं साम पिबा सोममिति तृचे विधाय समुच्चित्य
स्तौति—

वैराजं साम भवति विरादसु स्तुवन्ति वैराजा
विष्टम्भाः समीचीर्विराजो दधात्यन्नाद्याय ॥ १० ॥

वैराजाख्यं साम 'पिबा सोम'मित्यस्मिन् तृचे पृष्ठस्तोत्रतया कार्य्यम् ।

१. इत्यादिकान् दश विष्टम्भानाधाननूयेति. क. ख. पु. ।

२. विष्टम्भः कृतो भवतीति. क. ख. पु.

अतस्सामैव विराट् तथा विराट्सु विराट्छन्दस्कास्वृक्षु स्तुवन्ति ।
विष्टम्भाश्च वैराजाः दशसंख्यायोगादयमप्यन्या विराट् । अत एव विरा-
जः समीचीः समन्तात्समूहीकृताः दधाति अन्नाद्यार्थम् ॥ १० ॥

अथाऽस्मिन् साम्नि दृश्यमानं गानविशेषं प्रदर्श्य स्तौति—

अनुतुन्नं गायति रेतोधेयायाऽनुतुन्नाद्दि रेतो धी
यते ॥ ११ ॥

अनुत्वा अनुत्वेत्यादिकोऽभ्यासोऽनुतोदस्तद्युक्तं गायति । किमर्थम् ?
रेतोधेयाय रेतसः अपत्यहेनोर्वीर्यस्य आधानाय निपेकार्थम् । कथम-
नुतोदाद्रेतस आधानमित्याशङ्क्य लोकप्रसिद्धिमेव तत्र प्रमाणयन्ति-अनु-
तुन्नाद्धीति । अनुतुन्नात् योन्यां(१) शेफसः प्रक्षेपणप्रतिक्षेपणरूपाद-
नुतोदनात् पुनः पुनरभ्यासात् खलु लोके रेतो धीयते आधीयते निवि-
च्यते अतोऽत्रापि क्रियमाणोऽनुतोदो रेतोधेयाय भवतीति ॥ ११ ॥

अथ वैराजस्तोत्राङ्गमग्निमन्थनं विधत्ते—

दक्षिण ऊरावुद्गातुरग्निं मन्थन्ति दक्षिणतो हि रेतः
सिच्यते ॥ १२ ॥

उद्गातुर्दक्षिणे ऊरौ अधरारणि तिरश्चीं स्थापयित्वा तत उत्तप-
रण्या अग्निं मन्थन्ति दक्षिणतश्चरारस्य दक्षिणाद्धीर्हि रेतः सिच्यते
तस्माद्वीर्ययति दक्षिणे ऊरुदेशे अग्निर्मन्थनीयः ॥ १२ ॥

तस्य कालं विधत्ते—

उपाकृतेऽहिङ्कृते मन्थन्ति जातमभिहिङ्करोति ॥ १३ ॥

उपाकृते अघ्वर्युणा स्तोत्रोपाकरणेकृते, अहिङ्कृते हिङ्कारे चाऽकृते
मन्थन्ति । जातमग्निमभिलक्ष्य हिङ्करोति जातस्याऽग्रेरुपरि हिङ्कारं कुर्या-
त्(२) 'वैराजस्य स्तोत्र उपाकृते उपर्यनूरा शकलमिधाय तृणे च तस्योप-
रि तिरश्चीमरणि निधायऽभ्यासं प्रजननं कृत्वा त्रिः प्रदक्षिणमभिमन्थे-
दि'त्यादिकं सूत्रमत्राऽनुसन्धेयम् ॥ १३ ॥

अस्तु जातस्य तस्योपरि हिङ्कारः, किं तत इत्याह—

तस्माज्जातं पुत्रं पञ्चोऽभिहिङ्कुर्वन्ति ॥ १४ ॥

यस्मादेवमुद्गाता जातमभिहिङ्कृतवान् तस्मादेव जातमुत्पन्नं पुत्र-
मभिहिङ्कुर्वन्ति पञ्चवः ॥ १४ ॥

जातस्याग्नेः कस्मिन्नग्नौ प्रहरणमिति ब्रह्मवादिभिः कृतां मीमांसा-
माह—

तस्मै जातायाऽग्नीमाहुंसन्त गार्हपत्ये प्रहरामा ३

आग्नीध्रा ३ आहवनीया ३ इति ॥ १५ ॥

तस्मै जातायाऽग्ने तदर्थं ब्रह्मवादिनोऽग्नीमांसन्त पूजितविचारव-
चनो मीमांसाशब्दः विचारितवन्त इत्यर्थः । कथमिति किमेतमग्निं गार्ह-
पत्ये प्रहराम ? स हि सर्वेषामग्नीनां योनिः, किं वा आग्नीध्रे ? आग्नीध्रो-
धिष्यगतेऽग्नौ प्रहराम प्रक्षिपामा सोमे ह्याग्नीध्रो यो मुख्यः आहवनीयो-
द्वानेतत् एवोद्धारात् । श्रूयते हि “यदाहवनीये उद्धायेदाग्नीध्रोद्धरे”-
दिति । अथवा आहवनीये प्रहराम ? स हि सर्वासामाहुतनिमाधार
तया प्रधानभूत इत्येवं ब्रह्मवादिनः संशयापन्ना आसन् । त्रिष्वपि वाक्ये
‘पुविचार्यमाणानामिति प्लुतिः ॥ १५ ॥

एवं विदुषां संशयं दर्शयित्वा तत्र कर्त्तव्यं पक्षमाह—

आहवनीये प्रहरन्त्येतदायतनो वै यजमानो यदा-
हवनीये स्वमेव तदायतनं ज्योतिष्मत्करोति ॥ १६ ॥

तमग्निमाहवनीये प्रहरन्ति प्रक्षिपेयुः आहवनीयोऽग्निरिति यत् एत-
दायतनो वै एतदायतनं स्थानं यस्य तथाविधः खलु यजमानः । तत्तथा
सति स्वं स्वकीयमेवाऽऽयतनं प्रह्वियमाणेनाऽग्निना ज्योतिष्मत्करोति
अतिशयेन ज्योतिर्युक्तं विदधाति ॥ १६ ॥

एतद्वेदनं फलवदित्याह—

ज्योतिष्मान् ब्रह्मवर्चसी भवति य एवं वेद ॥ १७ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ १७ ॥

जातेनाऽग्निना होमं विधत्ते—

अभिजुहोति शान्त्यै ॥ १८ ॥

यजमानस्य देहशान्त्यै अभिजुहोति ॥ १८ ॥

प्रहृतस्याग्नेरुपरि आज्येन होमं विधत्ते—

आज्येनाऽभिजुहोति तेजो वा आज्यं तेज एव
तदात्मन्धत्ते ॥ १९ ॥

प्रहृतमग्निमभि आज्येन जुहोति (१) “तृतीया च होश्छन्दसी”ति जुहोतेः

कर्मणि तृतीया । आज्यं जुहुयादित्यर्थः । अग्नेस्तेजसो वृद्धिहेतुत्वादाज्यं तेज एव । तथा च (१) यदाज्येन जुहोति तत्तेन तेज एवात्मन्धत्ते ॥ १९ ॥ तस्मिन् होमे मन्त्रं विधाय तस्य विशिष्टफलहेतुतां दर्शयति—

“मेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो न” इति विराजाऽभिजुहोत्यन्नं विराडन्नायस्याऽवरुध्यै ॥ २० ॥

‘मेद्धो अग्ने’ इति विराजा विरादुच्छन्दसा ऋचा अभिजुहोति । गतमन्यत ॥ २० ॥

अथ तृतीयस्य पृष्ठस्तोत्रस्य ‘विश्वाः पृतना’ इति यस्तुचो विहितस्तत्र गातव्यं साम विधत्ते—

त्रैशोकं ब्रह्मसाम भवति ॥ २१ ॥

त्रिशोकेन दृष्टं साम त्रैशोकम् । तद्ब्रह्मसाम ब्रह्मणः स्तोत्रे पृष्ठत्वेन कार्यम् ॥ २१ ॥

अथाऽस्याऽऽधारभूतानामृचां छन्दोद्वारेण स्तौति—

अतिजगतीषु स्तुवन्त्यह उत्क्रान्त्या उद्रा एतेनाऽह्ना क्रामन्ति ॥ २२ ॥

अतिजगतीषु द्वापञ्चाशक्षरासु जगतीमतीत्य वर्त्तमानासु ऋक्षु ‘विश्वाः पृतना’ इत्यादिषु स्तुवन्ति । किमर्थम् ? अहोऽस्य चतुर्थस्य उत्क्रान्त्यै उत्क्रान्तिरुर्ध्वगतिः । स्वर्गस्य प्राप्तिरिति यावत् । उत्क्रान्तिसाधनताया इत्यर्थः । जगत्या अप्यूर्ध्वगतेन छन्दसा योगादेतेन चतुर्थेनाऽह्ना उत्क्रामन्ति वै ऊर्ध्वं गच्छन्ति स्वर्गप्राप्त्यर्थम् ॥ २२ ॥

अथैतन्निधनद्वारा पापक्षयहेतुरिति स्तौति—

दिवेति निधनमुपयन्ति पाप्मनोऽपहृत्या अप-

पाप्मानं पुंहते त्रैशोकेन तुष्टुवानः ॥ २३ ॥

‘ओ इदी २३४ वा’ इति ह्यस्य निधनमुपयन्ति उपगच्छन्त्युद्रातारः पाप्मनः पापस्याऽपहृत्यै अपक्षयार्थम् । पुशब्दस्य दृष्टिबचनत्वात्तमो विदारकत्वम् । पापं तेन विनाश्यत इत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मादनेन त्रैशोकेन साक्षात् तुष्टुवानः स्तुवन् पाप्मानमपहते अपहन्ति विनाशयति ॥ २३ ॥

अथ चतुर्थस्य पृष्ठस्तोत्रस्य साम विधत्ते—

भारद्वाजस्य पृथन्यछावाकसान भवति ॥ २४ ॥

भारद्वाजस्य पृश्नीति पदद्वयसमुदायात्मिका साम्नः संज्ञा ।
तत्संज्ञं साम अच्छावाकसाम(१) अच्छावाकस्य पृष्ठस्तोत्रं 'यो राजा
चर्षणीना'मिति वृत्ते कार्यम् ॥ २४ ॥

अथैतास्तौति—

अन्नं वै देवाः पृश्नीति वदन्त्यन्नाद्यस्याऽवरुध्यै ॥ २५ ॥

नानावर्णमन्नमेव देवाः पृश्नीति प्रातर्वर्णावात् पृश्निशब्दाभिधेयमिति
वदन्ति । अत एव पृश्नि क्रियमाणं साम अन्नाद्यस्य प्राप्त्यै भवति ॥ २५ ॥

अथाऽभ्य साम्नोऽह्ना सङ्गतिमाह—

इहामिरैडं तथा ह्येतस्याऽहो रूपं स्तोमः ॥ २६ ॥

इहा २३ भा ३४३ औ २३४५ इहा इत्यनेन युक्तमिहामिरैडम् । तथा
हि तादृशमेव खल्वेतस्य चतुर्थस्याऽहो रूपमिहामिरैडञ्चतुर्थस्येति
पतेषु पृष्ठस्तोत्रेषु पूर्वोक्त एव एकविंशः स्तोमः कार्यः ॥ २६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्य दशमः खण्डः ॥

एकादशः खण्डः ॥

अथाऽऽर्भवपवमानस्य प्रथमं तृचं दर्शयति—

'परिप्रिया दिवः कविरि'ति परिवृत्यो भवन्त्यन्तो वै
चतुर्थमहस्तस्यैताः पर्याप्त्यै ॥ १ ॥

'परिप्रिया दिवः कवि'रित्याद्यास्तिष्ठस्तोत्रीयाः परिवृत्यः परिश-
ब्दयुक्ता भवन्ति । चतुर्थमहश्चान्तो वै चतुरात्रापेक्षयाऽन्त एव । अतस्त-
स्याऽन्त्यस्याऽहः पर्याप्त्यै परिसमाप्त्यै एताः परिवृत्यो भवन्त्यनुगुणा
इत्यर्थः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं तृचं दर्शयन् अनेनाऽह्ना सङ्गातेमप्याह—

त्वयं ह्यह्ना दैव्येति त्वमिति बृहतो रूपं बार्हतं ह्येतदहः

त्वं ह्यह्नेत्ययमर्धस्य द्वितीयस्तृचः । कथमस्याऽह्ना सङ्गतिरिति ?
उच्यते—तत्र त्वमिति युष्मच्छब्दोद्भूयते न बृहतो बृहत्साम्नो रूपम्,

तद्योन्वा'त्वामिद्धि हवामहे' इति युष्मच्छब्ददर्शनेन तद्रूपत्वावगतेः । एत-
च्चतुर्यं महरपि बाह्वन्तं बृहत्प्रभवेन वैराजेन साम्ना युक्तत्वात् । अत-
स्त्वमिति बृहतो रूपेण युक्तस्तुचश्चतुर्येऽहनि सङ्गत इत्यर्थः ॥ २ ॥

अथ तृचान्तरं विधत्ते—

सोमः पुनान ऊर्मिणा व्यंवारं विधावति । अग्रे वाचः
पवमानः कनिकददिति ॥ ३ ॥

सोमः पुनान ऊर्मिणेत्ययमार्भवस्य तृतीयस्तुचः ॥ ३ ॥

अग्रे वाच इति पदद्वयसूचितमर्थमुपादाय स्तौति—

अग्रं छेतर्हि वाचोऽगच्छन्नग्रमेवैतया यजमानं
गमयन्ति ॥ ४ ॥

एतर्हि एतस्मिन् काले चतुर्यस्याऽहोऽनुष्ठानसमये (१) अग्रे प्रशस्तं
वाचोऽगच्छन् । अत एतया स्तोत्रीयया यजमानमेवाऽग्रं श्रेष्ठ्यं गमय-
न्ति प्रापयन्ति ॥ ४ ॥

अथाऽन्यं तृचं विधत्ते—

“पुरो जितीवो अन्धस” इति विराजौ वैराजं छेतदहः ॥ ५ ॥

‘पुरोजितीवो अन्धस’ इत्यार्भवस्य चतुर्यस्तुचः । तस्मिन् तृचे द्वे
विराजौ भवतः—पद्या चाऽश्वस्या चेति उत्तरत्र प्रदर्शयिष्यते । एतदहश्च
वैराजं विराट्सम्यक्षम् । अतोऽस्मिन्नहनि अयं तृचः सङ्गत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

(२) अथाऽपरं तृचं विधत्ते—

‘सोमः पवते जनिता मतीना’ इति प्रातस्सवने षोड-
शिनं गृहीतं तं तृतीयसवने प्रजनयन्ति ॥ ६ ॥

‘सोमः पवते जनिते’ इति जनिधानुयुक्तस्तुचः पञ्चमः । प्रातस्सवने
धाराप्रहाणामुत्तमः षोडशी प्रहो गृह्यते । तं गृहीतं षोडशिनं तृतीयस-
वने प्रजनयन्ति होमयोग्यं जनिधानुयुक्तेनाऽनेन तृचेनोत्पादयन्ति । स-
हि षोडशी तृतीयसवने ह्रियते । तस्माद्वोमायोत्पादयन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥

ननु जागतं तृतीयसवनम्; अथ त्रैष्टुभस्तुचः कथमसौ तत्र सङ्ग-
च्छत इत्यत आह—

त्रिष्टुभः सत्यो जगत्यो रूपेण तस्माज्जग-
तीनां लोके क्रियन्ते ॥ ७ ॥

सौमः पवत इत्याद्यास्त्रिष्टुमः सत्योऽपि जागतेन रूपेण योगज्ज-
गत्यः । तस्माज्जगतीनां स्थाने प्रयुज्यन्ते । किंज्जोगत रूपम् ? उच्यते
'आतिष्ठति वृषभो गोषु जान'न्निति गोशब्दवत्त्वम् । तथाहि पूर्व परिगणि
तं दिग्बद्धोमद्वयमवत्तृतीयस्याऽद्धो रूपमित्यादिना ॥ ७ ॥

अथ परिप्रियेति प्रथमे तृचे पूर्ववद्गायत्रं साम विधाय तस्मादक
ब्राह्मणमप्यतिदिशति—

गायत्रं भवति यदेव गायत्रस्य ब्राह्मणम् ॥ ८ ॥

सिद्धमेतत् ॥ ८ ॥

अथाऽऽवृत्ते(१) तस्मिन्तृचे सामान्तरं विधत्ते—

और्णापवं भवति ॥ ९ ॥

ऊर्णायुना दृष्टं साम और्णायवम् । तदस्मिन् परिप्रियेति तृचे गा
तव्यम् ॥ ९ ॥

इदं(२) स्वर्गप्राप्तिसाधनमिति प्रतिपिपादयिषुस्तदर्थमाख्यायिका-
माह—

अङ्गिरसो वै सत्रमासत तेषामासः स्पृतः स्वर्गो-
लोक आसीत्पन्थानं तु देवयानं न प्राजानभुंस्तेपाङ्गल्या-
ण आङ्गिरसो ध्यायमुदव्रजत् स ऊर्णायुं गन्धर्वमप्सर-
सां मध्ये प्रेङ्खयमाणमुपैत्स इयामिति यां यामभ्यदिश-
त्सैनमकामयत तमभ्यवदत्कल्याणा ३ इत्यासो वै वः
स्पृतः स्वर्गो लोकः पन्थानं तु देवयानं न प्राजानीधेदं
साम स्वर्गं तेन स्तुत्वा स्वर्गं लोकमेष्यथ मा तु वोचो-
हमदर्शामिति ॥ १० ॥

अङ्गिरसः खलु पुरा ऋषयः सत्रयागमन्वतिष्ठन् । तेषामङ्गिरसां त-
द्यागफलभूतः स्वर्गाण्यो लोक आसः पर्याप्तः स्पृतः प्रियदेतुआसीत् ।
स्पृ प्रीतिचलनयोरिति धातुः । (३) देवयानं देवा यान्त्यनेनेति देवयानः तं
देवयानं तु पन्थानं स्वर्गस्य मार्गं न प्राजानन् (४) ताऽवबुध्यन्त । एवम-
जानतां मध्ये कल्याणनामाऽऽङ्गिरसः ध्यायं, ध्यैच्छिन्तायामित्यस्मात् ण

१. तास्मन्नेवेति क. पु. । २. आतपादयितुमिति. क. ख. पु. ।

३. देवयानः देवान् प्रतिपद्यतेऽनेनेति देवयान इति. क. ख. पु.

४. नाऽवबुध्यन्तेति. क. पु. ।

मुल् प्रत्ययः । ध्यात्वा ध्यात्वा कोऽसौ देवयानः पन्था इति विचार्य वि-
चार्य उदग्रजदुर्द्धमगच्छत् । स कल्याण आङ्गिरसः क्रियन्तं देशं गन्था
अन्तरिक्षलोके ऊर्णायुं (१) एतत्संज्ञ गन्धर्व्वं अप्सरसां मध्ये प्रेक्ष्यमाणं
(२) दोलया विहरन्तं उपैत् उपागच्छत् । स गन्धर्व्वं इयां प्राप्नुयामिति
यां यां स्त्रियमभ्यदिशत् अभ्यध्यायत् सा सा एनं गन्धर्व्वमकामयत् ।
एवमप्सरोभिः सह कीडन् गन्धर्व्वं स्तं कल्याणमाङ्गिरसमभिलक्ष्य अव-
ददब्रवीत्-कल्याणा ३ इति हे कल्याण इति सम्बोधय (३) दूराद्भूते चेति
प्लुतः । एवं सम्बोधयेदमब्रवीत्-यो युष्माकं पञ्चकलभूतः स्वर्गो लोक
आसी वै प्राप्तः स्पृतः प्रीतिकरश्चाऽभूत् । देवयानं तु पन्थानं यूपं न प्रजा-
नीथ । तत्रेदं साम स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गप्राप्तिसाधनम् । तेन साप्त
स्तुत्वा स्वर्गं लोकमेष्यथ प्राप्स्यथ । यदि त्वां कश्चिदप्राक्षीत् तस्मै अ-
हमेवाऽदृशमिति अदर्शं अज्ञासिपमिति मा घोचः, अपि तु ऊर्णायुः गन्ध-
र्व्वः प्रावोचदिति ब्रूहीति ॥ १० ॥

एवं गन्धर्व्वेणोक्तः किं कृतवानिति तदाह—

स ऐत्कल्याणः सोऽब्रवीदासौ वै नः स्पृतः स्वर्गो लो-
कः पन्थानं तु देवयानं प्रजानीम इदं साम स्वर्ग्यं
तेन स्तुत्वा स्वर्गं लोकमेष्याम इति कस्तेऽवोचदित्प्रहमे-
वाऽदर्शमिति तेन स्तुत्वा स्वर्गं लोकमापन्नहीयत कल्या-
णोऽनृतं हि सोऽवदत्स एषः श्वित्रः ॥ ११ ॥

एवं गन्धर्व्वेणोक्तः स कल्याणः ऐत् पुनरङ्गिरसां समीपमागच्छत्
आगत्य च सोऽब्रवीत् नः अस्माकं स्वर्गो लोक आप्तः स्पृतश्च किल । देव-
यानं तु पन्थानं न प्रजानीमो वयम् । इदमौर्णायिकं साम स्वर्ग्यं स्वर्गसाध-
नं देवयानस्य पथो लम्भकम्, तेन स्तुत्वा वयं स्वर्गं लोकमेष्यामो गमि-
ष्याम इति । एवं कल्याणेनोक्ते अङ्गिरसः अपृच्छन् ते तव क. पुरुषोऽशो-
चदुक्तवानिति । न कश्चिदवोचत् अहमेवैतत् साम स्वर्गसाधनत्वेनाद्-
र्शमज्ञासिपमिति कल्याणः प्रत्यब्रवीत् । ततस्तेनौर्णायिकेन स्तुत्वा स्वर्ग-

१. एतन्नामकमप्सरसमिति. ख. पु. ।

२. कल्याणमानं गन्धर्व्वं इयामित्यस्य साम्नो निधेदेनैवमुपैत् । उपेत्य च यामप्स-
रसमभ्यादिशत् । सा एवमकामयत् । तदनन्तरं ऊर्णायुनामा सः कल्याणमाङ्गिरसम-
भिलक्ष्येति. ख पु. ।

लोकमायन्नङ्गिरसोऽगच्छन् । कल्याणस्वाङ्गिरसोऽर्हायत हानो भूमावेव
परित्यक्तोऽभूत् । हि यस्मात् सोऽनृतं वितथमवदत् । तस्मादर्हायत ।
स एषोऽसत्यवादी दिवप्रः श्वेतकुप्री दृश्यते ॥ ११ ॥

तस्मादेतेन साम्ना स्तवनें स्वर्गसाधनमित्युपसंहरति—

स्वर्ग्यं वा एतत्साम स्वर्गलोकः पुण्यलोको भवत्यौ-
र्णायवेन तुष्टुवानः ॥ १२ ॥

स्वर्गलोकः स्वर्गो लोको यस्य स तथोक्तः पुण्यः पुण्यात्मक उत्तम-
स्वर्गादन्योऽपि लोको यस्य स पुण्यलोकः और्णायवेन तुष्टुवानः स्तुव-
न्नुभयविधो भवति । गतमन्यत् ॥ १२ ॥

‘त्वं ह्यङ्ग दैव्ये’ति पूर्वविहिते तृचे गातव्यं साम विधत्ते—

बृहत्कं भवति ॥ १३ ॥

बृहत्को नाम ऋषिः तत्सम्यग्निं साम बृहत्कम् । तदस्मिन्स्तृचे
गातव्यम् ॥ १३ ॥

तदेतत् स्तौति—

सामाऽऽर्पेणेण प्रशस्तं त्वं ह्रीत्यन्नाद्यस्याऽवरुध्यै

ह्रीति वा अन्नं प्रदीयते षोडशिनमु चैवै-

तेनोद्यच्छति ॥ १४ ॥

आपयेण ऋषिसम्यन्वेन युक्तं साम प्रशस्तमुत्कृष्टम् । अस्य च स्तौ-
त्रीयास्तु त्वं ह्रीति शब्दः श्रूयमाणः अन्नाद्यस्याऽवरुध्यै अवरोधनाय भ-
वति । कथम्? लोके हि ह्रीत्यनेन शब्देन खलु अन्नं प्रदीयते बालानां भो-
जयितारः मुखस्य विदारणार्थं ह्रीति शब्दमुच्चारयित्वा अन्नमादयन्ति ।
तत्सामान्यादत्रापि हि शब्देनाऽन्नाद्यस्याऽवरुधो भवति । अपि च षोड-
शिनमेव प्रहमेतेनोद्यच्छति होमार्थमुद्गमयति । त्वं ह्यङ्ग दैव्येत्याभिमुख्य-
करणात् पूर्वयोः सवनयोः शयानं अत्र होमाद्योद्धोधयनत्यर्थः ॥ १४ ॥

अथ ‘सोमः पुनान ऊर्मिणे’ति तृचे गातव्यं साम विधत्ते—

आतीपादीयिं भवति ॥ १५ ॥

आतीपादीयाख्यं सामाऽस्मिन्स्तृचे गेयम् ॥ १५ ॥

अथैतदायुर्हेतुरिति स्तौति—

आयुर्वा-आतीपादीयमायुषोऽवरुध्यै ॥ १६ ॥

यदेतदातीपादीयाख्यं साम तदायुर्वै आयुषोऽभिवृद्धिहेतुत्वादायु-
रेव । अत एतत्साम आयुषोऽवरुधनार्थमत्र कार्यम् ॥ १६ ॥

यावति काले द्वासानिरोधः कर्तुं शक्यते तावन्तं कालमस्य सा-
म्नो निधनमाधत्तनीयमिति विधाय स्तौति—

आतमितोर्निधनमुपयत्न्यायुरेव सर्वमाप्नुवन्ति ॥ १७ ॥

आतमितोः आतमनात् द्वासे निदध्यमाने यावता कालेन ग्लानि-
र्भवति । तमु ग्लान इति धातुः, तावत्कालपर्यन्तं आर्तापादीस्य नि-
धनं क्रददे२३४५ इत्येव रूपं पुनः पुनः उपयत्न्युपगच्छन्ति । तथा च सर्व
स्म्पूर्णमेवायुः प्राप्नुवन्ति ॥ १७ ॥

अथ 'पुरोजितो' इति तृचे गातव्यं साम विधत्ते—

नानदं भवति ॥ १८ ॥

नानदार्यं सामाऽस्मिस्तृचे कार्यम् ॥ १८ ॥

अथैतद्वदः सन्ततिहेतुरित्याह—

उपायोऽभ्यारम्भमतिहाय पञ्चममहः पष्ठस्याऽह आ-
रम्भस्तेन पष्ठमहरारभन्ते सन्तत्यै ॥ १९ ॥

अस्य साम्न आघारभूते तृचे प्रथमाऽनुष्टुबुत्तरे गायत्र्यौ च । गा-
नसमये पूर्वमानुष्टुमं पादमारभ्य अनुष्टुमौ कार्ये । एवमेव पष्ठेऽहति
पादमात्रस्याऽऽरम्भः । पञ्चमेऽहति जगत्या वृद्धतरं पादात्मकं शक्योत्पद्यं
छन्दोऽभ्यारम्भते । एतदभिप्रेत्याऽत्र स्तुतिः क्रियते । उपायोऽभ्यारम्भं
चतुर्थेऽहि प्रयुज्यमाना विराट् छन्दसो उपायः अधिकतरं शक्योत्पद्यं छ-
न्दोऽभ्यारम्भते गानार्थमुपादीयते । यस्मिंस्तादृशं पञ्चममहः परिहाय
अतिक्रम्य पष्ठस्याऽहः पादमात्राभ्यासयुक्तस्य आरम्भ उपक्रमो भवति
तेनाऽऽनुष्टुमप्रगायकरणेन पष्ठमहरेवाऽऽरभन्ते सन्तत्यै सन्तानार्थम् अ-
विच्छेदार्थम् ॥ १९ ॥

अथाऽस्य साम्नः प्रस्तावभागस्य परिमाणविशेषं विधाय स्तौति—

षोडशाक्षरेण प्रस्तौति षोडशिनमु चैवैतेनोद्यच्छति ॥ २० ॥

प्रथमतः षोडशभिरक्षरैः प्रस्तोता प्रस्तावभागं ध्यात्वा तेन प्रस्ता-
वनं षोडशिनमेव ग्रहं होमायोद्यच्छति ॥ २० ॥

अथास्मिस्तृचे सामान्तरं विधत्ते—

आन्धीगवं भवति ॥ २१ ॥

स्पष्टोऽर्थः ॥ २१ ॥

अस्मिस्तृचे (१) विराट्द्वयं सम्पादयन् अन्नाद्यहेतुरेतत्सामेति स्तौति—
पथा वा अन्या विराट्श्रव्याऽन्याऽस्माह्लोकात्पथ्या

विराजाऽन्नाद्यमवरुन्धेऽमुष्मादक्षय्ययोभयोरनयोर्लो-
कयोरन्नाद्यमवरुन्ध आन्धीगवेन तुष्टुवानः ॥ २२ ॥

अत्र हि 'पुरोजेती' इत्याद्यानुष्टुबुत्तरे गायत्री । अतो दशपादा म-
चन्तीति तैर्निष्पद्यमाना पद्या अन्या विराट् । एतासु विद्यमानाश्चरपरि-
गणनायामशीनिसंख्यान्पक्षराणि भवन्ति । तत्र दशसंख्यया विभागे अ-
न्ततो दशा (२) क्षराण्येव तिष्ठन्ति । तैरक्षरैर्निष्पद्यमाना अन्या विराट् ।
(३) नतः पद्यया विराजा अस्माद्भूलोकादेव अन्नाद्यमवरुन्धे लभते ।
अमुष्मात् स्वर्गाल्लोकादक्षय्यया विराजा अन्नाद्यमवरुन्धे यस्मादान्धी-
गवेन तुष्टुवानः स्तुतवान् अनयोरुभयोर्द्यावापृथिव्याल्लोकयोरन्नाद्यं
अदनीयं प्रशस्तमन्नमवरुन्धे लभते ॥ २२ ॥

अथ 'सोमः पवते' इति तृचे गेयं साम दर्शयति—

वात्सप्रं भवति ॥ २३ ॥

यत्सप्रिणा दृष्टं साम वात्सप्रम् । तत् 'सोमः पवते' इति तृचे कार्यम् २
वैराजस्य साम्न इव (४) अस्याऽप्यनुतोदवत्वात् साम्येनाऽस्मिन्
वैराजं प्रतिष्ठितमित्यभिप्रेत्य स्तौति—

एतास्मिन्वै वैराजं प्रतिष्ठितं प्रतितिष्ठति वात्सप्रेण
तुष्टुवानः ॥ २४ ॥

अयमभिप्रायः—अनुतोदो नामाऽभ्यासः । स च त्रित्वविशिष्टो वैराज
स्य त्रिपु पादान्तेष्वधीयते वात्सप्रेऽपि तथाऽधीयते । उभयत्र चतुष्कृतो
ऽभ्यासः सूत्रकृता विकल्पनोक्तः—'तस्य पदान्तांश्चतुरभ्यस्येयुस्तथा चा-
तुर्थिकस्य वात्सप्रस्येति । तस्येति प्राकृतं वैराजं परामृश्यते । तत्र च नि-
दानकारेण व्यवस्था दर्शिता—'तेन वात्सप्रं सामाऽऽदध्यात् यदि वैराज
अनुतोदं वात्सप्रमपि अनुतोदम् । यदि चतुरनुतोदं वात्सप्रमपि चतुर-
नुतोदमिति । सूत्रकृताऽप्युक्तम्—'समाधिं त्विति । वैराजवात्सप्रयोः
समाधिं साम्यं कुर्यादिति तस्याऽर्थः । एतदेवाभिप्रेत्य एतस्मिन् खलु
वात्सप्रे वैराजं साम प्रतिष्ठितमिति कथनम् । यस्मादेवं तस्माद्वात्स-
प्रेणानेन तुष्टुवानः स्तुवन् प्रतितिष्ठति ॥ २४ ॥

अयाऽस्य साम्नः ऋषिसम्बन्धप्रदर्शनपुरस्सरं श्रद्धाफलतया स्तौति—

वत्सपीर्भालन्दनः श्रद्धां नाऽविन्दत मनसोऽनप्यत

स एतद्वात्सप्रमपश्यत्स श्रद्धामविन्दत श्रद्धा विन्दा-
महा इति वै सत्रमासते विन्दते श्रद्धाम् ॥ २५ ॥

(१) ऋषिः श्रद्धां सर्ववस्तुविषयामभिरुचिं नाऽविन्दत नाऽलमत ।
तद्वाभार्यै स ऋषिः तपस्तप्तवान् । तेन च तपसा स ऋषिरेतद्वात्सप्रं
सामाऽपश्यत् । तेन साम्ना साधनेन श्रद्धामप्यविन्दत श्रद्धां विन्दामहे
लभामहा इति खलु सत्रमासते द्वादशाहार्यं यज्ञं कुर्वन्ति । तेनैतद्वा-
त्सप्रं प्रयुज्जानाः श्रद्धामभिरुचिं सर्ववस्तुगोचरां विन्दते लभते ॥ २५ ॥

अथैतदीयस्य निधनस्य महा सङ्गतिं दर्शयन् प्रशंसति-

ईनिधनं तथा ह्यतस्याऽहो रूपं निधनान्ताः पवमाना
भवन्त्यहो धृत्यै स्तोमः ॥ २६ ॥

ई इति निधन यस्य तत्तद्योक्तं वात्सप्रमपि ईकारानिधनम् । तथाहि
नथैव स्रस्वेतस्याऽहो रूपं पुरा विहितम् दिनिधनं तृतीयस्य निधनं
चतुर्थस्येति । किञ्च पवमानाः पवमानस्तोत्राणि निधनान्ताः
निधने ऋगक्षरव्यतिरिक्तं ई सा घाक् ई इत्यादिकं येषां ते निध-
नान्ताः तादृशानि भवन्त्यहो धृत्यै पवमानस्तोत्रस्यैतस्याऽहो धार-
णार्थम् । स्तोत्रं हि पुरस्तात् क्रियमाणेन द्विद्वारेण ऋगक्षरव्यतिरिक्तेना-
वसानप्रयुक्तेन निधनेन उभयतः परिपृहीतत्वाद्भूतं भवति । तद्वारा अह-
रपि अन्यथाऽभिधानस्थानेन निधनेन वियोगात् कृतमपि स्तोत्रं प्रशि-
थिलं स्यादित्यहोऽपि शोधिल्यं भवेत् । एवं सतसु सामसु तृचेषु क्रि-
यमाणेषु एकाविंशतिस्तोत्राणां निष्पद्यन्ते । तथा च एकाविंश एवाऽस्य
स्तोत्रस्य स्तोमो भवति ॥ २६ ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्यैकादशः खण्डः ॥

अथ द्वादशः खण्डः ॥

अथोक्थानां प्रथमस्य स्तोत्रार्थं त्वं दर्शयति-

‘अग्निं वो वृधन्त’मिति ॥ १ ॥

अयं त्वचः प्रथमस्य मैत्रावरुणस्योक्थस्य स्तोत्रार्थः ॥ १ ॥

अस्मिंस्तृचे वृधन्तमिति वृधि घातुः श्रूयते । तत्सूचितमर्थमाह-

अवर्द्धन्त ह्येतर्हि यजमानमेष तथा वर्द्धयन्ति ॥ २ ॥

एतर्हि एतस्मिन् काले तृतीयसधनाघसाने अवर्तन्ते । हि यस्मादे-
वाश्चरपुरोडाशादिभिर्बुधाः समुद्राः अभूवन् , तस्मादेतया वृद्धिधातु-
युक्तयर्था यजमानमेव वक्ष्यन्त्युद्गातारः ॥ २ ॥

अथ द्वितीयस्य प्रक्षण उक्त्यस्य स्तोत्रीयं त्वं दर्शयति—

“वयमु त्वामपूर्वै”त्यपूर्वां० ह्येतर्हि प्रजापतेस्तनूमग-
च्छन्नपूर्वमेवैतया यजमानं गमयन्ति ॥ ३ ॥

‘वयमु त्वा’मिति त्वो द्वितीयस्योक्त्यस्य स्तोत्रीयः कार्यः॥ तत्सम्ब-
न्धिना(१) अपूर्वशब्देन सूचितोऽर्थः प्रतिपाद्यते । एतर्हि एतस्मिन् काले
अपूर्वा अष्टपूर्वास्तु प्रजापतेस्सर्वकारणभूतस्य विधातुस्तनुं शरी-
रं हि अगच्छन् आप्नुवन् देवाः । तस्मादपूर्वशब्दयुक्त्यैतया स्तोत्रीयया
अपूर्व अभूतं दिव्यं फलमेव यजमानं गमयन्ति प्रापयन्ति ॥ ३ ॥

अथ तृतीयमच्छायाकोक्त्यस्य स्तोत्रीयं त्वं विधत्ते—

“इममिन्द्र सुतं पिप ज्यैष्ठ्यममर्त्यं मदामि”ति ज्यैष्ठ्यं ह्ये-
तर्हि वाचोऽगच्छन् ज्यैष्ठ्यमेवैतया यजमानं गमयन्ति ॥४॥

‘इममिन्द्र सुतं पिपे’ति तृतीयस्योक्त्यस्य स्तोत्रीयस्त्वचः कार्यः ।
एतर्हि एतस्मिन्तरे ज्यैष्ठ्यमतिशयितं प्राशस्त्यं वाचोऽगच्छन् स्तुत-
शस्त्ररूपाणां सर्वासां वाचां प्रयुक्तत्वात् । अतो ज्यैष्ठ्यपलिङ्गयुक्तया स्तो-
त्रीयया यजमानं ज्यैष्ठ्यमतिशयितं प्राशस्त्यमेव गमयन्ति ॥ ४ ॥

अथ ‘अग्निं घ’ इति प्रथमस्योक्त्यस्य विहिते त्वे गेये सामदर्शयति—

सैन्धुक्षितं भवति ॥ ५ ॥

सिन्धुक्षिता इष्टं सैन्धुक्षितम् । तत्साम तस्मिन्त्वचः कार्यम् ॥ ५ ॥

अथोक्तमपिसम्बन्धं दर्शयन् विशिष्टफलहेतुतयैतत् स्तौति—

सिन्धुक्षिद्वै राजन्यर्पिर्ज्योत्सवश्चरन् स एतत्
सैन्धुक्षितमपश्यत् सोऽवागच्छत् प्रत्यतिष्ठद्वगच्छति
प्रतिष्ठति सैन्धुक्षितेन तुष्टुवानः ॥ ६ ॥

सिन्धुक्षिन्नाम राजन्यो राजपुत्रः ऋषिः ज्योक् विरकालं अपरुद्ध
अज्ञानेनाऽऽवृत्तश्चरन् सञ्चरणशालञ्चाऽऽसीत् । स ऋषिरेतत् सैन्धुक्षितं
नाम सामाऽपश्यत् तपसो बलात् दृष्टवान् । तदनन्तरमेव साम्ना साध-
नेन अवागच्छत् सर्वमजानात्, तथा प्रत्यतिष्ठत्(२) प्रतिष्ठातृत्वेऽस्य भव-

१. अपूर्वसम्बन्धेनेति. ग. पु. २. प्रतिष्ठितश्चेति. क. ख. ५.

द्वाज्ये । अतोऽद्यतनोऽपि सैन्धुक्षितेन स्तुवन्नवगच्छति प्रतितिष्ठति च ॥
 'वयमु' 'वामपूर्व्ये'ति द्वितीयस्योक्थस्य विहिते त्वे मेवं साम दर्शयति—
 सौभरं भवति बृहतस्तेजः ॥ ७ ॥

'बृहतो वा इन्द्रो बृत्राय वज्रं प्राहरत्सस्व तेजः परापतत् तत् सौम-
 रममवदि'ति ब्राह्मणात् सौभरं साम बृहत्साम्नस्तेजः । एतदस्मिन्
 'वयमु' 'वामि'ति त्वे कार्यम् ॥ ७ ॥

अथैतत् स्तोति—

पन्नामिध वै चतुर्थमहस्तदेतेन बृहतस्तेजसोत्त-
 भ्नोति सौभरेण ॥ ८ ॥

पन्ने अधस्तात् पतितमिध खल्वेतत् चतुर्थमहस्तातिशब्दः सु(१)
 बृहतीष्तेतः पृष्ठस्तोत्रं क्रियते । बृहती च पद्मिषदक्षरा । अस्मिन्नहनि
 ततोऽन्यूनासु विराट्सु प्रथमं पृष्ठस्तोत्रं विहितम् । तस्मादधः पतित-
 मिध वै तद्वदः । एतेन सौभरेण बृहतस्तेजसा तच्चतुर्थमहस्तत्तन्नोति
 उच्चम्नं उपर्य्येवस्यापितं करोत्युद्गाता ॥ ८ ॥

अथ तृतीयस्योक्थस्य विहिते 'इममिन्द्रस्तुतमि'ति त्वे मेवं साम
 दर्शयति—

वसिष्ठस्य प्रिय भवति ॥ ९ ॥

वसिष्ठस्य प्रियमिति समुदायः साम्नस्संज्ञा । तत्तस्मिंस्त्वै गातव्यम्
 (२) अथैतां संज्ञां निर्द्देश्यन् स्तुवतः फलमाह—

एतेन वै वसिष्ठ इन्द्रस्य प्रेमाणमगच्छत् प्रेमाणं देवता-
 नां गच्छति वसिष्ठेन तुष्टुवानः स्तोमः ॥ १० ॥

एतेन खलु साम्ना पुरा वसिष्ठ ऋषिः इन्द्रस्य प्रेमाणं प्रियत्वमग-
 च्छत् प्राप्नोत् । प्रियशब्दादिमानेचि(३) प्रियस्त्विहस्तिरुक्तोऽशुले'त्यादि-
 नां प्रादेशः । तस्मादस्य साम्नो वसिष्ठस्य प्रियमिति नाम सम्पन्नम् ।
 तस्मादद्यतनोऽपि वसिष्ठेनऽनेन स्तुवन् यजमानो देवानां प्रेमाणं प्रियत्वं
 गच्छति । एषु च त्रिषु स्तोत्रेषु पूर्वोक्त एवैकविंशस्तोमः कार्यः ॥ १० ॥

इति ताण्ड्यमहाब्राह्मणे सायणीये वेदार्थप्रकाशे

द्वादशाध्यायस्य द्वादशः खण्डः ॥

१. बृहतीष्तेव पृष्ठस्तोत्रमिति. क. ख. पु.

२. तथैतत्संज्ञमयोऽभिर्द्वाभित्ति. क. ख. पु.

३. पा. सु. १. ४. १५७.

अथ त्रयोदशः खण्डः ॥

इत्थं पञ्चदशस्तोत्राणि गतानि । अथैतस्य चतुर्थस्याष्टः षोडशि
मात्वात् तत्र षोडशस्तोत्रे बृहत्साम द्विपदास्तु स्तोतव्यमिति विधि-
स्तुराह—

इन्द्रश्च बृहच्च समभवतां तमिन्द्रं बृहदेकया तन्वा-
त्यरिच्यत तस्या अविभेदनया माऽभिभविष्यतीति सो-
ऽब्रवीत् षोडशी तेऽप्यं यज्ञक्रतुरस्त्विति स षोडश्यभ-
वत्तदस्य जन्म ॥ १ ॥

देवानां मध्ये इन्द्रश्च साम्नां मध्ये बृहत्साम च समभवतां प्रजापते
रुत्सो बाहुभ्याञ्च सम्भूतौ सहोत्पन्नावभूताम् । (१) एवं सहोत्पन्नाभूतं
तमिन्द्रं बृहत्साम एकया तन्वा एकेन (२) शरीराङ्गेनाऽत्यरि-
च्यत अतिरिक्तमधिकमभूत् । ततस्स इन्द्रः तस्या बृहत्तन्वा अति-
रिक्ताया अविभेत् भीतवान् । अनयाऽतिरिक्तया तन्वा मां बृहत्सामा-
ऽभिभविष्यति पराभविष्यतीति । एवं (३) भीतिरुत्सन् इन्द्रोऽब्रवीत्—
हे बृहत् ते तव येयमतिरिक्ता तनूः अयं षोडशी नाम यज्ञक्रतुर-
स्त्विति षोडशस्तोत्राणि षोडश शस्त्राणि च यस्याऽसौ षोडशी
षोडशाय्यः सोमयागो भवत्थित्यर्थः । एवमिन्द्रोऽनोक्ते तदनन्तरं
स षोडश्यभवत् उक्तस्तोत्रपञ्चदशकापेक्षया अतिरिक्ता या बृहत्तनूः
सा षोडशी षोडशस्तोत्रशस्त्रवान् यज्ञक्रतुरभवत् । अस्य षोडशिन-
स्तदेव जन्मोत्पत्तिवृद्धतः सम्बन्धिव्यापारिका तनूः विहितानां
पञ्चदशानां स्तोत्राणां यत् षोडशसंख्यापूर्कं स्तोत्रं तदात्मना जा-
तेत्यर्थः ॥ १ ॥

तस्माद्बृहत्साम षोडशस्तोत्रतया कार्यमित्याह—

अतिश्रिया भ्रातृव्यधृरिच्यते यो गायत्रीषु द्विपदा-
सु बृहता षोडशिना स्तुते ॥ २ ॥

यच्छब्दश्रवणात्तच्छब्दाध्याहारः । सोऽप्यं श्रिया सम्पदा भ्रातृव्यं
शुभमतिरिच्यते अधिको भवति । यो गायत्रीषु द्विपदासु बृहता षोड-
शिना षोडशिसाम्ना स्तुते स्तावयतीत्यर्थः ॥ २ ॥

का पुनस्ता द्विपदा इत्यत आह—

“उप नो हरिमिः स्तुत”मित्येता वै गायत्र्यो द्वि-
पदा एतासु स्तोतव्यम् ॥ ३ ॥

“उप नो हरिमिः स्तुत”मित्याद्या उत्तराप्र-ये समाज्ञाता । एता एव
गायत्र्यो द्विपदा । यद्यपि तास्त्रिपदा गायत्र्यं तथाप्युप नो हरिमिः स्तु-
त”मिति प्रथमपाद एव तृतीयपादात्मना पुन पुनरभ्यस्यते इति तासां
द्विपदात्वम् । एतासु द्विपदासु दृढता साक्षा स्तोतव्यमित्येक पक्षः ॥३॥
अथ पक्षान्तरं विधित्सु सामान्तरस्योत्पत्तिमाह—

इन्द्रः प्रजापतिमुपाधावद्वृत्रं हनानीति तस्मा
एतामनुष्टुभमपहरसं प्रायच्छत्तया नाऽस्तृणुत यदस्तृ-
ता व्यनदत्तज्ञानदस्य ज्ञानदत्वम् ॥ ४ ॥

इन्द्र पुरा वृत्र असुर इन्तु स्वयं(१) अशक्तस्सन् प्रजापतिं स्रष्टार
(२)स्वपितरमुपाधावदुपागच्छत् । किं कुर्वन्? वृत्रमसुरमह हनानि हत-
नसमर्थो भवामि यथाऽहं हन्तुं शक्यामि तथा मां कुर्विति युवन् । तस्मा
उपगतायेन्द्राय अपहरसं अपगतहरसं(३) तेज प्रतिपादकेन इन्द्रशब्देन
विधुरामेता प्रत्यस्मा इत्यादिकमनुष्टुभमृच प्रायच्छत् प्रादात्-अनया
वृत्रं जहोति । तत इन्द्रस्ता तस्मिन् वृत्रे प्राक्षिपत् । तथा स नाऽस्तृणुत
नाऽहिंस्यत । स्तृहिंसायामिति धातुः । स चाऽस्तृनो अहिंसत सन् यत्
व्यनदत् विशेषेण शब्दमकारोत् तज्ज्ञानद सामाऽभवत् । यस्मादेव नः-
नाज्जातं तत्तस्माज्ञानदस्य साक्षो ज्ञानदत्वं ज्ञानदमिति नाम सम्प्रग्रम् ॥४॥

इथ पक्षान्तरोपयुक्तं सामं प्रदर्श्य अथ (४)तस्याऽऽधारभूताः स्तो-
त्राणीया ऋचो विवक्षुराह—

तं पुनरुपाधावत्तस्मै सप्तानां होत्राणां हरो
निर्म्माय प्रायच्छत् तमस्तृणुत ॥ ५ ॥

तं प्रजापतिमिन्द्रं पुनरुपाधावत् उपागच्छत् त्वदक्षयाऽनुष्टुभा
नाऽसा वृत्रो हत इति युवन् । ततस्तस्मै इन्द्राय प्रजापतिः सप्तानां हो-
त्राणां होतृमैत्रावरुणादयः सप्त व्यपकर्तारः तेषामार्तिव्यापि होत्रश-
ब्देनोच्यन्ते सप्तसंस्थानां होतृमैत्रावरुणादिसम्बद्धानां कर्मणा हरस्ते-
जो निर्म्मायोत्पाद्य एकीकृत्य प्रायच्छत् । ततस्तेन हरसा तं वृत्रम-

१. अपरादस्त्वमिति. ग. पु.

२. स्वामिनमिति. क. पु.

३. अथ तेजप्रतिपादकेनेति क. पु.

४. तस्यापनभूता इति. क. ख. पु.

स्तृणुत अवधीत् ॥ ५ ॥

एतद्वेदनफलमाह—

स्तृणुते तं यं तुस्तूर्पते य एवं वेद ॥ ६ ॥

यं शत्रुं तुस्तूर्पते हिंसितुमिच्छति तं स्तृणुते दिनर्हि स पुरुषः य एवं पूर्वोक्तमर्थं वेद जानाति ॥ ६ ॥

किन्तु इत्याह—

तस्माद्दरिद्रिणीषु स्तुवन्ति हरिवतीः शशंसन्ति हरिवतीषु ग्रहो गृह्यते हरो ह्यस्मै निर्माय प्रायच्छत् ॥ ७ ॥

यस्मादिन्द्रो हरसा प्रजापतिदत्तेन वृत्रमवधीत् तस्मात् कारणात् हरिवतीषु हरिशब्दयुक्तासु एकदेशविकृतमन्यवद्भवतीति न्यायेन हरिशब्देन हरशब्दः प्रत्याभिज्ञायते । अत एतासु हरिवतीषु 'असायि सोम इन्द्र' इत्याद्यासु नानादेन षोडशिसाम्ना स्तुवन्तीत्येतदपक्षान्तरम् । तथा हरिवतीः हरिशब्दयुक्ता एव ये होतारः शंसन्ति तथा हरिवतीषु चक्षुरादिशत्रुहननमित्याद्यास्त्वृक्षु पठ्यमानासु अश्वयुगा प्रहः षोडश्याख्यो गृह्यते । तस्मादिन्द्राय हरो हि हरशब्दवाच्यं यत्तु तेजो निर्माय पुरा प्रजापतिः प्रायच्छत् दत्तवान् ॥ ७ ॥

सप्तानां होत्राणां हरो निर्माय प्रायच्छदिति यदुक्तं तस्योपपादकं लिङ्गं अस्मिन् षोडशिस्तोत्रे दर्शयति—

एकविंशायतनो वा एष यत् षोडशी सप्त हि प्रातस्सवने होत्रा वपट्कुर्वन्ति सप्त माध्यन्दिने सवने सप्त तृतीयसवने ॥ ८ ॥

यत् षषोडशी एषः एकविंशायतनो वा एकविंशस्तोमस्याऽऽयतनभूत आश्रयभूतः । तत् कुतो हेतोः ? प्रातस्सवने सप्तसंख्याकाः होत्राः होतृमैत्रावरुणादयः ऋत्विजो वपट्कुर्वन्ति प्रस्थितपाज्याद्यामिर्घपट्कृत्य यजन्ते । तद्योत्तरयोस्सवनयोस्पात्येकविंशतिसंख्या होत्रा भवन्ति । हि यस्मादेवं तस्मात् षोडशिन एकविंशायतनत्वम् ॥ ८ ॥

इत्थं बृहन्नानदाख्यं (१) सामद्वयं विकल्पेन षोडशिसाम कर्त्तव्यमित्युक्तम्, अथ स्वामिमतं पक्षान्तरं दर्शयति—

गौरीवितं भवति ॥ ९ ॥

गौरीवितं साम 'इन्द्रं जुषस्व प्रवहे'ति वृत्ते षोडशिसाम कार्यम् । ६ ।

अथाऽस्य साम्ना ऋषिसम्बन्धप्रदर्शनपुरस्सरमुत्पत्तिं दर्शयन्
स्तौति—

गौरीवित्तिर्वा एतच्छावत्यो ब्रह्मणोऽतिरिक्तमप-
श्यत्तद्गौरीवित्तमभवदतिरिक्तं वा एतदतिरिक्तेन स्तुव-
न्ति यद्गौरीवित्तेन षोडशिनं श्वस्तनवान् भवत्यपि प्र-
जाया उपकलूतः ॥ १० ॥

अतिरिक्तं वा एतदित्यन्तं पूर्ववद्भाष्येयम् : यद्गौरीवित्तेन साम्ना
षोडशिनं षोडशिस्तोत्रं प्रणयति अतिरिक्तेनाऽधिकेनैव तेन स्तुवन्ति
तस्मादाधिक्यवता साम्ना स्तवनात् श्वस्तनवान् श्वः परस्मिन् दिवसे
भवं श्वस्तनं तद्वान् प्रजायाः पुत्रपौत्रादिरूपायाः उपकलूतः उपक-
ल्पितः उपभोग्यश्च भवति ॥ १० ॥

पूर्वं नानदं साम षोडशिस्तोत्रतया कार्य्यमिति विदितम्, पश्चात्प
क्षान्तरत्वेन गौरीवित्तमपि । एवं सत्यष्टदोषप्रस्तो विकल्पस्यादिति
मन्थानः एकस्मिन्नेव प्रयोगे देशभेदेनैते सामनी व्यवस्थापयितुमाह—

विशालं लिज्जया भूत्याऽभ्यधादिति होषाचोपो-
दितिगोपालेयोऽनुष्टुभि नानदमकगौरीवित्तेन षोड-
शिनमस्तोष्टाऽञ्जसा श्रियमुपागात्त श्रिया अवपद्यत
इति ॥ ११ ॥

लिज्जया लिप उपदेहे उपदेह उपचयः लेपेन उपचयेन जाता लिज्जा-
तया (१) सम्पूर्णया विभूत्या सम्पदा विशालं विस्तृतं यथा भवति
तथा अभ्यधात् अभिहितवानुक्तवानिति खलु । गोपालेयो गोपालपुत्र
उपोदितिनाम श्रियदवाच पुरा प्रोक्तवान् । अभिधानप्रकार उच्यते—अ-
नुष्टुभि चतुर्थेऽहनि आर्जवपधमाने पुरोजितोति योऽयं आनुष्टुमस्तुच-
स्तस्मिन् नानदं साम अकः कृतवान् गौरीवित्तेन साम्ना च षोडशिनम
स्तोष्ट षोडशिस्तोत्रं कृतवान् । एवं सामद्वय व्यवस्थया कृत्वा अञ्जसा
आर्जवेन श्रियं सम्पदं उपागात् उपागच्छत् । उपगतया च तथा श्रिया
नाऽवपद्यते न कदाचिद्धीयत इति ॥ ११ ॥

कोऽसावभिदध्याविति तमाह—

एष वै विशालं लिज्जया भूत्याऽभिदधाति योऽनु-

पुद्गुमि नानदं कृत्वा गौरीवितेन पोडशिना स्तुतेऽज्ञसा
श्रियमुपैति न श्रिया अवपद्यते ॥ १२ ॥

एष वै एष खलु विशालं विस्तृतं लिङ्गया वपाचितया मृत्पा ऐ-
श्वर्य्येण भामिदधाति यो यजमानः अनुष्टुमि अनुष्टुमे एव नानद-
साम कृत्वा गौरीवितेन पोडशिना पोडशिसाम्ना स्तुते तदनन्तरमधु-
साऽऽजंवेन श्रियमुपगच्छति । न च तया श्रिया विपुज्यते ॥ १२ ॥

इत्थं सामद्वय व्यवस्थाप्य पोडशिसाम्ना स्तोत्रीयाः कामना
भेदेन विभिन्नाः प्रदर्शयन्नेकं पक्षमाह—

शक्वरीषु पोडशिना स्तुवीत यः कामपेत वज्री
स्यामिति ॥ १३ ॥

पदपञ्चाशदक्षरा ऋचः शक्वर्य्यः । शक्वरीषु पोडशिना पोडशि-
साम्ना स्तुवीत । यो यजमानः वज्री स्याम् (१)वज्रवान् धार्य्यवान्
मवेयमिति स शक्वरीषु पोडशिना स्तुवीत ॥ १३ ॥

तदेतदुपपादयति—

वज्रो वै पोडशी वज्रः शक्वर्य्यो वज्रेणैवाऽस्मै वज्रं
स्पृणोति वज्री भवति ॥ १४ ॥

पोडशिनः शक्वरीणाञ्च वज्रवद्ब्रह्मनसाधनत्वाद्ब्रह्मत्वम् । अत्र
च शक्वरीषु पोडशिसाम्ना स्तवनात् वज्रेण वज्रात्मकेनैव पोडशिना
शक्वर्य्याभ्यं वज्रं अस्मै यजमानाय स्पृणोति धलयति संयोजयति त-
र्पयति वा । स्पृणीति धलयोरिति घातुः । स च यजमानो वज्री वज्रवान्
भवति ॥ १४ ॥

अथ फलान्तराय स्तोत्रीयान्तरं विधत्ते—

अनुष्टुप्सु पोडशिना स्तुवीत यः कामपेत न मा
वागतिवदेत् ॥ १५ ॥

अनुष्टुप्सु अनुष्टुप्छन्दस्कासु ऋधु पोडशिसाम्ना स्तुवीत मा मां
वाक् परैः प्रयुज्यमानं वाक्यं नाऽतिवदेत् आतिक्रम्य न मृषादिति यो
यजमानः कामपेत, सोऽनुष्टुप्सु पोडशिना स्तुवीत ॥ १५ ॥

अथैतदुपपादयति—

वज्रो वै पोडशी वागनुष्टुब्धवज्रेणैवाऽस्मै वाचं

स्पृणोति नैनं वागतिवदति ॥ १६ ॥

अस्मै यजमानाय वज्रेणैव वाचं स्पृणोति प्रीणयति । अत एनं वा-
ह्नाऽतिवदति । शिष्टं सिद्धम् ॥ १६ ॥

काः पुनस्ता अनुष्टुभ(१) इति तत्राऽऽह—

“असावि सोम इन्द्र त” इत्येतासु स्तोतव्यम् ॥ १७ ॥

‘असावि सोम’ इत्याद्यास्तिस्रोऽनुष्टुभ एतासु गौरीवितेन पो-
डशिसाम्ना स्तोतव्यम् ॥ १७ ॥

अथाऽन्नाद्यकामस्य पोडशिस्तोत्रीया दर्शयति ।

विराट्स्वन्नाद्यकामः पोडशिना स्तुवीत वज्रो वै
पोडशी वैराजमन्नं वज्रेणैवाऽस्मा अन्नं स्पृणोत्पन्नादो
भवति ॥ १८ ॥

विराट्छुन्दस्कासु ऋक्षु अन्नाद्यकामः अन्नञ्च तदयं अन्नाद्यं त-
स्वामनो यजमानः पोडशिसाम्ना स्तुवीत । वज्ररूप एव पोडशी ।
अन्नञ्च वैराजं विराट्सम्बद्धं अस्मै यजमानाय वज्रेणैव अन्नं
स्पृणोति । तदन्तरं स यजमानोऽन्नादो भवति ॥ १८ ॥

काः पुनस्ता विराज इत्यत आह—

“प्र वो महे वृषे भरध्वमि” इत्येतासु स्तोतव्यम् ॥ १९ ॥

‘प्र वो महे’ इत्याद्यास्तिस्रो विराज इत्येतासु गौरीवितेन स्तोतव्यम् ॥ १९ ॥
एतासु विद्यमानान्यक्षराणि विभज्य स्तोति —

त्रयस्त्रिंशदक्षरा वा एता विराजो यदेकविंशतिः
प्रतिष्ठा सा यद्द्विदश प्रजातिः सा ॥ २० ॥

एताः ‘प्र वो महे’ इत्याद्या विराजः त्रयस्त्रिंशदक्षरा वै त्रयस्त्रिंशद-
क्षराः अल्लु, प्रतिपादमेकादशाक्षरत्वात् । तत्र एकविंशतिः आदितः ए-
कविंशतिसङ्ख्याप्रक्रान्त्यक्षरानां हि यद् अन्नाद्यकामः स्तोत्राभाज्ये एकविं-
शः प्रतिष्ठाहेतुः । तत्सादृश्यात्ततोऽविशिष्टानि यत् द्वादशाक्षराणि सा
प्रजातिः प्रजानामुत्पत्तिः गर्भाधानादूर्ध्वं द्वादशमासात्मके सम्यक्सरे
पूर्णे हि प्रजाः प्रजायन्ते ॥ २० ॥

एतदेव न फलमाह—

प्रतिष्ठाय प्रजायते नो चाऽन्तस्पायाक्षीर्यते य एवं वेद ॥ २१ ॥

प्रतिष्ठाप्य उत्कृष्टे स्थाने प्रतिष्ठितो भूत्वा ततः प्रजायते पुत्रादिक-
पेणोत्पद्यते नो नैव च अन्तस्थायां अन्तर्मध्ये अवास्थितायां प्रजायां जी-
र्यते ह्रियते अपक्षीयते । ज्यायसोऽहानाधिति धातुः । य एषमासु विरा-
ट्सु उक्तां प्रतिष्ठांप्रजातिञ्च वेद ॥ २१ ॥

एवं कामनामेदेन स्तोत्रीयाणां विकल्पा उक्ताः । अथ नित्यप्रयोगे
'इन्द्रं जुषस्वे'त्याद्यास्तिस्र ऋचो गौरीवितस्य षोडशिमाम्नस्तोत्रीयाः
कार्या इत्यभिप्रेत्य तत्रत्यानुपसर्गांश्चिदधाति—

अथ वा एता एकपदास्त्यक्षरा विष्णोश्छन्दो मु-
रिजः शक्रवर्षः ॥ २२ ॥

'इन्द्रं जुषस्वे'त्याद्यास्तिस्र ऋचः पञ्चपदाः पादाय पञ्चाक्षराः ।
तत्र प्रथमायामृचि प्रथमपादात् ऊर्ध्वं प्रवहेति त्रीण्यक्षराण्याम्नातानि ।
द्वितीयपादात्परमपि हरिहेति अक्षरत्रयमाम्नातम् । तथा तृतीयपादा-
त्परमपि मतिर्नैत्यक्षरत्रितयम् । अविधिष्टौ पञ्चाक्षरौ द्वौ पादौ ।
आदितः पञ्चाक्षरास्त्यः पादा इति पञ्चाक्षरपादाः पञ्चपादाः
प्रथमाः । तत्राऽऽद्येषु त्रिषु पादेषु प्रवहहरिहमतिन् इत्येता-
स्त्यक्षरा एकपदादशकवर्ष इति च उपसर्गा इति चाऽऽख्यायन्ते
एवमुत्तरयोःपि । तथा च प्रत्युच त्रयस्त्य उपसर्गा इति त्वेन भवन्ति
एतास्तैर्विरहिता 'इन्द्रं जुषस्वे'त्याद्याः पञ्चाविंशत्यक्षरा गायत्र्यो भव-
न्ति । तैः सहिताश्चतुस्त्रिंशदक्षरा अनुष्टुमो भवन्ति । अत्र निदानकारः
'तस्यैता ऋचः पञ्चाविंशत्यक्षरा पञ्चपदाः । पञ्चाक्षरपादाः नवोपसर्गा-
क्षराणि आदितस्त्रयाणां पादानां त्रीणि त्रीण्युपसर्गाक्षराणि पादान्ते
षु भवन्ति । तेऽष्टाक्षरास्तस्यप्यन्ते । पञ्चाक्षरावुत्तरौ दशाक्षरो वैकः ता-
श्चतुस्त्रिंशदक्षरास्तस्यप्यन्तः', इत्यादिना इममेवाऽर्थं बहुधा प्रपञ्चितवा-
न् । तत्र या एताः प्रवहाद्या (१) उपसर्गास्ते प्रदर्श्यन्ते अथे इत्यादिना ।
अथेति पक्षान्तरपरिग्रहे 'इन्द्रं जुषस्वे'त्यादीनां तिसृणां आदितस्त्रिभ्यः
पञ्चाक्षरपादोभ्य ऊर्ध्वं यानि प्रवहेत्यादीनि त्रीण्यक्षराणि एतास्त्यक्षरा
एकपदा विष्णोश्छन्दसः विष्णुसम्यग्धीनि छन्दांसि मुरिजः शक्रवर्षः
मुरिजनामिकाः शक्ररीविशेषाः ॥ २२ ॥

एतासां शीघ्रकलसाधनत्वमाह—

एताभिर्वा इन्द्रो वृत्रमहन् क्षिप्रं वा एताभिः

पाप्मानं हन्ति क्षिप्रं वसीयान भवति ॥ २३ ॥

यस्ताभिः शक्यवरीभिः खलु पुरा इन्द्रो वृत्रमसुरं हतवान् । आभिर्वृ-
त्रमशकं इदं तन्मन्त्रं शक्यवरीणां शक्यवरीत्वमिति विश्वायते इति निदकम् ।
यस्मादेवं तन्मादेकपदामिर्भुजिशक्यवरीभिः क्षिप्रं पाप्मानं हन्ति
विताशयति । क्षिप्रं शीघ्रं वसीमान् वसुमत्तरः श्रेष्ठश्च भवति ॥ २३ ॥
मथैव एकपदाः 'इन्द्रं जुषस्वे'त्याद्याश्च संयुज्य स्तौति—

चतुस्त्रिंशदक्षराः सप्तंस्तुतो भवति त्रयास्त्रिंशदे-
वताः प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशो देवतानां प्रजापतिमेवोप-
वन्त्यरिष्ये ॥ २४ ॥

प्रत्यूचं प्रवहाद्यास्तिस्रस्तिस्र एकपदाः ताश्च संस्तुताः प्रत्यूचं नव-
नवाक्षराणि सम्पद्यन्ते । पञ्चाक्षरैः पञ्चभिः पादैः पञ्चविंशत्यक्षराणि
सम्पद्यन्ते । ता उभयोर्मिलित्वा प्रत्यूचं चतुस्त्रिंशदक्षरास्संस्तुतः सह
स्तुतः सत्रिचतुस्त्रिंशदक्षरात्मकस्समुदायो भवति । तस्याऽऽदितः त्रय-
स्त्रिंशदक्षरैः त्रयस्त्रिंशत्संख्याका देवताः प्राप्नोति—अष्टौ वसवाः, एकाद-
शवज्राः, द्वादशाऽऽदित्याः, इन्द्रश्च षषट्कारश्चेति । त्रयस्त्रिंशदेतासां
देवतानां प्रजापतिश्चतुस्त्रिंशत् संख्यापूरको भवति चतुस्त्रिं-
शेनाऽक्षरेण चतुस्त्रिंशं प्रजापतिमेवोपयन्ति उपगच्छन्ति अरिष्ये
आर्हिसायै ॥ २४ ॥

अथोद्गातृणां षोडशिस्तोत्रसमये हिरण्यधारणं विधत्ते—

हिरण्यं सम्प्रदायं षोडशिना स्तुवते ज्योति-
ष्मानस्य षोडशी भवति ॥ २५ ॥

हिरण्यं सुवर्णं सम्प्रदायं अन्योन्यस्मै प्रदाय प्रदाय उद्गातारः
षोडशिसाप्ता स्तुवते । अस्य साप्तः यां यां मर्क्ति यो यो श्रूते स स
हिरण्यं घृत्या तया भक्त्या स्तुवीतेत्यर्थः । तदुक्तं सूत्रकृता—'यो यस्मा-
माहं प्रयात् स स हिरण्यं धारयेदिति । अत्र सम्प्रदायमिति नमुद्व-
त्यपान्तस्तेन एकमेव हिरण्यं एकैकस्मै गानसमये दातव्यमिति ग-
म्यते । 'षोडशिसाप्ता स्तोत्रमाण' इत्यादिना षोडशिस्तोत्राहृत्येन
यदुक्तं सूत्रकारेण तत्सर्वमत्राऽनुसंधेयम् । स्वस्वभक्तिगानसमये
उद्गातृभिर्हिरण्यस्य धारणादस्य यजमानस्य षोडशी ज्योतिष्मान्
तेजस्वी भवति ॥ २५ ॥

अथैतस्मिन् षोडशिस्तुतिकाले अश्वस्य स्थापनं विधत्ते—

अश्वः कृष्ण उपतिष्ठति साम्पेक्षया भ्रातृव्यलोक-
मेव स विधमंस्तिष्ठति ॥ २६ ॥

कृष्णः कृष्णवर्णोऽश्वः सदसः पूर्वस्मिन् परस्मिन्वा द्वारे प्रत्यङ्मुखः प्राङ्मुखो वा उपतिष्ठति यथा उपस्थितो भवति तथा कुर्यादित्यर्थः । तदुक्तं सूत्रकारेण—‘अश्वः कृष्णः पूर्वस्यां सदसो द्वारि प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठेदिति शाण्डिल्योऽपरस्यां प्राङ्मुखश्चैति धानञ्जय’ इति । किं मर्ममद्वयोपस्थानं साम्येक्षयाय साम्यमीक्षणं साम्येक्ष्यं साम्यदर्शनायेत्यर्थः । अपि च स उपस्थितोऽश्वः भ्रातृव्यलोकं शत्रुनिघातस्थानमेव विधमन् विविधमुखवायुना अपगमयंस्तिष्ठति ॥ २६ ॥

अथ द्विप्रकारोऽयं योदशी विद्वतोऽविद्वतश्च । तत्र विद्वतस्य ‘१-२ जुषस्वे’त्याद्यास्तोत्रीया विदिताः । अविद्वते ‘एव सावि सोम इन्द्र त, इत्याद्यास्तिस्रोऽनुष्टुभः स्तोत्रीयाः । अथैतासां अनुष्टुभं स्तोतुमाह—

एकाक्षरं वै देवानामवमं छन्द आसीत्सप्ताक्षरं परमं नवाक्षरमसुराणामवमं छन्द आसीत् पञ्चदशाक्षरं परमं देवाश्च वा असुराश्चाऽस्पर्द्धन्त तान् प्रजापतिरानुष्टुभो भूत्वाऽन्तराऽतिष्ठत्तं देवासुरा व्यह्वयन्त स देवानुपावर्त्तत ततो देवा अभवन् पराऽसुराः ॥ २७ ॥

देवानामवमं न्यूनतमञ्छन्द एकाक्षरं एकमेवाऽक्षरं यस्य तथाविधमासीत् । परमं अधिकं छन्दः सप्ताक्षरमासीत् । असुराणान्तु अवमं नवाक्षरमासीत् परमं पञ्चदशाक्षरम् । एवं सप्तभिः छन्दोभिस्सहिता देवाश्चाऽसुराश्चाऽस्पर्द्धन्त । तान् स्पर्द्धमानानुमयविधानन्तरा तेषामध्ये प्रजापतिस्तेषां पिता अनुष्टुभः पादो भूत्वा अतिष्ठत् स्थितवान् । सप्ताक्षरं हि देवानां परमं छन्दः असुराणाञ्चवाक्षरान्यूनं अष्टाक्षरं तूभयसाधारण्येन मध्येऽवस्थितम् । भानुष्टुभः पादश्चाष्टाक्षरः इति तद्रूपो भूत्वा प्रजापतिर्मध्यस्थोऽभवदित्यर्थः । तं मध्ये स्थितं प्रजापतिं देवाश्चाऽसुराश्च व्यह्वयन्त विविधमाह्वयन् । स च देवैरसुरैश्चाऽङ्गुपमानः प्रजापतिः देवानुपावर्त्ततोपागच्छत्, नाऽसुरान् । ततोऽनन्तरं देवा अभवन् (१) स-मृद्धा अभवन् । असुराः पराभवन् पराभूताः पराजिताः आसन् । भानुष्टुमेन प्रजापतिना सहायेन देवानामभिवृद्धिर्जातेति अनुष्टुप्स-मृद्धिर्हेतुः । अतोऽनुष्टुमस्तोत्रीयाः समृद्धिहेतव इत्यर्थः ॥ २७ ॥

एतद्वदेनं प्रशंसति—

भवन्धात्मना पराऽस्य भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥ २८ ॥

यत्तमतेत १८ ॥
मय देवै-
मय देवै-

केन छन्दसा आसुरं छन्दोऽप्युक्तमिति उभयं विवि-
देवा असुराणामेकाक्षरेणैव पञ्चदशाक्षरमवृज्जत
चतुर्दशाक्षरं त्र्यक्षरेण त्रयोदशाक्षरश्चतुरक्षरेण
द्वादशाक्षरं पञ्चाक्षरेणैकादशाक्षरं पडक्षरेण दशाक्ष-
रं सप्ताक्षरेण नवाक्षरमष्टाभिरेवाऽष्टाववृज्जत ॥ २९ ॥

ते प्रजापतिसहायेन समृद्धा देवाः स्वकीयेनैकाक्षरेणैव छन्दसा
असुराणां पञ्चदशाक्षर यत्परमं छन्दस्तदवृज्जत अपायर्जयन् । त्र्यक्षरेणा-
रमीयेन छन्दसा आसुरं चतुर्दशाक्षरं छन्दोऽवृज्जत । एवमुत्तरप्रापि
योज्यम् । अष्टाक्षरस्य छन्दसोऽन्तरालवर्त्तित्वेनोभयसाधारणत्वात्
अष्टाभिरेवाऽक्षरैः आसुराण्यष्टाक्षराण्यवृज्जत ॥ २९ ॥

एतद्वेदनफलमाह—

एवमेव भ्रातृव्याद्भृतिं वृद्ध्वा य एवं वेद ॥ ३० ॥

यथा देवाः स्वकीयैश्छन्दोभिः असुराणाञ्छन्दोऽसि क्रमेणाऽवर्ज्य-
यन् एवमेव भ्रातृव्यात् शशोः भृतिमैश्वर्यं वृद्धे वर्जयति य एवमुक्तं
ग्राह्यार्थज्ञानाति ॥ ३० ॥

अथ प्रकारान्तरेण तद्वेदनस्य फलमाह—

अपरुद्धयश्च इव वा एष यत् षोडशी कनीयास्विन-
इव वै तर्हि देवा आसन् भूपस्विनोऽसुराः कनीयस्वी
भूपस्विनं भ्रातृव्यं वृद्ध्वा य एवं वेद ॥ ३१ ॥

यत् योऽयं षोडशी नाम यज्ञकतुः एषः अपरुद्धयश्च इव वै । इवेत्य-
वधारणे । शशुभिरवरुध्यमानेन आक्रम्यमाणेन क्रियमाणो यज्ञोऽपरुद्धय-
श्च । तादृश एव खलु । तत्कस्य हेतोः ? तस्मिन् काले असुरैः सह युद्ध-
समये कनीयास्विनः (१) कनीयांसि एकाक्षरादीनि सप्ताक्षरान्तानि छन्दो-
सि आसुरेभ्यश्छन्दोभ्यो (२) न्यूनाक्षरवाच्य अल्पीयांसि तद्वन्तो देवाः
अल्पा एवाऽऽसन् । नवाक्षरादीनि पञ्चदशाक्षरान्तानि छन्दोऽसि बहुक्ष-
रत्वात् भूयांसि तद्वन्तो असुरा महान्त आसन् । एवञ्च सति अधिकव-
ल्लैरवरुध्यमाना देवाः षोडशिनमाहृत्य (३) तत्रत्येनाऽऽनुष्ठुमेन प्रजा-

पनिता तानधिकानसुरानभ्यमधन् । तस्मादेव षोडशी अवकश्यन्
इति य एवं वेद जानाति, स वेदिता कनीयस्वी अवपीयानपि भूयस्वि
नं अधिकं भ्रातृभ्यं शत्रुं वृद्धे वर्जयति ॥ ३१ ॥

अथ यदुकं सूत्रकारेण 'हविर्दानं गत्वा षोडशिग्रहमवेक्षेतोद्गाता
यस्मादन्यः' इति तन्मन्त्रविहितमवेक्षणं विधत्ते—

“यस्मादन्यो न परो ऽस्ति जातो य आषभूवः भुव-
नानि विश्वा । प्रजापतिः प्रजया सम्विदानस्त्रोणि ज्यो-
तींषि सचते स षोडाशी”त्युद्गाता ग्रहमवेक्षते ॥ ३२ ॥

यस्मात्प्रजापतेस्सर्वकारणभूतादन्यो व्यतिरिक्ता परो जात उत्पन्नो नाऽ-
स्ति, यश्च विश्वानि सर्वाणि भुवनानि मृतजातानि आषभूवः (१) कारणा-
त्मना व्याप्तोऽभूत् । भूमाप्ताविति धातुः । स प्रजापतिः, प्रजानामीश्वरो
देवः प्रजया आत्मीयया, सामान्याभिप्रायमेकवचनम् । स्वात्मनस्त्रष्ट्येन
सर्व्वेण (२) कार्य्यजातेन सम्विदानः ऐकमत्यं गच्छन् त्रीणि ज्योतींषि च-
न्द्रसूर्याभिरूपाणि, अथवा गार्हपत्यदक्षिणाग्न्याहवनीयात्मकानि ते-
जांसि सचते व्याप्नोति । स एव प्रजापतिः षोडशी षोडशिग्रहा-
त्मना कार्य्यरूपेण वर्त्तत इति मन्त्रार्थः । अनेन मन्त्रेण उद्गाता खरे
आसादितं षोडशिग्रहमवेक्षते ॥ ३२ ॥

एतद्वेदनं प्रशंसति—

ज्योतिष्मानस्य षोडशी भवति य एवं वेद ॥ ३३ ॥

स्पष्टमेतत् ॥ ३३ ॥

अथ पूर्व्ववेदस्मिन् स्तोत्रे स्तोमकल्पति विधाय (३) स्तौति—

एकविंश एव स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रतितिष्ठति ॥ ३४ ॥

पूर्व्वेषु स्तोत्रेषु यः स्तोमो विहितः स एवैकविंशोऽस्याऽपि स्तो-
त्रस्य स्तोमो भवति प्रतिष्ठायै प्रतिष्ठानार्थम् । अत एतेनैकविंशेन स्तो-
मेन (४) स्तुतेन यजमानः प्रतितिष्ठति ॥ ३४ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निधारयन् ।
पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विधातीर्थमद्देश्वरः ॥

इति श्रीमहाराजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमागंभवर्त्तकश्रीरतुक्कम्ब
साम्राज्यधुरन्धरेण (१) सायणाचार्य्येण वित्तविते माधवीये सामवेदा
प्रकाशे ताण्ड्यमहाब्राह्मणे द्वादशाध्यायस्य त्रयोदशः खण्डः ॥
द्वादशाध्यायः समाप्तिमगमत् ॥



१. सायणमात्रेणेति क, पु.

सर्वविधपुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः-

चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,
विद्याविलास प्रेस, बनारस सिटी ।